आनन्दगिरिटीकाघटित

मुण्डक-प्रश्न-उपनिषद्

शाङ्करभाष्यानुवाद

1.3.1ने.

श्री दक्षिणामूर्ति मठ, वाराणसी

आनन्दगिरिटीकाघटितं

मुण्डक प्रश्न उपनिषद्

शाङ्करभाष्यानुवाद

अनुवादक

स्वामी स्वयम्प्रकाश गिरि

प्रकाशक

श्री दक्षिणामूर्ति मठ

वाराणसी

मूल्य ६०)- रुपये मात्र

पुस्तक प्राप्ति स्थान

श्रीदक्षिणामूर्ति मठ, डी ४९/९, मिश्रपोखरा, वाराणसी।

श्रीविश्वनाथ संन्यास आश्राम, श्रीराम रोड, दिल्ली।

श्रीशङ्कर मठ, आबू पर्वत।

प्रथम संस्करण

शङ्कराब्द १२०३

वैक्रमाब्द २०४८

मूल्य —

मूल्य ६०)- रुपये मात्र

मुद्रक

तारा प्रिंटिंग वर्क्स, वाराणसी

विषय-सूची

भूमिका

वेद भारतीय संस्कृति और सनातन हिन्दू धर्म का मूल है। इस अद्वितीय निधि का संरक्षण भारतराष्ट्र का प्रथम कर्तव्य है। राष्ट्रपिता महात्मा गाँधी ने स्पष्ट लिखा है कि अध्यात्मवाद के बिना स्वाराज्य की रक्षा नहीं की जा सकेगी। उन्होंने ईशावास्योपनिषत् के प्रथम दो मन्त्रों को विश्व के अध्यात्मवाद की आधारशिला माना है। चालीस वर्षों के अध्यात्मवादहीनता का दुष्परिणाम काश्मीर से असम तक स्वाराज्य के विरोधी तत्त्वों के उद्गम व पोषण को प्रत्यक्ष देखा जा सकता है। भारत में हिन्दू जनसंख्या ८५ प्रतिशत है, परन्तु वेद के शब्द भी जानने वालों की संख्या निरन्तर घटती जा रही है तो अर्थ जानने वाले दिन में दिया लेकर ढूंढने पर भी नहीं मिलते इसमें कहना ही क्या ? वेद का सार बताने का दम्भ रखने वाले तुलसी-रामायण आदि ग्रन्थ स्वाध्याय का स्थान ले रहे हैं। 'सार' के किसी भी व्याख्याता को यह भी ज्ञात नहीं है कि कौन से वेदांश का 'सार' कहाँ निहित है! पदशः सार का प्रतिपादन तो दूर को बात है। मन्त्र के किसी पद का उचित या अनुचित शब्दसाम्य के आधार पर अर्थ कर स्वयं प्रतारित होना अथवा दूसरों को प्रतारित करना और बात है। वेदान्तमार्ग के अनुयायी, विशेषतः शाङ्करसम्प्रदाय के परमहंस संन्यासी, यथाकथञ्चित् उपनिषदों के संरक्षण व प्रचार में कटिबद्ध रहे हैं एवं अपने समस्त अध्यात्म, धर्म व दर्शन को उपनिषदों पर आधारित भी करते हैं व उन्हें ही अपने अध्यात्मजीवन का उत्स स्वीकारते हुए उनके स्वाध्याय को ही श्रवण मानते हैं।

इसी परमहंस परम्परा के अन्तर्गत श्रीदक्षिणामूर्ति मठ ने निरन्तर ग्रन्थों का प्रकाशन किया है व यहाँ के मनीषी परमहंसों ने भारत व भारतेतर देशों में भी वेदों की पताका फहराई है। स्वामी स्वयम्प्रकाश गिरि जी भी इसी मठ के यत्नशील विद्यार्थी हैं जिनसे श्रीदक्षिणामूर्ति परम्परा एवं परमहंस सम्प्रदाय को अनेक आशायें हैं। इन्होंने मुण्डक व प्रश्न उपनिषदों के भाष्य व टीका को हिन्दी मात्र जानने वालों के

लिये अत्यन्त सुन्दर व प्रामाणिक ढंग से सुस्पष्ट रूप से उपस्थापित किया है। सुधानामक टिप्पणी अनेक गुत्थियों को सुलझाने में अद्भुत क्षमता रखती है। इसी प्रकार सभी मुख्य उपनिषदों को वे उपस्थापित कर वेदगो की रक्षा में सहयोगी बनेंगे ऐसी हमें आशा है।

वेद ऐसे ज्ञान को बताता है जिसे प्रत्यक्ष, अनुमान आदि प्रमाणों से नहीं जाना जा सकता। यह ठीक है कि वेद से अनेक वैज्ञानिक, सामाजिक, भूगर्भीय, आकाशीय, अधिज्योतिष आदि ज्ञान भी मिलते हैं, पर वे वेद का तात्पर्य नहीं हो सकते। गौण या अवान्तर तात्पर्य हो सकने पर भी वेद उनमें ही तात्पर्य वाला हो यह सम्भव नहीं। समाज में मिल-जुलकर रहना चाहिये, धोखा नहीं देना चाहिये, सत्य बोलना चाहिये आदि नियमों को तो मनुष्य जाति अपने अनुभव से भी निकाल ले यह संभव है, परन्तु ज्योतिष्टोम यज्ञ से ही स्वर्ग होगा इसमें अनुभव से काम नहीं चलेगा। इसी प्रकार एक अखण्ड अद्वितीय ब्रह्म ही जीव व जगत् का अभिन्न निमित्तोपादान कारण है तथा इसके अपरोक्षानुभव से ही इसका मुक्त स्वरूप प्रकट होता है—यह किसी भी प्रमाणान्तर से ज्ञात नहीं हो सकता। इन बातों को बताने में ही वेद का परम प्रामाण्य है। अतः जब तक सनातन हिन्दू जीवित रहेगा, वेद को मान्यता अक्षुण्ण रहेगी; परन्तु इसे जगाने के लिये 'इमां वाचं कल्याणीमावदानि जनेभ्यः'—'इस कल्याणरूपिणी वाणी को लोगों को बताऊँ'—इस आज्ञा को सङ्कल्प रूप से ग्रहण करना पड़ेगा।

वेदान्त वेद के सिद्धान्तभाग का नाम है। उपनिषदों में ही उस ब्रह्मज्ञान का निरूपण किया गया है जिसकेलिये सारा कर्मकाण्ड व उपासनाकाण्ड प्रतिपादित है। अतः इसकी रक्षा प्रधान है। बाकी सब गौण है। भगवान् वेदव्यास ने पुराणों व ब्रह्मसूत्रों द्वारा प्रधानतः इसी भाग का विस्तार किया है। हिन्दू धर्म के पुनरुद्धार के समय आचार्य श्रीशङ्कर ने भी इसी का रक्षण किया एवं भाष्यप्रणयन द्वारा इसे सुदृढ युक्ति से पुष्ट किया। उन्नीसवी शताब्दी में ईसाइयों के आक्रमण से हिन्दू धर्म पर काले बादल छा जाने पर राजाराममोहन राय से लेकर स्वामी विवेकानन्द, रवीन्द्रनाथ व राष्ट्रपति राधाकृष्णन पर्यन्त सभी ने वेदान्त को आधार बनाकर ही ऐसी सौदामिनी चमकाई कि वे बादल छँट गये। अतः उपनिषदों के आधार पर ही जब नव भारत

का निर्माण किया जायेगा तभी भारतीय संस्कृति विश्वमानव को मूल्यवान् बनाने में सक्षम होगी। आचार्य श्रीशङ्कर ने दशनाम परमहंस सम्प्रदाय की स्थापना प्रधानरूप से इसी कार्य के लिये की थी।

वेदों में अथर्ववेद उत्तरीय प्रान्तों में प्रधानरूप से प्रचलित रहा है। आचार्य श्रीशङ्कर ने भी उत्तर के ज्योतिष्पीठ या ज्योतिर्मठ को अथर्ववेद का संरक्षण सौंपा है। दुर्भाग्य से मुसलमानों के आक्रमणों से ये प्रान्त हिन्दू परम्परा से कट चुके हैं एवं इनकी ग्रन्थराशि भी प्रायः मुसलमानों द्वारा जला दी गई है। अतः अथर्ववेद का स्वशाखारूप से स्वाध्याय किये हुए लोग अब भारत में इकाइयों में ही रह गये हैं एवं वे भी आगे परम्परा के अभाव में लुप्त होने वाले ही लग रहे हैं। काशी जैसी सांस्कृतिक व धार्मिक राजधानी में भी स्वशाखाध्यायी अथर्ववेदी अनुपलब्ध हैं, परशाखारूप से अध्ययन करने वाले ही वहाँ अथर्ववेदज्ञ मिलते हैं। उड़ीसा व गुजरात में एक-दो वैदिक स्वशाखारूप से अथर्ववेद का अध्ययन करने वाले हैं ऐसा सुना जाता है। ऐसी परिस्थिति में अथर्ववेद की ९ शाखाओं में से सन् १९०० से पूर्व केवल शौनक शाखा की संहिता का उपलब्ध होना भी शिवकृपा ही समझना चाहिये। सन् १९०० में काश्मीर में शारदा लिपि में लिखित पैप्पलाद संहिता मिली जिसे डाक्टर रघुवीर ने प्रकाशित कर भारतीयों को उपलब्ध कराया। अथर्ववेदीय ब्राह्मणों में केवल गोपथ ही अभी मिला है। पाश्चात्य विद्वानों की मान्यता है कि उपलब्ध गोपथ अपूर्ण है। अथर्ववेद का कोई भी आरण्यक उपलब्ध नहीं है। इसीलिये उपलब्ध तीनों अथर्ववेदीय उपनिषदों का स्थलनिर्देश नहीं दिया जा सकता क्योंकि आरण्यक के अन्तिम भागों में ही उपनिषदों की प्रायः उपलब्धि होती है।

शौनक शाखा के मन्त्रभाग की उपनिषत् मुण्डक है। प्रश्नोपनिषत् पैप्पलाद शाखा के ब्राह्मण भाग की है। पैप्पलाद शाखा के ब्राह्मण, आरण्यक, कल्पसूत्र आदि कुछ भी उपलब्ध नहीं हैं। परमहंस सम्प्रदाय का आधार होने से ही उपनिषदों की रक्षा हो सकी है यह सुनिश्चित है। अन्यथा आरण्यक भाग के साथ ही इनका भी लोप असंभव नहीं था। स्वामी आनन्दगिरि जी ने मुण्डक को मन्त्ररूपा उपनिषत् लिखा है तथा प्रश्न को तो स्वयं सर्वज्ञ श्रीशङ्कर ने ही मन्त्रों में कथित अर्थ का विस्तार बताने वाला ब्राह्मण कहा है। स्वामी उपनिषद्ब्रह्मयोगीन्द्र

प्रश्न को पिप्पलादशाखान्तर्गत व मुण्डक को मुण्डकशाखान्तर्गत बताते हैं। वर्तमान में प्रसिद्ध 'प्रश्न-मुण्डक' के पाठक्रम से अर्थक्रम को वरीयता देते हुए हमने इन उपनिषदों को प्रकाशित किया है।

स्मृति में

'एकप्रयोजनरतम् अशेषाऽर्थावभासकम्।
सर्वतोमुखतात्पर्यमण्डितं शास्त्रमुच्यते ॥'

कह कर शास्त्र का लक्षण बताया है। उपनिषदें जीव के बन्ध की निवृत्ति के प्रयोजन वाली ही हैं एवं उसके कारण ब्रह्मज्ञान का पूरी तरह प्रतिपादन करती हैं। जीवन, मरण आदि सभी पर प्रकाश डालकर सर्वतोमुखता का परिचय भी देती हैं। अतः वे शास्त्र हैं यह निश्चित है। सभी अध्यारोपों का अपह्नव करके ही सिद्ध होने वाले निष्प्रतियोगिक ब्रह्ममात्र को उजागर करना ही इनका प्रयोजन है। इसी से स्वस्वरूप में अवस्थान की प्राप्ति होती है। चिन्मात्र व उपनिषदों का प्रतिपाद्य-प्रतिपादकभाव सम्बन्ध है। सद्योमुक्तिकामी ही इनका मुख्य अधिकारी है।

ब्रह्म ही एकमात्र सत् है। निष्प्रतियोगिक होने से उससे अतिरिक्त किसी की प्राप्ति ही नहीं है। यदि लौकिक दृष्टि से सत् से भिन्न कुछ भी आत्मा से अलग, आत्मरूप से, आत्मा की उपाधिरूप से, सत्यरूप से, व्यावहारिकरूप से, प्रातिभासिकरूप से या शून्यरूप से भ्रान्तिसिद्ध हो तो उन सभी की निवृत्ति भ्रान्ति की निवृत्ति द्वारा सिद्ध करने के लिये ही उपनिषदें प्रवृत्त हुई हैं। निष्प्रतियोगिक अभावरूपता ही असत् की सिद्ध होती है। आत्मा से भिन्न न कुछ वास्तविक मिलता है, न अवास्तविक। इसीलिये कलियुग के वेदान्तसम्प्रदाय के आदि प्रवर्तक भगवान् गौडपादाचार्य वैतथ्यप्रकरण के उपसंहार में कहते हैं—

'नात्मभावेन नानेदं न स्वेनापि कथञ्चन।
न पृथङ् नापृथक् किञ्चिदिति तत्त्वविदो विदुः ॥'

सभी प्राणादि नाना भाव वाली वस्तुएँ खरगोश के सींग की तरह नहीं हैं। आत्मा से भिन्न सत्ता असम्भव है। यदि कहें कि आत्मसत्ता से नाना सत्ता वाला हो सकेगा, तो भी बनता नहीं क्योंकि आत्मा निष्प्रतियोगिकरूप से ब्रह्ममात्र ही प्राणादि का अपह्नव करके अवगत होता है। आत्मरूप से नाना का अभाव एवं नानास्वरूप से नाना—इस प्रकार

की सम्भावना नहीं है। नानात्वरूप से नाना अवस्तु होने से तीनों कालों में शशश्रृंग की तरह अनुपलब्ध है। यही तत्त्ववेत्ताओं का अनुभव है। निष्प्रतियोगिक भाव व निष्प्रतियोगिक अभाव की आधार-आधेयता श्री सप्तद्वीप के चक्रवर्ती का नित्यनपुंसक व नित्यवन्ध्या से उत्पन्न कन्यारत्न से विवाह की तरह असम्भव है। यदि प्रश्न हो कि फिर व्यवहार सिद्ध कैसे होगा, तो उत्तर है कि आत्ममात्र अव्यवहार्य है। सारे व्यवहारों को विदीर्ण करते हुए ही आत्मबोध होता है। परमाद्वैतबोध सिद्ध होने पर अपह्नव के लायक भी कुछ नहीं बचता जो अपह्नवव्यवहार को भी सिद्ध कर सके। प्रबोधकाल में ही व्यष्टि-समष्टि सभी अविद्या व उसके कार्य निवृत्त हो जाते हैं। स्वतः सिद्ध होने से ब्रह्म अपनी सिद्धि में प्रमाण की आकांक्षा नहीं रखता। परमाद्वैतशास्त्र तो आवरणभंगार्थ ही है, ब्रह्मसिद्ध्यर्थ नहीं। इसे ही मुण्डकोपनिषत् परा विद्या नाम से कहती है। अतः भाष्यकार सर्वज्ञ श्रीशंकरभगवत्पाद कहते हैं कि उपनिषत् से ही जिसका साक्षात्कार होता है उस ब्रह्म को विषय करने वाला अनुभव परा विद्या का वाच्य है। उससे भिन्न, उपनिषत् की शब्दराशि, जो उस साक्षात्कार का कारण है, अपने मूल वेद व वेदांगों सहित अपराविद्या ही है।

इस प्रकार परा विद्या अध्यात्मानुभूति होने से पाश्चात्य दार्शनिकों ने रहस्यमयी (mystic experience) मानी है। इस अनुभूति में भेद का अभाव वे सभी स्वीकारते हैं। प्राध्यापक निकल्सन 'इन्साइक्लोपीडिया आव् रेलिजन्स एण्ड एथिक्स' में कहते हैं—

"In solitude where Being signless dwelt,
And all the universe still dormant lay
In selfishness, One Being was,
Exempt from 'I' or 'thou'-ness and apart from all duality."

अर्थात् 'एकान्त में अलिंग सत् रहा जिसमें विश्व कारणात्मना लीन था। अपने आप में पूर्ण, मैं और तुम के भेद से एवं सभी द्वैतों के भेद से रहित केवल सत् था।'

राधाकृष्णन कहते हैं "The central mystery is that of Being itself." 'रहस्य का केन्द्र स्वयं सत् ही है।' सत् हमेशा वि-लक्षण ही रहेगा। लक्षण का उद्देश्य है व्यावृत्ति। सद् अव्यावृत्त है। सुरेश्वराचार्यों का उद्घोष है 'अव्यावृत्ताननुगतं वस्तु ब्रह्मेति भण्यते।' ब्रह्म में सभी

विरोध एक साथ रहते और नहीं रहते हैं। सर्व व शून्य, ज्ञानाश्रय व ज्ञानविषय, प्रवृत्ति (activity) व निवृत्ति (rest), साकार व निराकार सभी उसी में हैं। बुद्धि इसे समझ सके इसलिये विरोधाभासों का परिहार अविद्या के माध्यम से किया जाता है। बुद्धि का निर्माण ही इस प्रकार का है कि वह विरोध को सहन नहीं कर सकती। व्याघात से बुद्धि या स्तम्भित हो जाती है या उसे नकार देती है। अविद्या वेदान्त का वह अस्त्र है जिससे बुद्धि द्वारा अगम्य को बुद्धिगम्य कर दिया जाता है। वस्तुतः ब्रह्म वह कभी न जाना जाने वाला (अविदित, unknown) जानने वाला (Knower) है जिसमें सभी ज्ञात हैं क्योंकि ज्ञानरूप से ही सभी ज्ञात हैं। यह वह पूर्ण है जिसमें से पूर्ण अपूर्ण सदा प्रवाहित होता है, फिर भी उसकी पूर्णता वैसी ही अविकृत बनी रहती है। फिलो ने लिखा है—

> "God is withdrawn from both ends of time, for His life is not time but Eternity, the archtype of time. And in eternity there is neither past nor future but only present."

अर्थात् ब्रह्म का न भूतकाल से सम्बन्ध है न भविष्य से क्योंकि वह कालिक नहीं अकालिक है। अकाल का प्रतिरूप काल है। अकाल में न भूत है न भविष्य। वहाँ तो केवल वर्तमान है।'

बुद्धिगम्यता से ब्रह्म सभी वस्तुओं का अभिन्न निमित्तोपादान कारणरूप से समझाया जाता है। सभी वस्तुओं को सत्ता व उनका स्वभाव प्रदान करने वाला ब्रह्म ही है। उसकी सत्ता से भिन्न न कुछ है और न कुछ नहीं है। सभी का उसके परतन्त्र होना ही हिन्दूदृष्टि में धार्मिक जीवन का परम रहस्य है। इस केन्द्रीय विचार से ही सारा नैतिक व आध्यात्मिक जीवनवृत्त निर्मित होता है। परिच्छिन्न ब्रह्म का मनन या निदिध्यासन हमें पूर्ण अपरिच्छिन्न ब्रह्म का साक्षात्कार कराता है क्योंकि परिच्छिन्न उसी का प्रतिबिम्ब है। प्रत्यगात्मरूप से चूंकि चेतन अपरोक्ष है एवं अपरोक्ष साक्षात्कार ही हमें निश्चय प्रदान करता है, अतः वहीं केन्द्रित होना पड़ता है। सर्प जहाँ दीखा वहीं उस सर्प का ही प्रत्यक्ष परीक्षण हमें अधिष्ठान रस्सी का अपरोक्ष कराता है। सभी दुःख, बन्ध, ज्ञान, देह आदि हमें प्रत्यगात्मा में मैं से मिलकर ही प्रतीत हुए हैं, अतः उस मैं का परीक्षण

ही हमें ब्रह्म का अपरोक्ष साक्षात्कार करायेगा। मैं के साथ लौकिक देह आदि व शास्त्रीय प्राण आदि जो भी अभिन्न होकर प्रतीत हुए हैं उनका परीक्षण कर मैं को वहाँ से निवृत्त करना है। उपाधि की अतिरिक्त सत्ता की निवृत्ति ही मिथ्यात्वनिश्चय है। परन्तु किसी भी मिथ्या उपाधि को सामने रखकर विचार या ध्यान करने पर ही उपाधि निवृत्त होकर अधिष्ठानसाक्षात्कार संभव है। जब कभी मिथ्या पदार्थ को मिथ्या कहा जाता है तो किसी सत्य अधिष्ठान के सन्दर्भ में ही। सर्प का मिथ्यापन वहाँ की रस्सी के सन्दर्भ में ही है। स्वप्न का मिथ्यापन जाग्रत् के सन्दर्भ में ही संभव है। पर अधिष्ठान के सत्य न होने पर अध्यस्त मिथ्या नहीं कहा जा सकता। इसीलिये सर्वज्ञ श्रीशंकर कहते हैं "कञ्चिद्धि परमार्थमालम्ब्य अपरमार्थः प्रतिषिध्यते। उभय-प्रतिषेधे तु कोन्यो भावः परिशिष्येत। अपरिशिष्यमाणे च अन्यस्मिन् य इतरः प्रतिषेद्धुमारभ्यते, प्रतिषेद्धुमशक्यत्वात् तस्यैव परमार्थत्वापत्तेः प्रतिषेधानुपपत्तिः" (सूत्रभा. ३.२.२२)। किसी सत्य का सहारा लेकर ही असत्य का निराकरण होता है। सभी का निषेध करने पर तो कौन-सी चीज बचेगी ? यदि कोई नहीं बचेगी तो जिसने निराकरण करना शुरु किया है वही सत्य हो जायेगा, अतः उसका निराकरण नहीं बनेगा। जिससे निषेध शुरु करेंगे ऐसी उपाधि आवश्यक होती है। अतः सगुण से ही निर्गुण की प्राप्ति संभव है।

जब तक सगुण है तब तक द्वितीयता तो रहेगी ही, अन्यथा न विचार संभव है न ध्यान आदि। सर्वथा द्वितीयता ही होने पर उसका साक्षात्कार ही संभव न हो पायेगा। सन्त अगस्तीन कहते हैं

> "What is that which gleams through me and smites my heart without wounding it ? I am both—ashudder and aglow. A-shudder in so far as I am unlike it; a-glow in so far as I am like it." (Confessions XI)

अर्थात् 'वह अद्भुत मुझ में चमकता भी है व मेरे दिल को घायल भी करता है। मैं काँपता भी हूँ व चमकता भी हूँ। जितना उसके जैसा हूँ उतना चमकता हूँ, जितना भिन्न हूँ, उतना काँपता हूँ।' यह भेद व अभेद का एक-दूसरे में प्रविष्ट होकर रहना ही सगुणकाल की द्वितीयता है। असली पूजा में शिव अपने से भिन्न भी हैं और यह विस्मय भी है

कि उन्होंने हमें कितना अपने समान बनाया है। अतः औपनिषद ऋषि कह उठते हैं 'अपनी असामर्थ्य से सन्तप्त होता है''''यह जगद्रूप महिमा मेरी ही है ऐसा समझता है तब इसका समस्त सन्ताप निवृत्त हो जाता है' (पृ. १६०)। इसके पूर्व मन्त्र में द्वैत स्थिति का वर्णन किया है। ये दो मन्त्र ऋग्वेद संहिता में भी आये हैं। इस द्वैत व अद्वैत का पृ. १५७ टि. ४ में विद्वान् लेखक ने विस्तृत व सुन्दर विचार किया है। इस अन्तरंग सम्बन्ध से ही एक दूसरे का संगम संभव होता है। ब्रह्म सभी का उद्गम है। जीव इस बात को समझते ही उसे कारण व अपने को कार्य समझता है। पर शिव को द्वितीय समझते ही वह परप्रेमास्पद नहीं रह जाता। उसे परप्रेमास्पद न समझ पाना ही अज्ञान है। अतः उसकी द्वितीयता समझ से परे है। हम अपने स्रोत में घुल जाना चाहते हैं। उसे अलग रखना, उससे वियोग असह्य है। इस भेद के रहस्य को स्वयं शिव ही अपनी शक्ति से खोलते हैं। यही विद्याशक्ति है। अतः उपनिषत् कहती है "जब ईश्वर को 'वह मैं ही हूँ' तथा 'यह जगद्रूप महिमा मेरी ही है' ऐसा समझ लेता है"। ईश्वर कारण है, पर कारण व कार्य का अत्यन्त भेद भी समझ से परे है। अत्यन्त अभेद भी समझ से परे ही है। कारणरूप से वह सभी से अभिन्न है पर कार्यरूप नहीं है। जीव की उपाधि में ही यह भेद व्यक्त होता है और वहीं अभेद भी व्यक्त होता है। जगद् वस्तुतः उपाधि है, अतः वहाँ न उसे अव्यक्त कह सकते हैं, न व्यक्त। वह स्रष्टा है, पोषक है, सभी सीमित व सान्त रूपों से प्रकट होते हुए अनन्त बना रहता है। 'इमिटेशन आव् क्राइस्ट' में क्राइस्ट कहते हैं "When you think that you are far from me then I am nearest to you." अर्थात् 'जब साधक अपने को ईश्वर से दूर समझता है तभी वह उसके निकटतम होता है।' साधक देह, मन आदि उपाधियों को अपना स्वरूप समझता है अतः इनके साथ तादात्म्य अव्यक्त होने पर ही वह नजदीकी का अनुभव करता है। उसी जानने का अर्थ इन सभी उपाधियों का न जानना ही है क्योंकि जानना कभी समाप्त नहीं होता। उपाधियों से तादात्म्य कर जानना ही नहीं जानना है एवं उपाधियों से तादात्म्य के विना होना ही शिव का जानना है। इसीलिये मैक्स प्लैंक कहते हैं

"Science cannot solve the ultimate mystery of nature. And that is because in the last analysis, we ourselves are

part of nature and therefore part of the mystery we are trying to solve. The most penetrating eye cannot see itself any more than a working instrument can work upon itself."

अर्थात् 'विज्ञान माया की वास्तविकता का पता नहीं पा सकता क्योंकि अन्ततोगत्त्वा विज्ञाता भी माया के अन्तःपाती होने से स्वयं मायिक है। कोई भी चक्षु स्वयं अपने को नहीं देख सकती, न कोई यन्त्र स्वयं अपने पर कार्य कर सकता है।' इसीलिये परा विद्या किसी भी विद्या से प्राप्त नहीं हो सकती। यहाँ शिवानुग्रह ही गुरुरूप से वेद का तात्पर्य प्रकट कर हमें अविज्ञात को विज्ञात कराता है।

जब ब्रह्माजी बृहदारण्यकोपनिषत् में कहते हैं 'मैं ब्रह्म हूँ'; जब बुद्ध कहते हैं 'मैं प्रज्ञा हूँ'; जब ईसा मसीह कहते हैं 'मैं परम सत्य हूँ'; जब सूफी कहते हैं 'मैं खुद खुदा हूँ'; वे किस 'मैं' को कह रहे हैं ? उस मैं को न तर्क के विश्लेषण से समझा जा सकता है, न बौद्धिक स्तर पर। इसलिये कहा है 'न अधिक वेदादि का अध्ययन करने से""मिलता है' (पृ० १९४)। जब इस मैं को जानने के लिये बाह्य इन्द्रियों से उपरत होकर अन्तर्वीक्षण किया जाता है तब एक नवीन संसार प्रकट होता है। इसी से उपनिषत् ने बताया 'जो मुमुक्षु उस आत्मज्ञ पुरुष की परमेश्वर की तरह सेवा करते हैं' (पृ० १९०), 'शान्त तथा रागादि से अकलुषित बुद्धि वाला साधक""साक्षात्कार करता है' (पृ० १८२)। ग्रीस के दार्शनिकों में सुकरात के भी पहले का हेरा क्लाइट्स कहता है कि चाहे जितने मार्गों से गुज़रो, मैं की सीमाओं का पता नहीं पाया जाता क्योंकि उसकी अनन्त ही सीमा है। मैं में यह शक्ति है कि वह अपनी सीमा को स्वयं लांघ जाता है। मैं स्वयं मैं से परे चला जाता है। सीमित मैं से यह मैं परे है। ब्रह्मा कहते हैं (भाग. १०. पू. १४.२७)—

"त्वामात्मानं परं मत्वा परमात्मानमेव च।
आत्मा पुनर्बहिर्मृग्यः अहोऽज्ञजनताऽज्ञता॥"

'हम आत्मा को अपने से भिन्न समझ कर परमात्मा को भी भिन्न समझ लेते हैं। फिर उसको बाहिर ढूँढते रहते हैं। आश्चर्य होता है माया की अज्ञ जनता को गुमराह करने की शक्ति को देखकर।' इस

शक्ति को पृ. १८४ में विस्तार से बताया है। टिप्पणी में इसे और भी स्फुट किया गया है। ध्यान का अर्थ विद्वान् लेखक ने यहाँ सुन्दर ढंग से समझाया है।

इन्हीं बातों को प्रश्नोत्तररूप में वर्णन करने से प्रश्नोपनिषत् नाम दिया गया है। अनेक बातों को वेद इसी प्रकार समझाता है। 'यदि हम जानते होंगे तो···बता देंगे' (पृ. ६) कहकर सुशीलता व्यक्त है। इस प्रकार ज्ञानी में सुशीलता प्रायः पाई जाती है, यह ध्वनित किया है। शास्त्रप्रयोजन को पृ. ९ टि. २ में सुन्दर ढंग से प्रतिपादित किया है। पृ. ११ टि. ५ में सायं अग्नि व प्रातः सूर्य की अर्चना का वैज्ञानिक कारण बताया है। इसी प्रकार विद्यारण्यप्रोक्त वैज्ञानिक मूर्त व अमूर्त की व्यवस्था पृ. १२ टि. २ में बताई है। इसी प्रकार आश्रय का अर्थ (पृ. १६ टि. ७) करते हुए अवयव एवं अवयवी को आश्रित व आश्रय बताकर व्यक्ति को समाज का आश्रित बताना भी अपूर्व सूझ है। पृ. १८ टि. ३ में ज्योतिष का विषय विस्तार से स्पष्ट किया गया है। पंचसूनापरिहार (पृ. २१ टि. १), ऋतुनिर्णय (पृ. ३२ तथा ३३), दत्त वर्णन (पृ. २१) आदि प्रसंगों में टिप्पणी में धर्मशास्त्र की पद्धति उपस्थापित कर दी है। मीमांसान्यायों का प्रयोग पृ. ४० टि. १ आदि में श्लाघनीय ढंग से दर्शाया है। मन्त्र शब्द का अर्थ मीमांसा के इतिहास में किस प्रकार परिष्कृत हुआ यह दिखाते हुए सम्मत निर्णय पृ. ४६ में देखा जा सकता है। इन्द्र का व ईशान का वेदों में व ब्रह्मसूत्रों में शिवपरक अर्थ ही सन्दर्भसिद्ध है, इसका प्रमाणपुरःसर प्रतिपादन है। इस विषय में आचार्य अप्पय दीक्षितेन्द्र की ग्रन्थराशि विद्वानों के लिये मननीय है। अनुवाद में प्रायः श्रुत्यर्थ भाष्यानुसारी इतना स्पष्ट किया है कि भाष्यानुवाद पढ़ने के पूर्व भी श्रुत्यर्थ समझने में कठिनाई नहीं रह गयी है। अब तक के अनुवाद प्रायः हिन्दी में परिवर्तित क्रियापदों व लम्बे समासों को व्यासों में बदलने के प्रयास में ही पर्यवसित रहे हैं। प्रथम बार स्पष्ट सुबोध अर्थ को प्रामाणिक रूप में हिन्दी में उपलब्ध कराया जा रहा है। मन्त्रार्थ के बाद मोटे टाइप में भाष्य व हल्के टाइप में आनन्दगिरि की टीका इस प्रकार रखी है कि दोनों को स्वरस बना दिया गया है। संस्कृत में भी यह प्रयास अभी तक किसी ने नहीं किया था। केवल मोटे टाइप को भी आसानी से पढ़ा जा सकता है जिससे भाष्यमात्र के पाठ का आनन्द भी मिल जाये।

अन्य अनुवादक ही समझ सकेंगे कि यह कितना कष्टसाध्य कार्य है। जब तक ग्रन्थ का पौनःपुन्येन आलोडन न हो एवं पंक्त्यर्थ स्पष्ट न हो, तब तक यह कार्य संभव नहीं। अतः इस कार्य से हिन्दी को अधमर्ण किया गया है व वेदान्त-अध्येताओं को उपकृत किया है। अनुवादक की सर्वविधोन्नति की हम सदाशिव से प्रार्थना करते हैं। उपनिषत् के शब्दों में वे "ज्ञान से तृप्त होकर अपनी आत्मा को परमात्मा बना कर रागादि दोषों वाले न रह जावें एवं इन्द्रियाँ विषयप्रावण्य छोड़ दें" (पृ. १९९)। अज्ञाननिवृत्ति पर अद्वैतदर्शनकारों ने जो विस्तृत विचार किये हैं उन सभी पक्षों को पृ. २८ टि. १ में उल्लिखित किया गया है। इसके साधन संन्यास सहित श्रवण का वर्णन पृ. १२ टि. १ में दिया गया है।

इस उपनिषद् एवं इसके भाष्य, टीका व टिप्पणियों पर विचार करने पर पूर्व राष्ट्रपति सर्वपल्ली राधाकृष्णन के 'संन्यासीसंघ वर्तमान युग में एक अभिशाप है' (ब्र० सू०) एवं इसी प्रकार के अनेक आधुनिक मिथ्या लाञ्छनों का प्रक्षालन सहज हो जाता है। वस्तुतः सभी संगठन आदर्शरूप से कभी भी उपलब्ध नहीं होते। निष्काम कर्म करने वाले गृहस्थों की संख्या नगण्य होने से क्या गृहस्थाश्रम को अभिशाप मान लिया जायेगा? हिन्दू परम्परा में किसी भी समाज का श्रेष्ठत्व उसके उत्कृष्ट दृष्टान्तों से निर्णीत किया जाता है। यदि समूह के सामान्य को (average) देखा जाना आवश्यक ही माना जाये तो उस समूह के अभाव में जो हानियाँ होंगी उनकी अपेक्षा उस समूह से जो हानियाँ हो रही हों उनकी तुलना करना ही न्यायसंगत है। संन्यासियों के शरीररक्षण की आवश्यकताओं से उसे समाज से उपकृत मानना न्यायसंगत माना जाये तो उसके द्वारा समाज का उपकार भी ध्यान में रखना होगा। कबीर, दादू आदि की परम्परा में भी विरक्तों का निवेश इसीलिये हुआ कि उनके अभाव में कमर कस कर सिद्धान्तरक्षण करने वाले उपलब्ध ही नहीं हो सकते थे। स्वामी दयानन्द सरस्वती के सन्यासंसंघ के अभाव व स्वामी विवेकानन्द के संन्याससंघ के भाव के भेद से दोनों का आध्यात्मिक व बौद्धिक विकास का भेद इस शताब्दी में प्रत्यक्षसिद्ध है। बौद्ध, जैन, ईसाई आदि समाजों ने संन्यासीसंघ से उपकृत होकर ही स्थायित्व और विकास प्राप्त किया है। आचार्य श्रीशंकर ने सनातन धर्म में यही कार्य किया था। भास्कर के उद्धरणों से संन्यासधर्म का

पता न लगाकर यदि सर्वपल्ली जी शंकर, सुरेश्वर, विद्यारण्य आदि से इसे समझने का प्रयत्न करते तो इतना भ्रान्त न होना पड़ता। मास्टर एकार्ट का कहना है "None can attain the birth of God in soul unless he can withdraw his mind entirely from things." अर्थात् 'आत्मा परमात्मरूप से व्यक्त नहीं होता जब तक सर्वप्रवृत्ति-त्याग न हो।' यही आचार्य श्रीशंकर का सर्वकर्मसंन्यास है। चूंकि देहनिर्वाह आदि आवश्यक हैं अतः किसी संघ में ही यह संभव है कि प्रारंभिक साधक इन आवश्यकताओं की पूर्ति करे एवं श्रेष्ठ साधकों की जीवनचर्या से वह उनके उपदेश से प्रभावित होकर शनैः शनैः स्वयं वहाँ तक पहुँचे। सेण्ट जॉन आव् द क्रॉस कहते हैं

> "Remain in that pureness and love which is perfect resignation and complete detachment from all things for God alone."

अर्थात् 'उस पवित्र प्रेम में नित्य निवास करना है जिसका रूप सर्वप्रवृत्ति-त्याग व सर्वविरक्ति है।' सेण्ट फ्रन्स्वा दि सेल्स कहते हैं

> "I have hardly any desires, but if I were to be born again I should have none at all. We should ask nothing and refuse nothing, but leave ourselves in the arms of divine Providence without wasting time in any desire, except to will what God wills of us."

अर्थात् 'मुझे कोई कामना नहीं जैसी ही है। पर यदि मेरा फिर जन्म हो ही जाये तो सर्वथा निष्कामता हो। हमें न कुछ चाहना करनी उचित है, न किसी वस्तु या स्थिति को नकारना। हमें तो विधाता के हाथ में अपने आप को छोड़ कामना करने या उसकी पूर्ति करने में समय व्यर्थ न गँवाकर उसकी रज़ा में रज़ामन्दी रखनी है।' इन सब उक्तियों से स्पष्ट होता है कि संन्यास भारत या हिन्दू का ही नहीं, विश्व के अध्यात्मवादियों का जीवन है। पृ० २०० में 'सर्वकर्मत्यागपूर्वक केवल ब्रह्मनिष्ठारूप योग करने से जो यत्न करने वाले कहे जाते हैं' द्वारा इसी स्थिति को कहा गया है। बहुवचन से संघ में साधना कर गीता में कहे "बोधयन्तः परस्परङ्कथयन्तश्च मां नित्यम्" परस्पर विचार करने से स्वबोध में परिशुद्धि व दृढता लाने के साधन की ओर संकेत हैं।

इसीलिये गीताभाष्य में सर्वज्ञ श्रीशंकरभगवतपाद कहते हैं (१३.१०)

"संस्कारशून्यानाम् अविनीतानां कलहोन्मुखचित्तानां संसत् (तत्र) अरमणम् ।
संस्कारवतां विनीतानां संसदो ज्ञानोपकारकत्वात् ।"

आत्मज्ञान के संस्कारों से रहित होने से जो उसकी तरफ से विमुख होकर विषयभोगों में लम्पटता का ही प्रचार करने वाले हैं, उनके समुदाय से अलग रहना आवश्यक है क्योंकि ऐसे लोग शास्त्रीय नियमों से विपरीत चलकर वातावरण में सदा विक्षेप व कलह बढ़ाकर साथियों को जबरन धर्माचरण से भ्रष्ट करने में प्रयत्नशील रहते हैं। यथा प्रतिदिन दूरदर्शन की प्रशंसा सुनने पर साधक को उसमें हेयबुद्धि न रहकर उपादेयबुद्धि होने लगती है। अथवा पौनःपुन्येन अकारण अपमानित कर क्रुद्ध होने को बाध्य कर दिया जाता है। अतः वह वातावरण साधक के प्रतिकूल रहता है। जहाँ आत्मज्ञान के संस्कारों वाले साधकों का संघ होगा वहाँ सभी धर्माचरण करेंगे। वैराग्य का आचार-विचार होगा जिससे साधकों में ज्ञानसाधनों का विस्तार करने का मौका मिलेगा। इस प्रकार गृहस्थाश्रम में पुत्र, पत्नी आदि कारणों से राग-द्वेष अवश्य प्राप्त हैं। वर्तमान काल में तो चलचित्र या होटल जाने के लिये पारिवारिक जन बाध्य भी कर देते हैं। इस स्थिति में आत्मज्ञानसाधना दुष्कर हो जाती है। संन्यासीसंघ में इसके विपरीत यदि दूरदर्शन आदि में प्रवृत्ति होगी तो भी अन्य संघसदस्यों के कारण निवृत्ति हो जायेगी। अतः बुद्ध से लेकर श्रीशंकर तक सभी ने इसे आवश्यक माना है। यदि कहीं कहीं संघों में बुराइयाँ आयी हैं तो समय समय पर सुधारक भी आये हैं। महायान का भ्रष्टाचार, हीनयान की राजनीति में दखल, ईसाइयों का राजनीति के साथ अर्थनीति में प्रवेश आदि विकारों का सुधार करने वाले भी संघसदस्य ही थे। लोग भूल जाते हैं कि संघ के अभाव में सुधार का उत्स ही कहाँ होता? सभी बुराइयों के जन्मदाता उन बुराइयों को अपने लिये जायज़ मानकर भी सामान्य सदस्यों को उनसे बचने का उपदेश देते ही हैं। संघ में तदनुकूल आचार-विचार वाले भी तैयार हो ही जाते हैं। अतः संघ के बिना सुधार भी संभव नहीं। इस प्रकार श्रुति ने बहुवचन का प्रयोग कर बहुत कुछ कह दिया है।

व्यक्ति और संघ के रूप का प्रतिपादन सुधाकार ने पृ० ४२ में रोचक ढंग से उपस्थापित किया है। इस विषय में पृ० ४० टि० ४ भी द्रष्टव्य है। एक अविद्या स्वीकारने वाले प्रकाशात्मा के अनुयायी होकर भी अनुभूतिस्वरूप माया व अविद्या का भेद कैसे मानते हैं इस प्रश्न का परिहार सुधा में पृ० ४३ पर दिया गया है। इस प्रकार अनुभूतिस्वरूपाचार्य को मान्य बहुजीववाद पृ० ४६ में दर्शित है। पृ० ४९ में मन्त्रों की कर्मप्रतिपादकता का भी रोचक व उभयमीमांसासंमत पक्ष दर्शा दिया गया है।

कर्म तुषारकन्दुक (snow ball) होने से निरन्तर बढ़ते जाते हैं। प्रत्यवाय न हो इसलिये अग्निहोत्र आवश्यक है। अग्निहोत्र ग्रहण करने वाले को प्रतिमास दर्श व पौर्णमास करना आवश्यक हो जाता है। जब तक जिये तब तक दर्श व पौर्णमास करने का नियम है। इसी प्रकार चातुर्मास्य एवं नवीन कृषि से उत्पादित चावल से शरद् ऋतु के आरंभ में उसे खाने से पहले आग्रयण करने का नियम अग्निहोत्री के लिये है। दैनन्दिन वैश्वदेव भी सभी का कर्तव्य होने से अग्निहोत्री का कर्तव्य है ही। यही हाल अतिथिपूजन का है। सभी यज्ञ विधिपूर्वक ही किये जावें यह आवश्यक है, अन्यथा हानिकारक भी होते हैं। इस प्रकार इनके सामानाधिकरण्य का विचार (पृ० ५३-५५) शास्त्रीय ढंग से किया गया है। जटिल होकर भी कर्म संसारसमुद्र से पार ले जाने में असमर्थ है, पृ० ५७ में यह श्रौतमत बताया है। वहीं नैष्कर्म्यसिद्धि के आधार पर टिप्पणी में इसका विस्तार है। जीवन्मुक्ति और विदेहमुक्ति पर प्रौढ, हृद्य तथा सिद्धों के अनुभव के अनुकूल विचार यथास्थान (पृ० ६६) दर्शनीय हैं। इसी प्रकार उपोद्घातभाष्य में उद्धृत और मन्त्रभाष्य में कथित 'भिक्षाचर्या' का बृहदारण्यक के साथ विकल्पानुसन्धान सुन्दर बन पड़ा है। पृ० ८८ में 'सव्यवहारविषयम्' में व्यवहार और विषय का नाम-रूप अर्थ भी विलक्षण है। पृ० ८१ से ११२ तक शीर्षभाग में सर्वत्र प्रथम खण्ड के स्थान पर द्वितीय खण्ड का अंकन मुद्राराक्षसों का अद्भुत उत्पात है!

संक्षिप्त होने पर भी प्रश्न, मुण्डक व माण्डूक्य ही अथर्ववेद की मुख्य उपनिषदे हैं। माण्डूक्य की परमरहस्यता तो सुप्रसिद्ध ही है। अद्वैत का प्रथम दार्शनिक उपलब्ध ग्रन्थ इस पर गौडपादाचार्य की

कारिका ही है। परन्तु मुण्डक व प्रश्न में ओङ्कारोपासना के साथ अन्य साधनों का भी स्पष्ट विस्तार है। श्रवण, मनन तथा निदिध्यासन का पृ० ११९ टि० ११ में अनेक साम्प्रदायिकों का समन्वय कर प्रसंग मनोरम बनाया गया है। हृदय में सहज भाव से आत्माभिव्यक्ति पर आचार्य शंकर की तरह ही वर्तमान काल में रमण महर्षि ने समधिक बल दिया है। जाग्रत् में चक्षु में स्थित होकर भी सुखभोग के लिये हृदयकमल में ही जाता है। इसी प्रकार समाधि में भ्रूमध्य या सहस्रार में स्थित होकर भी सहजावस्था में हृदय में रहता है। अतः हृदय में एकाग्रता सहजावस्था की प्राप्ति के लिये करनी चाहिये। इसी बात को मुण्डक भी स्पष्ट कहती है। "आविः सन्निहितं गुहाचरं नाम" (२.२.१) में यह व्यक्त है। उपनिषद्रूप महाधनुष पर एकाग्रमनरूप बाण चढ़ाकर उसे विषयोपरति से खींचकर ब्रह्मरूप लक्ष्य का वेध करना इसी में प्रतिपादित है। परवर्ती साहित्य में इस रूपक का काफी विस्तार किया गया है। इसमें वेदान्त की समग्र साधना को सूत्ररूप में रखा है। वेदान्त सूत्रशैली व व्यासशैली दोनों में अद्भुत है। इसी प्रकार श्रुति व युक्ति की वेणी भी इसमें गंगा व यमुना के संगम की तरह ऐसी संग्रथित है कि इसकी शोभा अनोखी है। भाष्यकार सर्वज्ञ आचार्य श्रीशंकर को 'अनुमार्द्ध-विग्रह' उनके व्याख्याता शिष्य ने कहा है। अनुमा अर्थात् अनुमान है अर्द्ध अर्थात् आधी विग्रह अर्थात् मूर्ति जिनकी—यह अनुमार्द्धविग्रह शब्द का अर्थ है। आधा शरीर श्रुति व आधा युक्ति है। इसीलिये आचार्य शंकर का श्रौत विग्रह साधकों को आकर्षित कर उन्हें ब्रह्मविद्यासम्प्रदाय की ओर खींचता है तो उन्हीं का युक्तिविग्रह विद्वान् दार्शनिकों को आकर्षित कर उन्हें बरबस अद्वैत को परमोच्च दर्शन मानने को बाध्य करता है। यह सत्य है कि विश्व के दार्शनिक-आकाश में भारत का सर्वाधिक देदीप्यमान भास्कर श्रीशंकर ही हैं। उनका यह रूप भी अद्भुत है। साधकों के वे सर्वस्व हैं। उनके विद्वद्वरिष्ठ शिष्य ने भाष्यनीति का यों उद्घोष किया है—

> "यस्येदं सकलामलेन्दुकिरणप्रख्यैर्यशोरश्मिभि-
> व्याप्तं यश्च कृपालुतापरवशश्चक्रे हितं दुःखिनाम्।"

'दुःखमय संसार में फँसे जीवों के उद्धार के लिये केवल कृपा के परवश हो निर्मल चन्द्र के समान ज्योत्स्ना फैलाकर उनका उद्धार आचार्य द्वारा किया गया है।'

वेदान्तदर्शन की सुन्दरता पर मुग्ध होकर कई बार लोग भूल जाते हैं कि यह केवल बुद्धि का वैशारद्य सम्पादन करना नहीं हैं वरन् वेदान्त अनुभूति का शास्त्र है। 'एकं वेदान्तविज्ञानं स्वानुभूत्या विराजते', 'अनुभवावसाना हि ब्रह्मविद्या' आदि सम्प्रदायप्रवर्तकों के वाक्य सदा याद रखने चाहिये। अन्यथा मुण्डक का कहना है कि उपनिषद् भी अपराविद्या ही रह जायेगी, परा विद्या न हो पायेगी। इसके लिये ही आचार्य के माध्यम से श्रुति का आशीर्वाद है "स्वस्ति वः पाराय तमसः परस्तात्"। दृश्य में सत्यत्वभ्रान्ति ही सबसे बड़ा विघ्न है। इसे आचार्य ही दूर करते हैं। इसीलिये शिष्य भी कहता है "त्वं हि नः पिता योस्माकमविद्यायाः परं पारं तारयसि"। यह गुरु-शिष्यभाव वेदान्त में सर्वत्र अनुस्यूत है।

इस प्रकार उपनिषद्द्वय में वेदान्त के सभी विचार स्पष्ट हो गये हैं। इसके अर्थमनन के लिये इन अनुवादों की उपयोगिता स्फुट है। साथ में मूल भाष्य का पाठ तो अपेक्षित है ही क्योंकि सर्वज्ञ जगद्गुरु के शब्दों में जो मन्त्रशक्ति है उसे तो अनूदित करना अशक्य ही रहेगा। परन्तु मन्त्र का सार्थ विचारपूर्वक जप का विधान होने से ही अनुवाद की उपयोगिता है। स्वामी स्वयम्प्रकाश गिरि के इस प्रयास का अभिनन्दन करते हुए उनकी सर्वविध प्रगति के लिये भगवान् उमारमण से प्रार्थना करते हैं।

आबू पर्वत — भगवत्पादीय

आश्विन वदि ४,२०४८ — महेशानन्द गिरि

ॐ

श्रीमदानन्दगिरिटीकाघटित

मुण्डकशाङ्करभाष्यानुवाद

नत्वा श्रीदक्षिणामूर्ति शङ्करं च निजं गुरुम्।
भाषायां क्रियते ह्यर्थो मुण्डकभाष्यटीकयोः॥

जो कभी क्षीण न होने वाला निर्विशेष चैतन्य ज्ञान द्वारा लभ्य बताया जाता है तथा जिसे जान लेने पर सभी कुछ जाना हुआ हो जाता है, वह मैं हूँ, इसमें कोई सन्देह नहीं है॥[1]

ब्रह्मोपनिषत्, गर्भोपनिषत् आदि कई[2] उपनिषदें अथर्ववेद की हैं।

संगृह्योतस्ततो भावान् टिप्पणीं गुरुतुष्टये।
यथामति विरचये भाष्यटीकासुधाभिधाम्॥

१. परैक्यानुसन्धानलक्षण मंगलाचरण समझना चाहिये। अतः 'स्याम्' का अर्थ 'अस्मि' है। ज्ञानलभ्यता बन्ध की आज्ञानिकता और ज्ञानमात्र की मोक्ष-साधनता बताने के लिये है। निर्विशेषता अक्षयता में हेतु है। एक विज्ञान से सर्वविज्ञान आत्मा की जगत्कारणता का द्योतक है। परब्रह्म विषय, अक्षय मोक्ष प्रयोजन, परैक्येच्छु अधिकारी है यह भी बता दिया।

२. अथर्वपरिशिष्ट में अथर्ववेद की अट्ठाइस उपनिषदें गिनाई हैं—मुण्डक, प्रश्न, ब्रह्मविद्या, क्षुरिका, चूलिका, अथर्वशिरस्, अथर्वशिखा, गर्भ, महोपनिषत्, ब्रह्म, प्राणाग्निहोत्र, नादबिंदु, ब्रह्मबिंदु, अमृतबिंदु, ध्यान-बिंदु, तेजबिंदु, योगशिखा, योगतत्त्व, नीलरुद्र, कालाग्निरुद्र, तापिनी, एकदण्डी, संन्यासविधि, आरुणी, हंस, परमहंस, नारायण और वैतथ्य। इनसे अतिरिक्त माण्डूक्य, बृहज्जाबाल, नृसिंहपूर्वतापिनी, नृसिंहोत्तरतापिनी, नारदपरिव्राजक, सीता, शरभ, त्रिपाद्विभूतिमहानारायण, रामरहस्य, राम-पूर्वतापिनी, रामोत्तरतापिनी, शाण्डिल्य, परमहंसपरिव्राजक, अन्नपूर्णा, सूर्य, आत्मा, पाशुपतब्रह्म, त्रिपुरातापिनी, देवी, भावना, भस्मजाबाल, गणपति, महावाक्य, गोपालपूर्वतापिनी, गोपालोत्तरतापिनी, कृष्ण, हयग्रीव, दत्त और गरुड उपनिषदें अथर्ववेदीय साम्प्रदायिकों ने स्वीकारी हैं। अष्टोत्तरशत उपनिषदों में ३२ कृष्णयजु में, ३१ अथर्व में, १९ शुक्लयजु में, १६ साम में और १० ऋग्वेद में हैं।

उनमें अनेक उपनिषदों का ब्रह्मज्ञान (तथा वेदान्तमीमांसा[1]) में साक्षात् उपयोग न होने के कारण भाष्यकार को उनकी व्याख्या करने की इच्छा न होने से (उन अनुपयोगी उपनिषदों की उपेक्षा कर) 'अदृश्यत्व आदि गुणों वाले परमात्मा का "यत्तदद्रेश्यम्" (मु० १.१.६) आदि मन्त्र में वर्णन है व उसी के सर्वज्ञता आदि धर्म बताये गये हैं' (१.२.६.२१) इत्यादि शारीरमीमांसा के अधिकरणों में साक्षात् उपयोगी होने से जिस उपनिषत् की व्याख्या करने की उन्हें इच्छा है उस मुण्डक उपनिषत् के प्रतीकभूत प्रथम कुछ शब्दों का वे उल्लेख करते हैं—'ॐ ब्रह्मा देवानाम्' इत्यादि शब्दों से प्रारम्भ होने वाली अथर्ववेदीय (मंत्रभाग की) उपनिषत् है 'जिसकी व्याख्या करने की हमें इच्छा है'—इतना भाष्यवाक्य के अभिप्राय को जानने के लिये जोड़ लेना चाहिये।

प्रश्न होता है कि मुण्डकोपनिषत् मन्त्रात्मिका है और 'इषेत्वा' (यजु० १.१) आदि सभी मन्त्र इसीलिये प्रयोजन वाले हैं क्योंकि उनका कर्म से सम्बन्ध है। प्रकृत उपनिषत् के मन्त्र कर्म में प्रयोग के योग्य हैं इसमें कोई प्रमाण नहीं जिससे कि इनका कर्म से संबंध हो, फलतः ये

---

१. ब्रह्मसूत्रों में विचारित सभी उपनिषदों का व्याख्यान भाष्यकार को अभीप्सित नहीं। एवमपि चुनाव का यह आधार समझ सकते हैं कि जिन अध्ययनपरम्परा में प्रचलित उपनिषदों में ब्रह्मात्मैक्य का विशेष प्रतिपादन है तथा जो सूत्रों में विचारित हैं, उनकी व्याख्या भाष्यकार को इष्ट है। मुक्तिकोपनिषत् के अनुसार भी सर्वसमर्थ माण्डूक्योपनिषत् है व तदनन्तर ईशादि दशोपनिषदों की प्रधानता है (जिनमें माण्डूक्य भी है)। सूतसंहितान्तर्गत ब्रह्मगीता में ऐतरेय, तैत्तिरीय, केन, छान्दोग्य, मुण्डक, कैवल्य, बृहदारण्यक और कठ उपनिषदों का संग्रह है। यह भी प्रायः शारीरप्राधान्यदृष्ट्या ही है। प्रश्न तो मुण्डकग्रह से गतार्थ है। माण्डूक्य का विषयवाक्य ब्रह्मसूत्रों में नहीं मिलता क्योंकि उसमें संदिग्धस्थल नहीं हैं। इस प्रकार जो शारीरमीमांसा में उपयोगी उपनिषदें हैं उनका भाष्यकार ने विवरण किया यह स्पष्ट है। यद्यपि कुछेक उपनिषदें उपयोगी होने पर भी छूटी प्रतीत होती हैं तथापि उनकी स्वतः स्पष्टता ही इसमें कारण मानना चाहिये। अथवा दशोपनिषद्भाष्य लिखकर भगवान् ने दिशा बता दी जिसके अनुसार २८, ३२ या सभी १०८ उपनिषदों की व्याख्या समझ लेनी चाहिये यह भाव है।

मंत्र निष्प्रयोजन सिद्ध होते हैं अतः (अत्यन्त विवेकी आचार्य को) इनकी व्याख्या करने की इच्छा हो यह संभव नहीं[1]। इस प्रकार शंका करने वाले के लिए यह उत्तर है—यद्यपि यह ठीक है कि इन मंत्रों का कर्म से संबंध नहीं तथापि क्योंकि ये परमात्मज्ञान को बताते हैं इसलिये आत्मज्ञानरूप पुरुषार्थ से इनका संबंध होगा (और इस प्रकार ये सप्रयोजन

---

१. मीमांसकमर्यादानुसार वेद का अध्ययन वैध कर्म है और वेद प्रयोजनरहित कार्य का विधान नहीं कर सकता अन्यथा प्रतारकत्वादि की उसमें प्राप्ति होगी। वेद में पाँच भाग हैं—विधि, मंत्र, नामधेय, निषेध और अर्थवाद। स्वर्गादिप्रयोजन वाले यज्ञादि का विधायक होने से विधिभाग सार्थक है। उस विधेय कर्मादि को विहित-सामान्य से पृथक् कर बताने से नामधेय सप्रयोजन हैं। तात्पर्य है कि 'पशु चाहने वाला व्यक्ति यज्ञ करे'—इतना कहने से कौन-सा यज्ञ करना चाहिये यह ज्ञात नहीं होता अतः 'उद्भिद्' इस नाम की आवश्यकता है, 'उक्त कामना वाला उद्भिद् नामक यज्ञ करे' सुनने पर कर्तव्य कर्म स्पष्ट हो जाता है। अनर्थ के हेतुभूत कर्मों से निवृत्ति कराना निषेधभाग का प्रयोजन है। विधेय और निषिध्यमान कर्म को क्रमशः अच्छा और बुरा बताकर उन्हें करने या उनसे बचने में प्रेरित करने वाले होने से अर्थवाद भी सार्थक हैं। अर्थात् फल के लिये कर्म का विधान करने पर भी जब तक उसकी कोई विशेषता न सुनी जाये तब तक सामान्य प्रवृत्ति नहीं होती और विशेषता जान लेने पर सोत्साह प्रवृत्ति हो जाती है; यह विशेषता बताना ही अर्थवादों का काम है। विधि कार्य में प्रेरित करती है जिसके लिये उसका (विधि का) कर्तव्यविशेष—इति-कर्तव्यता—है प्राशस्त्यादि बताना। इस प्रकार चार भागों की सप्रयोजनता स्पष्ट है। मंत्रों का प्रयोजन यही है कि कर्म करते हुए जिन द्रव्यों या देवताओं को स्मरण करना आवश्यक हैं उन्हें याद दिलावें। इससे अतिरिक्त मंत्रों का कोई काम नहीं। अतः जो मंत्र इस काम को नहीं करते वे निष्प्रयोजन हों यह आपत्ति आती है। इसे बचाने के लिये या इन्हें देवता या कर्ता का स्तावकादि मानकर अर्थवादकोटि में ले जाना पड़ता है और या इनके जप से पुण्य मानकर इन्हें सप्रयोजन सिद्ध करना पड़ता है। सर्वथापि इनका जो अर्थ है, शब्दार्थ है, वह शास्त्र का तात्पर्य नहीं। यह कर्मजडवादी का अभिमान है जिसके अनुसार शंका उठी है।

और अपने प्रतिपाद्य अर्थ में तात्पर्य वाले हैं) ।[1] पुनः शंका होती है कि ज्ञान किसी व्यक्ति को ही होता है अतः यदि यह उपनिषत् व्यक्ति को होने वाले ज्ञान का प्रतिपादन करे तो यह भी पुरुष-प्रभव स्वीकारनी पड़ेगी और तब इसके विषय में होने वाली शंका की एक कोटि अवश्य बनी रहेगी कि जिस व्यक्ति से इसका जन्म है उस व्यक्ति में विद्यमान भ्रम आदि दोषों के कारण यह भी अप्रमाण तो नहीं ?—इस प्रकार शंकित अप्रामाणिकता के कारण भी यह उचित नहीं कि विद्वान् आचार्य को इसके व्याख्यान की इच्छा हो[2] । मन में यह शंकाकर इसकी निवृत्ति के लिये भगवान् भाष्यकार कहते हैं—इस उपनिषत् का व्यक्तियों से यही सम्बन्ध है कि वे आत्मज्ञान का अवबोध कराने वाले पारम्परिक कर्ता हैं[3]; इस सम्बन्ध को स्वयं उपनिषत् ने ही ज्ञान की प्रशंसा करने के

---

१. समाधान का अर्थ यह है कि मंत्रों को सप्रयोजन होना चाहिये यह बात तो उचित है पर उनका कर्म-संबंध ही प्रयोजन है यह आग्रह गलत है । मोक्ष-साधन आत्मज्ञान भी कर्म की तरह पुरुषार्थ है । जैसे कर्मसंबंध सप्रयोजनता का आपादक है वैसे ज्ञानसंबंध भी उसका आपादक है । जैसे नियमादृष्ट मानकर मंत्रों से ही स्मरण आवश्यक है वैसे ही मंत्रों से ही ज्ञानोत्पत्ति स्वीकार्य है । अतः ज्ञानसम्बन्ध मानकर कार्य सिद्ध होता है । ज्ञानसम्बन्ध होने पर इन मंत्रों को न अर्थवाद मानना पड़ता है जिससे इनका अर्थान्तरादि करना पड़े और न केवल पाठार्थ मानना पड़ता है । अदृष्ट की अपेक्षा दृष्ट फल में लाघव मीमांसक को स्वीकृत है । अतः मंत्रों का दृष्ट ज्ञानोत्पत्तिरूप फल माना जा सके तो उसे अधिक संतोष होना चाहिये । इस प्रकार सप्रयोजन होने से व्याख्येय हैं यह यात्पर्य है ।

२. जो निश्चित रूप से प्रमाण हो उसे ही प्रमासाधन मानना उचित होने से वही व्याख्येय हो सकता है । जिसकी प्रामाणिकता संदिग्ध हो उसे अफवाह-तुल्य ही मानना चाहिये अतः व्याख्या के अयोग्य समझना चाहिये यह भाव है । यद्यपि स्वर्गसाधन कर्म के विषय में भी समान प्रश्न उठ सकता है कि साधनता को जानकर ही उसका विधान संभव होने से ज्ञातृदोषप्रसूत अप्रामाण्यशंका हो सकती है तथापि उसका उत्तर है कि नित्यवेद में यह शंका नहीं, अदृष्टसाधनता पुरुषविज्ञेय नहीं अतः पुरुषप्रसूतता संभव नहीं । वस्तुतः यही उत्तर उपनिषद् के विषय में भी है । प्रस्तुत प्रश्न पौरुषेय शास्त्रवादी या नास्तिक की ओर से समझना चाहिये ।

३. परम्परा से होने वाला जो विद्यासम्प्रदायकर्तृत्व वही सम्बन्ध है ।

लिये प्रारम्भ में ही बताया। व्यक्ति इतना ही करते हैं कि ज्ञान का उपदेश सत्पात्र को हो जाये, अपनी बुद्धि से सोचकर ज्ञान की प्रतिपादिका उपनिषत् की रचना नहीं करते।[1] यह समझाना भी ऐसा नहीं कि आजकल ही होता है जिससे इस पर श्रद्धा न की जा सके, किंतु समझाने की यह परम्परा अनादि काल से चल रही है। अतः जिस उपनिषत् के बारे में अनादिकाल से ही प्रसिद्ध है कि इसमें स्पष्ट आत्मज्ञान कराने की सामर्थ्य है, उसका व्यक्तियों से इतना ही सम्बन्ध है कि, जैसी परम्परा है, वे उसका उपदेश करते हैं। इस सम्बन्ध को उपदेश प्रारंभ करने के पहले हो श्रुति ने कहा, यह अर्थ है। जैसे ज्ञान का व्यक्तियों से सम्बन्ध इतना हो है कि वे उसका उपदेश देते हैं वैसे ही उपनिषत् का भी उतना ही उनसे सम्बन्ध है।[2] यदि उपनिषत् की पुरुष-निर्मितता नहीं, यह स्पष्ट करने के लिये यह बताने की इच्छा है कि इसका पुरुषों से पूर्वोक्त सम्बन्ध मात्र है, तो उपनिषत् से भिन्न कोई व्यक्ति या ग्रंथ उक्त सम्बन्ध को बताये यह उचित है क्योंकि स्वयं ही अपना सम्बन्ध बताने पर आत्माश्रयदोष[3] होगा—इस शंका को मन में रख इसे हटाने के लिये कहा "ज्ञान की प्रशंसा करने के लिये स्वयं उप-

१. जैसे कालिदास का काव्य शिष्य को समझाना अध्यापक का कार्य है, वह उन श्लोकों का निर्माण नहीं करता, वैसे आत्मप्रतिपादिका उपनिषत् शिष्य को गुरु समझाता है, उसे रचता नहीं। अतः गुरु के दोष से उपनिषत् में अप्रामाण्य नहीं आता।

२. सनातन ज्ञान का निर्माता कोई व्यक्ति नहीं होता, केवल उपदेशक होते हैं। दो व दो का जोड़ चार होता है इस ज्ञान का कोई रचयिता नहीं, उपदेशक अनेक होते हैं। इस दृष्टान्त से उपनिषत् की भी पुरुषकृतता निराकृत होती है।

३. उपनिषत् में श्रद्धा हो यही इस परम्परा-प्रदर्शन का तात्पर्य है। अतः जिस पर पहले ही श्रद्धा हो वह व्यक्ति आदि परम्पराप्रदर्शन करे तब तो उपनिषत् पर श्रद्धा हो अन्यथा स्वयं उपनिषत् ही परम्परा बताकर अपनी महत्ता बताये और आशा की जाये कि उस पर श्रद्धा होगी तो यह असंगत है। उपनिषत् पर श्रद्धा हो तब उसमें बतायी परम्परा पर श्रद्धा हो तब उपनिषत् पर श्रद्धा हो—इस प्रकार स्वश्रद्धा के लिए स्वश्रद्धा की अपेक्षा होने से आत्माश्रयदोष हुआ। समाधान स्पष्ट है कि ज्ञान की श्रद्धेयता उपनिषत् को अभिप्रेत है, अपनी श्रद्धेयता नहो अतः आत्माश्रय नहीं।

निषत् ने ही बताया"। तात्पर्य है कि उपनिषत् का अभिप्राय ज्ञान की प्रशंसा करने में है अतः उक्त दोष नहीं होगा। [प्रशंसा किस प्रकार ? यह बताते हैं—] इस प्रकार के महान् व्यक्तियों द्वारा बड़े परिश्रम से मोक्ष के उपायरूप से यह ज्ञान प्राप्त किया गया—इस ढंग से स्तुति भी क्यों की ? यह बताते हैं—ज्ञान को महान् बताया, जिससे कि श्रोताओं के मन में रुचि उत्पन्न हो। और स्तुति द्वारा जिसमें रुचि उत्पन्न हो चुकी हो उस ज्ञान के लिये सप्रयत्न प्रवृत्ति करें। भाष्य में 'प्रवर्तेरन्' ऐसा प्रयोग उचित है क्योंकि वृत् धातु आत्मनेपदी है।[1] ज्ञान का जो प्रयोजन है वही इस उपनिषत् का भी प्रयोजन होगा, इस तात्पर्य से विद्या का प्रयोजन से सम्बन्ध बताते हैं—प्रयोजन (मोक्ष) से आत्मज्ञान का यह सम्बन्ध है कि ज्ञान साधन है और मोक्ष साध्य[2] है; इस साध्यसाधन-भावसम्बन्ध को आगे उपनिषत् बतायेगी 'सभी कामनायें नष्ट हो जाती हैं' (२.२.८) इत्यादि मंत्र द्वारा। [3]यदि संसरण की कारणभूत अविद्या-निवृत्ति ही ब्रह्मज्ञान का फल है तब अपरा विद्या से ही उसकी निवृत्ति संभव होने के कारण केवल उतने ही फल के लिये आत्मज्ञान को बताने वाली उपनिषत् व्याख्या के योग्य नहीं; इस शंका के निराकरण के लिये कहते हैं—इस उपनिषत् में विद्या के परा और अपरा इस प्रकार भेद बताकर 'अविद्या में पड़े रहने वाले' (१.२.८) इत्यादि वाक्य से स्वयं ही, केवल विधान और निषेध में तात्पर्य वाली ऋग्वेद आदि स्वरूप अपरा कही जाने वाली विद्या में संसरण के कारणभूत अविद्या आदि दोषों का नाश करने की सामर्थ्य नहीं यह बताकर[4], उसी

---

१. 'सादराः प्रवर्तेयुः' ऐसा भी भाष्यपंक्ति का पाठ मिलता है जो लेखक-प्रमादादिप्रयुक्त है यह भाव है।

२. यद्यपि मोक्ष सिद्ध है तथापि तदुपलक्षक अविद्यानिवृत्ति साध्य होने से इसे साध्य कह दिया।

३. फलवैशिष्ट्य प्रयत्नवैशिष्ट्य का प्रयोजक है अतः अपराविद्या के फल से विलक्षण पराविद्या का फल आवश्यक है इसे शंका-समाधान द्वारा स्पष्ट करते हैं—यदि।

४. संसारकारण आत्माऽनवबोध है अतएव मोक्षकारण आत्मज्ञान है यह श्रुति-डिण्डिम है। इसलिए कर्मकाण्ड प्रतिपादक कर्मविद्या से मोक्ष सम्भव नहीं, आत्मज्ञानप्रतिपादक उपनिषत् से ही है यह भाव है। यद्यपि परविद्या चरम-वृत्ति है तथापि तज्जनक होने से उपनिषत् को भी वैसा ही समझना चाहिए।

प्रकार[1] 'कर्मफलभूत लोकों को मिथ्या जान उनका तिरस्कार करके' (१.२.१२) इत्यादि वाक्य से परमात्मप्राप्ति की उपायभूत ब्रह्मविद्या को बताया है जिसकी उपलब्धि गुरुकृपा[2] से तभी हो सकती है जब सभी साधनों के और उनसे प्राप्य फलों के प्रति वैराग्य[3] हो। संसरण का कारण अविद्या आदि[4] दोष है। कर्मरूप[5] अपरा विद्या उन दोषों का नाश करने वाली नहीं क्योंकि उसका उनसे कोई विरोध[6] नहीं। सैकड़ों तरह से भी प्राणायाम करने वाले का सींप का अज्ञान सींप देखे विना नष्ट होता नहीं देखा जाता। इसलिए (विरोध न होने के कारण) 'अपरा विद्या संसरण के कारणभूत अज्ञान को नष्ट नहीं करती यह स्वयं ही कहकर ब्रह्मविद्या को बताया है'—यह भाष्यवाक्य का सम्बन्ध है। और भी[7], सर्वश्रेष्ठ पुरुषार्थ (मोक्ष) का उपाय होने के कारण

---

१. जिस प्रकार स्पष्ट रूप से अपरविद्या की असाधनता बताई उसी प्रकार स्पष्ट रूप से परविद्या की साधनता बताई।

२. क्योंकि श्रुतियाँ नाना प्रकार की मिलती हैं, संशय बहुत उत्पन्न होते हैं और विषय अत्यन्त सूक्ष्म है, इसलिये जब तक गुरु कृपा पूर्वक रहस्य न समझाये, ज्ञानोपलब्धि नहीं होती।

३. वैराग्य अन्य साधनों का उपलक्षक है।

४. आदि पद काम व कर्म का बोधक है। यद्यपि अविद्या ही मूल कारण है तथापि बंधनदुःख का स्पष्ट अनुभव कर्मनिमित्तक ही है व कर्म कामप्रयुक्त ही हैं अतः उन दोनों की सूचना आवश्यक है।

५. यद्यपि विद्या कर्मरूप नहीं कर्मबोधक है तथापि कर्मबोधक विद्या किसी फल को तभी उत्पन्न कर सकती है जब उसके बोध्य कर्म का अनुष्ठान किया जाये। अतः यहाँ अपरा विद्या का तात्पर्य उससे निर्वर्त्य कर्म से है।

६. अज्ञान का विरोधी ज्ञान ही संभव है। काम-कर्म का भी आत्यंतिक नाश उनके कारणभूत अज्ञान के नाश से ही संभव है। कर्म अविद्याभूमि में होता है और कर्तृत्वादि अविद्या का पोषण करता है अतः वह उसका निवर्तक नहीं। सुरेश्वराचार्य ने भी कहा है—'कर्मापमार्ष्टिनाज्ञानं तमसीवोत्थितं तमः' (नै० सि० १.२४), 'ज्ञानवन्नाविरोधित्वात्कर्माविद्यां निरस्यति' (नै० सि० १.५२)।

७. केवल पूर्वोक्त युक्ति के बल पर ही नहीं, नाम के बल पर भी उक्त सिद्धान्त निश्चित होता है यह कहते हैं—।

आत्मज्ञान की परा-विद्यारूपता है और संसारात्मक अल्प फल वाली होने से कर्मज्ञान की अपरा-विद्यारूपता है[१]। अतः नाम के द्वारा भी अपराविद्या मोक्ष का साधन नहीं है यह समझ में [२]आता है। इस बात को सूचित करने के लिए भाष्यकार ने कहा—"परा और अपरा इस प्रकार भेद बता कर"। तथा कर्म को महत्तम मानने के कारण स्थूल बुद्धि वाले वादी जो यह कहते हैं कि उपासना आदि से असम्बद्ध होकर निर्भिन्न आत्मतत्त्वमात्र को बताने वाली विद्या कर्म आदि करने वाले कर्ता का संस्कार करने वाली होने से कर्म का अंग ही है, कर्म आदि के सहयोग के विना उसमें अकेले ही पुरुषार्थ उपलब्ध कराने की सामर्थ्य नहीं,[३]—वह उनका कहना आगे आने वाले श्रुति-वचन से ही कट जाता

१. पर से श्रेष्ठ और अपर से निकृष्ट को कहा जाता है।

२. पूर्वमीमांसा में (३.३.१४) अंगताबोधक छह प्रमाणों में 'समाख्या' का भी स्थान है। यौगिक शब्द को समाख्या कहते हैं। जैसे अध्वर्योरिदम्—इस प्रकार की यौगिक अभिधा, समाख्या, एक काण्डविशेष की है और इस समाख्या—नाम—से ही निश्चित हो जाता है कि उस काण्ड में प्रतिपादित कर्म अध्वर्यु के कार्य हैं; वैसे ही परा नामक विद्या परम पुरुषार्थ की साधन और अपरा नामक विद्या अपरपुरुषार्थ की साधन सिद्ध होती है यह तात्पर्य है।

३. मीमांसक विधिनिषेध को शास्त्रप्रतिपाद्य मानते हैं अतः जो वेदभाग कुछ करने या किसी क्रिया से बचने को नहीं कहता उसे भी सार्थक बनाने के लिये विधि-निषेध से जोड़ देते हैं, जैसा कि सूत्र है 'विधिनात्वेकवाक्यत्वात्स्तुत्यर्थेन विधीनां स्युः' (पू० मी० १.२.७) अतः आत्मबोधक वाक्यों का भी यथाकथंचित् संबंध कर्म से जोड़ना पड़ेगा। इसके लिये उनकी व्यवस्था है कि औपनिषद आत्मज्ञान किसी लौकिक कर्म के लिये तो अपेक्षित नहीं अतः पारलौकिक कर्म के लिये उसे आवश्यक मानना होगा तभी उसका उपदेश सार्थक होगा। इस प्रकार औपनिषद आत्मज्ञानरूप संस्कार वाला कर्ता पारलौकिक फल का उपभोग कर सकता है उस संस्कार के बिना नहीं, जैसे प्रोक्षण संस्कार वाले चावल ही यज्ञ के उपयोग में आ सकते हैं। इसीलिये आत्मज्ञान का जो फल बताया है वह केवल प्रशंसार्थक है क्योंकि सिद्धान्त है कि 'द्रव्यसंस्कारकर्मसु परार्थत्वात् फलश्रुतिरर्थवादः' (पू० मी० ४.३.१)। आत्मारूप द्रव्य औपनिषद आत्मज्ञान से संस्कृत होता है व वह संस्कार वाला

है यह कहा—"उसी प्रकार परमात्मप्राप्ति की उपायभूत" (आदि वाक्य से)। यदि आत्मज्ञान कर्म का अंग होता तो (आत्मज्ञानप्रसंग में) कर्म की निन्दा न की गयी होती। यह निश्चित है कि किसी अंग का विधान करने के लिए प्रधान की निन्दा नहीं की जाती। इस उपनिषत् में तो सभी साध्यों की व उनके साधनों की निन्दा के द्वारा उनके प्रति वैराग्य को बताकर परममोक्ष के उपायभूत ब्रह्मज्ञान को बताया गया है। इसलिए आत्मज्ञान किसी अन्य का (=कर्म का) अंग नहीं, स्वयं ही प्रधान है—स्वतन्त्र रहकर ही फल देने में समर्थ है और अतएव आत्मज्ञान को बताने वाली उपनिषदें कर्ता की स्तुति नहीं करती (स्वप्रतिपाद्य अर्थ में ही तात्पर्य वाली हैं) यह भाव है। यदि उपनिषदें कर्मात्मक सहायक के विना स्वयं ही परमात्मज्ञान का प्रतिपादन कर देती हैं तो उन्हें पढ़ने वाले सभी लोगों को ब्रह्मज्ञान क्यों नहीं उत्पन्न हो जाता ?—इस शंका को मन में रख इसके निरास के लिए कहा—"गुरुकृपा से"। तात्पर्य है कि यद्यपि गुरुकृपा आदि[1] संस्कार न होने से सभी को आत्मावबोध नहीं हो जाता तथापि जो साधनसम्पन्न अधिकारी हैं उन्हें ज्ञान हो जायेगा। प्रश्न उठता है कि आत्मज्ञान यदि कर्म से असम्बद्ध रहता है तो किसी प्रयोजन को सिद्ध नहीं कर

कर्ता कर्मफल को भोगता है। अतः आत्मज्ञान का फल इतना ही है कि कर्ता का संस्कार कर दे, पुरुषार्थ का प्रदायक तो कर्म ही है यह कर्मवादी मानते हैं। जैमिनि का मत ब्रह्मसूत्र में यही बताया है—'शेषत्वात्पुरुषार्थवादो यथान्येष्विति जैमिनिः' (३.४.२) अर्थात् जैसे अन्य क्रतुशेष द्रव्य, संस्कार व कर्म के बताये गये फल केवल अर्थवाद हैं वैसे आत्मज्ञान की पुरुषार्थसाधनता भी अर्थवाद है क्योंकि जब आत्मा ही कर्ता होने से कर्मशेष है तब आत्मज्ञान भी अपने विषय आत्मा (का संस्कार करने) के द्वारा कर्म सम्बन्धी ही है। इस पूर्वपक्ष का निराकरण बादरायण आचार्य ने सरलता से कर दिया—'पुरुषार्थोऽतः शब्दादिति बादरायणः' (ब्र० सू० ३.४.१), अर्थात् वेदान्त-विहित आत्मज्ञान स्वतंत्र ही मोक्षप्रदान में समर्थ है क्योंकि श्रुति ने मुखतः 'ब्रह्मविदाप्नोति परम्' (तै० उ० २.१.१) इत्यादि द्वारा किसी सहकारी के बिना ही ज्ञान से मोक्ष बताया है। मुण्डक में भी ज्ञान से मोक्ष असकृत् बताया ही है यह यहाँ टीकाकार व भाष्यकार ने सूचित कर दिया।

१. 'आदि' से पाण्डित्य, मेधा आदि का संग्रह है।

सकेगा क्योंकि अनुभव से यही समझा जाता है कि सुखप्राप्ति और दुःख-निवृत्ति विहित कर्म करने और निषिद्ध कर्म न करने से ही होती है, (अथवा किसी काम को करने से और किसी को न करने से ही होती है; ज्ञान मात्र से नहीं)। इस प्रश्न के उठने पर इसके उत्तर के रूप में कहते हैं—तथा उपनिषत् बार-बार इस ज्ञान का प्रयोजन बताती है—'ब्रह्म को जानने वाला ब्रह्म ही होता है' (३.२.९) एवं 'जिन्होंने अपनी परमात्मरूपता समझ ली वे सभी सब प्रकार से मुक्त हो जाते हैं' (३.२.६)। यह नियम नहीं है कि सुखलाभ व दुःखनिवृत्तिरूप प्रयोजन कुछ करने या न करने से ही मिलता है क्योंकि यह प्रसिद्ध है कि केवल याद आ जाने से जो भूले हुए स्वर्ण की 'प्राप्ति' होती है उससे सुख होता है और यह भी प्रसिद्ध है कि रस्सी की वास्तविकता को केवल जान लेने से साँप के कारण होने वाला डर, कँपकँपी आदि दुःख हट जाता है[1]। इसीलिए श्रुति बिना संकोच के विद्या का प्रयोजन से साध्यसाधनभाव सम्बन्ध बार-बार बताती है। सप्रयोजन ज्ञान की प्रकाशिका उपनिषत् की व्याख्या-योग्यता सम्भव है, यह तात्पर्य है।

और एकदेशी विद्वान् जो यह कहते हैं कि गुरुमुख से अपनी वैदिक शाखा को पढ़ने की विधि अर्थज्ञानपर्यन्त पढने का विधान[2] करती है

---

१. अपने पास विद्यमान स्वर्ण को हम भूल जाते हैं कि उसे कहाँ रखा आदि तो कष्ट होता है। जब याद आ जाता है कि अमुक स्थान पर सुरक्षित है तो बिना किसी प्रवृत्ति या निवृत्ति के ही हमें सुख होता है। ऐसे ही रस्सी में भ्रम से साँप देखकर भय आदि दुःख होता है जो रस्सी के ज्ञान से ही, प्रवृत्ति-निवृत्ति के बिना ही हट जाता है। अतः ज्ञान भी प्रयोजन का साधक अनुभव सिद्ध है, यह अर्थ है।

२. 'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' (शत० ११.५.७.२) वाक्य विधान करता है कि जिस वैदिक शाखा को अपनी कुल परम्परा में पढ़ा जाता हो उसका अध्ययन करना चाहिए ('स्वशाखा हि स्वाध्यायशब्देनोच्यते' प्र० पं० पृ० २६)। इस विधि पर विचार करते हुए मीमांसकों में किंचित् मतभेद हो गया है। कुमारिल भट्ट समझते हैं कि अर्थावबोधपर्यन्त स्वशाखाध्ययन यहाँ विहित है जब कि प्रभाकर मिश्र विधि का साक्षात् विधेय स्वशाखा के अक्षरग्रहण को मानकर प्रयोजन के रूप में अर्थावबोध की कर्तव्यता बताते हैं—'अर्थावबोधोऽपि प्रयोजनतया स्वीक्रियते···।····नियोगनिष्पत्तिरेव

तथा ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य—तीनों का कर्त्तव्य है कि अर्थज्ञानपर्यन्त अपनी वैदिक शाखा पढ़ें, अतः पढ़ी हुई उपनिषत् से उत्पन्न होने वाले आत्मावबोध में सभी आश्रमों में स्थित तीनों वर्णों वालों का अधिकार है, और इसलिए सभी आश्रमों के कर्मों से जुड़कर ही आत्मज्ञान मोक्ष का उपाय है; उनके इस कथन पर भाष्यकार कहते हैं—यद्यपि सभी आश्रमों में अवस्थित साधक आत्मा के स्वरूप को जान सकते हैं तथापि मोक्ष की उपायभूत जो दृढ ब्रह्मविद्या है वह सर्वकर्मत्याग के रहते ही सम्भव है¹,

शाब्दं प्रयोजनम्, आर्थं त्वर्थावबोधनम्' (प्र० पं० पृ० २६)। वेदान्तसम्प्रदाय में इसी के अनुसार भामतीप्रस्थान भाट्टमत को तथा विवरणप्रस्थान प्राभाकरमत को अनुमोदित करते हैं। तथा च भामती—'स्वाध्यायाध्ययनपरविधिना स्वाध्यायपदवाच्यस्य वेदराशेः फलवदर्थावबोधफलतामापादयता...' (१-१-१ 'यथाचायमर्थः सर्वेषां वेदान्तानाम्' भाष्य पर)। जब कि पञ्चपादिका में कहा है—'सा हि अधीयमानावाप्तिफलत्वादक्षरग्रहणान्ता' (वर्णक ३, पृ० ६०८ कलकत्ता)। दोनों मतों के सूक्ष्म अन्तर को अखण्डानन्द जी ने सूचित किया है—'अक्षरेभ्यः फलवदर्थावबोधनिष्पत्तावपि, (एकस्य) अक्षरावाप्तौ विधेः पर्यवसानम्, अन्यस्य त्वर्थावबोध इति विभागः' (तत्त्व० पृ० ६०९ कल)। इतना सभी को अभिमत है कि अक्षरग्रहण कर अर्थावबोध के लिए प्रयत्न करना आवश्यक है। तैत्तिरीयोपनिषद्भाष्य में भी कहा है—'अधीतवेदस्य धर्मजिज्ञासामकृत्वा गुरुकुलान्न समावर्तितव्यम्' (शीक्षा० ११)। प्रकृत में एकदेशीपद भास्करादि का बोधक है। इनके अनुसार उपनीत त्रैवर्णिक अर्थावगतिपर्यन्त वेद पढ़ेगा तो तदन्तर्गत उपनिषत् के अर्थ को भी जान लेगा। फिर भी स्वाश्रमविहित कर्म करता रहेगा। इस प्रकार औपनिषदात्मज्ञान के रहते जो कर्मानुष्ठान है वह मोक्षफलक है। इस प्रकार सर्वकर्मत्याग मोक्षानुपयोगी सिद्ध होता है। कुछ अन्य प्राचीन आचार्य यद्यपि कर्मत्यागपूर्वक आत्मज्ञान को विलम्ब से फलदायी मानते हैं तथापि कर्मत्याग को मोक्ष-अनुत्पत्ति का हेतु नहीं मानते—यह विवेक है।

१. अपने अकर्तापन का निश्चय आत्मज्ञान की दृढ़ता के लिए आवश्यक है जो कर्म करते रहने पर सम्भव नहीं। संन्यासेन सह स्थितेति संन्यासनिष्ठा। यद्वा संन्यासोऽस्यास्तीति मत्वर्थीयाच्प्रत्ययात्संन्यासवति स्थितेत्यर्थः। अथवा 'बोधस्योपरतिः फल'मिति स्मृतेः संन्यासो निष्ठा पर्यवसानं यस्याः सेत्यर्थः। सर्वथापि सर्वकर्मत्यागमन्तरा ब्रह्मविद्या मोक्षाय नालमिति भावः।

कर्म के साथ विद्यमान ज्ञान मोक्षोपयोगी दृढता को नहीं प्राप्त होता; इस बात को 'भिक्षाचरण करते हुए'[1] (१.२.११) व 'सर्वकर्मपरित्यागरूप योग से' (३.२.६) कहते हुए श्रुति बताती है। (उक्त वाक्य द्वारा) श्रुति यह बताती है कि अपना जो कुछ भी है (अभिलषित रूप से साध्य तथा

१. यद्यपि भिक्षाचरण करते हुए उपासना व आश्रम कर्मों के अनुष्ठान को सत्यादिलोकप्राप्तिफलक बताया है तथापि यहाँ उद्धरण का तात्पर्य है कि जब सगुणविद्या ही संन्याससहभावी है तो निर्गुणविद्या वैसी है इसमें क्या कहना! अथवा, संन्यासनिष्ठत्व तो 'संन्यासयोगात्' श्रुति से बता दिया जिस पर यह शंका सम्भव हुई कि चित्तशुद्धि आदि के लिए तो गार्हस्थ्य आवश्यक है, तब उत्तर दिया कि संन्यासाश्रमकर्म भी उसी फल को दे सकते हैं; इस उत्तर को ही उक्त श्रुति के द्वारा प्रकट किया। यद्वा एषणात्रयव्युत्थानपूर्वक जिस भिक्षाचर्या को बृहदारण्यक में (४.४.२५) बताया है उसका अर्थतः अनुवाद यहाँ भाष्यकार ने किया है। आहोस्विन्मन्त्रस्यार्थान्तरविवक्षयोद्धरणं, स चैवम्—तपो ज्ञानं 'यस्य ज्ञानमयं तप' इति श्रुतेः, तच्च श्रवणादिरूपम्। श्रद्धा विद्या निदिध्यासनमिति यावत्, श्रद्धाया विपरीतभावनानिरासकत्वं छान्दोग्यविवरणउक्तम् 'यद्यपि न्यायागमाभ्यां निर्धारितोर्थस्तथैवेत्यवगम्यते तथाप्यत्यन्तसूक्ष्मेष्वर्थेषु बाह्यविषयासक्तमनसः स्वभावप्रवृत्तस्यासत्यां गुरुतरायां श्रद्धयां दुरवगमत्वं स्यादित्याह श्रद्धत्स्वेति, श्रद्धायां तु सत्यां मनसः समाधानं बुभुत्सितेऽर्थे भवेत्ततश्च तदर्थावगति'रिति (६.१२.२)। एवं च मनःसमाधानं श्रवणादि च ये शान्ता उपरतेन्द्रिया विद्वान्सो विचारकुशला भैक्ष्यचर्यां चरन्तोऽरण्य उपवसन्ति ते विरजाः सर्वप्रवृत्तिशून्याः सूर्यद्वारेण प्रत्यगात्मद्वारेण, 'सूर्यआत्मे'तिश्रुतेः, 'आदौ ब्रह्माहमस्मीत्यनुभवउदिते खल्विदं ब्रह्म पश्चादि'ति शतश्लोकीवचनाच्च, तत्राद्वैते ब्रह्मणि प्रयान्ति अभेदेन तिष्ठन्ति यत्र स पुरुषः प्रत्यगात्मतया नित्यसिद्धः अव्ययात्मा सदैव सर्वविकाररहित इत्यर्थः। जैवे रूपेऽव्ययतादर्शनेऽपि ब्रह्मण्यद्वितीये न तद्दर्शनमिति आत्मनो नित्यशुद्धरूपतामाप्नुवन्तीतिभावः। एवं च हीनतरं वा विशन्ति इति कर्मिणां गतिमुक्त्वा ब्रह्माभ्यासिनां परप्राप्तिरिहोक्ता। अत्र च तपआदिसाधनममृतपुरुषैक्यफलं चोपवर्ण्यास्यैव प्रपञ्चायोत्तरोग्रन्थः परीक्ष्येत्यादिः। तथा च नाप्रकृतं किंचित्। अयं चार्थो भाष्यादौ तत्रानुक्तोपि अत्रत्योद्धरणवशाद्गम्यत इति नापव्याख्यानम्। ज्ञानं च संन्यासनिष्ठमेव परलाभायेति 'अलिंगात्' (३.२.४) इत्यादिनेहाप्युक्तमेवेति दिक्।

स्वीकृत रूप से साधन), उसे छोड़ना रूप संन्यास के सहित विद्यमान ही आत्मज्ञान मोक्ष का उपाय है। [अधिकतम ज्ञानाभ्यास के लिए] अपना सब कुछ छोड़ देने वाले[1] संन्यासी के पास कर्म का कोई उपकरण[2] नहीं जो उसका अपना हो जिससे कि यह असम्भव हो जाता है कि वह कोई कर्म करे। (उक्त मुमुक्षु संन्यासी का) अपने आश्रम के लिए विहित कर्म[3] भी इन्द्रियनिग्रह, मनोनिग्रह, आदि अन्तरंग साधनों से उपोद्बलित हो आत्मयाथात्म्य निश्चय बनाये रखना ही है। ऐसे संन्यासी जो शौचाचार, आचमन आदि करते हैं वह भी वस्तुतः उनका आश्रमकर्म नहीं है (जिसे न करना दोषावह या करना धर्मजनक हो), क्योंकि वैसा शास्त्रीय आचरण तो वे अज्ञानिजनों को शिक्षा और धर्माचरण की प्रेरणा देने के लिए करते हैं (जिससे वे अज्ञानिजन शनैः शनैः बुद्धिशुद्धि कर सकें)। स्वयं उन संन्यासियों की [4]अपवित्रता तो

---

१. आश्रमसंन्यास से पृथक् विविदिषासंन्यास को यहाँ स्पष्ट किया जा रहा है।

२. अलौकिकफलक शास्त्रीयकर्म शिखासूत्र की तथा दृष्टसामग्री आदि व तदर्थ धनादि की, अपने कर्तृत्वभोक्तृत्व में श्रद्धा आदि की अपेक्षा रखते हैं जिनके अभाव में शास्त्रीयकर्म सम्भव नहीं। यहाँ जिसे कहा जा रहा है वह ज्ञानवान् तथा ज्ञाननिष्ठा का अभ्यासी है। ज्ञानवान् कर्म नहीं कर सकता इसे ईशभाष्यटीका में कहा है—'आपातप्रतिपत्तिरप्येतादृशी निरुणद्ध्येव कर्मप्रवृत्तिम्'। इसी प्रकार अभ्यास सम्भव होता रहे इतने ही लौकिक भी कर्म वह करेगा, उससे अधिक नहीं।

३. सूत्रभाष्य में स्पष्ट कहा है—'ब्रह्मनिष्ठत्वमेव हि तस्य शमदमाद्युपबृंहितं स्वाश्रमविहितं कर्म, यज्ञादीनि चेतरेषाम्, तदतिक्रमे च तस्य प्रत्यवायः' (३.४.२.२०) तथा 'ज्ञानाभ्यासश्च प्रधानमिह यतीनामनुष्ठेयम्' (३.४.१६. ५१)। अतएव सर्वज्ञगुरु का कहना है कि परमेश्वर के व्यञ्जकरूप अन्तरग कर्म का त्याग तथा जिन कर्मों का ज्ञानोत्पत्ति में दृष्टद्वारक उपकार नहीं उन्हें करना—दोनों ही संन्यासी के लिए पातक हैं—'कारकस्य करणेन तत्क्षणाद्भिक्षुरेष पतितो भवेद्यथा। व्यंजकस्य परिवर्जनात्तथा सद्य एव पतितो भवेदसौ ॥' (३.३३२)। एवं '…समस्तमपि तत् (कर्म) यत्नेन हेयं यतेः' (३.३४०)।

४. प्रत्यवाय से तात्पर्य है। प्रत्यवाय आवश्यक कर्म न करने से होने वाले आगामी दुःख को कहते हैं। यति को ज्ञानाभ्यास अवश्य करना चाहिए, उसे कर लेने पर कोई प्रत्यवाय न होगा और उसे न करने पर प्रत्यवाय होगा, चाहे शौचाचारादि कितना ही करे—यह भाव है।

ज्ञान के निरन्तर पर्यालोचन से ही निवृत्त हो जाती है क्योंकि स्मृति-वचन हैं—'ज्ञान जैसी पवित्र और कोई वस्तु नहीं है' (गी० ४.३८)। संन्यास-प्रसंग में जो तीन बार नहाने आदि का नियम शास्त्रों में है, वह उस संन्यासी के लिए है जिसे ज्ञान नहीं हुआ[1]। इसलिए ज्ञान की स्थिति[2] कर्मत्याग के साथ ही है, कर्म के साथ नहीं।

एक अन्य भी कारण है जिससे निश्चित है कि ज्ञान कर्म से मिल कर मोक्ष का उपाय नहीं, यह बताते हैं—आत्मज्ञान और कर्म का विरोध होने से भी (दोनों का सहभाव सम्भव नहीं)। ब्रह्म से अपने को अभिन्न जानने के साथ कर्म करना सपने में भी सम्भव नहीं। तात्पर्य है कि 'मैं अकर्ता ब्रह्म हूँ' और 'मैं कर रहा हूँ' इन दोनों निश्चयों का परस्पर विरोध स्पष्ट है।[3]

जिस समय अपनी ब्रह्मरूपता का अनुसन्धान रुक जाये उस समय वह व्यक्ति जिसे ज्ञान उत्पन्न हो चुका है कर्म कर लेगा जिससे ज्ञान और कर्म का सह-अस्तित्व सिद्ध हो जायेगा—यह शंका भी नहीं करनी चाहिये, यह कहते हैं—आत्मानुसन्धान के लिये न कोई विशेष काल नियत है और न ही कोई निश्चित निमित्त है, अतः यह नहीं कह सकते कि अमुक काल में ज्ञान नहीं होगा। [कर्म तो नियत समय पर करना होगा। जिस समय कर्म करना आवश्यक है उस समय अनुसन्धान रुकेगा ऐसा

१. ज्ञानोत्पत्ति में कर्म सहकारी है फलोत्पत्ति में नहीं यह सिद्धान्त है। अतः ज्ञानोत्पत्तिपर्यन्त कर्म करना आवश्यक है। कर्म में अन्तरंग-बहिरंग भेद है। जिज्ञासोत्पत्ति के लिए यज्ञ, दान, तप आदि कर्म उपादेय हैं, जिज्ञासोत्पत्ति के बाद श्रवणादि कर्म उपादेय है। शौचाचार बहिरंग कार्य में आता है अतः जिज्ञासु के लिए वह गौण है किन्तु जिसे अभी जिज्ञासा नहीं है उसके लिए आवश्यक है। अतः अज्ञ-पद अजिज्ञासु के लिए है। अथवा यह समझना चाहिए कि जिसे अदृढज्ञान भी उत्पन्न नहीं हुआ उस यति के लिए उक्त आचार आदि आवश्यक है चाहे वह जिज्ञासु ही क्यों न हो। हाँ, अदृढज्ञान हो चुकने पर वह सब गौण हो जाता है।

२. उत्पत्तिव्यावृत्यर्थं स्थितिपद है।

३. ईशभाष्यप्रारम्भ में कहा है—'याथात्म्यं चात्मनः शुद्धत्वापापविद्धत्वैकत्व-नित्यत्वाशरीरत्वसर्वगतत्वादि वक्ष्यमाणं तच्च कर्मणा विरुध्येतेति'। यह विरोध प्रायः भाष्य में असकृत् बताया जाता है।

कोई नियम नहीं। ऐसा नियम करना ज्ञान का कालसंकोच करना है जो असंगत है, यह अर्थ है।]

[1]यह सुना जाता है कि अंगिर आदि गृहस्थ ब्रह्मविद्या का उपदेश देते हैं जो इस बात का द्योतक है कि गृहस्थाश्रम के कर्मों से जुड़कर ब्रह्मविद्या फल देती है; इस शंका को पहले उठाकर फिर उसका उत्तर देते हैं—जो तो गृहस्थों में आत्मज्ञान की उपदेशकता रूप चिह्न[2] (इस बात का) है (कि गृहस्थ भी ब्रह्मनिष्ठ हो सकते हैं), वह (चिह्न) पूर्वसिद्ध सिद्धान्त का अपलाप करने में समर्थ नहीं। सैकड़ों विधियों द्वारा भी अन्धकार और प्रकाश की समान स्थान पर स्थिति नहीं की जा सकती, केवल चिह्नों से वैसा नहीं हो सकता इसमें तो कहना ही क्या। अनुकूल तर्क से उपोद्बलित चिह्न ही निश्चित मति उत्पन्न करता है

१. विद्याकर्मविरोधादि न्यायोपबृंहित संन्यासयोगेत्यादि श्रुति से समुच्चय का निरास होने पर यद्यपि लिंगमात्र के बल पर प्रश्न नहीं उठता तथापि प्रश्न का भाव यह समझ सकते हैं कि उपर्युक्त विचार से यह सिद्ध तो हुआ कि यज्ञादिकर्मत्याग वाले संन्यासाश्रम में ज्ञान रहता है लेकिन उस आश्रम में भी शम आदि कर्म माने ही हैं जिनसे समुच्चय संभावित हो जायेगा क्योंकि आश्रमकर्म से समुच्चय अभीष्ट है और फिर आश्रमकर्मसामान्यात् गार्हस्थ्यादि के कर्मों से समुच्चय भी हो जायेगा। इस कुशावलम्बन का निगमन यह होगा कि जब विद्यासमुच्चित कर्म ही मोक्षसाधन है तो गृहस्थाश्रम के कर्म अधिक होने से मोक्ष शीघ्र होगा और संन्यास में कर्म कम होने से विलम्ब लगेगा। उत्तर तो जो पहले दिया वही है—स्वतंत्र ही विद्या मोक्षोपाय है।

२. कार्योत्पादक योग्यतारूप सामर्थ्य को मीमांसक लिंग कहते हैं—'सामर्थ्यं सर्वभावानां लिंगमित्यभिधीयते' (तं० वा० १.३.४)। यह भी इसमें प्रमाण होता है कि क्या किसका अंग है। किंतु श्रुति जब किसी बात को कह देती है तब लिंगादि अन्य प्रमाण उस बात का विरोध नहीं कर सकते यह 'पारदौर्बल्यम्' (३.३.१४) कहकर जैमिनि ने स्पष्ट किया। आत्मविद्योपदेशकता ब्रह्मनिष्ठ में होती है यह 'श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्' (मु० १.२.१२) वाक्य से सिद्ध है। जब उपदेश सामर्थ्य दीखती है तो मानना होगा ब्रह्मनिष्ठा भी है। गृहस्थ होने से कर्म करने होंगे अन्यथा प्रत्यवाय होगा यह भी वाक्यांतर से समझना होगा। इस प्रकार यद्यपि श्रुति ने नहीं कहा कि ब्रह्मनिष्ठा और कर्म का साहचर्य है तथापि कर्म करने वालों में ब्रह्मनिष्ठा की सामर्थ्य

और ज्ञान-कर्म समुच्चय के लिये कोई अनुकूल तर्क नहीं है, बल्कि तर्क का विरोध ही है; अतः प्रदर्शित चिह्न यह नहीं सिद्ध कर सकता कि ज्ञान से सहकृत कर्म मोक्षसाधक है[1]। तथा विद्योपदेशकों की गृहस्थता वास्तविक नहीं, केवल प्रतीत होती है क्योंकि सत्य के विचार से उसका बार-बार बाध (निषेध) होता रहता है जैसा कि गृहस्थ ब्रह्मनिष्ठ जनक के इस प्रसिद्ध उद्गार से प्रकट होता है—'सब जगह (जो है वह) मेरा है, मेरा कुछ भी नहीं है। मिथिला के जलने पर मेरा कुछ भी नहीं जलता।' बाधित होने के कारण जो कर्म नहीं केवल कर्म की तरह प्रतीत होते हैं उनसे विद्या का समुच्चय (फलोत्पत्ति के लिये) नहीं होगा क्योंकि अवास्तविक केवल प्रतीत होने वाले कर्मों का विधान न मिलने से

दिखा कर दोनों का साहचर्य बताया यह मानना होगा। आगे विचार होगा कि चाहे दोनों सहचरित हों, फल किससे होगा? इसके उत्तर में समझना पड़ेगा कि कर्म से फल होता है यह मानी हुई बात है और ज्ञान से फल का होना एक नई बात मानने का अवसर है तब यदि मानी बात से कार्य चले तो नई बात मानना व्यर्थ है—इस नियम से कर्म से ही मोक्षरूप फल मान लेना चाहिये। क्योंकि कर्म अकेला जो फल देता है वह क्षयिष्णु होता है और मोक्ष को अक्षय बताया है इसलिये विद्या के समुच्च का यह माहात्म्य जानना चाहिये कि उससे समुच्चित कर्म अक्षय फल देता है। इस प्रकार शंका उपपन्न है।

१. प्रमाणशास्त्रीय मर्यादा है कि जब चिह्न से अनुमान करते हैं तब किसी अनुकूल तर्क का होना आवश्यक है अन्यथा अप्रयोजकता निवृत्त न होगी। जैसे धूम से वह्नि का अनुमान करने पर प्रश्न होगा—यदि धूम हो पर वह्नि न हो तो क्या आपत्ति है? इसके उत्तर में कार्यकारणभावरूप अनुकूल तर्क दिया जायेगा—यदि ऐसा होता तो धूम वह्नि का कार्य न होता। अतः कार्य होने से अपने कारण का सूचक है। ऐसा कोई अनुकूल तर्क यदि प्रकृत चिह्न को भी मिलता तो यह भी अपनी बात सिद्ध करता, पर यहाँ तो न केवल इसके पास तर्क नहीं है, बल्कि तर्कविरोध भी है। अतः यह चिह्न नाकामयाब है। किंच वाक्यशास्त्रीय सरणि है कि चिह्न श्रुति की कल्पना कर बोध कराता है। इस व्यापार के पूर्व उसमें अनभिप्रेतार्थता का संशय हो सकता है—क्या यह चिह्न कुछ बताने के लिये है या किसी अन्य प्रयोजन के लिये? ऐसी अवस्था में यदि उसे अनुकूल युक्ति मिलेगी तो

(वे कर्म फलोत्पादक नहीं माने जा सकते)[1]। इस प्रकार जो यह सिद्ध किया कि उपनिषद् व्याख्या के योग्य है, उसका उपसंहार करते हैं—इस प्रकार जिसका सम्बन्ध व प्रयोजन बता दिया गया है उस (मुण्डक) उपनिषद् नामक ग्रन्थ की थोड़े[2] ही शब्दों में व्याख्या प्रारम्भ की जाती है।

श्रुतिकल्पना द्वारा बोध होगा अन्यथा नहीं। जैसे प्रकृत चिह्न में ही यह शंका होगी कि क्या यह चिह्न विद्या-कर्म सहभाव बताने के लिये है यहा विद्या की प्रशंसा के लिये है कि विद्या इतनी सामर्थ्य वाली है कि गृहस्थ को भी ब्रह्मनिष्ठा प्रदान करती है। यदि प्रशंसार्थ होगी तो समुच्चयश्रुति की कल्पना का प्रसंग नहीं। अतः युक्ति चाहिये। पूर्वोद्धृत जनक-वचन का तात्पर्य है कि जो कुछ जिस किसी का है वह मेरा है क्योंकि मैं सर्वरूप हूँ जबकि वास्तव में मेरा कुछ नहीं है क्योंकि मुझसे भिन्न कुछ है ही नहीं। यद्यपि लोगों की दृष्टि में मैं मिथिला का अधिपति हूँ तथापि यदि समूची मिथिला जल जाये तो 'मेरा कुछ नष्ट हो गया' ऐसा क्षणभर को भी मैं नहीं मानूंगा क्योंकि सब समय मैं यह निश्चित जानता हूँ कि प्रतीयमान सब कुछ मिथ्या ही है। जैसे सब साधनों का बाध है वैसे ही सब क्रियाओं का, साध्यों का भी बाध ही है।

१. कर्म की फलोत्पादकता क्लृप्त होने से ज्ञान में उसे स्वीकारना गौरवग्रस्त होने से ज्ञानसमुच्चित कर्म को मोक्षोपाय माना जाये यह वादी का कहना था। ज्ञान के साथ कर्म नहीं कर्माभास रह सकता है क्योंकि जिन निश्चयों से कर्म होता है वे ज्ञान के साथ रहते नहीं जिससे तन्निर्वर्त्य कर्म भी उसके साथ रहता नहीं। शास्त्र में विधान कर्म का किया है जिससे उसकी सफलता क्लृप्त बताई। कर्माभास का विधान नहीं अतः उसकी सफलता भी क्लृप्त नहीं रही। अब प्रश्न उठता है कि साधनता ज्ञान में मानें कि कर्माभास में। यहाँ यह युक्ति मिलती है कि आभास को साधन मानने से वास्तविक वस्तु को साधन मानना उचित है तथा कई स्थलों पर—रज्जुज्ञानादि में—ज्ञान की साधनता क्लृप्त है। किन्तु इससे कहीं अधिक प्रबल साक्षात् श्रुति मिल जाती है जो ज्ञान की साधनता बताती है 'विद्यया विन्दतेऽमृतम्' (केन० २.४) इत्यादि। अतः कर्माभास की अपेक्षा ज्ञान में साधनता मानना ही संगत है जिससे समुच्चयपक्ष सुनिराकृत हो जाता है।

२. भाव है व्याख्यानग्रंथ का अर्थ तो अत्यन्त गंभीर होगा, शब्दों का आडम्बर बहुत कम होगा। समस्त भाष्य के विषय में यह कहा जा सकता है 'लघुरपि

ग्रन्थ को बताने के लिये उपनिषत् शब्द का प्रयोग कैसे ?—यह शङ्का होने पर, उपनिषत् शब्द का शाब्दिक अर्थ जो ब्रह्मज्ञान उसका जनक होने से लक्षणावृत्ति के आश्रयण से प्रयोग है[1] यह दिखाने के लिए उपनिषत् शब्द का अर्थ ब्रह्मज्ञान है यह बताते हैं—श्रद्धाभक्तिपूर्वक[2] जो इस आत्मज्ञान का प्रेम से समाश्रयण लेते हैं उनके गर्भवास, जन्म, वार्द्धक्य, रोग आदि अनर्थसमूह को यह शिथिल करता है, परब्रह्म को प्राप्त कराता है तथा संसरण के कारणभूत अविद्यादि को अत्यन्त अवसन्न अर्थात् नष्ट करता है अतः आत्मज्ञान उपनिषत् है। भाष्य में 'आत्मभावेन' पद आया है जिसका अर्थ है ज्ञान को प्रेम का विषय बनाकर। 'अनर्थ-समूह' अर्थात् क्लेशसमुदाय[3] को 'निशातयति' ढीला करता है; अदृढ ज्ञान से भी दो-तीन जन्मों में मोक्ष संभव होने से[4] (ज्ञान को ढीला करने वाला कहा। जिस गाँठ को ढीला कर दिया जाता है वह कालान्तर में खुल ही जाती है। दृढज्ञान का फल अविद्या का अत्यंत नाश पृथक् बताया है)।

बह्वर्थवह्श्चिन्तामणिरिव निबंधोयम्। श्रीशंकरेण मुनिना विहितो यतीनां विमोक्षाय॥' (द्र० सि० विं० समाप्ति)।

१. बोध्यसम्बन्ध को लक्षणा माना जाता है। 'अभिधेयाविनाभूते संगतिर्लक्षणे-ष्यते' (तं० वा० पृ० ३५४)। न्यायरत्नावली में (पृ० १८६ प्र० द्वा०) भी शक्यसम्बन्ध्युपस्थिति को लक्षणा माना है। उपनिषत् पद का शक्य है आत्मज्ञान उसे उत्पन्न करनेवाली होने से उससे सम्बद्ध है उपनिषत्, अतः लक्षणा द्वारा उपनिषत् पद ग्रन्थपरक है यह तात्पर्य है।

२. श्रद्धा नाम है आस्तिक्यभावना का अर्थात् 'यह ठीक है' ऐसा निश्चय। भक्ति कहते हैं तत्परता को (क्योंकि प्रेम को पृथक् गिना दिया है)।

३. अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष व अभिनिवेश का मिलकर नाम 'क्लेश' पतंजलि महर्षि ने रखा है। अविद्या से यहाँ आत्मादिविषयक भ्रान्तिज्ञान कहा जाता है। चेतन व अन्तःकरण के एकताऽभिमान को अस्मिता कहा। सुखसाधनों की तृष्णा राग व दुःखसाधनों के प्रति क्रोध द्वेष है। मरने से भय का नाम अभिनिवेश है।

४. 'नहि कल्याणकृत्कश्चिदि'त्यादि न्याय तथा 'बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते' इस वचन (गी० ७.१९) के आधार पर कहा जा रहा है।

(उपनिषत् शब्द का यह अर्थ कैसे ? यह कहते हैं—) क्योंकि 'उप' और 'नि' उपसर्गपूर्वक प्रयुक्त सद्-धातु का ऐसा अर्थ माना गया है।[1]

॥ इति भूमिकाग्रन्थ ॥

"ॐ। इन्द्रादि देवों में प्रधान ब्रह्माजी सबसे पूर्व आविर्भूत हुए। वे ही समस्त जगत् के रचयिता और अपने से विरचित त्रिभुवन का पालन करने वाले हैं। सभी विद्याओं की वेद्यवस्तु जिसमें प्रतिपादित है उस ब्रह्मविद्या को उन्होंने अपने बड़े लड़के अथर्व[2] को पढ़ाया ॥ १ ॥"

'ब्रह्मा' हर तरह से बढ़ा हुआ अर्थात् महान्, जो धर्म, ज्ञान, वैराग्य और ऐश्वर्य में अन्य सभी से अधिक है। 'जिस जगन्नियन्ता के ये चारों,

---

१. केन में 'ब्राह्मीं वाव उपनिषदम्' (४.७) कहकर उपनिषत्पद ब्रह्मज्ञानपरक बता दिया—'परमात्मविद्यामुपनिषदम्' (पदभाष्य)। व्याकरण रीति से भी यह अर्थ मिलता है इसे यहाँ संक्षेप में सूचित कर दिया। उप + नि + षद्ऌ + क्विप्—इन चार का योग है उपनिषत् शब्द। 'उप' का अर्थ है समीप और निरवच्छिन्न समीपता आत्मा की है। अतः उप अर्थात् आत्मज्ञान करा कर। नि-उपसर्ग षद्ऌ धातु का विशेषण है। धातु के तीन अर्थ हैं—विशरण, गति व अवसादन। क्विप् प्रत्यय 'सत्सूद्विषद्रुहयुजविदभिदच्छिद-जिनीराजामुपसर्गेऽपि क्विप्' (३.२.६१) सूत्र से कर्त्रर्थक है। ('सदिरप्रतेः' (८.३.६६) सूत्र से धातु के आदि सकार को षकार होता है।) इस प्रकार आत्मा की ब्रह्मरूपता दिलाकर अविद्या और तत्कार्य को नष्ट करने के कारण, अनर्थमूल अविद्या को नष्ट कर परमात्मलाभ कराने के कारण तथा प्रवृत्ति-हेतुभूत रागादि के मूल कारण अविद्या को नष्ट कर रागादि को सर्वथा शिथिल करने के कारण ब्रह्मज्ञान उपनिषत् कहलाता है। जैसे जीविका-साधन हल को भी जीविका कह देते हैं ऐसे ब्रह्मज्ञान हेतु ग्रन्थ को भी ब्रह्मज्ञान-अपरपर्याय उपनिषत् कहते हैं। बृहद्वार्तिक के प्रारम्भ में यह स्पष्ट है। कठभाष्य के प्रारम्भ में भी ऐसा ही अर्थ वर्णित है—'ये···ब्रह्मविद्यामुपसद्योपगम्य तन्निष्ठतया निश्चयेन शीलयन्ति तेषामविद्यादेः संसारबीजस्य विशरणाद्धिसनाद्विनाशात्,···(तान्) परं ब्रह्म गमयतीति ब्रह्मगमयितृत्वेन,···(तेषाम्)गर्भवासजन्मजराद्युपद्रववृन्दस्य···अवसादयितृत्वेन शैथिल्यापादनेन···उपनिषदित्युच्यते'।

२. 'अथर्वशब्दोऽकारान्तो नान्तश्च' (नारायणदीपिका)।

विना किसी से उपदेश लिए ही[1], अप्रतिबद्धरूप से रहते हैं—ज्ञान, वैराग्य, ऐश्वर्य[2] और धर्म' इस स्मृति (वायुपुराण १.३) प्रमाण से पता चलता है कि धर्म, ज्ञान, वैराग्य और ऐश्वर्य में वह अन्य सभी से अधिक है अतः उसका हर तरह से बढ़ा हुआ होना सिद्ध होता है। 'देवानाम्' इन्द्रादि तेजस्वी देवताओं में 'प्रथमः' गुणों की दृष्टि से प्रधान होता हुआ, अथवा सबसे पहले 'सम्बभूव' भली प्रकार से[3] स्वतन्त्रतापूर्वक अभिव्यक्त हुआ, उस प्रकार नहीं जिस प्रकार अन्य संसरणशील जन्तु पुण्य-पाप के कारण उत्पन्न होते हैं। 'जो यह ज्ञानेन्द्रिय-कर्मेन्द्रिय का अविषय[4], व्यापक, स्थूल रूप में अप्रकट, नित्य सब कार्यों में व्यापक, दुर्ज्ञेय (प्रसिद्ध प्रजापति) है वह स्वयमुत्पन्न हुआ—माता-पिता के जनकांशों के मिले बिना प्रकट हुआ' इत्यादि स्मृतिवचन से (मनु० १.७) उसकी स्वतन्त्रता पता चलती है, यह तात्पर्य है। 'विश्वस्य' समस्त संसार का वह 'कर्ता' जनक है। 'भुवनस्य' उत्पन्न जगत् का 'गोप्ता' पालक है। ब्रह्मा का यह[5] विशेषण ज्ञान की प्रशंसा[6] के लिये है। 'सः' जिसका पूर्वोक्त महत्त्व प्रसिद्ध है उस ब्रह्मा ने 'ब्रह्मविद्याम्' ब्रह्म अर्थात् परमात्मा का

---

१. वृहद्वार्तिक में (१.४.७९) यह पौराणिक वचन उद्धृत कर शंका उठाई है कि ज्ञानादि यदि जन्म से ही प्रजापति को हो तो उसका डरना आदि बताने वाली श्रुति का विरोध होगा और परिहार किया है कि सहज बताने वाली स्मृति का तात्पर्य अन्य से उपदेश लेकर ज्ञानादि पाने के निषेध में है।

२. स्वाभाविक शासकरूपता ऐश्वर्य है।

३. सहजता ही उसका भलापन है।

४. कुल्लूकभट्ट 'अतीन्द्रियग्राह्यः' पाठ मानकर मन से ग्राह्य अर्थ करते हैं।

५. ब्रह्मा जगदुत्पादक ही प्रसिद्ध हैं, पालक तो विष्णु प्रसिद्ध हैं अतः पालक विशेषण विवक्षित है। ब्रह्मा स्वयं भी उत्पत्तिशील है अतः उत्पत्तिशील सभी वस्तुओं का—जिनमें वह स्वयं भी हैं—जनक नहीं, सभी का जनक तो परमेश्वर ही हो सकता है; इसलिए 'विश्वस्य कर्ता' इस विशेषण को भी विद्यास्तुत्यर्थं जानना चाहिए ऐसा कुछ आचार्य मानते हैं—विशेषणं विशेषणद्वयमित्यर्थः।

६. उपदेशक प्रशस्त हो तो विद्याप्राशस्त्य कैमुतिकसिद्ध है।

ज्ञान ब्रह्मविद्या है, उसे[1] (=ब्रह्मविद्या को); 'जिससे सत्य, अक्षर पुरुष जाना जाता है' (१.२.१३) इस विशेषण[2] से पता चलता है कि प्रकृत विद्या परमात्मसम्बन्धी है; अथवा सर्वप्रथम उत्पन्न होने वाले ब्रह्मा द्वारा उपदिष्ट होने से वह ब्रह्मविद्या है, उसे, 'सर्वविद्याप्रतिष्ठाम्' अर्थात् जो सभी ज्ञानों की अभिव्यक्ति का कारण होने से सभी ज्ञानों का आश्रय है; महावाक्य से उत्पन्न बुद्धिवृत्ति में अभिव्यक्त ब्रह्म ही ब्रह्मविद्या है। और वह ब्रह्म सबको अभिव्यक्त करता है। अतः सभी ज्ञान अपनी अभिव्यक्ति के लिए जिसका सहारा लेते हैं वह सभी ज्ञानों का आश्रय है[3]। अथवा जिस ज्ञान के उत्पन्न हो जाने पर कुछ भी जानने योग्य बचता नहीं वह सब ज्ञानों की प्रतिष्ठा अर्थात् परिसमाप्त होने की भूमि है अतः 'सर्वविद्याप्रतिष्ठा' पद से श्रुति में उक्त है यह कहते हैं— अथवा 'जिस ज्ञान से न सुना हुआ सुन लिया जाता है, न विचारा हुआ विचारित हो जाता है, अननुभूत अनुभूत हो जाता है' (छां० ६.१.३) इस श्रुतिप्रमाण से सभी विद्याओं से ज्ञेय वस्तु इसी से जानी जाती है इसलिए (यह सर्वविद्याप्रतिष्ठा है, उसे); सब विद्याओं की प्रतिष्ठाभूत विद्या है यह प्रशंसा की है; (उस) ब्रह्मविद्या को 'अथर्वाय ज्येष्ठपुत्राय

---

१. 'अपने बड़े लड़के को पढ़ाया' इस दूरस्थ वाक्यांश से सम्बन्ध है। आगे भी ऐसे ही समझना चाहिए।

२. सत्य, अक्षर व पुरुष—इन तीन विशेषणों से विशिष्ट वस्तु की ज्ञापकता यहाँ विशेषण अभिप्रेत है।

३. एकमात्र आत्मा ही ज्ञानस्वरूप है क्योंकि ज्ञाता को होने वाला विषयानुभव ही ज्ञान है और वह आत्मा को ही होता है। जैसा कि प्रकाशात्म-वचन है—'ज्ञातुरर्थप्रकाशस्य ज्ञानत्वात्तस्य चात्माश्रयत्वात्' (विवरण पृ० २५९ कल.)। ज्ञप्तिरूप आत्मा में भी भेद कल्पना कर आत्माश्रयता अखण्डानन्द मुनि ने स्पष्ट की है। मनोवृत्ति को ज्ञान तो उपचार से कहते हैं—'अन्तःकरणपरिणामे ज्ञानत्वोपचारात्' (वि० वही)। अन्तःकरण स्वभाव से ही ऐसा द्रव्य है जिसमें आत्मा का ज्ञान प्रकट होता है। उसमें वृत्ति बनती है जो आत्मस्वरूप प्रकाश से अविविक्त हो ज्ञानरूप बन जाती है। इसे ही इस प्रकार कहते हैं कि जैसे दर्पण में प्रकाश का प्रतिबिम्ब पड़ता है वैसे मनोवृत्ति में ज्ञान का प्रतिबिम्ब पड़ता है। अतः सभी वृत्तिज्ञान आत्मरूप ज्ञान के सहारे ही ज्ञान बनते हैं।

प्राह'। जो सबसे बड़ा हो और लड़का (= पुत्र) हो (वह ज्येष्ठपुत्र—बड़ा लड़का कहाता है)। ब्रह्मा से नाना प्रकार से सृष्टि होती है, उनमें से किसी एक प्रकार की सृष्टि के आरम्भ में पहले अथर्वा (अथर्व) उत्पन्न होता है अतः वह (उस सृष्टि की दृष्टि से, सबसे बड़ा है। उस बड़े लड़के को बताया अर्थात् समझाया ॥ १ ॥

"जो ब्रह्मविद्या ब्रह्माजी ने अथर्व को पढ़ायी उसे प्राचीन काल में अथर्व ने अंगिर् को पढ़ाया। अंगिर् ने भरद्वाजगोत्र में उत्पन्न सत्यवह को उसका उपदेश दिया। इस प्रकार उत्तरोत्तर आचार्य परम्परा से प्राप्त परमात्मा व प्रत्यगात्मा के विषय[1] की इस विद्या को भारद्वाज सत्यवह ने अंगिरस् को पढ़ाया ॥ २ ॥"

जो यह ब्रह्मविद्या ब्रह्मा ने अथर्व को 'प्रवदेत' बतायी[2] ब्रह्मा से प्राप्त 'ताम्' वही ब्रह्मविद्या 'पुरा' प्राचीन काल में[3] अथर्व ने 'अंगिरे' अंगिर् नामक अध्येता को 'उवाच' सुनायी। तथा 'सः' उस अंगिर् ने 'भारद्वाजाय' भरद्वाज गोत्र में उत्पन्न 'सत्यवहाय' सत्यवह नामक श्रोता को (वही ब्रह्मविद्या) 'प्राह' पढ़ायी। 'परावराम्' पूर्व पूर्व आचार्य से बाद वाले को प्राप्त होने से परावर (उस विद्या को), अथवा पर और अपर सभी विद्याओं के विषय को विषय करने वाली होने से (परावर)[4], उस (दोनों प्रकार से) परावर ब्रह्मविद्या को भारद्वाज सत्यवह ने अपने शिष्य या पुत्र 'अंगिरसे' अंगिरस् को पढ़ाया;—यह मन्त्र का सम्बन्ध है ॥ २ ॥

---

१. 'परःपरमात्मा, अवरः प्रत्यगात्मा तद्गतविशेषांशापाये तदुभयैक्यविषयेति वा परावराम्' (उपनिषद्ब्रह्मयोगी)।

२. 'व्यत्ययो बहुलम्' (३.१.८५) कहकर पाणिनि ने अपने अलंघ्य शासन के भी लंघन की अनुमति वेद को दे दी है अतः 'कहे' का अर्थ है 'कहा'।

३. ब्रह्मा से प्राप्त करने के बाद।

४. 'परावर'पद स्वरूप बोधक है, सर्वपद से ही परावर का संग्रह सम्भव होने से। अथवा 'सभी विद्याओं के जो पर व अपर विषय' ऐसे समझ सकते हैं। पर व अपर विद्या पंचममंत्र में वक्ष्यमाण है। नारायण तो निर्गुणब्रह्म, सगुणब्रह्म, धर्मसाधन व अधर्मसाधन की प्रतिपादक को परावर मानते हैं—'परा निर्गुणब्रह्मप्रतिपादिका, अवरा धर्माधर्मसाधनतत्फलगुणब्रह्मप्रतिपादिका, तयोः कर्मधारये परावरा ताम्'।

"प्रसिद्ध है कि महागृहस्थ शौनक, शिक्षार्थी के लिए विहित ढंग से अंगिरस् के पास गया और जाकर पूछा—हे भगवन् ! किसे जान लेने पर यह सब कुछ जान लिया जाता है ? ॥ ३ ॥"

'शौनकः' शुनक के पुत्र ने, 'महाशालः' जो एक महागृहस्थ[१] था, 'अंगिरसम्' भरद्वाज के शिष्य आचार्य अंगिरस् के पास 'विधिवत्' शास्त्रोक्त प्रकार से[२]—यह 'विधिवत्' शब्द से कहा, 'उपसन्नः' पहुँच कर 'पप्रच्छ' पूछा। शौनक और अंगिरस् के गुरुशिष्यभावसम्बन्ध से पूर्व 'विधिवत्' इस विशेषण से पता चलता है कि शौनक से पूर्व वाले शिष्यों के लिए यह नियम नहीं था कि वे शास्त्रोक्त प्रकार से ही शिक्षा ग्रहण करने गुरु के पास जायें[३]। अथवा जैसे बीच में रखा दीपक हर तरफ रोशनी कर देता है वैसे एकत्र बताया 'विधिवत्' विशेषण सर्वत्र यह बताने के लिए है कि शास्त्रोक्त मर्यादा से ही गुरु के पास जाना चाहिए क्योंकि[४] हम जैसे आधुनिक अध्येताओं के लिए भी शास्त्रोक्त प्रकार से गुरु के पास जाने का विधान शास्त्र को अभिप्रेत है। क्या पूछा ? यह श्रुति ने बताया—'कस्मिन्नु भगवो विज्ञाते'; 'नु' यह प्रश्नसूचक अव्यय है। प्रश्न का मूल बताते हैं—[५] 'एक के जान लिए जाने पर (उसे जानने

---

१. गार्हस्थ्यधर्मनैपुण्य तथा सम्पन्नता विवक्षित है।

२. भेंट लेकर सश्रद्ध जाना आदि शास्त्रोक्त प्रकार हैं।

३. 'अथर्वाय' के साथ ही 'विधिवदुपसन्नाय' कह दिया होता। यदि औत्सर्गिक होने से वहाँ नहीं कहा तो यहाँ कहना भी व्यर्थ है अतः ज्ञापन करता है कि शौनक से ही नियम की विषयता प्रारम्भ होती है।

४. 'शौनक यथाविधि गुरु के पास गया' कहने से यह पता नहीं चलता कि अन्य को भी वैसे ही जाना चाहिए क्योंकि यदि यह ज्ञापित होता तो उसके पूर्व वालों का भी यथाविधि ही उपसदन माना होता, अतः केवल शौनक के लिए ही विधि है, न उसके पूर्व वालों के लिए और न बाद वालों के लिए। बाद वालों के लिए विधि सबको इष्ट है। अतः पूर्व व्याख्यान में अरुचि है जिसे प्रकट करते हैं 'क्योंकि' इत्यादि से।

५. भाष्य वाक्य का अन्वय इस प्रकार है—एकस्मिञ्ज्ञाते सर्वविद्भवतीति शिष्टप्रवादं श्रुतवाञ्शौनकस्तद्विशेषं विज्ञातुकामः सन् भगवो हे भगवन् सर्वं यदिदं विज्ञेयं विज्ञातं विशेषेण ज्ञातमवगतं भवति इति (यत्, तत्) कस्मिन्नु (विज्ञाते भवति) इति वितर्कयन् पप्रच्छ।

वाला) सर्वज्ञ हो जाता है' इस शिष्टजनों[१] में प्रसिद्ध बात को सुनकर शौनक को उस एक वस्तु को विशेषरूप से जानने की इच्छा हुई (तब) उसने संदेह करते हुए पूछा—'भगवो' हे भगवन् ! 'सर्वमिदम्' जो कुछ भी जानने योग्य है उसका 'विज्ञातम्' विशेषरूप से ज्ञात अर्थात् अवगत हो जाना किसे जान लेने पर होता है ? अथवा, उपादान कारण से पृथक् सत्ता कार्य की नहीं होती—[२] उपादान का कार्य उपादान से भिन्न नहीं होता, अतः उपादान को जान लेने पर उसका कार्य भी ज्ञात हो जाता है—इस शास्त्रज्ञाननिरपेक्ष[३] सीधी-सी व्याप्ति[४] के बल पर पूछा, यह कहते हैं—अथवा[५], लोक में प्रसिद्ध सामान्य दृष्टि से (कारण-ज्ञान से उसके सब कार्यों के ज्ञान को सम्भव) जान कर ही पूछा। लोक में (सुवर्ण कार्यों में जो) सुवर्ण आदि रूप से समानता है[६] उसके विज्ञान[७] से लोगों द्वारा सुवर्णादि के विभिन्न टुकड़े विज्ञात[८] हो जाते हैं। उस प्रकार विभिन्न समस्त जगत् का क्या कोई एक कारण है जिसे[९] जान

---

१. शास्त्रीय अनुशासन के ज्ञाता को यहाँ शिष्ट कहा।

२. पृथक् सत्ता न होने की व्याख्या स्वयं करते हैं—उपा०। परिणामवादाभि-मति से वाक्य समझना चाहिए।

३. यद्यपि अत्यन्त लौकिक मत आरम्भवाद है तथापि 'घड़ा मिट्टी ही है, मिट्टी हटा लो तो घड़ा क्या बचता है ?' इत्यादि लौकिक प्रसिद्धि उक्त व्याप्ति का मूल है। किं च स्वर्णकारादि कारणज्ञान कर लेने पर सभी कार्यों को समझने की योग्यता पा लेते हैं यही व्याप्तिबोध में उपाय है।

४. व्याप्ति यह समझनी चाहिए—उपादान ज्ञात होने पर उपादेय (= कार्य) का ज्ञान न हो ऐसा नहीं होता। यद्यपि पूर्वत्र विशेषतया अवगति के लिए प्रश्न माना है तथापि यहाँ सामान्यतः अवगति के लिए प्रश्न मानकर कहा जा रहा है जैसा भाष्यवाक्य में स्पष्ट है।

५. शिष्टप्रवाद सुने बिना—यह अर्थ है।

६. सुवर्णत्वादिना यदेकत्वं=समानत्वं तद्विज्ञानेनेत्यर्थः।

७. सुवर्ण रूप से सुवर्ण अपने सकल कार्यों में अनुस्यूत है—ऐसे ज्ञान को यहाँ विज्ञान कहा है।

८. सामान्य ज्ञान को विज्ञान मानकर कहा है।

९. यदेकस्मिन्निति यस्मिन्नेकस्मिन्निति व्यासः।

लेने पर सभी ज्ञात हो जाये ? यह (पूछा)। प्रश्न के शब्द युक्त्यनुकूल हैं इस पर शंका उठाकर उसका समाधान करते हैं—शंका होती है कि 'कोई है' इस प्रकार सामान्यतः जाने बिना 'किसे' इस प्रकार का विशेषविषयक प्रश्न संगत नहीं; सामान्य ज्ञान न होने के काल में 'क्या ऐसा कुछ है' ? यह प्रश्न संगत होता है, क्योंकि 'कुछ है' ऐसी विद्यमानता सिद्ध हो जाने पर 'वह कौन या क्या है' ? ऐसा (प्रश्न) होगा; जैसे 'यह वस्तु किसमें रखनी है' यह (प्रश्न तब होता है जब पहले पता हो कि यहाँ कुछ है जिसमें उस वस्तु को रखना है)[1]। समाधान है कि उक्त प्रश्न असंगत नहीं है। (अन्य प्रकार से प्रश्न करने पर) प्रश्न के शब्द अधिक हो जाने से प्रष्टा-श्रोता को अधिक श्रम पड़ता जिससे बचने के लिए ऐसा प्रश्न सम्भव ही है—वह क्या है जिस एक को ही[2] जान लेने पर व्यक्ति सर्ववेत्ता हो जाये। 'क्या ऐसा कुछ है (जिसे जान लेने से सर्वज्ञता हो जाये)'—इस प्रकार का शब्द प्रयोग करने पर (सम्पूर्ण प्रश्न के) अक्षर बहुत[3] हो जाने के कारण परिश्रम अधिक होता, उससे बचने के लिए 'किसे (जान लेने से सर्वज्ञता होगी) ?' इस प्रकार अक्षरों की अनुकूल योजना में कम परिश्रम होने से ऐसा प्रश्न किया है यह अर्थ है ॥ ३ ॥

"शौनक को अंगिरस् ने कहा : दो विद्यायें जाननी चाहिए—पराविद्या और अपराविद्या; यह जो बात प्रसिद्ध है उसे ब्रह्मवेत्ता बताते हैं ॥ ४ ॥"

'तस्मै' शौनक को अंगिरस् ने निश्चित रूप से 'उवाच' कहा। क्या कहा ? (उपनिषद्) यह बताती है—'दो विद्यायें जाननी चाहिए'—इस प्रकार जो 'ह स्म[4]' निश्चित बात है (उसे[5]) 'ब्रह्मविदः' वेद का अर्थ समझने वाले पारमार्थिक वस्तु के ज्ञाता[6] कहते हैं। वे विद्यायें कौन-सी

---

१. वस्तुतः 'कुछ है' इतना विश्वास ही 'कौन है' प्रश्न के लिए पर्याप्त है।
२. 'तु' पद अवधारणार्थ है। या अन्य विज्ञेय की व्यावृत्ति के लिए है।
३. 'कुछ है' ? ऐसा पूछने पर 'हाँ है' यह उत्तर होता जिस पर पुनः प्रश्न पूछना पड़ता 'वह कौन है'; अतः शब्द बहुत हो ही जाते।
४. स्म वाक्यपूर्ति के लिए है। ऐसे अनेक शब्दों का प्रयोग लच्छेदार भाषा में होता है जिनका कोई विशेष अर्थ वाक्य में नहीं होता।
५. 'यत्तदोर्नित्यसम्बन्धः' के आधार पर 'इवि यत्, तद्वदन्ति' ऐसा अन्वय है।
६. अन्य लोग तो परविद्या से बचना चाहिये यही कहते हैं यह भाव है।

हैं ? यह कहती है—'परा च' परमात्मा का प्रतिपादन करने वाली विद्या (परा), 'अपरा च' और धर्म, अधर्म उनके साधनों और उनके फलों को बताने वाली विद्या (अपरा)। प्रश्न होता है कि शौनक ने पूछा था—किसे जान लेने पर व्यक्ति सर्वज्ञ हो जाता है, अतः वही बताया जाना चाहिये। 'दो विद्यायें जाननी चाहिए' इत्यादि तो अंगिरस् वह बता रहा है जो पूछा नहीं गया[1] ? उत्तर है कि दो विद्याओं की विज्ञेयता बताना कोई दोष वाली बात नहीं क्योंकि उत्तर देते समय (बहुधा) किसी क्रम[2] की आवश्यकता होती है। अपराविद्या वस्तुतः अविद्या है, वह बाध के योग्य है। अपराविद्या के (किसी भी) विषय को जानने पर कुछ भी वस्तुतः[3] ज्ञात नहीं होता—इस प्रकार उसे सर्वज्ञतासाधनतया बाधित करना है। पूर्वपक्ष[4] का निराकरण कर तदनन्तर सिद्धान्त बताना चाहिए, इस नीति से (यह प्रक्रिया ठीक है, दोषावह नहीं) ॥ ४ ॥

"दोनों में यह अपराविद्या है—ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष। और यह पराविद्या है—जिसके द्वारा वह अक्षर परमात्मा समझा जाता है ॥५॥"

---

१. जो पूछा है उसे न बता कर जो नहीं पूछा वह बताना वार्तालाप की प्रक्रिया में दोष है।

२. जैसे वरुण ने भृगु को अन्न, प्राण, चक्षु, श्रोत्र, मन और वाणी का उपदेश दे दिया तब ब्रह्म का लक्षण बता दिया जब कि केवल ब्रह्म के बारे में प्रश्न था (तै० ३.१)। यमराज ने भी श्रेय-प्रेय का वर्णन पूर्व में किय (कठ० १.१.१)।

३. सर्पज्ञान को कथमपि वास्तविक नहीं मान सकते, रज्जुज्ञान ही वास्तविक है। अतः अविद्याभूमि का समस्तज्ञान अवास्तविक है। ज्ञान स्वयं में तो वास्तविक ही होता है, मिथ्या वस्तु को विषय करने से ही उसे मिथ्या मानना पड़ता है। अपराविद्या का विषयक्षेत्र मिथ्या वस्तुएँ हैं अतः वह विद्या भी मिथ्या ही है।

४. किसी समस्या के उपस्थित होने पर पहले—विचार किये बिना जो पक्ष, समाधान, उपस्थित हो वह पूर्वपक्ष और विचार के बाद जो निश्चित मत स्थापित हो उसे उत्तरपक्ष या सिद्धान्त कहते हैं।

उन दोनों विज्ञेय विद्याओं में अपराविद्या[1] क्या है? इसे उपनिषत् बताती है—ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद—ये चारों वेद[2]; शिक्षा[3], कल्प—कल्पसूत्रात्मक ग्रन्थ; जिसका अनुष्ठान किया जाता है उसके क्रम को (पौर्वापर्य को) कल्प कहते हैं, यह (कल्पसूत्रात्मक ग्रन्थ कल्पशब्द का) अर्थ है; व्याकरण[4], निरुक्त[5], छन्द[6], ज्योतिष[7]—ये छह वेदांग; यह (वेद और वेदांग मिलकर)[8] अपराविद्या है। 'अथ' अपराविद्या बताने के बाद अब पराविद्या बताई जाती है—जिसके द्वारा 'तद्' आगे बतायी जाने वाली विशेषताओं वाला अक्षर परमात्मा 'अधिगम्यते' प्राप्त किया जाता है (वह पराविद्या है)। गम् धातु के पूर्व 'अधि' उपसर्ग हो तो प्रायः उसका अर्थ प्राप्ति होता है। परमात्मसम्बन्धी अज्ञान की निवृत्ति को ही उपचार[9] से परमात्मप्राप्ति कहते हैं। ब्रह्म

---

१. उत्तर में अपेक्षित क्रम के अनुसार पहले निराकर्त्तव्य का वर्णन करती है श्रुति।
२. नियतपादाक्षरयोजना ऋग्वेद में, अनियतपादाक्षरयोजना यजुर्वेद में, गीत सामवेद में तथा शान्ति-पौष्टिकादि कर्मोपयोगी भाग अथर्ववेद में मिलते हैं। जहाँ वेदों को त्रयी कहते हैं वहाँ अथर्ववाक्यों को नियत या अनियत पादाक्षरयोजनानुसार ऋक् या यजु में अन्तर्गणित कर लेते हैं।
३. वर्णों के उच्चारणस्थान, प्रयत्न, आदि बोधक ग्रन्थ शिक्षा है।
४. पदसाधुत्वबोधक ग्रन्थ व्याकरण है।
५. वैदिक शब्दों के अर्थबोधक ग्रन्थ निरुक्त है। उनमें संज्ञा, प्रत्यय, निपात और उपसर्ग भेद से चार प्रकार के शब्दों का विवेचन है। 'वर्णागमो वर्णविपर्ययश्च द्वौ चापरौ वर्णविकारनाशौ। धातोस्तदर्थातिशयेनयोगस्तदुच्यते पञ्चविधं निरुक्तम् ॥' अक्षर के जुड़ जाने से, उलट जाने से, बदल जाने से, नष्ट हो जाने से तथा धातु का अर्थविशेष से सम्बन्ध हो जाने से शब्द का निर्वचन निरुक्त में मिलता है।
६. पद्यनियमबोधक शास्त्र छन्दःशास्त्र है।
७. वैदिककर्मों के अङ्गभूत दर्शादिकालज्ञान के लिए उपयोगी शास्त्र ज्योतिष है।
८. यहाँ कर्मविद्या अभिप्रेत है, केवल शब्द जाल नहीं।
९. सहचारादिवशाद् अन्यार्थबोधन उपचार होता है। अविद्यानिवृत्यनन्तरित परमात्मरूपतावगति होने से अविद्यानिवृत्ति को परप्राप्ति कहते हैं वस्तुतः पर अप्राप्त न होने से प्राप्य नहीं, प्राप्य अविद्यानिवृत्ति है यह भाव है।

को जानना ही अज्ञान का हटना है, यह बात 'ज्ञात अर्थ अथवा अर्थ का अनुभव अविद्यानिवृत्ति है' इस वाक्य[१] की व्याख्या करते हुए हमने स्पष्ट की है। इसलिए श्रुति में प्रयुक्त अधिगमशब्द (अधिगम्यते) प्राप्ति-शब्द का पर्याय ही है, यह कहते हैं—अतः[२] अवगम (या अधिगम) का अर्थ परमात्मप्राप्ति से भिन्न नहीं है। अज्ञान का हटना ही परमात्मप्राप्ति है, उससे भिन्न कोई पदार्थ नहीं।[३]

---

१. इष्टसिद्धि (८.२) में यह वाक्य है 'ज्ञातोऽर्थस्तज्ज्ञप्तिर्वा तदज्ञानहानिः' (पृ० ३६९) तथा 'अज्ञाननिवृत्तिरात्मनः श्रुतिजज्ञानादपरोक्षब्रह्मात्मनोऽपरोक्षानुभवएव' (पृ० ३७२)। वस्तुतस्तु ब्रह्मज्ञान को अज्ञान व उसके कार्य का नाशक मानना अनावश्यक है क्योंकि तत्त्वज्ञानाधिकरण क्षण में अज्ञान-तत्कार्याधिकरणक्षणपूर्वत्वानधिकरणत्व नियम ही दृश्योच्छेदोपपत्ति के लिए पर्याप्त है (द्र० न्या० रत्ना० पृ० १७५ प्र० द्वा०)। एवमपि ज्ञान से अज्ञाननाश उत्पन्न होता है यह मानकर विचार करने पर चरम-वृत्ति से उपलक्षित आत्मा को ही अविद्यानिवृत्तिरूप अद्वैतसिद्धिकार ने तत्त्व-प्रदीपिकावचन प्रमाण से माना है। 'निवृत्तिरात्मा मोहस्य ज्ञातत्वेनोपलक्षितः' (तत्त्वप्रदी० ४.८)। अन्य विचारणीय पक्षों का भी सिद्धिग्रन्थ में सरस्वती जी ने उल्लेख किया है। 'अविद्यानिवृत्तिस्तद्विरोधिनी वृत्तिरेव।' तथा 'ये तु पञ्चमप्रकारादिपक्षाः'। पञ्चमप्रकारका अर्थ है कि सद्, असत्, सदसद् और मिथ्या से विलक्षण। यह इष्टसिद्धिकार का मत है जिसे आनन्दानुभवा-चार्य ने न्यायरत्नदीपावलि में उपपादित किया है। इष्टसिद्धि में इसका उल्लेख तो है पर विमुक्तात्माचार्य ने पूर्वोक्त ज्ञातआत्मा इत्यादि प्रसंग में, जहाँ अविद्या-निवृत्ति ही मुख्य विषय है, इसे नहीं स्थापित किया है। मण्डनमिश्र तो आत्मा ही अविद्यानिवृत्ति है यह मानते हैं। कुछ आचार्य अविद्यानिवृत्ति को मिथ्या ही स्वीकार लेते हैं। इष्टसिद्धि पर अनुभूतिस्वरूपाचार्य की व्याख्या है ऐसा उन्होंने स्वयं माण्डूक्यटीका में सूचित किया है (पृ० २८२ पं० २६, M. R. I.)।

२. चकारार्थोऽत इति।

३. आत्मा नित्य प्राप्त है अतः उसे न जानना ही उससे दूर होना व इसीलिए उसे न जानने का दूर हो जाना ही आत्मा को प्राप्त कर लेना है यह भाव है। 'न जानना' केवल जानने का अभाव नहीं वरन् एक भावपदार्थ है यह वेदान्तस्वीकृति है यह ध्यान रखना चाहिए।

अंगों सहित वेदों को अपराविद्या के रूप में बता दिया अतः जब अपराविद्या से अलग कर ब्रह्मविद्या को कहेंगे तो वेदों से बहिर्भूत होने के कारण वह परविद्या हो यह सम्भव नहीं[1] यह प्रश्न (वादी) पूछता है—यदि ब्रह्मविद्या ऋग्वेदादि से बहिर्भूत है तो वह पराविद्या और मोक्ष का उपाय कैसे होगी ? यह स्मृतिवचन है 'जो वैदिकमर्यादा से बहिर्भूत स्मृतियाँ हैं तथा जो कोई भी शास्त्र कुतर्कमूलक अतः वेदविरुद्ध हैं, वे सब निष्फल[2] हैं, उनका अनुसरण करने वाला मर कर किसी श्रेष्ठफल को नहीं पाता' (मनु० १२.९५); इस स्मृतिप्रमाण से ब्रह्मविद्या कुतर्कमूलक[3] अतः निष्फल होने से ग्रहण के योग्य न होगी। तथा उपनिषदें भी ऋग्वेदादि से बहिर्भूत होंगी, अर्थात् विद्या की (=ब्रह्म-विद्या की) वेद-बहिर्भूतता होने पर उसका प्रतिपादन करने वाली उपनिषदें भी ऋग्वेदादि से बहिर्भूत हों यह आपत्ति होगी। और यदि (उपनिषदें) ऋग्वेदादिरूप ही हैं तो उनसे पृथक् कर (ब्रह्मविद्या का मोक्षोपायतया) कथन व्यर्थ है। अतः (अपराविद्या से भिन्न) पराविद्या किस प्रकार है ?

ब्रह्मविद्या को वेद से बहिर्भूत होने के कारण अपराविद्या से अलग कर कहा हैं यह बात नहीं किन्तु वैदिक होते हुए भी आत्मवस्तुविषयक ज्ञान, वेद की शब्दराशि (तथा कर्मविषयक ज्ञान) से भिन्न है इस तात्पर्य से उसे पृथक् कर कहा है यह उत्तर देते हैं—उक्त प्रश्न संगत नहीं क्योंकि वेदान्त से विज्ञेय आत्मा का विज्ञान (अनुभव) पृथक् कर बताना इष्ट है। उपनिषत् से जिसका साक्षात्कार होता है उस अक्षर ब्रह्म को विषय[4] करने वाले अनुभव को ही प्रधानरूप[5] से पराविद्या के रूप में बताना

---

१. पराविद्या श्रेष्ठ मानी है पर वेद-बाह्य होने से वह हेय हो जायेगी यह तात्पर्य है।

२. यद्यपि कुदृष्टयनुसरण दोष का जनक है तथापि दोष निषिद्धानुष्ठान से होता है न कि कुदृष्टि के अनुसरण से अतः कुदृष्टियों को निष्फल कहा।

३. वेदानुकूल न होना ही तर्क की कुतर्कता समझनी चाहिए।

४. चरमवृत्ति शुद्ध ब्रह्म को विषय करती है (विवरण) या नहीं (भामती) इस पर मतभेद है।

५. अतः उपनिषत्-शब्दराशि को गौणरूप से पराविद्या कह सकते हैं यह भाव है।

अभीप्सित है न कि उपनिषदों की शब्दराशि को। वेद शब्द से तो (इस प्रसंग में) सब जगह शब्दराशि[१] को ही कहना इष्ट है। शब्दराशि (और कर्मविद्या) प्राप्त कर लेने पर भी वैराग्य और विधिवत् श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ गुरु के पास विद्याग्रह के लिये जाना रूप अन्य[२] प्रयत्न के बिना अक्षरब्रह्म समझ में नहीं आ सकता इसलिये ब्रह्मविद्या को (शब्दराशि-ग्रहण व कर्मविद्या से) अलग किया तथा उसे पराविद्या[३] कहा है ॥ ५ ॥

"वह जो ज्ञानेन्द्रियों का अविषय, कर्मेन्द्रियों का अविषय, कारण-रहित, धर्मरहित, नाम-रूप को विषय करने वाले साधनों से रहित, कर्म के साधनों से रहित है, वह[४] सदा विद्यमान, विविधरूपों में अव-स्थित, सर्वव्यापक, सर्वथा सूक्ष्म[५], सदा एकरूप है जिसे विवेकी जगत् का कारण हर तरह से देखते हैं। वह (अक्षर जिससे समझा जाता है वह पराविद्या है) ॥ ६ ॥"

केवल शब्दराशि से भिन्न बताने के लिये पराविद्या को पृथक् कर बताया इतना ही नहीं[६], कर्म के ज्ञान से विपरीत स्वरूप वाला आत्मज्ञान है इस तात्पर्य से भी उसे अलग किया है, यह कहते हैं—विधि जिसे विषय करती है उसके प्रतिपादक वाक्य के अर्थ का जिस समय ज्ञान होता है उससे अन्य काल में[७] कर्त्ता आदि अनेक कारकों को इकट्ठा कर

---

१. 'तदेतत्सत्यं मंत्रेषु कर्माणि' (१.२.१) इत्यादि प्रसंग में अपराविद्या के विषय के रूप में यहाँ कर्म का प्रतिपादन किया है, वैदिकशब्दराशि का उपदेश तो दिया नहीं, अतः ऋग्वेदादि पद ऋगादिवेद में स्थित मंत्रों से सम्बद्ध कर्म-विषयकविद्यापरक होकर अपराविद्या का अर्थ कर्मविद्या भी बता देते हैं।

२. शब्दग्रह और कर्मविद्याग्रह के लिये किये प्रयत्न से अन्य।

३. अपरम स्वर्गादिफलक होने से भी कर्मविद्या अपरा और परममोक्षफलक होने से ब्रह्मविद्या परा है।

४. 'तदपाणिपादम्' का 'तत्' 'नित्यं' के पूर्व समझना चाहिये। अतः निषेध-मुखेन उपदेश करने से प्राप्त अभावरूपता की व्यावृत्ति के लिये उसे ही विधिमुखेन बताया 'नित्यम्' आदि से तथा दोनों का अभेद स्पष्ट करने के लिये मध्य में तत्पद दिया।

५. प्रयत्नातिरेक से इतरविलक्षणतया ज्ञेयता सर्वथा सूक्ष्मता है।

६. इतना चकार का अर्थ है।

७. ज्ञानप्राप्ति के बाद—यह अर्थ है।

अग्निहोत्रादिरूप क्रियाकलाप जैसे (फलोत्पत्ति के लिये) कर्तव्य होता है, वैसे यहां[१] पराविद्या के विषय (को जानकर फलोत्पत्ति के लिये कोई कर्तव्य) नहीं रहता। (आत्मैक्यबोधक) महावाक्य के अर्थ का अनुभव होते ही सभी कर्तव्यों की समाप्ति हो जाती है क्योंकि कर्मनिरपेक्ष, सिर्फ[२] महावाक्यप्रतिपादित ज्ञान में निश्चित (दृढ) स्थिति से अतिरिक्त और कुछ नहीं है (जो ज्ञान और मोक्ष के बीच आवश्यक हो)। (क्योंकि अपराविद्या से भेद स्पष्ट है) इसलिये इस ग्रन्थ में पराविद्या की विशेषता विशेषणों सहित अक्षर ब्रह्म के प्रतिपादन द्वारा बताती है—'यत्तदद्रेश्यम्' इत्यादि वाक्य से। जिसे बताने की इच्छा है उस अक्षर ब्रह्म को दृष्टि में लाकर निश्चित बात के रूप में उसका उल्लेख किया—'वह जो'।[३] 'अद्रेश्यम्'[४] अदृश्य, सभी ज्ञानेन्द्रियों से जिसे जान नहीं सकते—यह (अदृश्य का अर्थ है)। बाहर की ओर प्रवृत्त दृष्टि (ज्ञान) पाँचों इन्द्रियों द्वारा जाती है (और ज्ञान प्राप्त करती है) इसलिये (अदृश्य कहने से सभी ज्ञानेन्द्रियों की अविषयता कह दी गयी)। 'अग्राह्यम्' कर्मेन्द्रियों से जिसे विषय[५] नहीं कर सकते यह (अग्राह्य से कहा)। 'अगोत्रम्' गोत्र, वंश, मूल—ये एक ही अर्थ को बताने वाले शब्द हैं। (अतः) अगोत्र का अर्थ है कि वह किसी वंश का नहीं। उस (अक्षर) का कोई मूलपुरुष नहीं जिसके वंश वाला वह हो।[६] जिनका वर्णन किया

---

१. यहाँ का ही अर्थ करते हैं—पराविद्या इत्यादि।

२. प्रसंख्यानादि की व्यावृति के लिये सिर्फ (मात्र) शब्द है।

३. यद्यपि पूर्वमंत्र में अक्षर आ चुका है जिसका परामर्श संभव है तथापि वह वक्ष्यमाण का ही परामर्शक है क्योंकि वहाँ भी 'तदक्षरम्' कहा है जो अद्रेश्य-मादि मंत्रोक्त अक्षर का परामर्श है।

४. 'दृशिर् प्रेक्षणे (भ्वा० प० अ०) ण्यत् (ऋहलोर्ण्यत् ३.१.१२४), छान्दस ऋकारस्य रेभावः' [नारायणः]।

५. जिसे कुछ कर नहीं सकते—यह अर्थ है।

६. पौत्र से गोत्र प्रारंभ होता है अर्थात् पौत्र और उसके आगे की पीढ़ी को गोत्र शब्द से कहते हैं। यदि ब्रह्म का कोई पितामह हो तो ब्रह्म को गोत्र कहें, पर उसका पितामह वह स्वयं ही है। किंवदंती है कि विवाह काल में भगवान् शंकर ने दादा का नाम पूछे जाने पर स्वयं को ही अपना दादा बताया था! वस्तुतः कुछ विशिष्ट परंपरायें मानने वाले समान मूल पुरुष

जाता है वे स्थूलता आदि या शुक्लता आदि[1] द्रव्य-धर्म[2] वर्ण कहलाते हैं, वर्ण जिसके न हों वह अक्षरब्रह्म अवर्ण है। 'अचक्षुःश्रोत्रम्' सभी जन्तुओं के पास नाम व रूप को विषय करने वाले साधन आँख और कान हैं,[3] वे जिसके नहीं वह अचक्षुःश्रोत्र है। यहाँ प्रधान (जड प्रकृति) को बताया जा रहा है यह शंका भी नहीं करनी चाहिये क्योंकि वैसा मानने पर जिसमें जिस विशेषता की संभावना नहीं उसमें उसका निषेध श्रुति द्वारा किया जायेगा जो कि संगत नहीं;[4] यह विचार कर कहते हैं—'जो सर्वज्ञ सर्ववेत्ता हैं' (१.१.९) इत्यादि श्रुति में बतायी चेतनारूप विशेषणवाला[5] होने से जैसे (चेतनावाले) संसरणशील जीव आँख, कान आदि साधनों से किसी प्रयोजन को साधते हैं वैसे (चेतना वाला होने से अक्षर ब्रह्म भी प्रयोजन को साधता है यह) सम्भावना उठी, उस संभावना को यह अचक्षुःश्रोत्र कहकर हटाया जा रहा है। अन्यत्र भी श्रुति ने बताया है 'बिना आँखों वाला वह देखता

वाले लोग एक गोत्र के कहाते हैं। परमेश्वर का कोई कारण—मूलपुरुष— नहीं और उसके द्वारा अनुमत कोई विशिष्ट परंपरा नहीं अतः वह अगोत्र है। किं च 'जीवेशावाभासेन करोति' (नृ० उ० ९.३) आदि तापनीयश्रुति से यथा-कथंचित् ईश्वर के प्रति कारण माया हो भी जाये तो भी माया स्वयं ईश्वर में अध्यस्त होने से तीसरी पीढ़ी में स्वयं ईश्वर ही रहता है।

१. स्थूलतादि से इतरसापेक्षधर्म व शुक्लतादि से निरपेक्ष धर्मों को समझना चाहिये।

२. यद्यपि समवायी कारण न होने से अक्षर द्रव्य ही नहीं तो उसमें द्रव्यधर्म सुतरां नहीं हैं तथापि उसकी शब्दशक्ति से अप्रतिपाद्यता बताने के लिये उसके द्रव्यत्व का निषेध न कर द्रव्यधर्मों का उसमें निषेध किया है। किं च उसके अद्रव्यत्व में हेतु भी एक और सूचित हो गया।

३. 'सभी जन्तु'—यह बहुलता की अपेक्षा से कहा, अधिकतर जंतुओं से तात्पर्य है। किं च रूप त्वगिन्द्रिय से भी कथंचिद्विषय होता है और वह सभी जन्तुओं के है ही।

४. इसीलिये 'अंतरिक्ष व द्युलोक में अग्निचयन नहीं करना चाहिये' इत्यादि वाक्यों का अर्थान्तर कर हिरण्यनिधान की प्रशंसापरकता स्वीकारनी पड़ती है।

५. विशेषणमस्यास्तीति विशेषणं तत्त्वादिति।

और बिना कानों वाला (वह) सुनता है' (श्वे० ३.१९) जिससे (निश्चित होता है कि चक्षुः श्रोत्रादि का निषेध केवल यहीं नहीं किया गया)। और भी 'तदपाणिपादम्'—वह कर्मेन्द्रियों से रहित है, यह (कहा गया)। क्योंकि इस प्रकार न उसे विषय किया जा सकता है और न वह किसी को विषय करता है अतः वह 'नित्यम्' अविनाशी है[१]। 'विभुम्' ब्रह्मा से तृणपर्यन्त जो विभिन्न प्राणी हैं उनके द्वारा विविधरूपता को प्राप्त होता है अत. विभु है। 'सर्वगतम्' आकाश की तरह व्यापक है। 'सुसूक्ष्मम्' स्थूलता के आपादक शब्दादि धर्मों से रहित होने के कारण सर्वथा सूक्ष्म है। आकाश, वायु आदि की जो क्रमशः होने वाली स्थूलता है उसका कारण शब्दादिगुणों की क्रमशः भूतों में वृद्धि ही है, उन गुणों से रहित होने के कारण वह अत्यन्त सूक्ष्म है।[२] और भी वह 'अव्ययम्' पूर्वोक्त विशेषताओं वाला होने से बदलाव को प्राप्त नहीं होता इसलिए सर्वदा एकरूप है। जैसे हाथ, पैर आदि अंगों के घटने से शरीर घट जाता है (कम हो जाता है), वैसे अंगों का घट

१. विषयविषयिभाव द्वैत में ही संभव है अतः अद्वैतब्रह्म में दोनों नहीं। अद्रेश्यादि विषयत्व के और अचक्षुरादि विषयित्व के निषेध की उपपत्ति के लिये हैं। यद्यपि 'प्रतिबोधविदितं मतम्' आदि श्रुति तथा 'सर्वप्रत्ययवेद्ये वा ब्रह्मरूपे' इत्यादि (ब्र० सि० पृ० १५७) पूर्वाचार्यवचन से विषयत्व प्रतीत होता है तथापि वह कल्पितभूमि में होने से प्रकृतविरोधी नहीं। मधुसूदनस्वामी ने दृश्यत्व हेतु विचार के अवसर में इन वचनों की उपहितपरता सूचित की है। इसी प्रकार ग्राहकताबोधक वाक्यों को भी समझना चाहिये। अग्राह्यता ही नित्यता में पर्याप्त हेतु है अतः साथ में अग्राहकता बताने का प्रयोजन इस व्याप्ति का द्योतन है कि जो नित्य होते हुए अग्राह्य होगा वह अग्राहक होगा तथा जो नित्य होते हुए अग्राहक होगा वह अग्राह्य होगा। अतः जहाँ कोई एक विशेषण श्रुत हो वहाँ अन्यों का भी उपसंहार आर्थिक हो जाता है।

२. आकाश में शब्द ही एक गुण है अतः भूतों में वह सूक्ष्मतम है। वायु में दो गुण हैं अतः वह आकाश से अधिक स्थूल है। इस प्रकार पाँचगुणों वाली पृथ्वी सबसे स्थूल है। इससे ज्ञात होता है कि गुणों की न्यूनता सूक्ष्मता को लाती है। अतः गुणों का सर्वथा अभाव सर्वथा सूक्ष्मता का निश्चय करा देता है।

जाना रूप कमी अंगरहित अक्षर की नहीं हो सकती और न ही जैसे संचय का घट जाना रूप कमी राजा की होती है वैसे किसी निधि का घट जाना रूप कमी उसकी हो सकती है। सहायकों की कमी के द्वारा भी अक्षर की कोई कमी सम्भव नहीं क्योंकि उसका कोई गुणभूत अर्थात् सहायक नहीं और सर्वस्वरूप होने से उससे भिन्न कोई है नहीं जो हटे, यह तात्पर्य है।[1] जो उक्त स्वरूप वाला 'भूतयोनिम्' सभी वस्तुओं का कारण है जैसे स्थावर व जंगम देहों का कारण पृथ्वी है[2], 'धीराः' बुद्धिमान् विवेकशील साधक उस अक्षर को 'परिपश्यन्ति' हर प्रकार से[3] सबके आत्मरूप में स्थित देखते हैं। इस तरह का अक्षर ब्रह्म जिस ज्ञान से अवगत होता है, वह पराविद्या है, यह पूरे प्रसंग का अर्थ है ॥ ६ ॥

"जैसे मकड़ी जाला बाहर फैलाती और अपने में समेट लेती है, जैसे धरती में धान आदि उत्पन्न होते हैं, जैसे जीवित पुरुष से केश व लोम उपजते हैं, वैसे अक्षर ब्रह्म से समस्त जगत् उत्पन्न होता है ॥७॥"

अक्षर ब्रह्म सभी भवनधर्मा भूतों[4] का कारण है यह पूर्व मन्त्र में कहा। वह सर्वभूतकारणता कैसे है ?—इसे प्रसिद्ध उदाहरणों द्वारा

---

१. जैसे कमी नहीं हो सकती वैसे बढ़ोत्तरी भी नहीं हो सकती यह भी उक्त हेतुओं से ही समझ लेना चाहिये। बढ़ना घटना उपाधि में ही है आत्मा में नहीं इसे बादरायणमहर्षि ने प्रकट किया है—'वृद्धिह्रासभाक्त्वमन्तर्भावाद्' (३.२.२०)। व्यय शब्द घटना (खर्च होना) बताता है इसलिये मुखतः बढ़ना यहाँ निषिद्ध नहीं।

२. भूलोक में अधिकतम भोगायतन पार्थिव हैं चाहे वे पेड़-पौधों के हों या पशु-पक्षियों के।

३. 'परि' का अर्थ है 'हर प्रकार से' और इसकी ही व्याख्या है—'सबके आत्मरूप में स्थित'।

४. होना जिनकी विशेषता है वे भवनधर्मा अतएव भूत कहलाते हैं। जिसकी विद्यमानता परिवर्तनशील हो उसी के बारे में कहा जाता है—यह वस्तु होती है। जो नित्य हो उसे केवल 'है' कहते है, 'वह होती है' ऐसा नहीं कहते। संसार की सभी वस्तुओं के बारे में कह सकते हैं—ये होती हैं। अतः सभी का कारण परमात्मा है। जन्मादिसूत्र में यह सिद्ध किया गया है।

श्रुति समझाती है—जैसे लोक में प्रसिद्ध है कि 'ऊर्णनाभिः' मकड़ी स्वयं[१] से भिन्न किसी कारण की सहायता के बिना स्वयं ही 'सृजते' अपने शरीर से अभिन्न[२] ही धागों को (अपने शरीर से) बाहर फैलाती है और फिर उन्हीं को 'गृह्णते'—'गृह्णाति'[३]—अपने में[४] ही लीन कर लेती है, और जैसे पृथिवी में 'ओषधयः' अर्थात् धान से लेकर वृक्षों तक जितने भी पेड़ पौधे हैं[५], वे पृथ्वी के स्वरूप से अभिन्न स्वरूप वाले[६] ही पैदा होते हैं, तथा जैसे 'सतः' विद्यमान अर्थात् जीवित पुरुष से 'केशलोमानि' बाल और रोम उससे भिन्न स्वभाव वाले[७] पैदा होते हैं; जैसे ये उदाहरण हैं, वैसे 'इह' संसारक्षेत्र में कारण से भिन्न स्वभाव वाला तथा उसके समान स्वभाव वाला 'विश्वम्' सारा संसार किसी अन्य कारण की सहायता के बिना पूर्वोक्त स्वरूप वाले अक्षर ब्रह्म से 'सम्भवति' समुत्पन्न होता है। ब्रह्म जगदुत्पत्ति में समर्थ कारण नहीं है क्योंकि उसके पास कोई सहायक सामग्री नहीं, (जिसके पास सहायक सामग्री नहीं होती वह कारण नहीं होता) जैसे मिट्टी, चाक, दण्ड आदि से रहित अकेला कुम्हार;इस अनुमान में प्रयुक्त सहायकसामग्रीरहितता हेतु अपने साध्य से व्याप्त नहीं क्योंकि जैसे यह साध्य (कारणताऽभाव) के साथ मिलता है वैसे ही यह साध्याभाव (कारणता) के साथ भी मिलता है, अतः इससे ब्रह्म कारण नहीं यह नहीं सिद्ध कर सकते—यह मकड़ी के उदाहरण द्वारा बताया। [मकड़ी में कारणता तथा सहायशून्यता दोनों हैं। यदि सहायशून्यता अकारणता में हेतु होता तो केवल अकारण कुम्हार आदि के साथ रहता, कारण मकड़ी आदि के साथ नहीं।] ब्रह्म

---

१. स्वयं पद स्वशरीरपरक है। आगे भी ऐसा समझना चाहिये।

२. अवयव-अवयवी में अभेद होता है यद्यपि वह अभेद भेद को सहन करता है।

३. 'गृह्णते' में आत्मनेपदत्व छान्दस है यह सूचित करने के लिये उसका लौकिक प्रयोग बताया गृह्णाति।

४. अपने में अर्थात् अपने शरीर में।

५. यद्यपि फलपाकांत पौधे ही ओषधि होते हैं तथापि यहाँ सभी पेड़-पौधे विवक्षित हैं, अर्थात् केवल वनस्पति की विवक्षा नहीं है।

६. अर्थात् वे भी पार्थिव ही होते हैं।

७. शरीर को काटने पर पीड़ा होती है पर केशादि काटने पर नहीं। यह भिन्नस्वभावता है।

जगत् का उपादान कारण नहीं क्योंकि उससे अभिन्न है (अभिन्न वस्तु उपादान कारण नहीं होती), जैसे किसी वस्तु का अपना स्वरूप स्वयं उस वस्तु का उपादान कारण नहीं होता; इस अन्य अनुमान में प्रयुक्त हेतु भी साध्याभावरूप उपादानकारणता का समानाधिकरण है, अतः साध्यसाधक नहीं इसे कहा—'जैसे पृथिवी में' इत्यादि द्वारा। [पृथ्वी-कार्य ओषध्यादि पार्थिव होने से पृथिव्यभिन्न हैं, एवं च कार्य से अभिन्न पृथ्वी भी कार्य का उपादान है।][1] जगत्[2] ब्रह्मरूप उपादान कारण वाला नहीं क्योंकि उससे भिन्न स्वभाव वाला है, जो जिससे भिन्न स्वभाव वाला होता है वह उस उपादान कारण वाला नहीं होता, जैसे घड़ा धागारूप उपादान कारण वाला नहीं होता; इस अनुमान में प्रयुक्त हेतु भी साध्याभाव (विलक्षणोपादानकत्त्व) के समानाधिकरण होने से हेत्वाभास ही है यह बताने के लिए कहा—'जैसे सतः विद्यमान' इत्यादि। [केशादि पुंदेहविलक्षण होने पर भी पुंदेहोपादानक हैं]। एक दृष्टान्त में भी सभी अनुमानों[3] में प्रयुक्त हेतुओं की साध्याभावसमाना-धिकरणतारूप हेत्वाभासत्वप्रयोजकता समझाई जा सकती है [तव अनेक दृष्टान्तों का क्या प्रयोजन[4]] ?—ऐसी शंकावाले की शंका का समाधान

---

१. यह नहीं कहना चाहिये कि पार्थिव कार्य पृथ्वी से भिन्न हैं क्योंकि वैसा हो तो पृथ्वी हटा लेने पर मिलने चाहिये जो होता नहीं।

२. पूर्वानुमान ब्रह्म को पक्ष बनाकर थे, यह अनुमान जगत् को पक्ष बनाकर है। तात्पर्य है कि ब्रह्म तो जगत्कारणतया सिद्ध होने से उसे अकारण सिद्ध करने का प्रयास असफल ही होगा क्योंकि उपजीव्यविरोधी होगा। अतः जगत् को पक्ष बनाया। साध्य का स्वरूप है—स्वविलक्षणानुपादानम् (स्व = जगत्)। जो भी जगद्विलक्षणतया अभिमत है वह जगत् का कारण नहीं हो सकेगा। ब्रह्मोक्ति तो वादिसंमत का अनुवादमात्र है।

३. अनुमीयतेऽनेनेत्यनुमानं हेतुरित्यर्थः, एवं पूर्वत्रापि मूले।

४. तर्कशास्त्री मानते हैं कि दृष्टान्त किसी विशेष प्रयोजन से ही देना चाहिये, जो प्रयोजन एक दृष्टांत से सिद्ध हो जाये उसी के लिये दृष्टान्तान्तर देना ही दोष है। मकड़ी का जाला भी उसके शरीर से अभिन्न (स्वशरीराव्यति-रिक्तान् तन्तून्) बताया था जिससे तदभिन्नत्व हेतु सदोष सिद्ध होता है तथा बहिःस्थितत्त्व-अन्तःस्थितत्त्व, तन्त्वाकारत्व-तरलत्वादि वैलक्षण्य भी वहाँ है जिससे तद्विलक्षणत्व हेतु भी सदोष सिद्ध होता है। इसी प्रकार

करते हैं—अनेक दृष्टान्तों का ग्रहण तो[1] बात आराम से समझ में आ जाये इसके लिए है ॥ ७ ॥

"जगत् की उत्पत्ति के विधान के ज्ञान से[2] अक्षर ब्रह्म 'मैं अनेक हो जाऊँ' इस[3] विचार वाला होता है। उससे अव्यक्त (व्यक्त होने के लिए) तैयार होता है। (अव्यक्त की) उस अवस्था के अनन्तर (व्यक्त होने पर) हिरण्यगर्भ उत्पन्न होता है जिससे संकल्पादिरूप मन[4] अभिव्यक्त होता है। मन से महाभूत[5], उनसे लोक, लोकों में कर्म से फल होते हैं ॥ ८ ॥"

अक्षर ब्रह्म से उत्पन्न होने वाला जो जगत्प्रपञ्च है वह इकट्ठा ही ऐसे अभिव्यक्त नहीं हो जाता जैसे मुट्ठी से फेंकने पर बेर अभिव्यक्त हो जाते हैं, अपितु इस[6] क्रम से उत्पन्न होता है, यह क्रम के नियम को बताने की इच्छा (की पूर्ति) के लिए अगला मन्त्र प्रारम्भ होता है। 'तपसा' ज्ञान से : जगदुत्पत्ति के विधान का ज्ञाता होने के कारण, 'ब्रह्म' जगत्-कारण अक्षर-ब्रह्म इस जगत् को उत्पन्न करना चाहते हुए 'चीयते' फूल[7] जाता है जैसे अङ्कुर उत्पन्न करते समय बीज[8] फूल

पुरुष से केशादि के दृष्टान्त में इतरासहायत्व तथा अंगांगिभाव होने से अभेद स्थित होकर प्रथम व द्वितीय हेतुओं का विघटन संभव कर देता है। इस प्रकार एक दृष्टांत ही पर्याप्त होने से अन्य दृष्टान्त क्यों ? यह प्रश्न है।

१. 'तो' से सूचित किया कि वास्तव में दृष्टान्तों का कृत्य भी है। मकड़ी और जाल के स्थल में अभेद और वैलक्षण्य तथा पुरुष और केश के दृष्टान्त में अभेद स्पष्ट नहीं।
२. 'भाविसिसृक्षानुकूलज्ञानेन' (उपनिषद्ब्रह्मयोगी)।
३. 'चीयते—बहुस्यामितीक्षणवद्भवति' (नारायण)।
४. क्रियाशक्तिप्राधान्येन प्राण और ज्ञानशक्तिप्राधान्येन मन कहा।
५. पंचीकृत महाभूत समझने चाहिये।
६. 'प्रतिज्ञाहानिरव्यतिरेकाच्छब्देभ्यः' (२.३.६), 'विपर्ययेण तु क्रमः' (२.३.१४), 'अन्तरा विज्ञानमनसी क्रमेण' (२.३.१५) इत्यादि सूत्रव्याख्यानों से स्पष्ट है कि उत्पत्ति में क्रम इष्ट है। श्रुतिसन्दर्भों की एकवाक्यता से सिद्ध क्रम ही सर्वत्र समझ लेना चाहिये।
७. जिसकी सृष्टि होनी है वह भी जुड़ गया जिससे पूर्वापेक्षया बढ़ोत्तरी हो गयी ऐसा कहा गया है।
८. उपादानता बताने के लिये दृष्टान्त है।

जाता है या पुत्र को उत्पन्न करते हुए पिता[1] खुशी से फूल जाता है। इस प्रकार सर्वज्ञ होने के कारण अर्थात्[2] प्रपंच की सृष्टि, स्थिति और संहार में समर्थ विज्ञान वाला होने से फूले हुए 'ततः' उस ब्रह्म से 'अन्नम्' जिसका अदन किया जाये अर्थात् जिसे खाया जाये (भोगा जाये) वह सभी संसरणशील जीवों के लिए समान रहने वाला अव्यक्त, ईश्वरता[3] की उपाधिरूप मायातत्त्व[4] महाभूतादिरूप से सभी जीवों को उपलब्ध होता है इसलिए सबके लिए समान रहने वाला होने पर भी वह उत्पन्न होता है यह कैसे कहा, क्योंकि वह तो बिना उत्पत्ति वाली सिद्ध वस्तु है ? यह शंका कर कहते हैं—व्यक्त की इच्छा वाली अवस्था में 'अभिजायते' उत्पन्न (अभिव्यक्त)[5] होता है। कुछ लोग कर्मजन्य अदृष्ट जिनमें समवेत रहता है वे भूतसूक्ष्म ही (यहाँ) अव्याकृत के रूप में वर्णित है, ऐसा मानते हैं।[6] (किन्तु वैसा मानना) ठीक नहीं। कर्मजन्य-अदृष्ट-समवायी भूतसूक्ष्म प्रत्येक जीव का पृथक्-पृथक् होने से वह ईश्वरता की उपाधि बने यह सम्भव नहीं।[7] यद्यपि

---

१. निमित्तता बताने के लिये दृष्टान्त है।

२. भाष्य के लिये स्वपदवर्णन भी आवश्यक है अतः 'सर्वज्ञतया' का व्याख्यान किया 'सृष्टि' इत्यादि द्वारा।

३. यद्यपि प्रायः ईश्वर की उपाधि माया प्रसिद्ध है तथापि विचार करने पर यह ईश्वर की तो विशेषण सिद्ध होती है अतः कहा कि वह ईश्वरता की उपाधि है। ईश्वरता के स्वरूप में अंतर्निविष्ट न होने से व यावत्कार्यावस्थायी होने से उपाधि है यह तात्पर्य है।

४. सर्वसाधारण अव्यक्त को ही मायातत्त्व कहा।

५. अव्यक्त अनादिसिद्ध होने पर भी अवस्थायें उत्पत्ति-नाश वाली हैं अतः कोई दोष नहीं यह अर्थ है।

६. भूतसूक्ष्म नामक पदार्थविशेष मानकर व्यवस्था बनाने का प्रयास करने वालों का यह मत है।

७. एक ईश्वरता की माया उपाधि होना संगत है। अदृष्ट परिवर्तनशील है—भोग चुकने पर समाप्त और कर्म करने से उत्पन्न होता रहता है, अतः नित्य ईश्वरता की वह उपाधि नहीं होना चाहिये। किञ्च तत्तज्जीव के अदृष्ट भी महाभूत के एक अंश में—लिंग शरीरान्तर्गत अंश में—रहेंगे अतः उपाधियाँ नाना हो जायेंगी।

पृथिवीत्व आदि रूप से (ग्रहण करने पर प्रत्येक जीव के प्रति होने वाली विभिन्नता का परिहार) सम्भव है[1] तथापि पृथिवीत्व आदि भी पाँच हैं जिससे प्रकृति (अव्यक्त) के विषय में श्रुतिप्रतिपादित[2] एकता का विरोध होगा।[3] अज्ञानात्मक महामाया के रूप में ही उपाधि का होना सम्भव है, फिर भी वह कर्मजन्य अदृष्ट का समवायी आधार न होगी क्योंकि माया कारक (क्रियाजनक) नहीं है, बुद्धि आदि इन्द्रियाँ ही कारक रूप से बताई गयी हैं, और कारक के अवयवों में ही क्रिया समवाय-सम्बन्ध से रहती है। और भी एक बात है; कार्य अपने कारण की प्रकृति वाला नहीं होता (कारण की विकृति कार्य होता है) अतः भूतसूक्ष्म अपंचीकृत महाभूतों की प्रकृति वाला तो होगा नहीं (उससे भिन्न उसका कोई निर्वचन तुम, वादी, कर नहीं सकते)। [4]इसलिये महाभूतों की सृष्टि आदि[5] के संस्कार वाला मायातत्त्व[6] जिसमें तीनों गुण समानरूप से

---

१. तत्तज्जीव के अदृष्ट का समवायी तत्तत्पृथ्वी व्यक्ति को लेकर दिया दोष पृथ्वीमात्र को लेकर दूर किया जा सकता है—यह अर्थ है।

२. श्रुति ने 'अजामेकाम्' कहकर अव्याकृत को एक कहा है। यदि तर्क से उसे नाना सिद्ध करने का दुःसाहस करेंगे तो श्रुति के कोपभाजन बनेंगे यह भाव है।

३. यदि भूतसूक्ष्म को अज्ञानात्मक मानो तो जो भूतसूक्ष्म को अदृष्टसमवायी मानते हो वह विरुद्ध पड़ेगा, यह कहते हैं—अज्ञानात्मक इत्यादि से।

४. भूतसूक्ष्म नामक पदार्थविशेष को अव्याकृत मानने का प्रयास किया था अतः भूतसूक्ष्म किंस्वभावक वस्तु है यह बताना होगा। वह महाभूतस्वभावक हो नहीं सकता क्योंकि सर्वथा एक स्वभाव वाली वस्तुओं में कार्यकारणभाव होता नहीं और अव्याकृत होने से भूतसूक्ष्म को कारण मानना इष्ट है। यदि अज्ञानात्मक स्वभाव मानो तो उसमें अदृष्टसमवायिता न होने से प्रतिज्ञाहानि होगी और केवल अज्ञानात्मकता से ही सन्तोष कर अदृष्टसमवायिता का मोह छोड़ दो तो सिद्धान्ती की शिष्यपंक्ति की ही शोभा बढ़ाओगे। इससे अतिरिक्त कोई स्वभाव उसका बताया नहीं जा सकता। अतः भूतसूक्ष्म नामक पदार्थान्तर सिद्ध नहीं होता। यही सब हेतु बनाकर कहा—इसलिये।

५. आदि से स्थिति, विकृति, नाश आदि का ग्रहण है।

६. तात्त्विकता बताने में तात्पर्य नहीं केवल उसकी अभावविलक्षणता बताने के लिए तत्त्व कहा।

(लीन) हैं,[1] वही अव्याकृत आदि शब्दों का अर्थ है और उसे ही यहाँ (अन्न शब्द से) समझना चाहिये। तदनन्तर 'अन्नात्' व्यक्त करने की इच्छा वाली अवस्था में स्थित अव्यक्त से 'प्राणः' हिरण्यगर्भ, पूर्व व्यतीत कल्प में[2] हिरण्यगर्भपद की प्राप्ति के निमित्तभूत विशेष उपासना और कर्म जिस व्यक्ति द्वारा कर लिये गये हैं, उस पर कृपा कर (उन कर्म व उपासना को फलीभूत करने के लिये) माया उपाधि वाला अक्षर ब्रह्म (ईश्वर) हिरण्यगर्भरूप अवस्थाविशेष के स्वरूप में विवर्तित हो जाता है, तथा (तत्पदप्राप्त्यनुकूल कर्म व उपासना वाला) वह जीव उस अवस्थाविशेष में तादात्म्याभिमान कर हिरण्यगर्भ कहाता है;[3] इस तात्पर्य से कहते हैं—ज्ञानशक्तियों द्वारा तथा क्रियाशक्तियों द्वारा अधिष्ठित अर्थात् उन शक्तियों वाले वैयक्तिक (सीमित) सूक्ष्मशरीरों का सामूहिक रूप[4]

---

१. ज्ञान, दुःख व जाड्य आदि जिन कारणों से होते हैं वे सत्त्व, रजः व तमः गुण कहे जाते हैं। व्यक्त संसार में ये व्यक्त रूप से मिलते हैं तथा व्यक्तावस्था में इनमें से कहीं कोई सशक्त हो अन्यों का अभिभव करता है, कहीं दूसरा। किन्तु अव्यक्तावस्था में ये गुण भी अव्यक्त होते हैं तथा समान सामर्थ्य वाले रहते हैं जिससे कि कोई किसी को अभिभूत नहीं करता।

२. ब्रह्माजी का एक दिन, जिसके बाद उनकी उतने ही समय की (एक हजार चतुर्युग) रात्रि होती है, प्रायः कल्प कहा जाता है। किन्तु यहाँ ब्रह्मा की पूरी आयु विवक्षित है क्योंकि महाप्रलय के बाद की सृष्टि का वर्णन है।

३. जैसे हम लोग परमेश्वर-विवर्तभूत (अपनी) उपाधि में अभेदाध्यास से उस उपाधि वाले हो जाते हैं वैसे ही समझना चाहिए। इतना अन्तर अवश्य है कि इस पद पर आसीन जीव को प्रारम्भ में ही अपनी वास्तविकता का ज्ञान हो जाता है और जीवन्मुक्त के रूप में रहने के अपने प्रारब्ध पर्यन्त वह पद पर बना रहता है।

४. हम लोगों के सूक्ष्मशरीर हिरण्यगर्भ के अंश हैं। सभी सूक्ष्म शरीर मिलकर हिरण्यगर्भ का शरीर है जैसे हाथ पैर आदि मिलकर हमारा शरीर बनता है, या प्रत्येक वृक्ष मिलकर जंगल होता है। यह शंका नहीं करनी चाहिये कि जैसे भूतसूक्ष्म को नाना होने से एक ईश्वरता की उपाधि नहीं माना था वैसे यहाँ भी नाना सूक्ष्मशरीरों को एक हिरण्यगर्भ की उपाधि नहीं मानना चाहिये; क्योंकि जैसे वहाँ सामान्याभिप्रायसे सम्भव मान लिया था वैसे यहाँ समष्टि के अभिप्राय से सम्भव मानना उचित है। मोक्षपर्यन्त तो लिंगशरीरों

अर्थात् 'सूत्र'[1] नाम वाला है, जो (पूर्व पूर्व भ्रमजन्य वासनारूप) अविद्या,[2] कामना, कर्म तथा महाभूतों के समुदाय के (अव्यक्तरूप) बीज (से उत्पन्न) अङ्कुर है तथा सूक्ष्मजगत् रूप शरीर वाला है, वह उत्पन्न होता है—यह वाक्य में सम्बन्ध[3] है। तथा उस प्राण[4] से 'मनः' मननामक संकल्प, विकल्प, संशय, निर्णय[5] आदिरूप (ज्ञानशक्ति-प्रधान हिरण्यगर्भ) अभिव्यक्त हुआ। 'मननामक' इस शब्द से (पूर्ववत्) समष्टिरूप (ज्ञानशक्तिप्रधान लिंगशरीर) को बताना इष्ट है, क्योंकि

की विद्यमानता है ही। मुक्त पुरुषों के लिंगशरीर नष्ट होने से भी हिरण्य-गर्भ में कोई तात्त्विक अन्तर पड़ता नहीं, जैसे एक दो वृक्ष कट जाने पर जंगल को कोई अन्तर पड़ता नहीं। सभी मुक्त हो जायें तब तो संसार न रहने से हिरण्यगर्भ भी नहीं रहेगा अतः कोई आपत्ति नहीं। परिवर्तनशील अतः नश्वर उसकी उपाधि है यह तो स्वीकृत ही है।

१. बृहदारण्यक के उद्दालक-याज्ञवल्क्य संवाद में (३.७) 'वायुर्वै गौतम तत्सूत्रम्' आदि द्वारा वायुशब्दित हिरण्यगर्भ को सूत्र नाम वाला बताया है।

२. अव्यक्त स्वयं अविद्यारूप होने से अविद्याबीज नहीं कहा जा सकता। अविद्या अनादि होने से भी बीज वाली नहीं। तथा कारणशरीररूप होने से वह सूक्ष्मशरीर में नहीं आ सकती। अतः यहाँ अविद्यापद इसी अर्थ को बताता है। पंचीकरण वार्तिक के 'अविद्याकामकर्माणि लिंगं पुर्यष्टकं विदुः' (३६) की व्याख्या में श्रीनारायणेन्द्रसरस्वती ने इसे व्यक्त किया है—[अविद्याशब्दोऽत्र] पूर्वपूर्वभ्रमजन्यवासनारूपाविद्यापरः।

३. 'अन्नात् प्राणः' का पूर्वोक्त 'अभिजायते' से सम्बन्ध करना होगा तभी वाक्य बनेगा। आगे भी ऐसा ही जानना चाहिये।

४. ज्ञानशक्ति से तथा क्रियाशक्ति से अधिष्ठित हिरण्यगर्भ का ही क्रियाशक्ति-प्रधानरूप प्राण शब्द से कहकर ज्ञानशक्तिप्रधानरूप मनशब्द से बताना है। उसका प्राण से जन्म हुआ —इसका इतना ही तात्पर्य है कि ज्ञानशक्तिप्रधान अवस्था व्यक्त हुई। यहाँ प्राण व मन के पौर्वापर्य में तात्पर्य नहीं, बताने के लिए आवश्यक किसी क्रम का आश्रयणमात्र है।

५. संकल्प = इच्छा। विकल्प = अनिर्णय। संशय = संदेह (शंका)। निर्णय = निश्चय। आदि से श्रद्धा, अश्रद्धा, भय आदि का ग्रहण जानना चाहिए।

वैयक्तिकरूप मन तो लोकों की सृष्टि के बाद व्यक्त होगा।[1] उसके बाद सङ्कल्प आदि रूप मन से 'सत्यम्'[2] सत्य नाम वाले आकाश आदि पाँच[3] महाभूत उत्पन्न होते हैं। उस सत्यनामक महाभूतसमूह से ब्रह्माण्डक्रमपूर्वक[4] भूः आदि लोक उत्पन्न होते हैं। उन लोकों में मनुष्यादि प्राणियों के लिये वर्ण तथा आश्रमक्रम से कर्म उत्पन्न[5] होते हैं। तथा कर्मरूप निमित्तों के हो जाने पर 'अमृतम्' उन कर्मों से उत्पन्न होने वाला फल उत्पन्न होता है। जब तक कर्म नष्ट नहीं होते तब तक सैकड़ों करोड़ कल्प बीत जाने पर भी फल नष्ट नहीं होता अतः उसे अमृत कह दिया ॥ ८ ॥

---

१. वैयक्तिक मनों की सामूहिकता को ही विवक्षित मानना है तो यह कैसे कि वैयक्तिक के बिना ही उसकी स्थिति हो जाये ? यह प्रश्न उठता है। उत्तर है कि यहाँ वैयक्तिक मनों की वैयक्तिकरूप में अभिव्यक्ति प्रारम्भ में नहीं है, वह लोकसृष्टि के बाद होगी। जैसे दस रोटियों के लिए रखा आटा है यद्यपि दस रोटियों के आटे का मिला हुआ रूप, तथापि दस रोटियों का जो प्रातिस्विक (वैयक्तिक) हिस्सा है वह उस मिली अवस्था में प्रकट नहीं है। या दस आदमी किसी भूखण्ड को मिलकर खरीद लेते हैं तो जब तक नपाई आदि होकर उनके हिस्से बँट नहीं जाते तब तक उनके हिस्सों का वह मिला हुआ रूप ही रहता है, हिस्से-व्यक्ति नहीं। नपाई आदि तक हिस्से हुए नहीं, यद्यपि हिस्सों वाला भूखण्ड है ही। ऐसा ही यहाँ जान लेना चाहिये।

२. पृथ्वी, जल और तेज को सत् तथा वायु और आकाश को त्यत् वेद ने (बृ० २.३) कहा है। उसी आधार पर सत् व त्यत् मिलकर सत्य शब्द से महाभूतों का निर्देश समझना चाहिए।

३. श्रुत्यन्तरानुरोधसे यहाँ आकाशादिक्रम समझ लेना चाहिये।

४. पूर्व में पंचीकरण भी जानना चाहिए। तदुत्तर ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति है। पूर्ववत् भूरादि लोक मिलकर ही ब्रह्माण्ड हैं, तथापि पहले पूरा ब्रह्माण्ड तैयार होता है फिर उसके हिस्से किए जाते हैं यह समझना चाहिए।

५. वर्णाश्रमादिनिमित्तक अधिकारानुसार प्राणी जिस शास्त्रोक्त कर्म को निर्वृत्त करते हैं वह निर्वृत्ति यहाँ उत्पत्तिशब्दार्थ है।

"जो सामान्य तथा विशेषरूप से सब कुछ जानता है, जिसका (सिद्ध्यर्थ) प्रयत्न ज्ञानमय ही है, उससे पूर्वोक्त हिरण्यगर्भ, नाम, रूप और अन्न उत्पन्न होते हैं ॥ ९ ॥"

पहले कही बात का उपसंहार करने की इच्छा वाला यह मन्त्र अगले खण्ड में जिस अविद्या (अपराविद्या) के व्याख्यान का प्रकरण है उसके उपक्रम के लिये कहता है—तात्पर्य है कि (अपराविद्या के उपक्रम के लिये) पूर्वोक्त पराविद्या के सूचक प्रसंग में प्रदर्शित विषय का उपसंहार (इस मंत्र में है); 'यः' पूर्वोक्त अद्रेश्यादि लक्षणों वाला अक्षरनामक ब्रह्म 'सर्वज्ञः' सामान्यरूप से[1] अर्थात् मायानामक[2] उपाधि द्वारा समष्टिरूप से सब जनता है अतः सर्वज्ञ है (और) विशेषरूप से अर्थात् अविद्यानामक उपाधि द्वारा वैयक्तिकरूप से सब जानता है अतः सर्ववित् है। अनन्त जीवों के रूप को प्राप्त वही[3] अपनी उपाधि (अविद्या) और उससे

---

१. घटत्वेन सकल घटों को जानना सामान्यरूप से जानना है। प्रत्येक घट को तत्तद्व्यक्ति के रूप में जानना विशेषरूप से जानना है। तथा वस्तु के सामान्य धर्मों को जानना प्रथम और विशेष धर्मों को जानना द्वितीय है।

२. अविद्या ही समष्टिदृष्टि से माया और व्यष्टिदृष्टि से अविद्या कह दी गयी। यद्वा विक्षेपप्राधान्येन माया और आवरणप्राधान्येन अविद्या है। माण्डूक्य-भाष्यटीका में (आ० ३ पृ० २२२) अनुभूतिस्वरूपाचार्य ने [जो इस टीका के भी रचयिता प्रतीत होते हैं] स्पष्ट किया है कि ईश्वरोपाधि अव्याकृत में विक्षेपशक्ति होने पर भी आवरणशक्ति न होने से तदुपाधिक ईश्वर 'मैं सर्वज्ञ हूं, मोह में नहीं' ऐसा जानता है। उस अव्याकृत के ही अंशरूप अज्ञान परिच्छिन्न होने से आवरणशक्ति वाले भी हैं अतः तदुपाधिक जीव 'मैं अज्ञानी हूँ' ऐसा जानते हैं। 'अव्याकृतस्य विक्षेपशक्तिसद्भावेऽपि आवरण-शक्त्यभावात्तदुपाधिरीश्वरः सर्वज्ञोहममूढ इति प्रसिद्ध्यति। परिच्छिन्नत्वेन तदंशानां सौषुप्ताख्याज्ञानानामावरणविक्षेपशक्तिमत्त्वात् तदुपाधिका जीवा अज्ञा इति प्रसिद्ध्यन्ति।' अतः प्रकृत आचार्य माया और अविद्या के तात्त्विक भेद के प्रतिपादक नहीं प्रतीत होते हैं।

३. यह नहीं समझना चाहिये कि अव्यक्तोपाधि से वह केवल सर्वज्ञ ही है सर्ववित् नहीं, क्योंकि 'निर्विशेषं न सामान्यम्' न्याय से अव्यक्तोपाधिक में सर्वज्ञत्व तथा सर्ववित्त्व दोनों हैं, हाँ अज्ञानोपाधिक में सर्वज्ञत्व नहीं। टीकायोजना का इतना ही बताने में तात्पर्य है कि जो अव्यक्तोपाधि में सर्वज्ञ वही अज्ञानोपाधि में सर्ववित् है, एवं च तत्त्वमैक्य श्रुति बता रही है।

सम्बन्ध वाले सबको जानता है—इस प्रकार कहकर जीव और ईश्वर में तत्त्विक अभेद है यह सूचित किया। प्रजापति जो सृष्टि करते हैं वह तपोरूप साधन से करते हैं ऐसा प्रसिद्ध है, उसी तरह ब्रह्म सृष्टिकर्ता है तो कहना होगा कि उसने भी तप का अनुष्ठान किया होगा, (किन्तु) उससे ब्रह्म की संसारिता प्राप्त होगी—यह शंका कर (इसके निराकरण के लिये) कहते हैं—जिसका 'ज्ञानमयम्' ज्ञानोपाधि वाला हो सर्वज्ञ होना (ही) तप (सृष्टिसिद्धयर्थ प्रयत्न) है, कोई क्रियारूप नहीं। सत्त्वगुण-प्रधान माया की ज्ञाननामक वृत्ति होती है जिस उपाधि वाला परमात्मा 'ज्ञानविकार' कहलाता है (तथा ज्ञानविकार होने पर) जिनकी सृष्टि होनी है उन सभी पदार्थों की जानकारीरूप तप (परमात्मा का होता है) न कि कष्टसहनरूप, जैसा कि प्रजापतियों का होता है यह तात्पर्य है। 'तस्मात्' जैसा पहले बताया वैसे सर्वज्ञ से 'एतत्' पूर्वोक्त कार्यस्वरूप[1] 'ब्रह्म' हिरण्यगर्भ नामक ब्रह्म[2] उत्पन्न होता है। और भी, 'यह देवदत्त है, यज्ञदत्त है' इत्यादि नाम, यह सफेद, नीला इत्यादि रूप तथा चावल, जौ आदि अन्न उत्पन्न होता है।[3] [यहाँ जो उत्पत्ति बतायी है वह] पूर्व मंत्र में बताये क्रम से होती है [ऐसा समझकर दोनों मंत्रों में] कोई विरोध नहीं है यह जान लेना चाहिये ॥ ९ ॥

इति प्रथम मुण्डक का प्रथम खण्ड

———

१. सूक्ष्मकार्य से तादात्म्यापन्न।

२. हिरण्यगर्भ भी ब्रह्म कहा जाता है।

३. व्यक्त जगत् नाम-रूपात्मक तथा भोगार्थ है यह बताने के लिये सत्य, लोक, कर्म आदि को नाम, रूप और अन्न कहकर इकट्ठा कर दिया। रूपपद से वह समझ लेना चाहिये जिससे 'वस्तुओं' का निरूपण होता है। जिन्हें हम 'वस्तु' मानते हैं वे नाम-रूप से अतिरिक्त कुछ नहीं, वास्तविक तो केवल परमात्मा है जिस पर नाम-रूप का अध्यास है यह वेदान्त रहस्य है॥

यल्लाभो न भवति नैजयत्नाद्यत्सेवा सकृदपि तोषदात्री।
यत्पानं जनिमृतिदुःखहानिरालम्बे श्रुतिगुरुवाक्सुधां ताम्॥

अथ द्वितीय खण्ड

'ऋग्वेद, यजुर्वेद' (१.१.५) इत्यादि मंत्र द्वारा छहों अंगों सहित चारों वेदों को अपराविद्या बताया तथा 'वह जो ज्ञानेन्द्रियों का अविषय' (१.१.६) आदि मन्त्र से प्रारम्भ कर 'नाम, रूप और अन्न उत्पन्न होते हैं' (१.१.९) तक के ग्रन्थभाग द्वारा बताये स्वरूप वाला अक्षर ब्रह्म 'जिस विद्या से समझा जाता है'—इस प्रकार अपने विषयीभूत अक्षर ब्रह्म सहित पराविद्या बतायी गयी।[1] इसके बाद इन दोनों विद्याओं के विषय—संसार और मोक्ष—अलग-अलग समझने[2] चाहिए, इसलिए (उन्हें अलग-अलग समझाने के लिए) आगे का ग्रन्थ प्रारम्भ होता है। उन दोनों विद्याओं में अपराविद्या का विषय है विभिन्न कर्त्ता आदि कारक क्रिया और उनका फलरूप संसार जो अपने उपादान कारण (अज्ञान) की दृष्टि से अनादि तथा ब्रह्मज्ञान से पूर्व उसका अन्त असम्भव होने से अनन्त है; क्योंकि वह दुःखरूप[3] है अतः प्रत्येक शरीरधारी जीव द्वारा त्यागने योग्य है। 'दुःखरूप होने से शरीरधारियों द्वारा त्यागने योग्य है'—इस (वाक्य में शरीरधारियों—

---

१. तात्पर्य है कि अपराविद्या की सूचना देकर बाकी खण्ड में पराविद्या का प्रतिपादन किया।

२. अपराविद्या को हेय बताया पर जब तक उसका फल हेय सिद्ध नहीं होगा तब तक विद्या की हेयता जँचेगी नहीं क्योंकि फल पर ही विद्या की हेयता निर्भर करती है। अतः अपराविद्या के फल को हेय और पराविद्या के फल को उपादेय जानना आवश्यक है। यद्यपि प्रश्न एकविज्ञान से सर्वविज्ञान का था और उसके उत्तर में केवल पराविद्या का उपदेश दिया जा सकता था तथापि संसार से विरक्त ही पराविद्या में प्रवेश का अधिकारी होने से उससे वैराग्य उपजाने के लिये उसका वर्णन आवश्यक हो गया।

३. संसार में दुःखबाहुल्य होने से दुःखरूप कहा। वस्तुतः संसार से वैराग्य उत्पन्न कराने के लिये उसमें दुःखदृष्टि का विधान अभिप्रेत समझना चाहिये। अतः विद्यमान भी जो यत्किंचित् सुख, उसकी ओर ध्यान नहीं देना चाहिये।

इस बहुवचन) के द्वारा वह खण्डित हो जाता है जो एकजीववादी कहते हैं—एक चैतन्य एक ही अविद्या (उपाधि) से बद्ध होकर संसरण का अनुभव करता है, वही (चैतन्य) कभी (श्रवणादिसाधनवशाद् उत्पन्न आत्मसाक्षात्कार से) मुक्त हो जाता है; हम जैसे, व्यवहार में आने वाले नाना, जीवों के बन्धन व मोक्ष नहीं होते। [भाष्योक्त बहुत्व से अतिरिक्त भी हेतु है कि यह मत खण्डित हो जाता है, वह यह कि] श्रुतिद्वारा[1] (जीव की एकता को अपने प्रतिपाद्य क्षेत्र से) बाहर कर दिया गया है (अर्थात् नानाजीववाद स्थापित कर एकजीववाद को अप्रामाणिक सिद्ध कर दिया गया है) अतः (एक जीववाद निरस्त हो जाता है)।[2] विभिन्न क्रिया कारक व फलरूप संसार का त्याग गहरी नींद में भी होता है लेकिन आत्मज्ञानपूर्वक जो त्याग है वह उस (गहरी नींद वाले) त्याग की अपेक्षा कोई विशेषता रखता है, यह बताते हैं—

१. 'तद् यो यो देवानां प्रत्यबुध्यत सएव तदभवत् तथर्षीणां तथा मनुष्याणाम्' (बृ० १.४.१०) इत्यादि श्रुति से तात्पर्य है जिसमें कहा कि देवताओं में, ऋषियों में, मनुष्यों में जो जो अपनी ब्रह्मरूपता का निर्विचिकित्स दृढ ज्ञान पा लेता है वह वह उस ब्रह्मरूपता को प्राप्त हो जाता है।

२. माण्डूक्यभाष्यविवरण में भी अनुभूतिस्वरूपाचार्य ने एकजीववाद के प्रति अरुचि अत्यन्त कठोर शब्दों में व्यक्त की है (पृ० २८२ MRI) और यह सूचित किया है कि उन्होंने इस वाद का और विस्तृत खण्डन इष्टसिद्धि ग्रंथ की टीका में किया है। एवमपि एकजीववाद ही वेदान्त का मुख्य सिद्धान्त है। सर्वज्ञगुरु का वचन है—'तस्माद् ब्रह्माऽविद्यया जीवभावं प्राप्यासित्वा तावके तु स्वरूपे। त्वच्चित्तेन (= अविद्यया) स्पन्दितं जीवजातमाकाशादि क्ष्मावसानं च पश्येत् ॥ स्वीयाविद्याकल्पिताचार्यवेदन्यायादिभ्यो जायते तस्य विद्या। विद्याजन्मध्वस्तमोहस्य तस्य स्वीये रूपेऽवस्थितिश्चित्प्रकाशे ॥२.१६२ –३॥ ब्रह्मैव संसरति मुच्यत एतदेव दौवारिकं भवति संसरणं तु तस्य। मुक्तिः पुनर्भवति चिद्वपुषैव तस्य स्वाज्ञानतः स्वमहिमप्रतिबोधतश्च ॥३ ७॥' यद्यपि उन्हीं ने '.......न तदेश्वरो भवितुमुत्सहते न च जीवजातमपरं सकलम् ॥३.३५॥ गुरुशिष्यसंगतिरतो न भवेत् न च बन्धमोक्षनियमो घटते। विषयं विना सकलमापतति स्फुटमत्र वेदवचनं च वृथा ॥३.३६॥' इत्यादि से जीवभेद की आवश्यकता बताई है, तथापि वह प्रायःस्वीकृतवाद होने से ग्राह्य हो है, इतना ही बताने में उनका तात्पर्य है। अद्वैतरत्नकोष (वेदान्त-

[वह संसार] नदी के प्रवाह की तरह कभी न रुकने वाला उपाधि-सम्बन्धरूप है, [और उसे] पूरी तरह से [त्यागना चाहिए]। मोक्ष संसार की उपशान्तिरूप है अर्थात् अविद्या की निवृत्ति से जो अपनी उपाधिभूत अविद्या और उसके कार्य (क्रियाकारकादिसन्तान) का कारण-निवृत्तिपूर्वक त्याग (निवर्तन, बाध) है, वह ज्ञान का फल है; (जबकि सुषुप्ति में कारण की निवृत्ति नहीं, केवल कार्य का कुछ काल के लिए कारण में लीन होना ही निवृत्ति का स्वरूप होता है)। पराविद्या का विषयभूत ब्रह्मरूप मोक्ष कारणरहित है, निःसीम है, पुराना नहीं पड़ता, अमर है अर्थात् क्षीण नहीं होता, अमृत है अर्थात् नष्ट नहीं होता,

---

तत्त्वविवेक) में श्रीनृसिंहाश्रम ने एकजीववाद को 'सकलवृद्धसम्मत' कहा है (दीपनम् पृ० ३८८)। तत्त्वप्रदीपिका आदि वादग्रन्थों में भी एकजीववाद को ही प्राधान्य दिया गया है। भामती प्रस्थान में तो बहुजीववाद ही मान्य है। यौक्तिक व्यवस्था उभयत्र बन जाती है पर एकजीववाद में लाघव है जबकि बहुजीववाद अनुभव के अधिक अनुकूल प्रतीत होता है। भामत्यभिमत अनेकजीववाद तो अनुभव से एकजीववाद की तरह ही दूर है। अनुभूतिस्वरूपाचार्य की प्रक्रिया इस प्रकार है—चिन्मात्र में स्थित एक भूतप्रकृति माया है जिसमें चित्प्रतिबिम्ब ईश्वर है जो मायावृत्तियों द्वारा सर्वज्ञ है। उस माया के अनिर्वचनीय अनन्तप्रदेश हैं जिन्हें अज्ञान कहते हैं और उनमें उसी (जिसका प्रतिबिम्ब माया में ईश्वर बना) चेतन के प्रतिबिम्ब पड़ते हैं जिनसे वह अनन्त जीवों के रूप में व्यवहृत होता है। निरंश व एक आत्मा के अनंत प्रतिबिम्ब वैसे ही पड़ जाते हैं जैसे आकाश के। जिस जीव को अपनी बिम्बस्थानीयब्रह्मरूपता का अनुभव हो गया, उसकी अपनी उपाधि अज्ञान भग्न होने के कारण स्वरूपस्थितिरूप मुक्ति हो जाती है। माया का बाध होने पर भी वैसे ही निवृत्ति नहीं होती जैसे लोक में मायावी की माया उसके मिथ्यात्व ज्ञान से निवृत्त नहीं होती। इस प्रकार मुक्तामुक्तविभाग भी सम्यक् साधित हो जाता है। [द्र० सं० शा० ३.३६ अग्निचित्पुरुषोत्तमीय टीका तथा माण्डूक्य आ० प्र० ३ में (पृ० २२२ MRI) अनुभूतिस्वरूपाचार्य की व्याख्या]। यह एकजीववाद का खण्डन भी टीकाकार को आनन्दगिरि स्वामी से भिन्न बताता है क्योंकि वे तत्र तत्र एकजीववाद का समर्थन करते हैं। जैसे 'अतो भाष्यबहिर्भूतो नानाजीववादः' (ब्र० सू० भा० न्या० नि० १.२.६.२२; पृ० १९२)।

भयरहित है, स्वरूपतः सर्वदोषशून्य है, प्रशान्त है (अर्थात् आगन्तुक दोष रहित है), सर्वाधिक आनन्दरूप है, भेदरहित है तथा अपने स्वरूप में निष्कम्प-अवस्थितिरूप है।

अपराविद्या के और पराविद्या के विषयों को (प्रथमखण्ड में) बताकर (द्वितीयखण्ड में) पहले अपराविद्या के विषय का विस्तार करने में श्रुति के तात्पर्य को बताते हैं—पहले तो निश्चित रूप से[1] अपराविद्या के विषय को बताने के लिये (द्वितीय खण्ड का) आरम्भ है क्योंकि उसे समझ लेने पर ही उससे वैराग्य हो यह संगत है। [जैसे कि समझ लेने से वैराग्य संगत होता है] वैसा उपनिषत् कहेगी 'संसारगतिरूप तथा कर्मों से अर्जित लोकों के याथात्म्य का निर्धारण कर ब्राह्मण को चाहिये कि वह उनसे वैराग्य करे' (१.२.१२) इत्यादि मंत्र द्वारा। जो बात बतायी न जाये उसका याथात्म्यनिर्धारण युक्तियुक्त नहीं अतः (ताकि उसकी याथात्म्यनिर्धारणरूप परीक्षा हो सके) उसे (अपरविद्या के विषय को) दिखाते हुए श्रुति कहती है—

"ऋषियों ने मन्त्रों में जिन कर्मों को समझा वे त्रेता में बहुत प्रकार से विस्तृत हुए (और) वे यथार्थ हैं (अचूक हैं)। कर्मों के प्रतिनियत फल की कामना वाले होते हुए स्वयं किये कर्म के फल प्राप्त करने के लिये तुम्हारे पास यह रास्ता है कि तुम उन कर्मों का सदा आचरण करो॥ १॥"

इष्ट के साधन के रूप में या अनिष्ट के साधन के रूप में वेद द्वारा जिस कर्म का बोधन[2] किया जाता है वह कर्म, किसी प्रतिबन्धक[3] के न होने पर, यथोपदिष्ट फल की सिद्धि अवश्य करता है, यही उस कर्म की सत्यता है, न कि यह कि वे स्वरूप से बाध के अयोग्य हों क्योंकि 'ये अदृढ नावें हैं' (१.२.७) इत्यादि मंत्र द्वारा उनकी (कर्मों की) निन्दा

---

१. 'तावत् तत्परिमाणे त्रिः, अव्ययं त्ववधारणे। सम्भ्रमे च परिच्छेदे तथा कार्त्स्न्याधिकारयोः॥' वाङ्मयार्णवे॥ इति कोशादवधारणेऽत्र तावदिति।

२. वेदान्तमर्यादा है कि वेद बोधक है कारक नहीं, वह करवाता नहीं, केवल बताता है।

३. सारी कारणसामग्री उपस्थित होने पर भी जिसकी विद्यमानता के कारण कार्योत्पत्ति नहीं होती वह प्रतिबन्धक कहलाता है।

की गयी है[1]। तथा स्वरूप से बाधयोग्य होने पर भी प्रयोजन साधने में वे समर्थ उसी तरह हो जाते हैं जैसे स्वप्नदृष्ट कामिनी (काम्यकर्म के साफल्य का द्योतन कर देती है)[2]। इस तात्पर्य से कहते हैं—वह (प्रसिद्ध) यह (अनुपद कथ्यमान) बात 'सत्यम्' तथ्यपूर्ण है। वह क्या है (जो तथ्यपूर्ण है) ? 'कवयः' वशिष्ठ आदि मेधावी ऋषियों ने ऋग्वेदादि मन्त्रों में मन्त्रों से[3] ही प्रबोधित जिन अग्निहोत्र आदि कर्मों को 'अपश्यन्' समझा, वह जो यह उनका समझना है वह सत्य है क्योंकि वे कर्म

---

१. निन्दा त्याग के लिए है और सत्य का त्याग न उचित है न सम्भव।

२. अथवा स्वप्न में आचरित कमिनीगमन जाग्रत में धातुविसर्ग का कारण होता है, यह उदाहरण समझ सकते हैं।

३. यद्यपि कर्ममीमांसकों ने इस प्रश्न पर कि जिस प्रकार ब्राह्मणभाग के भावशब्द (विधायक पद) कर्मविधान करते हैं वैसे क्या मन्त्रभाग के भावपद भी कर्मविधान करते हैं या नहीं, यह निर्णय किया है कि यच्छब्दादिके सम्बन्ध से आख्यातशब्दों की विधान करने की सामर्थ्य नष्ट हो जाती है और ऐसे स्थल मन्त्रभाग में ही अधिक मिलते हैं अतः प्रायोवाद से ऐसी प्रसिद्धि है कि मन्त्र अविधायक और ब्राह्मण विधायक होते हैं, वस्तुतः विधान या अविधान में मन्त्रत्व या ब्राह्मणत्व कोई नियामक नहीं (जै० सू० २.१.३०-३१ वार्तिक) तथापि 'मन्त्रेषु कर्माणि' इत्यादि श्रुतियों के आधार पर आचार्यशङ्कर ने मन्त्रों को ही कर्म का प्रकाशक (विधायक) माना है। उनके अनुसार उत्पत्तिविधि मन्त्रों में ही होती है, विनियोग व अधिकार केवल ब्राह्मण में श्रुत हैं। जब मन्त्र से ही उत्पत्तिविधि लब्ध हो सके तो उसे छोड़ ब्राह्मण में खोजना व्यर्थ गौरव है। मन्त्र में कर्मस्वरूप की प्रतीति तो स्वीकारनी ही होगी, अन्यथा उनका प्रमाण्य ही नहीं रहेगा। अतः जिन कर्मों की उत्पत्ति ब्राह्मण में प्रतीत होती है, उनकी भी उत्पत्ति मन्त्रों में ही माननी चाहिए। इसीलिए लोक में भी प्रसिद्धि है कि कर्म त्रयीविहित हैं; त्रयीशब्द ऋगादि मन्त्रविषयक प्रसिद्ध है। ब्राह्मण को मन्त्र का व्याख्यानरूप माना जाता है अतः भी संगत है कि मन्त्रसूचित कर्म का ही विस्तार ब्राह्मण में हो।—'मन्त्रप्रकाशितानि कर्माणि क्रियन्ते, नामन्त्रकमस्ति कर्म। यद्धि मन्त्रप्रकाशनेन लब्धसत्ताकं सत्कर्म ब्राह्मणेनेदं कर्तव्यमस्मै फलायेति विधीयते। याप्युत्पत्तिर्ब्राह्मणेषु कर्मणां दृश्यते सापि मन्त्रेषु लब्धसत्ताकानामेव कर्मणां स्पष्टीकरणम्।' (छां० भा० पृ० ३०५ MRI)

निश्चितरूप से कर्ता के प्रयोजन को साधित करने में कारण हैं। तथा ऋषियों द्वारा समझे गये वेद में विहित वे कर्म 'त्रेतायाम्' हौत्र, आध्वर्यव और औद्गात्र जहाँ मिलते हैं, तीनों का मिलना जिसका स्वरूप है उस समूह में, ऋग्वेद में जिन पदार्थों[१] का विधान है वे हौत्र, यजुर्वेद में विहित पदार्थ आध्वर्यव और सामवेद में विहित पदार्थ औद्गात्र कहे जाते हैं, वे तीनों हैं स्वरूप जिस समूह के वह त्रेता है—उसमें, 'बहुधा' बहुत प्रकार से 'संततानि' कर्मकर्ताओं द्वारा किये जाते हुए प्रवृत्त हुए (स्वरूपलाभ को प्राप्त हुए); अथवा त्रेता युग में उनका प्रायः अनुष्ठान हुआ। अतः तुम लोग 'नियतम्' सदा 'सत्यकामाः' कर्मों के यथोपदिष्ट फलों को चाहते हुए[२] उन कर्मों को 'आचरथ' करो। 'सत्यकामाः' पद का 'मोक्ष चाहने वाले'—यह अर्थ जो इस अभिप्राय से किया गया है कि यहाँ श्रुति ज्ञानकर्मसमुच्चय का विधान कर रही है, वह ग़लत है क्योंकि 'स्वयं किये कर्म के फल प्राप्त करने के लिये तुम्हारे पास यह रास्ता है'—इस वाक्यशेष[३] का विरोध होगा जो स्वर्गरूप फल की साधनता को विषय कर रहा है।[४] 'सुकृतस्य' स्वयं किये कर्म के 'लोके' फल का निमित्तभूत—जिसका अवलोकन किया जाये, जिसे विषय किया जाये अर्थात् जिसे भोगा जाये उस कर्मफल को लोक कहा जाता है, उसके लिये अर्थात् उसकी प्राप्ति के लिये 'वः' तुम्हारा 'एषः' यह 'पन्थाः' मार्ग है—यह तात्पर्य है। भाव यह है कि वेद में विहित जो ये अग्निहोत्रादि कर्म हैं वे[५] यह मार्ग है जो फलप्राप्ति का निश्चित साधन है ॥ १ ॥

---

१. द्रव्य, कर्मादि।

२. यहाँ चाहने का विधान नहीं, उसके अनुवाद से कर्म का विधान है। जैसे 'कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेत्' (ईश० २) इस यजुः में जिजीविषा के अनुवादपूर्वक कर्म करने का विधान है या जैसे 'श्येनेनाभिचरन् यजेत्' (आप० २२.४.१३) में अभिचार की इच्छा का अनुवाद है वैसे यहाँ समझना चाहिए।

३. किसी वाक्य के लिए—अर्थात् उसके अंगरूप से—जिस बात को कहा जाये वह बात उस वाक्य का शेष कही जाती है।

४. अर्थात् वाक्यशेष से पता चल रहा है कि स्वर्गसाधन का विधान है अतः मोक्ष के लिए विधान मानना संगत नहीं।

५. अर्थात् उनका अनुष्ठान।

वेदविहित कर्मों में पहले अग्निहोत्र का प्रदर्शन करने के लिये श्रुति उत्तर मंत्र बताती है क्योंकि सभी कर्मों में पहला[1] कर्म वही है—

"जब अग्नि भरपूर इंधन वाली हो (और) ज्वाला लपलपा रही हो तब आज्यभागों के अर्पणस्थान के मध्य में आहुतियाँ अर्पित करे ॥ २ ॥"

जैसे ही डाले गये इंधनों से अग्नि अच्छी तरह जल उठे (और) ज्वाला 'लेलायते' लपलपाती हो 'तदा' उस (ही) समय लेलायमान अर्थात् लपलपाती हुई ज्वाला में 'आज्यभागौ' जिन स्थानों में आज्यभाग अर्पित किये जाते हैं उनके 'अन्तरेण'[2] बीच अर्थात् अवापस्थान में देवता के लिये आहुतियाँ 'प्रतिपादयेत्' अर्पित करे। आहवनीय अग्नि के दक्षिणीय व उत्तरीय किनारों में दर्शपूर्णमासयज्ञ में क्रमशः 'अग्नये स्वाहा' और 'सोमाय स्वाहा' मन्त्रों का उच्चारण कर आज्यभाग (घृताहुतियाँ) अर्पित किये जाते हैं। उन स्थानों के बीच के स्थान में अन्य यागों का अनुष्ठान होता है (अन्य आहुतियाँ बीच में डाली जाती हैं)। उस बीच के स्थान को अवापस्थान कहते हैं। अग्निहोत्र में दो आहुतियाँ होती हैं, यह प्रसिद्ध है; 'सूर्याय स्वाहा, प्रजापतये स्वाहा'—इन मंत्रों से प्रातःकाल और 'अग्नये स्वाहा, प्रजापतये स्वाहा'—इन मन्त्रों से सायंकाल आहुति-प्रदान का विधान है। अतः अग्निहोत्र का विषय प्रारम्भ कर 'आहुतियाँ' ऐसा बहुवचन कैसे संगत है? यह शंका होने पर कहते हैं—[3]कई दिनों तक अग्निहोत्र कर्म किया जाता है, जिसे दृष्टि में रख 'आहुतियाँ' यह

---

१. नित्यकर्मानुष्ठायी को ही अन्य कर्मों में अधिकार है और अग्निहोत्र नित्यकर्म है अतः पहले अग्निहोत्र करे तब अन्य कर्म कर सकता है यह तात्पर्य है।

२. 'अन्तरेण = विना, अग्निहोत्रे तदभावाद् (आज्यभागयोरभावाद्) अन्यत्र (दर्शादौ) आज्यभागयोर्मध्य' इति नारायणोऽन्तरेणेति पदं द्वेधा व्याचख्यौ।

३. यद्यपि प्रातः और सायं को मिलाकर चार आहुतियाँ होती हैं जिससे बहुवचन उपपन्न हो जाता है तथापि जैसे प्रातः व सायं के पृथक् प्रयोग हैं वैसे अनेक दिनों में होने वाले प्रयोग भी पृथक् हैं अतः उनकी अपेक्षा से बहूक्ति उपपन्न करना भी संगत है। अग्निहोत्रग्रहण के अनन्तर यावज्जीवन उसका निर्वाह आवश्यक है इस दृष्टि से 'कई दिनों तक' ऐसा कहा। अथवा कुछ कर्म ऐसे होते हैं जिनकी समाप्ति कई दिनों में होती है, उनकी दृष्टि से बहुवचन प्रयोग उचित बताया गया समझना चाहिए। यद्यपि अग्निहोत्र का प्रसंग है तथापि जैसे आज्यभाग को कह दिया वैसे यहाँ अनेकाहप्रयोगों की अपेक्षा से बहुवचन कह दिया यह तात्पर्य है।

बहुवचन-प्रयोग है। ठीक तरह से आहुति अर्पित करना आदि स्वरूप-वाला यह कर्मात्मक मार्ग लोकों की प्राप्ति का उपाय है और उसका ठीक तरह निर्वाह होना कठिन है (जबकि उसे करने में) मुश्किलें अनेक आती हैं[1] ॥ २ ॥

[2]"जिस अग्निहोत्रकर्ता का अग्निहोत्र दर्श, पौर्णमास, चातुर्मास्य, आग्रयण, अतिथिपूजन और वैश्वदेवकर्म से रहित होता है, उचित समय पर आहुति-वर्जित होता है, तथा जैसा विधान है वैसी आहुतियों वाला नहीं होता, (ऐसा वह अग्निहोत्र) यजमान के सात लोकों को नष्ट कर देता है" ॥ ३ ॥

कैसे (वह मार्ग दुष्कर और विपत्तिबहुल है?—इसे श्रुति बताती है—) 'यस्य' जिस अग्निहोत्रकर्ता का अग्निहोत्र 'अदर्शम्' दर्शनामक कर्म से रहित होता है; क्योंकि दर्शयाग अग्निहोत्री को अवश्य करना चाहिए इसलिए अग्निहोत्र से सम्बन्धित होने से (दर्शकर्म) अग्निहोत्र के विशेषण की तरह है। दर्शकर्म अग्निहोत्र का अंग है इसमें कोई प्रमाण न होने से दर्श को न करना अग्निहोत्र के लिए आपत्तिकर कैसे? यह शंका कर 'जब तक जिये तब तक अग्निहोत्र करे' इस तात्पर्य वाले विधान के कारण हुए अग्निहोत्री के लिए आवश्यक कर्त्तव्य होने से दर्श को न करना आपत्तिकर होता है इस तात्पर्य से उसे (अग्निहोत्र के) विशेषण रूप से कहा।[3] वह (दर्श) न किया जाते हुए (जो केवल

---

१. 'सम्यक्करणं दुष्करं विपत्तिबहुलं चेति वैराग्याय' (नारायणः)। अत्र कर्म किमिति प्रत्यपीपददित्यत्र विद्यारण्योऽनुभूतिप्रकाशआह—'काम्यकर्मफलं स्वर्गो नित्यकर्मफलं धियः। शुद्धिः, तच्चोभयं कर्म कृत्वाऽवश्यमवाप्नुयात् ॥६.३२॥ पुण्यार्जितो लोक एष इत्युक्त्वा प्रापयन्ति तम् ॥३.३६॥ काम्यकर्मफलं प्रोक्तम्, ईश्वरार्पितकर्मणः। फलं संसारहेयत्त्वबुद्धिः, साऽथ (प्लवा ह्येत इत्यादिना) विविच्यते ॥६.३७॥' इति।

२. दुष्करत्वविपत्तिकरत्वे श्रुतिरेव दर्शयति—यस्येत्यादिना।

३. अग्निहोत्र को उस हालत में लोकों का नाशक बताया जब वह दर्शादि के अभाव वाला हो। यह प्रश्न उठता है कि अग्निहोत्र व दर्शादि सब विभिन्न कर्म हैं अतः किसी एक को 'दूसरे वाला'—दूसरा कोई कर्म है विशेषण जिसका ऐसा—कहना अनुचित होने से किसी एक को दूसरे का अभाव वाला भी कहा नहीं जा सकता, प्राप्त होने पर निषेध संगत होता है।

अग्निहोत्र किया जाता है वह 'अदर्शम्' शब्द से कहा) यह तात्पर्य है। इसी तरह 'अपौर्णमासम्' (पौर्णमास कर्म से रहित) इत्यादि शब्दों में भी अग्निहोत्र के प्रति विशेषणता समझ लेनी चाहिए क्योंकि अग्निहोत्र जैसे दर्श के लिए[1] अधिकार देता है वैसे ही इन कर्मों के लिए भी। 'अपौर्णमासम्' पौर्णमास-नामक कर्म से रहित (अग्निहोत्र)। 'अचातुर्मास्यम्' चातुर्मास्य-नामक कर्म से रहित (अग्निहोत्र)। 'अनाग्रयणम्' आग्रयण शरदृतु के प्रारम्भ में कर्त्तव्य कर्म विशेष है, शरदृतु के आरम्भ में नवीन अन्न से करणीय कर्म आग्रयण है, वह भी जिस अग्निहोत्र

इसलिए इस प्रकार के कथन का तात्पर्य क्या ? उत्तर है कि अग्निहोत्र प्राथमिक कर्म है अर्थात् दर्श आदि करने का अधिकार उसे ही है जो अग्निहोत्र करे। अतः सामानाधिकरण्य (समानकर्तृकत्व) सम्बन्ध अग्निहोत्र और दर्शादि का है। उसी सम्बन्ध से वह दर्शाद्यभाववाला भी होता है। इस तरह दर्शादि न कर जो केवल अग्निहोत्र करता है उसके द्वारा किया वह अग्निहोत्र इस अर्थ में निष्फल (आयासमात्र) होता है कि अग्निहोत्र करने से प्राप्त दर्शादि करने का अधिकार आ चुकने पर भी तत्तत्फलक दर्शादि न करने से तत्तत्फललाभ न होगा, अधिकार मिल चुकने पर भी प्रयोजन कुछ नहीं सिद्ध होगा। अग्निहोत्र का निजफल जो प्रत्यवाय की अप्राप्ति (या निवृत्ति), बस वही मिलेगा। यावज्जीवविधि अग्निहोत्र के लिए यह सूचित करने को दी है कि प्राप्तकाल में अग्निहोत्री दर्शादि कर सकता है, दर्शादिकाल में भी उसका अग्निहोत्रित्व बना रहेगा जिससे सामानाधिकरण्य स्फुट है। अथवा; यावज्जीवचोदना से 'यावज्जीवं दर्शपूर्णमासाभ्यां यजेत' (आप० ३.१४.८ १३) श्रुति विवक्षित है। अतः यह वाक्यार्थ है—अग्निहोत्री के लिये उदाहृत श्रुति से दर्शादि आवश्यक कर्तव्यरूप से विहित हैं अतः उन्हें न करना आपत्तिकर होता है। तात्पर्य पूर्ववत् ही है। सामानाधिकरण्यमात्रनिमित्तक विशेषणविशेष्यभाव लगभग औपचारिक ही है यह 'की तरह' से सूचित किया।

१. अग्निहोत्रस्य दर्शादि प्रति यदङ्गत्वमिहेष्टम् दर्शादावधिकारप्रदत्वादिरूपम्, तस्याविशिष्टत्वात्साधारण्यादिति समासार्थो, न तु दर्शादेरग्निहोत्राङ्गत्वं सामान्यमिहोच्यते, तेषां तथात्वाभावादिति द्रष्टव्यम्।

का[1] नहीं किया जाता (वह अग्निहोत्र)। इसी तरह[2] 'अतिथिवर्जितं च' अतिथिपूजन भी जिसका (अग्निहोत्र का) प्रतिदिन नहीं किया जाता (वह अग्निहोत्र)। अग्निहोत्र-काल में स्वयं जिस अग्निहोत्र की आहुतियाँ उचित प्रकार से अर्पित नहीं की गयी हैं (वह अग्निहोत्र)। जैसे अदर्शादि (अग्निहोत्र के विशेषण हैं) वैसे 'अवैश्वदेवम्' भी विशेषण है; यद्यपि वैश्वदेव के लिए अग्निहोत्र का होना आवश्यक नहीं[3] तथापि वैश्वदेव (अग्निहोत्री के लिए भी) आवश्यक कर्म होने से (सामानाधिकरण्य से अग्निहोत्र का विशेषण है); जो वैश्वदेवकर्म से रहित है (वह अग्निहोत्र)। होम किया जाता हुआ भी जो (अग्निहोत्र) 'अविधिना हुतम्' जैसा उचित है वैसा नहीं होमा जाता (वह अग्निहोत्र)।[4] इस प्रकार गलत ढंग से[5] निर्वर्तित अथवा न किया अग्निहोत्रादि से उपलक्षित[6] सकल कर्म करता क्या है ? यह श्रुति बताती है—'तस्य'

---

१. 'विशेषणकी तरह'—इतना यहाँ शेष समझना चाहिए। अथवा इतना ही कहा है कि आग्रयण से सम्बन्धित होकर जो अग्निहोत्र नहीं, वह।

२. जिस अग्निहोत्र को प्रतिदिन किये अथितिपूजन का सम्बन्ध प्राप्त नहीं हुआ, वह—यह वाक्यार्थ है।

३. अग्निहोत्रमनङ्गं यस्य तद्वैश्वदेवं, तस्य तथात्त्वेपीति विग्रहः। वैश्वदेवेऽनग्निहोत्रिणामप्यधिकारात्। जैसे दर्शादि की अग्निहोत्रसमानाधिकरणता निश्चित है क्योंकि अग्निहोत्री का ही दर्शादि में अधिकार है, बल्कि उसके लिए उन्हें करना आवश्यक है, वैसे वैश्वदेव और अतिथिपूजन की अग्निहोत्रसमानाधिकरणता निश्चित नहीं, कारण कि अनग्निहोत्री को भी वैश्वदेव में अधिकार है। फिर भी अग्निहोत्री वैश्वदेव अवश्य करता है क्योंकि उसके लिए भी उसे करना वैसे ही आवश्यक है जैसे गैर-अग्निहोत्री के लिये, जिससे कि वैश्वदेव, और अतएव अवैश्वदेव, अग्निहोत्र का विशेषण संगत है, यह भाव है।

४. अहुतम् और अविधिनाहुतम् स्वयम् अग्निहोत्र के लिए कहे गये हैं। सभी 'वह अग्निहोत्र' पदों का सम्बन्ध 'लोकान्हिनस्ति' से समझना चाहिये।

५. केवल 'अविधिना' से ही तात्पर्य नहीं बल्कि जो कुछ भी करना आवश्यक है उसे न कर किया व्यंग कर्म भी विवक्षित है तथा जिस सबका साहित्य वांछनीय है उसका अभाव भी विवक्षित है।

६. अर्थात् यहाँ अग्निहोत्र, दर्श आदि जो कहे हैं केवल वे ही विवक्षित नहीं बल्कि सभी कर्म विवक्षित हैं जो यथोचित ढंग से निर्वर्तित नहीं किये जाते।

(इस प्रकार के कर्मों के) कर्ता के 'आसप्तमान्' सातवें लोक सहित सब लोकों को 'हिनस्ति' मानो हिंसा करता है, क्योंकि वैसे कर्म का फल केवल परिश्रम ही होता है (उससे अधिक नहीं)। कर्मों को उचित ढंग से करने पर कर्म के फल के अनुसार भू से लेकर सत्य पर्यन्त[1] सात लोक फलरूप से प्राप्त होते हैं। इस प्रकार के (अर्थात् आवश्यक विशेषणों से रहित) अग्निहोत्रादि कर्म से तो वे लोक प्राप्त होते नहीं अतः मानो वे लोक (कर्मों द्वारा) नष्ट किये जाते हैं, केवल परिश्रम ही अवश्य प्राप्य (फल) होता है; इसीलिए 'हिंसा करता है' ऐसा कहा जाता है।[2] पिण्ड तथा जल (तर्पण) प्रदान करने से पिता, पितामह और प्रपितामह—इन तीन का उपकार यजमान करता है और पुत्र, पौत्र, प्रपौत्र—इन तीन का ग्रास आदि[3] प्रदान कर (वह उपकार करता है)। अतः छहों के मध्य में होने वाले यजमान से सम्बद्ध होने वाले पहले के (पिता आदि) तीन और बाद के (पुत्र आदि) तीन ([4]आसप्तमान् शब्द से) कहे गये हैं, यह (व्याख्यान्तर) बताते हैं—पिण्ड-प्रदान-आदि-रूप अनुग्रह द्वारा सम्बन्धित होने वाले पिता, पितामह व प्रपितामह तथा पुत्र, पौत्र व प्रपौत्र, जिनका अपने (=यजमान के) द्वारा उपकार किया जाता है, वे सात लोक पूर्वोक्त (=विशेषरहित) अग्निहोत्र आदि कर्म से (तृप्त) नहीं होते अतः उनकी हिंसा होती है यह कहा जाता है ॥ ३ ॥

"काली, कराली, मनोजवा, सुलोहिता, तथा जो सुधूम्रवर्णा है, स्फुलिंगिनी तथा विश्वरुची देवी—(अग्नि की) ये सात लपलपाती जीभें हैं ॥ ४ ॥"

इतना स्मरण रखना चाहिए कि यह प्रसंग यह बताने के लिए है कि ठीक ढंग से आवश्यक कर्म करने चाहिए, न कि यह ध्वनित करने के लिये कि सचमुच अयथावत् किया अग्निहोत्र हानिकारक है, क्योंकि नियम है कि नित्यकर्म न करने से उसे व्यंग करना श्रेष्ठ है। वैसे समस्त प्रसंग का तात्पर्य कष्टकारी व व्यर्थ होने से कर्म त्याज्य है यह बताने में है, इसमें सन्देह नहीं।

१. भूः, भुवः, सुवः, महः, जनः, तपः और सत्यम्—ये सात लोक प्रसिद्ध हैं।

२. उपनिषद्योगी तु 'सप्तजन्मार्जितसुकृततत्फलसहितानासप्तमान्पुण्यलोकन्हिनस्ति' इत्यपि व्याचचक्षे।

३. गाय, कौआ और कुत्ता—ये तीनों ग्रासभाजन प्रसिद्ध हैं।

४. आङ् को मर्यादा में समझ कर छह को कहा है।

काली, कराली तथा मनोजवा, सुलोहिता और जो सुधूम्रवर्णा है, स्फुलिंगिनी व विश्वरुचीदेवी—ये सात लपलपाती जीभें हैं।[1] आहुति रूप में दी हवि को खाने के लिए अग्नि की ये—काली प्रभृति विश्वरुचि-पर्यन्त—सात लपलपाती जीभें हैं ॥ ४ ॥

"जो अग्निहोत्री दीप्ति वाली इन अग्नि-जिह्वाओं में (हविःप्रक्षेपादि-रूप) कर्म का उचित समय पर आचरण करता है, (उसके द्वारा दी) ये आहुतियाँ सूर्य की किरणें होकर उस यजमान को लेते हुए[2] जहाँ देवताओं का अनुपम राजा[3] सबका शासन करते हुए रहता है वहां पहुँचा देती हैं ॥ ५ ॥"

'भ्राजमानेषु' दीप्तिवाली 'एतेषु' विभिन्न अग्निजिह्वाओं में 'यः' (जो) अग्निहोत्र का अनुष्ठान करने वाला 'यथाकालम् च' जिस कर्म को करने का जो काल है उस काल में 'चरते' अग्निहोत्रादि कर्मों को करता है, यजमान द्वारा (कर्म करने के लिए) सत्ता में लाई गयी[4] आहुतियाँ (उस) यजमान को 'आददायन्' साथ लेती हुई—जो 'एताः' ये आहुतियाँ उस यजमानद्वारा सत्ता में लाई गयी थीं वे सूर्य की किरणें होकर, अर्थात् सूर्य की किरणों द्वारा[5]—उसे (यजमानको) 'यत्र'

---

१. लपटों के भेदों को ये नाम दिये समझने चाहिए।

२. नारायणदीपिकायान्तु—'आददायन्, आ इत्यस्य चरतिना सम्बन्धः। दैप् शोधने शत्रन्तः; आत्मनः सत्वशुद्धिं कुर्वन् कर्म करोतीत्यर्थः। अथवा अनेकार्थाश्च (धातवः) इति दायतिरेव खण्डने वर्तते—हविःशकलानि कुर्वन्।' इति व्याख्यातम्।

३. इन्द्रः प्रजापतिर्वेति नारायणः।

४. आहुति का जब प्रदान होता है तभी वह सत्ता में आती है।

५. छान्दोग्य में (८.६) वर्णन है—'तद्यथा महापथ आतत उभौ ग्रामौ गच्छतीमञ्चामुञ्च एवमेवैता आदित्यस्य रश्मय उभौ लोकौ गच्छन्तीमञ्चामुञ्च अमुष्मादादित्यात्प्रतायन्ते ता आसु नाडीषु सृप्ता आभ्योनाडीभ्यः प्रतायन्ते तेऽमुष्मिन्नादित्ये सृप्ताः।··· अथ यत्रैतदबलिमानं नीतो भवति······अथ यत्रैतदस्माच्छरीरादुत्क्रामति अथ एतैरेव रश्मिभिरूर्ध्वमाक्रमते····।' उसका यहाँ परामर्श समझ लेना चाहिए। किंच 'अर्चिरादिना तत्प्रथितेः' (४-३-१) अधिकरणसिद्धान्त के अनुकूल ही व्यवस्था समझनी चाहिए।

जिस स्वर्गलोक में देवताओं का एकमात्र राजा इन्द्र अधिवास है अर्थात् सबके ऊपर (शासन करते हुए) रहता है (वहाँ) 'नयन्ति' पहुँचा देती हैं ॥ ५ ॥

"दीप्तिमती आहुतियाँ 'आइये, आइये, यह आपके सत्कर्म से अर्जित पवित्र स्वर्गलोक है'—इस प्रकार प्रिय वाणी बोलती हुई तथा पूजा करती हुई सूर्य की रश्मियों द्वारा उस (अपने निर्वर्तक) यजमान को ले जाती हैं ॥ ६ ॥"

सूर्य की रश्मियों द्वारा[1] यजमान को किस प्रकार ले जाती हैं ? यह श्रुतिद्वारा बताया जाता है—'सुवर्चसः' दीप्तिवाली (आहुतियाँ) "आइये, आइये" इस प्रकार बुलाती हुई, तथा 'प्रियाम्' यजमान को अभीप्सित (उसकी) स्तुति आदिरूप वाणी का 'अभिवदन्त्यः' उच्चारण करती हुई और 'अर्चयन्त्यः' (उसकी) पूजा करती हुई "यह 'वः' आपका पवित्र (तथा) सत्कर्म से जैसा होना चाहिए वैसा[2] फलरूप ब्रह्मलोक है"—इस तरह प्रिय लगने वाली बात कहती हुई ले जाती हैं, यह तात्पर्य है। आहुतियाँ यजमान को ले जाती हैं—यह (इस वाक्य के मुख्य पदों का) सम्बन्ध है। [3]प्रकरण के अनुरोध से (यहां) ब्रह्मलोक (पद का अर्थ) स्वर्ग है ॥ ६ ॥

"उपासना-रहित कर्म जिनमें आश्रित बताया गया है (वे) ये अठारह यज्ञनिर्वर्तक अस्थिर नावे हैं[4], अतः 'कर्म कल्याण का कारण

---

१. 'इत्थंभूते तृतीया; रश्मिरूपेण = रविरश्मिरूपाः सत्यो वहन्तीत्यर्थः' इति नारायणदीपिकायाम् ।

२. "सुकृतो यथा ब्रह्मलोकः" इति पाठमादृत्य तस्य च सुकृतो यथा स्यात्तथा फलरूप इत्यर्थं मत्वाऽनुवादः । 'पन्था ब्रह्मलोकः' इति पठार्थो नमे भाति ।

३. 'तदेतत्सत्यं मंत्रेषु कर्माणि' से कर्म का प्रसंग प्रारंभ कर उसी का फल इस मंत्र में बताया है तथा कर्म का परमफल स्वर्ग ही संमत है, मुख्य ब्रह्मलोक उपासना का फल है, अतः ब्रह्मलोक से स्वर्ग ही विवक्षित हो सकता है। ब्राह्मण में भी 'तेषामेवैष ब्रह्मलोको येषां तपो ब्रह्मचर्यम्' (प्र० १.१५) इत्यादि वाक्य में ब्रह्मलोकपद स्वर्गार्थक है।

४. 'अठारहों द्वारा साध्य, उपासनारहित कर्म जिनमें बताया गया है वे यज्ञरूप नावे अस्थिर हैं'—यह नारायणानुसारी अर्थ है : "अष्टादशोक्तं, षोडशर्त्विजः पत्नी यजमानश्च तेषामुक्तं तत्साध्यमवरं केवलमन्ततो येषु यज्ञेषु कर्म वर्तते" (नारायणः) । इस व्याख्या में 'यज्ञरूपाः' पद स्पष्टार्थक है।

हैं' ऐसा मानकर जो मूर्ख प्रसन्न होते हैं वे (कुछ समय स्वर्ग में बिताकर) पुनः बुढ़ापे और मृत्यु को पाते हैं ॥ ७ ॥"

और[१] यह उपासना से असमुच्चित[२] कर्म इतने ही (स्वर्गमात्र[३]) फल वाला है तथा अविद्या कामना और क्रिया का[४] कार्य होने से निस्तत्त्व[५] है व दुःख का हेतु[६] है; इसलिये इसकी निन्दा की जाती है : नावे हैं अर्थात् विनाशी हैं।[७] 'हि' क्योंकि ये[८] 'अदृढाः' अस्थिर हैं।

---

१. 'तदेतत्सत्यम्' से अपराविद्या का प्रसंग चला, केवल वही इस खण्ड का प्रतिपाद्य नहीं, और भी कुछ प्रतिपादनीय है, यह बताने के लिये 'और' शब्द भाष्य में है।

२. ईश (११) के अनुसार कर्म देवतात्मभावपर्यन्त फल वाला प्रतीत हो सकता है अतः उस प्रकार के कर्म की व्यावृत्ति समझनी चाहिये।

३. 'मात्र' से निरपेक्ष अमरता की व्यावृत्ति है।

४. "दुःखस्य च देहोपादानैकहेतुत्वाद् देहस्य च पूर्वोपचितधर्माधर्ममूलत्वादनुच्छित्तिः, तयोश्च विहितप्रतिषिद्धकर्ममूलत्वादनिवृत्तिः कर्मणश्च रागद्वेषास्पदत्वाद् रागद्वेषयोश्च शोभनाशोभनाध्यासनिबन्धनत्वाद् अध्यासस्य च अविचारितसिद्धद्वैतवस्तुनिमित्तत्वाद् द्वैतस्य च शुक्तिकारजतादिवत् सर्वस्यापि स्वतःसिद्धाऽद्वितीयात्माऽनवबोधमात्रोपादानत्वादव्यावृत्तिः, अतः सर्वानर्थहेतुरात्मानवबोध एव"—इस नैष्कर्म्यसिद्धि के उपोद्घातवचन से कर्मशब्दित धर्माधर्म की अविद्या-काम-क्रिया की कार्यता व्यक्त है। अध्यासभाष्य में भी 'कथं पुनरविद्यावद्विषयाणि.....शास्त्राणि चेति ?' से यही सिद्ध किया है।

५. अविद्याभूमि में ही होने से तात्त्विकता-रहित हैं।

६. क्षयिष्णु होने से आगे दुःख ही दे सकता है, उत्पत्ति के लिये भी महान् आयास की अपेक्षा करता है अतः उभयतः दुःख-सम्पुटित होने से किंचित् काल के लिये सुखप्रतिभास कराने वाला होने पर भी निंद्य ही है।

७. प्लुङ् गतौ (भ्वा० आ० अ०) धातु से अच् प्रत्यय हो प्लव शब्द बनता है। अर्थात् गमनशील को प्लव कह सकते हैं; गमनशील विनाशी ही होता है यह तात्पर्य है। भाष्याक्षरों के अनुसार प्लवपद नाव को यहाँ नहीं बताता है, प्लव का अर्थ विनाशी मानकर ही समग्रमन्त्र की व्याख्या है। एवमपि 'प्लवा नावः' इत्यादि नारायणव्याख्या के तथा प्रसिद्धि के अनुरोध से प्लव शब्द को दोनों अर्थ समर्पित करने वाला माना जा सकता है।

८. ये = यज्ञनिर्वर्तक। पुरोहितादि की अस्थिरता या अस्थायिता स्पष्ट है। यदि यज्ञरूप नावें समझी जायें तो वे भी अस्थिर ही हैं क्योंकि उत्पत्ति-विनाश वाले ही यज्ञ होते हैं।

(कौन ?—) 'यज्ञरूपाः' यज्ञ के रूपों को यज्ञरूप (कहते हैं)। जिनमें आश्रित[1] यज्ञ को बताया जाता है—उसका रूपण किया जाता है—वे यज्ञरूप हैं. (अर्थात्) यज्ञ को सम्पन्न करने वाले (अस्थिर अतः विनाशी हैं)। (वे) 'अष्टादश' अठारह हैं—सोलह ऋत्विक्, यजमान और यजमानपत्नी—इस प्रकार अठारह हैं। शास्त्रद्वारा कर्म इनमें आश्रय वाल 'उक्तम्' कहा गया है। जिन अठारहों में 'अवरम्' अकेला अर्थात् उपासना से असमुच्चित कर्म है (वे अदृढ व विनाशी नौकाये हैं)[2]। इसलिये—उपासना-रहित कर्म के उन अठारह आश्रयों के अस्थिर होने से विनाशी होने के कारण—उनके द्वारा निर्वर्त्य कर्म और उसका फल (दोनों) नष्ट हो जाते हैं। जैसे बर्तन के नाश से उसमें रखे दूध, दही आदि का नाश (प्रयोग-अनर्हत्व) हो जाता है वैसे (विनाशी आश्रयों वाला कर्म भी विनाशी है तथा विनाशी कर्म से होने वाला फल भी विनाशी है)[3]। क्योंकि कर्म स्वरूप व फलदृष्टया

---

१. आश्रयत इत्याश्रय आश्रित इत्यर्थः। येषामाश्रयो यदाश्रयस्तत्त्वेनेत्येतत्।

२. कर्म येषु त एतेऽदृढा इति पूर्वेणान्वयः। एष्विति यदि स्यात्तर्हि स्पष्टमेवेति।

३. ऋत्विगादिदेहों के नाश से भी उनमें रहने वाला कर्म (= धर्म, अपूर्व) नष्ट न होगा इस प्रकार दृष्टान्त की तरह दार्ष्टान्त में आश्रय नाश न होने से वैषम्य है; यह शंका नहीं करनी चाहिये। प्रथमतः तो 'अपूर्वमिति चेन्न तत्सद्भावे प्रमाणानुपपत्तेः, अपूर्वकल्पनायां चार्थापत्तेः क्षयः अन्यथैवोपपत्तेः' इत्यादि भाष्य (बृ० ३.८.९ MRI पृ० २७०) तथा 'फलमत उपपत्तेः' इत्यादि अधिकरण से (३.२.८) सिद्ध है कि अपूर्वादि अदृष्टवस्तु को मानना न्याय-संगत नहीं, अतः आश्रय-विनाशिता आश्रित-विनाशिता में पर्याप्त हेतु है क्योंकि ऐसा ही देखा गया है कि विनाशी आश्रय में आश्रित वस्तु विनाशी ही होती है। इसलिए कर्मनिर्वर्तकों की विनाशिता कर्म की और वह उसके फल की विनाशिता बतलाती है। और यदि अपूर्व मान भी लिया जाये तो वह आत्माश्रित तो माना नहीं जायेगा किंतु सूक्ष्मदेह या पुर्यष्टक में माना जायेगा जैसा कि, पंचीकरणवार्तिक में है—'खं वाय्वग्न्यम्बुक्षितयो भूतसूक्ष्माणि पंच च। अविद्याकामकर्माणि लिंगं पुर्यष्टकं विदुः' ॥ ३६ ॥ सूक्ष्मदेह तो विनाशी है इसमें संदेह नहीं क्योंकि प्रतिसृष्टि इसकी उत्पत्ति अभिमत है। अतः अपूर्व मानने पर भी उसका आश्रय विनाशी ही मिलेगा। किंच उत्पत्तिवाला होने से अपूर्व स्वयं विनाशी होगा और अतः तदुपादानक

विनाशी है इसलिये 'एतत्' कर्म 'श्रेयः' कल्याण करने का असाधारण हेतु है—ऐसा (मानकर) जो 'अभिनन्दन्ति' (उन कर्मों को ही कर 'हमने अपने कल्याण के साधन का अनुष्ठान कर लिया' यह समझते हुए) प्रसन्न होते हैं (वे) 'मूढाः' कल्याण के वास्तविक और अवास्तविक साधनों को पृथक् कर स्पष्ट जानते नहीं अतः वे कुछ समय तक स्वर्ग में रहकर 'पुनरेवापि' वार-वार[1] 'जरामृत्युम्' बुढ़ापे और मृत्यु को 'यन्ति' प्राप्त करते हैं ॥ ७ ॥

"मूर्ख लोग अज्ञानगर्त में रहते हुए भी 'हम बुद्धिमान् हैं तथा जो कुछ जानने योग्य है उसे हमने खुद ही जान लिया है'—ऐसा अपने बारे में विश्वास रखते हुए अतीव पीडित होते हुए वैसे ही (लोक-लोकान्तर में) भ्रमण करते रहते हैं जैसे अन्धे द्वारा ले जाये जाते हुए अन्धे लोग (कष्ट पाते हुए इधर-उधर भटकते हैं)[2] ॥ ८ ॥"

फल भी विनाशी होगा इसमें कहीं शंका का स्थान नहीं। यद्यपि सूक्ष्मशरीररूप आश्रय के विनाश के पूर्व ही कर्म और उसके फल का विनाश निश्चितप्राय है तथापि दृष्टान्त में इतना ही विवक्षित है कि अदृढ आश्रय अदृढ का ही आश्रयण कर सकता है।

१. अपि वीप्सायाम्। यथा माघे (५.३१) 'येऽपीन्द्रपाणितुलितायुधलूनपक्षाः' इत्यत्र 'येपि—ये ये इत्यर्थः' इति मल्लिनाथः।

२. 'जैसे अन्धे द्वारा ले जाये जाते हुए अंधे कष्ट पाते हुए भटकते हैं वैसे ये मूर्ख अन्धे भी अन्ध अर्थात् अचेतन कर्म द्वारा—जिस कर्म का प्रकरण चला है उसके द्वारा—स्वर्ग-नरकादि को ले जाये जाते हैं व इस प्रक्रिया में कष्ट पाते हुए भटकते हैं'—ऐसा मन्त्रार्थ नारायण को अभिमत है। आचार्य विद्यारण्य ने दृष्टान्तार्थ इस प्रकार स्पष्ट किया है कि कर्मकाण्ड के अर्थ को जानने से वे अपने को विद्वान् मानते हैं और उनके गुरु भी वैसी ही विद्वत्ता रखते हुए उनका प्रबोधन कर पाते हैं अतः अंधे गुरु के वे अंधे चेले बने रहते हैं—'पण्डितंमन्यतां प्राप्ताः कर्मकाण्डार्थवेदनात्। गुरुश्च तादृगेवातो ह्यन्धनीतान्धवत्स्थिताः ॥ ६.४२ ॥ (अनुभूतिप्रकाश)। इस दृष्टि से 'यत्नतो वीक्षमाणोपि विधिं ज्ञानस्य न क्वचित्। श्रुतौ स्मृतौ वा पश्यामि विश्वासो नान्यतोस्ति नः ॥ १.१५ ॥ इति हृष्टधियां वाचः स्वप्रज्ञादम्भात् चेतसाम्। घुष्यन्ते यज्ञशालासु धूमानद्धधियां किल' ॥ १.२२ ॥ के उत्तर में सुरेश्वराचार्य ने प्रमातृदोष ही प्रकट किया है 'तत्रापि

और भी[1]—अज्ञान के 'अन्तरे' बीच रहते हुए (भी, अर्थात्) लगभग[2] सर्वथा अविवेकी होते हुए भी 'हम स्वयं ही 'धीराः' बुद्धिमान् हैं और पण्डित हैं अर्थात् जो कुछ जानने योग्य है उसे हमने जान लिया है'—ऐसा 'मन्यमानाः' अपने बारे में मानते हुए, 'स्वयं ही' का तात्पर्य है—वास्तविकता के जानकार गुरु के उपदेश के बिना अपनी ही चतुराई से; और (ऐसा मानने वाले) वे मूर्ख बुढ़ापा, रोग आदि अनेक आपत्तियों के समूहों से 'जङ्घन्यमानाः' आहत होते हुए अर्थात् अतीव पीडित होते हुए 'परियन्ति' इधर-उधर भटकते हैं। जैसे संसार में 'अन्धाः' लोचन-रहित लोग 'अन्धेनैव' (किसी) चक्षु-रहित के द्वारा ही 'नीयमाना' मार्ग दिखाये जाते हुए (स्वयं तथा प्रदर्शक-परम्परया) नेत्रों से सर्वथा शून्य होने के कारण[3] कीचड़, कांटे आदि में गिरते हैं वैसे (उक्त पण्डितंमन्य मूर्ख स्वयं तथा गुरुद्वारा वास्तविकता न जान केवल कर्म करते हुए कर्मकाल में भी दुःख पाते हैं और कर्मफल भोगने के बाद भी दुःख पाते हैं) ॥ ८ ॥

"बहुत तरह से अविद्या में विद्यमान अज्ञानी लोग 'हमने अपना प्रयोजन सिद्ध कर लिया' ऐसा अभिमान करते हैं। क्योंकि इस प्रकार (वे) कर्मी कर्मफल में राग के कारण वास्तविकता को नहीं जानते इसलिये कर्म-फल क्षीण हो जाने पर दुःख से पीडित होते हुए (स्वर्ग से) नीचे गिरते हैं ॥ ९ ॥"

भवत एवापराधः; कस्माद्? यतः—परीक्ष्य लोकानित्याद्या आत्मज्ञान-विधायिनीः। नैष्कर्म्यप्रवणाः साध्वीः श्रुतीः किं न शृणोषि ताः ॥ १.८७ नै० सि० ॥' अतः यह मूर्खों की अन्धता का ही दोष है कि उन्हें वास्तविकता सूझ नहीं पाती।

१. मूर्ख (अविवेकी) होने से निन्दा पूर्वत्र कर, अपनी मूर्खता में ही आग्रह रखने के कारण भी वे निन्द्य हैं यह इस मंत्र में अभिप्रेत है, यह बताने के लिये 'और भी' कहा।

२. प्राकृतों की अपेक्षा शास्त्रीय कर्म की अनुष्ठेयता जानने से इनमें यत्किंचित् विवेक है, इसलिये 'लगभग' कहा।

३. दर्शनविवर्जितत्वात्पतन्तीत्यन्वयः। अथवा, मूढा इत्यस्य विवरणम्—दर्शन-विवर्जितत्वादिति। दर्शनमित्यात्मदर्शनमित्यर्थः। प्रथमेऽन्वये दर्शनविवर्जि-तत्वमस्ति नीयमानत्वे हेतुः। द्वितीये तु दर्शनविवर्जितत्वाद्ये मूढास्ते विभ्र-मन्तीति योज्यम्।

[1]और भी—'बहुधा' कई तरह से[2] अविद्या में विद्यमान 'बालाः' अज्ञानी लोग "हमने ही[3] 'कृतार्थाः' अपना प्रयोजन सिद्ध कर लिया है"—इस प्रकार 'अभिमन्यन्ति' अभिमान[4] करते हैं। 'यद्' क्योंकि इस प्रकार (वे) कर्म को ही परमसाधन मान उसमें ही लगे रहने वाले 'रागात्' कर्म से मिलने वाले फल में 'मुझे यह प्राप्त हो'—ऐसी बुद्धि के कारण 'न प्रवेदयन्ति' (अपनी) वास्तविकता को[5] नहीं जानते इस कारण कर्म के फल क्षीण हो गये जिनके, ऐसे वे दुःख से[6] पीडित होते हुए स्वर्गलोक से नीचे गिरते[7] हैं ॥ ९ ॥

"अत्यन्त मोहित लोग इष्ट व पूर्त कर्म को[8] प्रधान मानते हुए (उससे) अन्य (आत्मज्ञान) को परमकल्याण के साधनरूप से नहीं जानते। वे

---

१. पीडित होते हुए लोकांतर जाते हैं, केवल इतना ही नहीं, अज्ञान (राग) वश लौटने में भी दुःखार्त रखते हैं यह यहाँ अधिक बताना है।

२. सत्य, ज्ञान, आनन्द्यादि बहुतों का आवरण और बहुत प्रकार का विक्षेप, दोनों जानने चाहिये।

३. यद्वा कृतार्था एवेत्यन्वयः।

४. मिथ्या निश्चय।

५. अपनी वास्तविकता अर्थात् अपनी भ्रांत दशा, नकि आत्मस्वरूप, क्योंकि आत्मस्वरूप को न जानना राग-निमित्तक नहीं बल्कि राग का निमित्त है। क्योंकि हम भ्रान्त हैं यह नहीं जानते इसलिये भ्रांतिनिवृत्ति का आयास नहीं करते अतः भ्रांतावस्था में रहने से जैसे कर्म के कारण फल भोगने के लिये उत्तम लोकों को जाते हैं वैसे ही कर्म समाप्त होने पर इस लोक को और कर्म करने के लिये लौट जाते हैं—'प्राप्यान्तं कर्मणस्तस्य यत्किंचेह करोत्ययम्। तस्माल्लोकात्पुनरेत्यस्मै लोकाय कर्मणे' (बृ० ४.४.६)।

६. सुखभोग की समाप्ति से दुःख स्वाभाविक है।

७. पंचाग्निक्रम से गिरते हैं—ऐसा समझा जा सकता है।

८. 'इष्टापूर्तं तदेकोक्त्या यागखातादि कर्म यत्' (त्रिकाण्ड० २.७.९), अर्थात् इष्ट व पूर्त कर्म के समाहारको—उन्हें इकट्ठा कर—इष्टापूर्त कहते हैं। हेमाद्रि० दानखण्ड में 'अग्निहोत्रं तपः सत्यं वेदानां चैव पालनम्। आतिथ्यं वैश्वदेवं च इष्टमित्यभिधीयते ॥ एकाग्निकादौ यत्कर्म त्रेतायां यच्च हूयते। अन्तर्वेद्यां च यद् दानमिष्टं तदभिधीयते ॥ रोगिणां परिचर्या च पूर्तमित्यभिधीयते। पुष्करिण्यः तथा वाप्यो देवतायतनानि च। अन्नदानमथारामाः पूर्तमित्यभि-

स्वर्ग पर पारलौकिक देह में (कर्मफलभूत सुखों का) अनुभव कर इस मनुष्यलोक या इससे निकृष्ट लोक को जाते हैं ॥ १० ॥"

'इष्टापूर्तम्'—इष्ट अर्थात् याग आदि श्रुतिविहित कर्म (और) पूर्त अर्थात् बावड़ी, कूप, तालाब आदि का निर्माणरूप स्मृतिविहित (कर्म); 'मन्यमानाः' इस इष्टापूर्त को ही पुरुषार्थ का बलवत्तर साधन (अतः) 'वरिष्ठम्' प्रधान मानते हुए 'अन्यत्' आत्मज्ञान-नामक परमपुरुषार्थ के साधन को 'न वेदयन्ते' (वे) जानते नहीं (जो) 'प्रमूढाः' पुत्र, पशु, बन्धु आदि में अत्यन्त मोह वाले होने से मूर्ख हैं; तथा 'ते' वे 'नाकस्य' 'कम्' अर्थात् सुख, जो वह (=सुख) न हो वह 'अकम्' (अर्थात्) दुःख; वह (दुःख) जहाँ नहीं होता वह नाक (है; अर्थात्) स्वर्ग के 'पृष्ठे' ऊपरी[1] भाग पर 'सुकृते' भोग करने में समर्थ शरीर में कर्मों के फलों का 'अनुभूत्वा'[2] अनुभव कर (उनके क्षीण[3] हो चुकने पर) 'इमम्' मानवीय लोक को[4] या 'हीनतरम्' जानवर, नरक आदि स्वरूप (लोक को) पूर्व में जिन्हें भोगा नहीं जा चुका और आगे भोगना है ऐसे कर्मों के अनुसार जाते हैं ॥ १० ॥

"जो तो जंगल में[5] (वानप्रस्थ), संयतेन्द्रिय उपासना-प्रधान गृहस्थ,

---

धीयते । ग्रहोपरागे यद् दानं सूर्यसंक्रमणेषु च । द्वादश्यादौ तु यद् दानं तदेतत्पूर्तमुच्यते ॥" इस प्रकार भेद बताया है ।

१. भोगभूमि के जिस भाग पर भोग संभव है उसे ऊपरी कहा । पृथ्वी पर जैसे सतह ही भोगस्थल प्रसिद्ध है, भीतर नहीं, वैसे समझना चाहिये । 'स्वर्गपर'— इतना ही तात्पर्य है ।

२. 'सुकृतेन भूत्वा—पुण्येन उत्पद्य' इति नारायणो व्याचचक्षे । अर्थेऽविशेषेपि छान्दसल्यबभावाश्रयणमनुभूत्वेत्यत्र न तत्रेति विशेषः ।

३. कृतात्ययेऽनुशयवान्दृष्टस्मृतिभ्यामिति वैयासिकं सूत्रम् (३.१.८) ।

४. लोकशब्द भोगपर्यावरण विषयक होने से जानवरों का पृथक् लोक संगत है । कुछ अंश लोकद्वय साधारण होने से दोष नहीं । इस अर्थ की सूक्ष्मता से, स्पष्ट करने के लिये सभी को पार्थक्येन प्रतीयमान नरकलोक को हीनतरशब्द का अर्थ बताया समझना चाहिये ।

५. जंगल में रहना वानप्रस्थ और संन्यासी के लिये विवक्षित है । अथवा गृहस्थों के लिये भी इसे समझ सकते हैं पर उनसे सम्बद्ध होने पर इस पद का अर्थ इतना ही होगा कि वे भोगों का यथासंभव त्याग करते हुए कर्मादि करते

तथा भिक्षाचरण करते हुए (संन्यासी), अपने-अपने आश्रम के लिये विहित कर्म और हिरण्यगर्भादि की उपासना करते हैं, वे (सभी) क्षीणकर्म वहाँ जाते हैं जहाँ प्रलयपर्यन्त रहने वाला वह हिरण्यगर्भ रहता है ॥ ११ ॥"

उपासना-असमुच्चित कर्म करने वालों को मिलने वाले फल को बताकर (अब) श्रुति दिखाती है कि सगुण-ब्रह्म की उपासना समेत अपने आश्रम के लिये विहित कर्म को करने वालों को मिलने वाला फल (भी) सांसारिक ही है; [इसे स्पष्ट करते हुए भाष्यकार कहते हैं]—और जो केवल कर्म करने वालों से भिन्न उपासक वानप्रस्थ व संन्यासी जंगल में—ऐसे स्थान में जहाँ स्त्रियों से मिलना-जुलना न हो—रहते हुए 'तपःश्रद्धे हि' तप अर्थात् अपने आश्रम के लिये विहित कर्म, श्रद्धा अर्थात् हिरण्यगर्भ आदि[1] की उपासना, ये दोनों (मिलकर) 'तपःश्रद्धे' (शब्द से कहे जाते हैं), इन्हें 'उपवसन्ति' अनुष्ठित करते हैं; (तथा जो) 'शान्ताः' इन्द्रियसमूहों[2] को नियन्त्रित किये हुए 'विद्वान्सः' अर्थात् उपासनाप्रधान[3] गृहस्थ (कर्म व उपासना का अनुष्ठान करते हैं); (धन आदि का) संग्रह न रखने के कारण (जीवन-निर्वाह के लिए) भिक्षाचरण करते हुए जंगल में (कर्म व उपासना का) अनुष्ठान करते हैं, ऐसा (पदों का) सम्बन्ध है[4]। वे 'विरजाः' विरजस्क होते हुए अर्थात् ऐसे होते हुए

हैं। 'गृहस्थाश्च···उपवसन्ति भोगांस्त्यजन्ति'—नारायणः। अथवा जंगल में रहना सभी से सम्बद्ध होता है और इसका अर्थ है—चाहे जहाँ रहते हुए : 'अरण्ये ग्रामे वोपवसन्ति, यत्र कुत्र वा वर्तमानाः सन्तः तपः श्रद्धे सेवन्त इत्यर्थः'—उपनिषद्ब्रह्मयोगी। अतः गृहस्थ को जंगल में रहने की अनिवार्यता नहीं आयेगी।

१. आदि से सभी ब्रह्मलोकफलक सगुणोपासनायें समझी जा सकती हैं।
२. तीनों प्रकार की इंद्रियों को—यह भाव है।
३. उपासनाप्रधान होने से केवल आवश्यक कर्म—नित्य व नैमित्तिक तथा इतना करते हुए जीवन निर्वाह के लिये आवश्यक लौकिक कर्म ही करते हैं। वानप्रस्थ व संन्यासियों के लौकिक कर्म बहुत कम होते हैं व वे उपासना में अधिक व्यापृत रह सकते हैं इसे 'अरण्ये' व 'भैक्ष्यचर्यां चरन्तः' से बता दिया।
४. तात्पर्य है कि भिक्षाचरण गृहस्थ के लिए नहीं कहा जा रहा।
५. 'रजःशब्दोऽत्राकारान्तः'—नारायणः।

जिनके पुण्य व पाप कर्म कम[1] हैं, 'सूर्यद्वारेण' सूर्य से उपलक्षित[2] उत्तरायण मार्ग से (वहाँ) 'प्रयन्ति' विशेषरूप से[3] जाते हैं 'यत्र' जहाँ सत्यलोक आदि (शब्दों से कथित ब्रह्मलोक में) प्रसिद्ध है कि वह हिरण्यगर्भ (जो) 'पुरुषः' (संसार में) सर्वप्रथम उत्पन्न होता है (और) 'अव्ययात्मा' बने रहने के स्वभाव वाला (अर्थात्) जब तक संसार है तब तक बना रहने वाला है, (निवास[4] करता है)। अपरा विद्या से लभ्य सांसारिक गतियाँ ब्रह्मलोकपर्यन्त ही हैं।

कुछ विचारक ब्रह्मलोक प्राप्ति को ही मोक्ष मानते हैं, (क्या वह मानना ठीक है)? श्रुतिवचन बताते हैं कि जो मुक्त होते हैं उनकी सभी कामनाएँ यहीं [—जहाँ ज्ञान प्राप्त हुआ, वहीं] परिपूर्ण (अर्थात् समाप्त) हो जाती हैं और (वे मुक्तपुरुष) सभी के आत्मरूप हो जाते हैं [यद्वा सर्व नाम ब्रह्म के स्वरूप से अत्यन्त अभिन्न हो जाते हैं]। ब्रह्मलोक की प्राप्ति तो (इससे भिन्न) देश में सीमित फल है। अतः (ब्रह्मलोक प्राप्ति) मोक्ष नहीं; यह कहते हैं—नहीं (ब्रह्मलोक प्राप्ति को मोक्ष मानना ठीक नहीं), क्योंकि (मोक्ष के विषय में बताती हुई) श्रुति ने कहा है—'शरीर के रहते[5] ही सभी कामनायें नष्ट हो जाती हैं' (मु० ३.२.२) 'सदा समाहित चित्त वाले वे अत्यन्त विवेकी ज्ञानतृप्त ऋषि (जीवित रहते ही) सर्वव्यापक ब्रह्म को उपाधि से अपरिच्छिन्नरूप से अपना आत्मा जानकर

---

१. पुण्याधिक्य से स्वर्ग व पापाधिक्य से नरक उन्हें जाना न होगा। उपासना को बहुत कुछ योगमतप्रसिद्ध अशुक्ल-अकृष्ण कर्म की तरह समझ सकते हैं।

२. 'सूर्यद्वारेण' का शाब्दिक अर्थ है 'सूर्य के द्वारा' पर केवल सूर्य द्वारा ब्रह्मलोकगमन श्रुत्यन्तरविरुद्ध होने से सूर्य जिस मार्ग का घटक है उस समूचे मार्ग को 'सूर्यद्वारेण' शब्द का अर्थ समझना पड़ता है।

३. उत्तम स्थलों से गुजरते हुए भी उनका गन्तव्य ब्रह्मलोक ही है। लौकिक फलों में ब्रह्मलोकप्राप्ति सर्वश्रेष्ठ होने से भी वैशिष्ट्य है। जाने वाले यदि वहीं वैराग्यादि पाकर मुक्त हो जायें तो उन्हें न लौटना पड़े यह सम्भव होने से भी जाने में विशेषरूपता है।

४. यद्यपि समष्टि सूक्ष्माभिमानी होने से हिरण्यगर्भ की व्यापकता है तथापि उसकी विशेषोपलब्धि की भूमि को उसका निवासस्थान माना जाता है।

५. अर्थात् मर कर किसी लोकविशेष की प्राप्ति की अपेक्षा के बिना।

(शरीर छूटने पर) उस पूर्णतत्त्व से ही अभिन्न हो[१] जाते हैं' (मु० ३.२.५)।

---

१. भेदप्रतीतिसद्भाव और तदसद्भाव का ही शरीरकाल और तदभवकाल में भेद है, मोक्षस्वरूप में नहीं। जो तो 'विदेहताकालीनोऽस्तमय एव मुख्यो मोक्षः' (ल० चं० प्रथमश्लोकव्याख्या) इत्यादि वचन हैं, वे समझानेमात्र के लिए हैं। अतएव प्रपञ्च की अप्रतीति का प्रयोजक प्रपञ्च के उपादानभूत अज्ञान का निवर्तन नहीं किन्तु देहादि का उच्छेद ही उसका प्रयोजक है, ऐसा द्वितीयलक्षणव्याख्यान में 'अधिष्ठानाज्ञाननिवृत्तौ तु नानुवर्तिष्यते'—इस सिद्धिवाक्य के प्रसंग में विकल्प किया है—'प्रारब्धभोगोपयोगिदेहादिकमज्ञानशब्देनोच्यते'''देहाद्युच्छेद एव प्रपञ्चाप्रतीतिप्रयोजक इति भावः' (ल० चं०)। जीवन्मोक्ष व विदेहमोक्ष में स्वरूपतः भेद मानने से आकरविरोध होगा क्योंकि भेदरहित ब्रह्म ही मोक्ष है ऐसा आचार्य का उद्घोष है—'ब्रह्मैव हि मुक्त्यवस्था, न च ब्रह्मणोऽनेकाकारयोगोऽस्ति' (ब्र० सू० भा० ३.४.१७.५२)। और इसी विरोध से उन्हें भी सचेत हो जाना पड़ेगा जो युक्तिभय से जीवन्मोक्ष को ही न मानने को तैयार हो जाते हैं; भाष्यकार ने ही इसे स्पष्ट कर दिया है—'नैवात्र विवदितव्यं ब्रह्मविदा कंचित्कालं शरीरं ध्रियेत न वा ध्रियत इति, कथं ह्येकस्य स्वहृदयप्रत्ययं ब्रह्मवेदनं देहधारणं चापरेण प्रतिक्षेप्तुं शक्येत ?' (ब्र० सू० ४.१.१२.१५)। और विषय की नाजुकता का अन्दाज इसपर लिखे भामतीवाक्य से लगता है 'ये भाष्यकारमाप्तं मन्यन्ते तान् प्रति आह'। जीवन्मोक्ष में मिथ्यापेक्षता रहना भी कोई दोष नहीं क्योंकि मोक्षत्वेन मोक्ष मिथ्या स्वीकृत होने से विदेहमोक्ष की तरह जीवन्मोक्ष भी मिथ्या ही है इसमें कोई विवाद नहीं। न्यायरत्नदीपावलि के अन्त में आनन्दानुभवाचार्य ने स्पष्ट किया है—'जीवन्मुक्तिरपि मायामयी नानुपपत्त्यालं चालयितुमपि।'''मुक्तेः सत्यत्वे च बन्धस्यापि सत्यत्वापत्तेः।''''उक्तं च तत्त्वविद्भिः मुक्तेरप्यवास्तवत्वम्—न निरोधो न चोत्पत्तिः'''। मायानिवृत्ति और मायिक मोक्ष के विरोध से भी डरना न चाहिए क्योंकि मायावस्था में ही मोक्षप्रतिपादन हो रहा है अतः मायिक होना स्वाभाविक है। ऐसे ही ज्ञेय ब्रह्म भी मायिक होना चाहिए क्योंकि उसका भी मायावस्था में ही प्रतिपादन है—इस प्रश्न को इष्टापत्ति से रहस्यवेत्ता उत्तरित कर देते हैं और सत्यबोध के लिए श्रीदक्षिणामूर्ति के मौनव्याख्यान का समाश्रयण कर लेते हैं।

तथा[1] मोक्ष का सन्दर्भ न होने से भी (यहाँ बतायी ब्रह्मलोकप्राप्ति मोक्ष नहीं); अपरा विद्या के प्रसंग के चलते बिना कारण[2] मोक्ष का विषय नहीं आ सकता। क्षीणकर्मता (सामान्य व्यक्तियों की) अपेक्षा से (कही है)।[3] साधना का प्राप्तव्य और प्राप्ति के उपाय—ये हैं स्वरूप जिसका, ऐसा जो क्रिया, उसके जनक और उसके फल—इन भेदों में बंटा सारा

---

१. 'यावज्जीवमग्निहोत्रं जुहोति', व 'मासमग्निहोत्रं जुह्वति' वाक्यों से विकल्प प्रतीत होता है कि या जीवन भर अग्निहोत्र करे, या एक महीना ही अग्निहोत्र करे; इस विकल्प को न सिद्ध होने देने के लिए भेदाध्याय में जैमिनि ने सूत्र बनाया—'प्रकरणान्तरे प्रयोजनान्यत्वम्' (२.३.२४)। 'प्रयुज्यते = अनुष्ठीयत इति प्रयोजनम्'—इस व्युत्पत्ति से प्रयोजनपद कर्मपरक है। अतः प्रकरण का भेद होने से कर्म का भेद समझना चाहिए, यह सूत्रार्थ है। 'मासमग्निहोत्रं जुह्वति' कुण्डपायि अयन के प्रसंग में आया है। यावज्जीववाक्य नित्यकर्म का विधायक है। अतः सन्दर्भ अलग होने से 'मासम्' आदि वाक्य नित्याग्निहोत्र से पृथक् एक कर्मान्तर का विधायक है, उसके विकल्प का उपस्थापक नहीं, यह सिद्धान्त है। प्रकरणान्तर की भेदकता, जो पूर्वतन्त्र में सिद्ध हो चुकी है, यहाँ लोकप्राप्ति और मोक्ष के भेद में प्रमाणित की जा रही है।

२. अवसरसंगति से अप्रकृत का भी अभिधान बुद्धिस्थ हो चुकने पर अनुपेक्षणीय होने से करना पड़ सकता है, पर स्वप्रकरण में पर्याप्त विस्तार से बताया मोक्ष इस प्रकार यहाँ बताया जाए यह संगत नहीं। 'गतेरर्थवत्त्वमुभयथान्यथा हि विरोधः' (ब्र० सू० ३.३.२९) सूत्र में निर्णीत है कि गमनरूप फल सगुणविद्याका सम्भव है न कि निर्गुणविद्या का। यहाँ भी प्रयाण बताया है जो सगुणविद्या फल के लिए ही संगत हो सकता है। जो तो सम्बन्धग्रन्थ में 'यद्यपि सभी आश्रमों में अवस्थित साधक आत्मा के स्वरूप को जान सकते हैं…' इत्यादि प्रसंग में 'भिक्षाचरण करते हुए' इत्यादि प्रकृतमन्त्र के उद्धरण के बल से इस मन्त्र का व्याख्यानान्तर सूचित किया था, वह प्रकृतमन्त्र के भाष्य को नजरन्दाज कर (हस्तेन पिधाय) ही था, ऐसा वहाँ भी सूचित है। उस व्याख्या में भी सिद्धान्तविरोध नहीं क्योंकि वहाँ लोकान्तर-गति या कर्मसाहित्यादि को स्वीकृति नहीं।

३. अर्थात् सामान्य व्यक्तियों के अत्यधिक पुण्य-पाप रहते हैं उनकी अपेक्षा इन साधकों के कम होते हैं।

द्वैत जो कि अपरा विद्या की व्यवहारभूमि है, वह इतना ही है कि उसकी समाप्ति हिरण्यगर्भ की प्राप्ति में हो।[1] (जैसे यह स्पष्ट होता है कि उक्त फल संसारान्तर्गत ही है) वैसा वृक्षादि योनियों से प्रारम्भ होने वाली सांसारिक गति बताते हुए मनु महाराज द्वारा कहा गया है—'बुद्धिमान् लोग इसे सात्त्विक गति अर्थात् सत्त्वगुण[2] के फलभूत ज्ञान[3] समेत कर्म का प्राप्तव्य बताते हैं—चार मुँह वाला ब्रह्मा बनना, मरीचि आदि प्रजापति बनना, यमराज बनना, सूत्रात्मा (अर्थात् हिरण्यगर्भ) बनना और अव्यक्त अर्थात् तीन गुणों वाली प्रकृति में लीन होना' (मनु० १२.५०) ॥ ११ ॥

अपराविद्या को विस्तार से बता चुककर अब[4] उपाय-उपेयरूप इस सारे संसार से जिसे वैराग्य हो चुका है वह परा विद्या से फलप्राप्ति में समर्थ है, यह बताने के लिए श्रुति द्वारा कहा जाता है—

"ब्राह्मण को चाहिए कि कर्मों से प्राप्त सांसारिक फलों की वास्तविकता को समझकर, 'क्योंकि संसार में कोई भी पदार्थ नित्य नहीं अतः (अनित्यमात्रफलक) किये हुए कर्म से क्या (प्रयोजन) ?'—इस प्रकार (कर्म व फल से) विरक्ति को पा ले (और) नित्य शिवतत्त्व के आपरोक्ष्य के लिए वह समिधा हाथ में लेकर वेदज्ञ ब्रह्मनिष्ठ गुरु के ही पास (अवश्य) जाये ॥ १२ ॥"[5]

---

१. तात्पर्य है कि अपराविद्या का चरम फल ब्रह्मलोक प्राप्ति या हिरण्यगर्भपद-प्राप्ति है और तावत्पर्यन्त द्वैतप्रपञ्च ही है। यह भी उसकी मोक्षरूपता का विरोधी प्रमाण है क्योंकि मोक्ष अद्वैतरूप है। साध्यसाधन की ही व्याख्या क्रिया-कारक इत्यादि शब्द से समझनी चाहिए।

२. अथवा, अन्तःप्रकरण की वृत्तिरूप ज्ञान.... इत्यादि अर्थ है।

३. ज्ञान = उपासना।

४. परा विद्या का प्रसंग बताया जाएगा, अतः प्रसंगभेद स्पष्ट करने के लिए भाष्य में अथशब्द है। इस प्रकार यहाँ अधिकारार्थक समझना चाहिए। आनन्तर्य 'इदानीम्' से कह दिया है।

५. अयमन्वयः—ब्राह्मणः कर्मचितान् लोकान् परीक्ष्य, अकृतो नास्ति (अतः किं) कृतेन (कर्मणा ? इति) निर्वेदमायात्, (किं च) तद्विज्ञानार्थं स समित्पाणिः (सन्) श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठं गुरुमभिगच्छेदेव—इति।

आत्मयाथात्म्य की गैर-समझ आदि दोषवाले व्यक्ति को ही कर्तव्य-रूप से बताया गया होने से अकारण विद्यमान[1] अविद्या कामना और कर्मरूप[2] दोष वाले व्यक्ति द्वारा किया जाने वाला जो यह ऋग्वेद आदि अपरा विद्या का विषयभूत कर्म,[3] उसकी तथा कर्म करने से उत्पन्न होने वाले अर्थात् कर्म के फलरूप (उत्तम व मध्यम) लोक—जो कि दक्षिणायन व उत्तरायण मार्गों[4] से उपलक्षित हैं—एवं जिन कार्यों को कर्तव्य बताया है उन्हें न करनारूप[5] दोष से और जिन्हें करना मना किया है उन्हें कर लेना रूप दोष से प्राप्य नरक, पशु, प्रेत (आदि) स्वरूप (निकृष्ट) लोक—इन (प्रत्यक्ष वा शास्त्रसिद्ध) लोकों की[6] 'परीक्ष्य' प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शास्त्र द्वारा हर तरह से वास्तविकता[7] का निश्चय कर; इस लोक में उपलभ्य पुत्रादिरूप कर्मफल के नाश को विषय करने वाला प्रत्यक्ष है; 'कर्मफल अनित्य है, बनने वाला होने से, घड़े की तरह—

---

१. यद्यपि 'स्वाभाविक्याविद्या···' पाठ भी मिलता है तथापि पुंवद्भाव इष्ट होने से 'स्वाभाविकाविद्या···' पाठ ही उचित।

२. कर्म से यहाँ चिकीर्षा अथवा यत्न समझना चाहिए। जानाति-इच्छति-यतते-करोति यह क्रम है। इच्छाकार्य और क्रिया का कारण जो गुणविशेष या अन्तःकरण की वृत्तिविशेष, उसे यत्न कहते हैं।

३. 'कर्म'—इस विशेष्य का अध्याहार है।

४. उपासना सहित कर्म से उत्तम लोक प्राप्त होते हैं, जिन्हें जाने का मार्ग उत्तरायण व केवल कर्म से मध्यलोक प्राप्त होते हैं, जिन्हें जाने का मार्ग दक्षिणायन कहलाता है। मार्ग फलभूत न हो सकने से मार्ग से उपलक्षित—यह अर्थ है।

५. न करने का तात्पर्य उसके स्थान पर अन्य कुछ करने से है क्योंकि अभाव से भाव की उत्पत्ति सम्भव नहीं।

६. इस प्रकार कर्म की तथा उसके फल की—यह अर्थ हुआ।

७. उनका वास्तविकरूप जो अनित्यत्व या मिथ्यात्व है उसका निश्चय अभिप्रेत है।

८. इहलौकिक फल अनित्य हो पर पारलौकिक फल तो नित्य होगा—इस शंका को प्रत्यक्ष से नहीं हटा सकते क्योंकि परलोक प्रत्यक्ष का विषय नहीं, अतः अनुमान बताते हैं।

लोकान्तर के नाश को विषय करने वाला यह अनुमान है; [1]'इस विषय में जैसे इस लोक में सेवा आदि कर्म से अर्जित भोगरूप लोक सान्त होता है वैसे ही परलोक में भी पुण्य से अर्जित भोग क्षीण हो जाता है' (छां० ८.१.६) इत्यादि (कर्मफल के नाश को विषय करने वाले) शास्त्रवचन हैं; इन सभी[2] प्रमाणों द्वारा कर्मफल की हर[3] तरह से अनित्यता का निश्चय कर—यह अर्थ है। अज्ञान व कामनारूप दोष के कारण हुए कर्मों से प्राप्त अर्थात् पुण्य व पाप से निष्पन्न;[4] क्षण-क्षण में[5] नष्ट होने वाले; जादू, मृगमरीचिका के जल, गन्धर्वनगर के आकार, स्वप्न, जल के बुद्बुदे तथा फेन के[6] समान (अतात्त्विक); केले के तने की

---

१. ऐहलौकिक घड़ारूप दृष्टान्त से पारलौकिक फल की अनित्यता अनुकूल तर्क के बिना सिद्ध नहीं हो सकती, अतः शास्त्रवचन की अन्यथानुपपत्तिरूप तर्क सूचित करते हुए शास्त्रप्रमाण देते हैं।

२. भाष्योक्त उपमान का यह स्वरूप जानना चाहिए—ज्योतिष्टोम से स्वर्गफल होता है ऐसा सुनकर जब संसार में कर्म के नाशवान् फल को भोगता है तब 'ऐसा ही नाशवान् स्वर्गफल है'—ऐसी उपमिति करता है। यद्वा देवतादि के पतन को सुनकर ऐसा ही मेरा पतन होगा—ऐसी उपमिति करता है।

३. पहले न होना, बाद में न होना और होते समय भी सापेक्ष होना—इत्यादि सभी तरह से अनित्यता है।

४. यद्यपि लोक पूर्वस्थित हैं तथापि भोक्ता का उनसे सम्बन्ध तो फलरूपेण ही निष्पन्न होने वाला है, अतः ऐसा कहा।

५. क्षणपद अत्यल्प कालपरक है।

६. बुद्बुदा और फेन जल से अतिरिक्त न होने पर भी पृथक् प्रतीत होता है। अतः स्वप्नवत् प्रातीतिक है। दृष्टान्तबाहुल्य समझने में सरलता के लिये है। किं च ईश्वरादि द्वारा निर्मितता की प्रतीति जादू से बतायी। तृष्णानिवर्तकता का भ्रम मृगमरीचिका के जल से कहा। आश्रय देने की योग्यता की प्रतीति गन्धर्व नगर द्वारा सूचित की। आकार पद इसलिये दिया कि वहाँ आकार से पृथक् कोई नगर नहीं। अपरोक्ष ही सुख देने वाला होते हुए ही मिथ्यात्व में स्वप्न उदाहरण है। नश्वरता में बुद्बुदा तथा व्यवहार्यतया प्रतीयमान में फेन दृष्टान्त है।

तरह सारहीन;[१] अनेक अनर्थों से लाखों तरह से भरपूर; बीज और अंकुर की तरह एक दूसरे की उत्पत्ति में कारण बनने वाले;[२] प्रकृति-लयावस्था[३] से वृक्षादि योनिपर्यंत, स्थूल (पृथ्वीप्रधान) और सूक्ष्म (तेज आदि प्रधान) स्वरूप वाले; संसार के अन्तर्गत मिलने वाले फलरूप लोकों को पीठ पीछे कर[४] [ब्राह्मण को चाहिये कि]—फलेच्छा और उसके साधनों के त्याग द्वारा अपनी निर्विशेष-आत्म-स्वरूपता की निष्ठा में क्योंकि ब्राह्मण का ही विशेष[५] अधिकार है इसलिये (श्रुति द्वारा अधिकारियों में) ब्राह्मण का (नामतः) ग्रहण है—तात्पर्य है कि 'सबके प्रति उदासीनता, सब में आत्मदृष्टि रखना, सत्य का परिपालन, अद्रोह,

---

१. विचार को न सहन करने वाला यहाँ सारहीन कहा है।

२. मनुष्यलोक में ही कर्माधिकार होने से इसे बीज और अन्य फलभूत लोकों को अंकुर समझ सकते हैं। अन्य लोकों में भोग-समाप्ति हो जाने पर पुनः कर्म करने के लिये मनुष्यलोक में आना पड़ता है, इस प्रकार कर्म भुगवाकर मनुष्यलोक में भेजने वाले होने से वे लोक भी मनुष्यलोक के कारण हुए।

३. पौराणिक प्रकृति में लीन होना पुरुषार्थ मानते हैं।

४. अर्थात् लोकों की और अतएव साधनों की उपेक्षा कर।

५. 'विशेष' कहकर सूचित किया कि अन्य वर्णों का भी सामान्य अधिकार तो है ही। जिनके मत में संन्यासाधिकार केवल ब्राह्मण को है उनके मत से 'विशेष' को त्याग से सम्बद्ध कर यह अर्थ होगा कि ब्राह्मण के अधिकार की विशेषता है कि वह त्यागपूर्वक विद्यालाभ कर सकता है, इतरवर्ण विद्यालाभ चाहे करें, त्याग (संन्यास) नहीं कर सकते। अंतर यह होगा कि ब्राह्मण जीवन्मुक्त हो पायेगा, अन्य नहीं क्योंकि संन्यासनिष्ठ ब्रह्मविद्या ही मोक्षसाधन है ऐसा उपोद्घात में कह चुके हैं। अतः अन्य वर्णी जन्मांतर में संन्यासलाभ कर मुक्त हो जायेगा। जो तो कुछ टिप्पणकर विशेषतः का 'एव' अर्थ करते हैं—'विशेषत इति ब्राह्मणस्यैव', वे शायद भाष्याक्षर न देखकर ही वैसा करते हैं कारण कि भाष्य में ही एवकार श्रुत है—'ब्राह्मणस्यैव विशेषतोऽधिकारः'। एव को अधिकार से जोड़ना—अधिकार एव—सर्वथा व्यर्थ होगा। विद्या में त्रैवर्णिकाधिकार अपशूद्राधिकरण से सिद्ध है। वस्तुतः ब्रह्मलोकफलक आश्रमसंन्यास में केवल ब्राह्मणाधिकार और ज्ञाननिष्ठाफलक सर्वकर्मसंन्यास में उन सबका अधिकार जिन्हें विधितः कर्म की प्राप्ति है—यही भाष्य, वार्तिक, आनन्दगिरि आदि आचार्य का व युक्तिसंगत पक्ष है।

अनुग्रह दान आदि शीलवान् होना, मर्यादा को छोड़ना नहीं, अहिंसा-परता, अकुटिलता और तत्तत् क्रियाओं को त्यागते चलना; ब्राह्मण के लिए ऐसा धन और कुछ नहीं है' (म० भा० १२.२७७.३७) इस स्मृतिवचन से पता चलता है कि (कर्मत्याग में) ब्राह्मण का ही अधिकार है। लोकों की वास्तविकता का निश्चय कर चुकने पर क्या करे ? यह श्रुतिद्वारा कहा जाता है—'निर्वेदम्' वैराग्य,[1] यहाँ 'निः' उपसर्ग पूर्वक 'विद्' धातु वैराग्य—इस अर्थ में (प्रयुक्त है), 'आयात्' अर्थात् करे। (वैराग्य का जो प्रकार कर्तव्य है। वैराग्य का वह प्रकार (मंत्र के अगले भाग द्वारा) दिखाया जाता है—इस संसार में कोई भी पदार्थ नहीं जो बनने वाला न हो। सभी लोक कर्मद्वारा (अनुभव के विषय) बनाये जाते हैं और क्योंकि कर्म द्वारा बनाये जाते हैं इसलिये अनित्य हैं। तात्पर्य है कि कोई भी (अनुभवविषय) नित्य नहीं[2] है। सभी[3] कर्म अनित्य (फल) को ही साधित करने वाले हैं क्योंकि कर्म के सभी कार्य चार प्रकार के[4] ही होते हैं—उत्पन्न होने वाले, प्राप्त होने वाले, संस्कृत होने वाले या विकृत होने वाले[5]। उक्त प्रकारों से भिन्न किसी तरह के फल को देने की कोई

---

१. अतः ज्ञानगर्भ—विवेकफलभूत—वैराग्य विवक्षित है न कि दारानाद्यादि-फलक नैर्वेद्यमात्र।

२. आनन्दाश्रम (सन् १९३५ संस्करण) पाठ में 'न' पद नहीं है। तब अर्थ होगा—सब विषयों को अनित्य बताकर कुछ नित्य है अवश्य, यह सूचित हो गया। एक तो अनित्य कहते ही प्रतियोगिभूत नित्य की सामान्यतः प्रसिद्धि हो गयी। दूसरी बात, जैसे नेति-नेति में निषेधक अनिषेध्य अवशिष्ट सूचित हो जाता है वैसे अनित्य को अनित्य जानने वाला अनित्यभिन्न=नित्य सूचित हो जाता है। तथापि सन्दर्भानुरूप नञ्युक्त पाठ ही उचित है।

३. तु=एव। यद्वा नित्यसाधनत्वाशंकानिवृत्तिस्तुशब्दप्रयोजनम्।

४. प्रत्येक को चारों प्रकार का नहीं होना पड़ेगा पर चारों में से किसी प्रकार का तो होना ही पड़ेगा यह भाव है।

५. उत्पन्न होने वाला कार्य, जैसे पुरोडाश जो पिसे आटे और पानी मिलाकर पिण्डरूप में हवन के लिये बनाया जाता—पैदा किया जाता है। या गर्भा-धानादि कर्म से उत्पाद्य पुत्रादि कार्य है। प्राप्त होने वाला कार्य, जैसे अध्ययन कर्म से स्वाधीनोच्चारणयोग्यता को प्राप्त होने वाले मन्त्र। अर्थात् मन्त्र हैं तो पूर्वसिद्ध, उत्पाद्य नहीं, पर उन्हें इस योग्य बना सकते हैं कि जब हम

विशेषता कर्म की नहीं है।[1] और मैं नित्य (अर्थात्) अमृत (=अविनाशी), अभयरूप (अतः अभयहेतु), कूटस्थ अर्थात् परिवर्तनशून्य, अचल अर्थात् क्रिया रहित तथा ध्रुव अर्थात् (क्रियाहेतुभूत) प्रयत्नरहित (आत्म–) पदार्थ से प्रयोजन रखने वाला हूँ, न कि उससे विपरीत (किसी पदार्थ) से। इसलिये बहुत प्रयत्नों से होने वाले (फिर भी) अनर्थ के[2] उपायभूत कर्म करने से क्या (लाभ)?[3]—इस प्रकार (कर्म व फलों के प्रति) वैराग्यवान् (होना चाहिये)।

जो अभयरूप, कल्याणात्मक, बना हुआ नहीं, (अतः) नित्य परमपद (प्राप्तव्य) है उसे 'विज्ञानार्थम्' विशेष (अर्थात् अपरोक्ष) रूप से समझने के लिये 'सः' (पूर्वोक्त प्रकार से) वैराग्यवान् ब्राह्मण[4] शम, दम, दया

चाहें तब उनका उच्चारण कर लें—याद कर लें। अथवा चलना क्रिया से ग्राम प्राप्त होता है। संस्कृत होने वाला, जैसे देवार्पणार्थ रखे चावल प्रोक्षण से—मंत्रसहित जल छिड़कने से—संस्कारवाले बन जाते हैं, उनमें अदृष्टविशेषता आ जाती है। अथवा धोने से साफ होवे वाला कपड़ा दृष्ट संस्कार वाला है। विकृत होने वाला, जैसे सोमरस जो सोमलता निचोड़ने का फल होने से उस लता का विकृत-परिवर्तित-रूप है। अथवा अस्थि आदि स्पर्श से अदृष्ट विकार हो जाता है। या कीचड़ आदि लगने से कपड़ा आदि विकृत हो जाता है। यद्वा कुलालादिव्यापार से मृत् का घटरूप विकार हो जाता है। सुरेश्वराचार्य ने भी कहा है—'उत्पाद्यमाप्यसंस्कार्यं विकार्यं च क्रियाफलम्। नैवं मुक्तिर्यतस्तस्मात्कर्म तस्या न साधनम्॥' नै० सि० १.५३॥ अत्रत्य भाष्यवाक्य में 'सर्वं कर्मकार्यम्' इस प्रकार कर्मकार्यं को समस्तपद जानना चाहिये।

१. 'नातः परं कर्मणां विषयोऽस्ति'—ऐसा पाठभेद आनन्दाश्रमसंस्करण में सूचित है जिससे अर्थ सीधा लगता है: उत्पत्ति आदि क्रियाओं के उत्पाद्य आदि विषय होते हैं, उनसे भिन्न नहीं।

२. नित्य आनन्दरूप मोक्ष ही सबका प्रार्थित होने से सभी अनित्य फल अनर्थ ही हैं।

३. 'कृतेन कर्मणा अकृतो = नित्यो लोको नास्ति' इति नारायणादयो व्याख्यातवन्तः।

४. शिष्य के आवश्यक गुण उपदेशसाहस्री गद्यारंभ में कहे हैं—'साधनसाध्यादनित्यात्सर्वस्माद्विरक्ताय त्यक्तपुत्रवित्तलोकैषणाय प्रतिपन्नपरमहंसपारि-

आदि से सम्पन्न "'गुरुम्' आचार्य के ही पास जाये। 'आचार्य के ही'—इस प्रकार 'ही' शब्द से सीमा बाँधने का तात्पर्य यह है कि शास्त्र का जानकार साधक भी स्वतन्त्र रूप से (गुरुनिर्देश के विना) ब्रह्मज्ञान प्राप्त करने का प्रयास न [2]करे। 'समित्पाणिः' समिधा[3] के भार को हाथ में ले (आचार्य के पास जाये)। समिधा हाथ में लेकर जाने से यह भी समझना चाहिये कि विनयपूर्वक जाये। 'श्रोत्रियम्' गुरुमुख से किये उच्चारण के अनुरूप उच्चारण करना रूप अध्ययन से जिसने शास्त्र[4] और उसके अर्थ को धारण किया है (तथा) 'ब्रह्मनिष्ठम्' सब कर्मों को छोड़कर निरतिशय अद्वितीय (=अपने से अभिन्न) ब्रह्म में जिसकी निष्ठा है वह यह (=यहाँ विवक्षित) ब्रह्मनिष्ठ है; जैसे (अन्य कार्य छोड़ केवल जप या तप में अत्यधिक स्थित रहने वाले) जपनिष्ठ या तपोनिष्ठ होते हैं (वैसे यह ब्रह्मनिष्ठ विवक्षित है); क्योंकि कर्म और आत्मा की यथार्थता के ज्ञान का विरोध[5] है इसलिये कर्म करने वाला ब्रह्मनिष्ठ हो

व्राज्याय शमदमदयादियुक्ताय शास्त्रप्रसिद्धशिष्यगुणसंपन्नाय शुचये ब्राह्मणाय विधिवदुपसन्नाय'। शास्त्रप्रसिद्ध शिष्यगुण अमानित्वादि गीतोक्त समझने चाहिये।

१. एवं गुरु की विशेषता वहीं कही है—'आचार्यस्तु ऊहापोह-ग्रहण-धारण-शमदमदयानुग्रहादिसम्पन्नो लब्धागमो दृष्टादृष्टभोगेष्वनासक्तस्त्यक्तसर्वकर्मसाधनो ब्रह्मविद् ब्रह्मणि स्थितोऽभिन्नवृत्तो दम्भदर्पकुहकशाठ्यमायामात्सर्यानृताहंकारममत्वादिदोषवर्जितः केवलपरानुग्रहप्रयोजनो विद्योपयोगार्थी।' अभिन्नवृत्त = शिष्टों से अनिंदित। विद्योपयोगार्थी=सच्छिष्य को ब्रह्मज्ञान मिले ऐसा चाहने वाला।

२. शास्त्रनिर्देश से यह जाना जाता है कि श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ गुरु से प्राप्त ज्ञान ही मोक्षोपयोगी है। औचित्य भी इसमें है कि ज्ञातब्रह्म उपदेश दे तभी निश्चय हो।

३. अन्य भेंट भी समझनी चाहिये।

४. 'श्रुतं शास्त्राऽवधृतयोः' इत्यमरः। 'श्रोत्रियंश्छन्दोधीते' (५.२.८४) इस पाणिनीय वचन से वेद यहाँ शास्त्रशब्द का अर्थ है।

५. ज्ञान व कर्म की कारणसामग्री युगपत् एकत्र नहीं रह सकती अतः उत्पत्ति में, और ज्ञान कर्म की आवासभूमि नष्ट करता है तथा कर्म ज्ञान की अतः स्थिति में भी विरोध है। फल में विरोध प्रसिद्ध है, ज्ञानफल संसारनिवृत्ति और कर्मफल संसारप्राप्ति है।

यह संभव नहीं (अतः ब्रह्मनिष्ठ पद की व्याख्या में 'सब कर्मों को छोड़कर' इतना कहना आवश्यक है); उस (श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ) आचार्य के पास जाकर उस (विवेकी विरक्त) ब्राह्मण को चाहिये कि आचार्य को प्रसन्न[1]कर (उनसे) सत्य अक्षर पुरुष के विषय में पूछे ॥ १२ ॥

"ब्रह्मवेत्ता गुरु को चाहिये कि शास्त्रीय मर्यादा से आये दर्पादि-दोषरहित व बाह्येन्द्रिय-नियन्त्रण वाले (पूर्वोक्त ब्राह्मण) के लिये उस ब्रह्मविद्या का यथावत् उपदेश करे जिस (ब्रह्मविद्या) से वह[2] सत्य अक्षर पुरुष को जानता है ॥ १३ ॥"

[3]'स विद्वान्' ब्रह्म का अपरोक्ष साक्षात्कार कर चुके गुरु को चाहिये कि 'समक्' (गुरु के पास विद्या लेने जाने का) शास्त्र में जो ढंग बताया है उस ढंग से—यह (सम्यक् शब्द का अर्थ वाच्य है)—'उपसन्नाय' निकट आये 'प्रशान्तचित्ताय' [4]दर्प आदि दोष जिसके हट चुके हैं (और) 'शमान्विताय' जो वाह्य[5] इन्द्रियों के नियंत्रण वाला है, अर्थात् हर ओर से जिसे वैराग्य है (ऐसे) उस शिष्य के लिये उस[6] ब्रह्मविद्या का 'तत्त्वतः' यथावत् (जैसी वह वस्तुतः है वैसा) 'प्रोवाच' उपदेश करे[7] जिस विज्ञान से (अर्थात्[8]) जिस परा विद्या से 'अक्षरम्' ज्ञानेन्द्रियों की अविषयता आदि विशेषताओं वाले (पूर्वोक्त [१.१.६]) उसी अक्षर को (जो) पूर्ण होने से व शरीर में रहने वाला (विशेषतः मिलने वाला) होने से पुरुष—इस शब्द से कहा जाता है, (तथा) वही (जो) कभी न बदलने वाले स्वभाव वाला (एवं वास्तविक सच्चिदानन्द

---

१. सेवा, तदाज्ञावशवर्तिता आदि द्वारा।

२. जिस विद्या से गुरु ने जाना है उसी विद्या का शिष्य भी जान पायेगा अतः स्वानुभवसत्यापित उसी विद्या करे यह अर्थ है।

३. व्याख्यासौकर्यार्थ भाष्य में अन्वय समझना चाहिए।

४. धनादि को निमित्तकर होने वाला मद दर्प कहाता है। दम्भ, अतिमान, क्रोधादि आदिशब्द का अर्थ है।

५. अन्तरिन्द्रिय मन का निग्रह प्रशान्तचित्त विशेषण से कह दिया अतः यहाँ कर्मेन्द्रिय और ज्ञानेन्द्रिय का नियन्त्रण विवक्षित है।

६. दूर से अन्वय अनुवादसरलतार्थ है।

७. बाहुलकेन प्रोवाच से प्रब्रूयाद् ऐसी विधि समझनी होगी।

८. 'येन' का 'ताम्' से सम्बन्ध होने से 'यथा' ऐसा व्याख्यान है।

स्वभाव वाला) होने से सत्य है, और (जो) क्षरण न होने के कारण[1] (अर्थात्) अवयव अन्य ढंग का हो जायें—ऐसे परिवर्तन वाला न होने के कारण, टूटा (या टूटने वाला) न होने के कारण[2] व समाप्त होने वाला न होने के कारण—अर्थात् (तीनों हेतुओं का तात्पर्य है कि) शरीर वाला न होने से परिवर्तन[3] वाला न होने के कारण—अक्षर है (उसे वह स्वयं[4]) 'वेद' अत्यन्त अपरोक्ष रूप से[5] जानना है, यह अर्थ है। आचार्य के लिये भी[6] यह नियम[7] है कि ढंग से आये (पूर्वोक्त विशेषताओं वाले) अच्छे शिष्य को अविद्यारूप महासागर से पार[8] करा देवे ॥ १३ ॥

॥ इति प्रथममुण्डक का द्वितीय खण्ड तथा
समग्र प्रथममुण्डक समाप्त ॥

---

१. कुल उतना ही रहते हुए अवयवों के ऊपर नीचे हो जाने से होने वाले परिवर्तन का निषेध है। प्रकृति या परमाणु की तरह नहीं यह भाव है।
२. सर्वथा समाप्त न होने पर भी कुछ कम हो जाये ऐसा भी नहीं।
३. भाववस्तुओं के छहों परिवर्त्तन समझने चाहिए।
४. आचार्य। तथा 'येन सः शिष्यो वेद विजानीयात्' ऐसा भी जानना चाहिए।
५. इत्थंभावे तृतीया।
६. जैसे सच्छिष्य के लिए सद्गुरु के पास जाकर जिज्ञासा करने का नियम है, वैसे—यह 'भी' शब्द का अर्थ है।
७. करुण व विद्योपयोगार्थी होने से पक्षतः प्राप्त होने के कारण नियम रहा।
८. अविद्या का पार ब्रह्म है, तद्रूप बना देवें। 'अविद्यायाः परं पारं तारयसि' (प्र० ६.८) ऐसा ब्राह्मण के अन्त में कहेंगे।

अथ द्वितीय मुण्डक

प्रथम खण्ड

'दो विद्यायें जाननी चाहिए' (१.१.४) ऐसा उपक्रम कर प्रथम मुण्डक के द्वारा अपरा विद्या को विस्तार से बता चुकने पर (पहले, १.१.५-६) सूत्ररूपसे (अत्यन्त संक्षेपमें) बताई परा विद्या को विस्तार से समझाने के लिए द्वितीय मुण्डक का प्रारम्भ है, यह भाष्यकार सूचित करते हैं—अपरा विद्या का समग्र[1] फल बता दिया। अब[2], वह (फलभूत) संसार जिस सार वाला है[3], जिस अक्षररूप मूलकारणसे उत्पन्न होता है तथा[4] जिसमें लीन होता है, वह पुरुषनामक सत्य अक्षर जिसे जान लेने पर यह सब जान लिया जाता है, वही (जो) पराविद्या अर्थात् ब्रह्मविद्या का विषय है, वह (पुरुष) बताने योग्य[5] है। इसलिए आगे का ग्रन्थ प्रारम्भ किया जाता है।

"पूर्व में सूचित और आगे बताया जाने वाला पराविद्या का विषय वास्तविक है[6]। जैसे अच्छी तरह जलाई आगसे आग की समानता वाली

---

१. अनेक कर्म व उपासनायें अपरा विद्या में बतायी हैं, उन सबके अपने-अपने फल हैं, वे सभी यद्यपि पूर्व मुण्डक में नहीं बताये तथापि 'हिनस्ति' (१.२.३) से निम्नगति, 'ब्रह्मलोकः' (१.२.६) से उत्तमगति 'च्यवन्ते' (१.२.९) से आवृत्ति तथा 'यत्रामृतः' (१.२.११) से कर्मसंस्कृत उपासना का फल बता दिया। अतः यहाँ 'समग्र' कहना उचित है। किं च 'नास्त्यकृतः' (१.२.१२) से सारे ही अपराविद्या के कार्य का स्वरूप बता ही दिया अतः भी समग्र कहना उचित है।

२. चोद्युनार्थः। यद्वा यत इत्यर्थश्चः, यतो वक्तव्य इति आरभ्यत इति योजना।

३. अर्थात् संसार का जो सार है। जैसे साँप का सार रस्सी है वैसे। घिवकी साररूपता का अन्यत्र भी वर्णन है—'घृतात्परं मण्डमिव' (श्वे० ४.१६)।

४. निमित्तमात्र की व्यावृत्ति करते हैं।

५. शौनक के प्रश्न का साक्षात् विषय वही है। उसे समझने में सहायक विषय पहले बता दिया अतः अब पृष्ट व अवशिष्ट होने से वही वक्तव्य है।

६. श्रोता सावधान हो जायें क्योंकि उपनिषद् का मुख्य विषय बताया जा रहा है, इस प्रयोजन से यह कहा।

हज़ारों चिनगारियाँ निकलती हैं वैसे (ही) हे सोम्य[1] शौनक ! अक्षरसे नाना प्रकार के जीव[2] उत्पन्न होते हैं और उस अक्षरमें ही लीन हो जाते हैं ॥ १ ॥"

पहले (१.२.१) कर्म की भी सत्यता कही थी, उसकी तरह यहाँ कही सत्यता (वास्तविकता) है ऐसा नहीं मान लेना चाहिए, यह बताते हैं— **कर्म और फल है स्वरूप जिसका (ऐसा) जो अपरा विद्या का विषय है-**[3] 'विद्या इसके द्वारा 'विषीयते' विशेषित की जाती है'—विषयशब्द की ऐसी व्याख्या से वह (विषयशब्द) विद्या को विषयवस्तु को कहता है अतः (भाष्यमें) वह नपुंसकलिंगमें प्रयुक्त है।—**वह (संसार की सामान्य वस्तुओं की) अपेक्षा से**[4] **सत्य है। परा विद्या का विषय यह (अक्षर)**

१. 'सोममर्हति यः' (४.४.१३६) से यज्ञयोग्य विप्र सोम्य कहाता है। लक्षणया 'अच्छा', 'भला' यह अर्थ है। 'सौम्य' शब्द मनोहर, प्रियदर्शन, सुन्दर—इस अर्थ में प्रसिद्ध है 'सौम्यं तु सुन्दरे सोमदैवते' (अमर०) 'सोम्यो ज्ञे ना त्रिष्वनुग्रे मनोज्ञे सोमदैवते' (मेदिनी)।

२. 'नात्माऽश्रुतेर्नित्यत्वाच्च ताभ्यः' (२.३.११.१७)—इस अधिकरण में सिद्धान्त किया है कि जीव उत्पन्न नहीं होता। अतः वहाँ जीवोपाधि की उत्पत्ति का वर्णन समझना चाहिए। अतएव 'भावाः' के अर्थ में सभी जन्य वस्तुएँ समझी जा सकती है। तीसरे मन्त्र में ऐसा कहना भी है। 'सरूपाः' का भी विरोध नहीं। सारूप्य कहीं अधिक कहीं कम भले ही हो। 'सद्ब्रह्मकार्यं सकलं सदेव' इत्यादि स्मृति (वि० चू० २३२) प्रसिद्ध है।

३. 'विसिन्वन्ति निबध्नन्ति इति विषयाः' इस प्रसिद्ध शाब्दिक व्याख्या से और 'विषयो यस्य यो ज्ञातस्तत्र गोचरदेशयोः शब्दादौ जनपदे च' इत्यादि (हैम०) कोष से विषयशब्द पुल्लिंग प्रसिद्ध हैं अतः 'अपरविद्याविषयम्' इस भाष्य प्रयोग की व्याख्या अपेक्षित होने से कहते हैं—'विद्या' इत्यादि द्वारा। जिसके द्वारा विशेषित की जाती है वह विषय शब्द का वाच्य हुआ अतः इस रीति से व्याख्यात विषय शब्द अपने वाच्य के अनुसार लिंग वाला होगा।

४. जैसे निर्धन की अपेक्षा से सहस्रपति धनी कहाता है जबकि कोटिपति की अपेक्षा वह (सहस्रपति) निर्धन ही है वैसे घटादि अत्यल्पकालस्थायी वस्तुओं से अधिक स्थायी होने से और निश्चित कारण कार्य वाले होने से कर्मादि-फल सत्य कह दिये जाते हैं जब कि परमात्मा की अपेक्षा के असत्य ही हैं।

तो वस्तुतः सत्स्वरूप होने से अर्थात् कभी भी बाधित[1] न होने वाला होने से (सत्य है)। वह (पूर्वसूचित) यह (आगे विवक्षित) परा विद्या का विषय (अक्षर) 'सत्यम्' यथार्थ (वास्तविक) है। इससे भिन्न (जो कुछ भी है वह) अविद्या का विषय होने के कारण[2] अवास्तविक है। सत्य अक्षर अत्यन्त (सर्वथा) परोक्ष है [3]क्योंकि केवल शास्त्र से ही

'यावद्विकारं तु विभागो लोकवत्' (२.३.७) सूत्र से निश्चित है कि सभी विभक्त—भेदवाली—वस्तुएँ विकाररूप अतएव अनित्य हैं। 'मृत्तिकेत्येव सत्यम्' (छा० ६.१.४) आदि में आये सत्यशब्द की तरह ही यह सत्य शब्द है।

१. अत्यन्ताभाव का निश्चय (प्रमा) बाध है। आत्मविषयक यह निश्चय (प्रमा) असम्भव है। निश्चायक—प्रमाता के अभाव का निश्चय क्योंकर होगा? 'न हि द्रष्टुर्दृष्टे विपरिलोपो विद्यते' (बृ० ४ ३.२३) आदि श्रुति भी ऐसा कहती है।

२. रजत की अवास्तविकता यही है कि वह अविद्या का, भ्रम का, विषय है। अपराविद्या को पूर्व में (१.१.४) भी भाष्यकार अविद्या कह आये हैं।

३. 'यत्साक्षादपरोक्षाद्' (बृ० ३.४.१) आदि श्रुति से सत्य तो अपरोक्ष प्रसिद्ध है तब भाष्य में अत्यन्त परोक्ष कैसे कहा? यह शंका कर, उसे शास्त्र से ही जिस स्वरूप का समझा जा सकता है, उसका वह स्वरूप शास्त्रजन्य बोध के पूर्व सर्वथा अज्ञात और साक्षात्कार के पूर्व अपरोक्षत्वेनाज्ञात होने से भाष्य में अत्यन्त परोक्ष कहा है यह परिहार करते हैं—क्योंकि इत्यादि से। यद्यपि सच्चिद्रूप से आत्मा अपरोक्षसिद्ध है तथापि अनन्तानन्दरूप से नहीं, यह भाव है। अपरोक्षवस्तु भी अज्ञानवशात् परोक्ष हो जाती है यह 'दसवाँ है, वहा नहीं' आदि वाक्य से उत्पन्न परोक्षज्ञान में प्रसिद्ध है। 'परोक्षा चापरोक्षा च विद्या द्वेधा विचारजा (६.१५) अस्ति ब्रह्मेति चेद्वेद परोक्षज्ञानमेव तत् ॥६-१६॥ परोक्षं ब्रह्मविज्ञानं शाब्दं देशिकपूर्वकम्। बुद्धिपूर्वकृतं पापं कृत्स्नं दहति वह्निवत् (१-६३)' इत्यादि पञ्चदशी में सफल परोक्षज्ञान विवेचित है। अपरोक्षवस्तु के परोक्षज्ञान की असम्भवतारूप सिद्धान्त का भंग शङ्कित नहीं करना चाहिए, कारण कि पारोक्ष्य भ्रमरूप ही विवक्षित है। कई अंशों में ठीक होने पर भी इस अंश में यह ज्ञान गलत ही है इसमें सन्देह नहीं। यहाँ 'अत्यन्तपरोक्षत्वात्' का अर्थ है 'अत्यन्ताऽज्ञातत्वात्'। यहाँ भी 'अस्मत्प्रत्ययाविषयत्वाद्' आदि से अवि-

उसका पता चलता है, अतः उसे प्रत्यक्ष की तरह (स्पष्ट) कैसे समझें ? इस प्रयोजन से श्रुति (जैसे उसे स्पष्ट समझें वैसा) दृष्टान्त देती है—; जैसे विहितादिक्रिया जन्य व स्वर्गादिफल का जनक पुण्यादि अपूर्व (केवल शाब्दी अर्थापत्ति से बोध्य होने से तथा इंद्रियविषय न होने से) प्रत्यक्ष हो यह सम्भव नहीं वैसे ही (शास्त्रैकगम्य और अतीन्द्रिय होने से) ब्रह्म प्रत्यक्ष हो यह सम्भव नहीं, और कैवल्य-मोक्ष-इस पर निर्भर है कि ब्रह्म का साक्षात्कार-प्रत्यक्ष हो। अतः मोक्ष के इच्छुक साधक सत्य अक्षर (ब्रह्म) को किस प्रकार प्रत्यक्षविषयकी तरह (स्पष्ट) समझें (जिससे उसकी आत्मरूपता असंदिग्ध हो और उन्हें उसका साक्षात्कार साक्षाद् अपरोक्ष[1] हो) इस अभिप्रायसे जीव-ब्रह्म की एकता में श्रुति उदाहरण देती है—जैसे 'सुदीप्तात्' अच्छी तरह धधकते हुए जलती 'पावकात्' आग से 'सहस्रशः' बार-बार अनेक[2] 'सरूपाः' अग्नि के समान[3] स्वरूप वाली 'विस्फुलिंगाः[4]' अग्नि की अवयवरूप चिनगारियाँ 'प्रभवन्ति' निकलती हैं, वैसे हे सोम्य! (शौनक!) पूर्वोक्त[5] स्वरूप वाले अक्षरसे 'विविधाः' अनेक शरीरादि उपाधियों के भेदों का अनुसरण करने वाले होने के कारण[6] नाना प्रकार के 'भावाः' जीव उसी तरह विभिन्न नामों व रूपों से निर्मित[7] देहादि उपाधियों के जन्म से (मानो[8]) उत्पन्न हो जाते हैं और देहादि उपाधि के विलीन होने पर

रोघार्थ 'शास्त्रैकगम्यत्वात्'—'यथा शास्त्रेणैव गम्यते तथाऽत्यन्तमज्ञातं तदित्यर्थः'। परोक्षतानिषेध असाक्षात्कारतानिषेध और परोक्षताविधान इन्द्रियाविषयरूपसे विधान हो यह भी उपपत्ति जाननी चाहिए।

१. ऐन्द्रिय अपरोक्ष की व्यावृत्ति के लिए साक्षात्पद है। स्वस्वरूपेण अनुभूति को साक्षात्कार समझ सकते हैं।
२. 'बह्वल्पार्थात्कारकात् शसन्यतरस्याम्, संख्यैकवचनाच्च वीप्सायाम्' (५.४. ४२-३) सूत्रों के आधार पर अर्थ जानना चाहिए।
३. अर्थात् जो अग्नि का स्वरूप है उसी स्वरूप वाली।
४. 'स्फुरतिस्फुलत्योर्निर्निविभ्यः' (८.३.७६) सूत्र से षत्वाभाव का विकल्प है।
५. १.१.६।
६. अर्थात् जीवभेद औपाधिक है।
७. अर्थात् नाम-रूप से अतिरिक्त देहादि नहीं है।
८. उत्पत्ति-नाश तो उपाधि का होता है, अध्यास से वह आत्मा का माना जाता है और इस प्रकार जिसकी उत्पत्ति व नाश मान लिया वही जीव है।

'तत्र चैव' उसी अक्षर में (मानो) लीन हो जाते हैं जिस तरह आकाशादि ; (अर्थात्) घट आदि विभिन्न उपाधियों के अनुरूप घट आदि से परिच्छिन्न (सीमित) विभिन्न आकाश (छिद्र) (मानो) उत्पन्न हो जाते हैं और घट आदि के विलय का अनुसरण करते हुए ही वे घटादि से परिच्छिन्न विभिन्न आकाश (मानो) लीन हो जाते हैं। जैसे नाना प्रकार के (घटाकाशादि) आकाशों के जन्म और लय के प्रति (महा-) आकाश की कारणता घट आदि उपाधियों के हेतु से है वैसे जीवों के जन्म व मरण के प्रति अक्षर को कारणता भी नाम व रूप से निर्मित देहादि उपाधि के हेतु से ही है[3]। [जीव को अक्षर-ब्रह्म-के समान—एकस्वरूप—कहने का फल टीकाकार बताते हैं-] जीव और ब्रह्म की एकता होने पर[4] (अर्थात् यदि दोनों एक, एकस्वरूप, हैं तो फल होगा कि—) प्रत्यगात्मरूप[5] जीव के अपरोक्ष होने के कारण ब्रह्म भी प्रत्यक्ष-अपरोक्ष हो जायेगा, जैसे घड़े का एक हिस्सा प्रत्यक्ष हो तो समूचा घड़ा प्रत्यक्ष होता[6] है। चिनगारियों को जो अग्नि का अवयव कहा जाता

---

१. 'आकाशादिवत्'—यह दृष्टान्त का सूत्र वाक्य है, आगे इसको व्याख्या है। किन्हीं संस्करणों में 'आकाशादिव' ऐसा पाठ है। तब अर्थ सीधा है कि जैसे घटादिजन्म के कारण आकाश से घटाकाश आदि उत्पन्न हुए से प्रतीत होते हैं और घटादिनाश होने पर घटाकाश आदि आकाश में लीन हुए से प्रतीत होते हैं वैसे ही देहोपाधिजन्म से अक्षर से जीव उत्पन्न हुआ और उपाधिनाश से जीव अक्षर में लीन हुआ यह भ्रम सम्भव हो जाता है।

२. यद्यपि घटादि की उत्पत्ति से अतिरिक्त घटाकाशादि की उत्पत्ति प्रमाणसिद्ध नहीं तथापि हम भ्रमवशात् वैसा मानते हैं, वैसे ही उपाधि-उत्पत्त्यादि से अतिरिक्त आत्मा की उत्पत्त्यादि भी प्रमाणसिद्ध नहीं, उपाधितादात्म्याध्यासवशात् हम वैसा मान लेते हैं।

३. अर्थात् पर अक्षर में कारणता की कल्पना भी उपाधिनिमित्तक है, स्वरूप से वह कारण हो ऐसी बात नहीं। अक्षर में कारणतामात्र की प्रतीति के प्रति अनादि अविद्या की निमित्तता है।

४. 'क्योंकि दोनों एक हैं'—यह भाव है।

५. अत्यन्त अभिन्न को प्रत्यक् कहते हैं ऐसा समझा जा सकता है।

६. यद्यपि घड़े का एक हिस्सा समूचा घड़ा तो नहीं फिर भी अवयव-अवयवित्वादि किसी कारण से हिस्साप्रत्यक्ष से समूचाप्रत्यक्ष हो जाता है—मान लिया

है वह इतने से ही कि वे मुख्य ज्वाला से भिन्न स्थान पर होती हैं, क्योंकि वस्तुतः वे स्वयं ही अग्नि ही हैं, कारण कि गर्मी और प्रकाश का होना उनमें वैसा[1] ही है जैसा ज्वालादि में है; इसी तरह (उपाधिपरामर्श से जीवों को पर का अवयव कह[2] दिया जाता है, वस्तुतः) चेतनरूपता—ज्ञानरूपता—समान[3] होने से जीव स्वयं ब्रह्म ही है, यह (आकाशादिवद् इत्यादि दृष्टान्त-दार्ष्टान्तिका) तात्पर्य है॥ १॥

अक्षर ब्रह्म उपाधि के कारण जीवों के जन्म और नाश का (उपादान) कारण है—यह जो कहा वह इसलिये कि जीव-ईश्वर की एकता सिद्ध हो सके (समझ आ जाये)। वस्तुतः तो उसका (जीव से) कार्यकारणभाव रूप सम्बन्ध[4] भी नहीं है यह बताते हैं—अपने कार्यों की अपेक्षा पर (सूक्ष्म, व्यापक, नित्य),[5] नाम व रूप के[6] मूल कारण, अव्याकृत (अव्यक्त) नामक अक्षर से पर जो सभी रूपों से रहित[7] आकाश के

जाता हूं। ऐसी ही जीवरूपेण जीव ब्रह्म है तो नहीं पर चेतन होने के कारण उसके आपरोक्ष्य से ब्रह्मापरोक्ष्य हो जाता है—यह माना जा सकता है। ब्रह्मापरोक्ष्य तो वाक्यजन्य अखण्डधी से होना है लेकिन परिचय पाने के लिये प्रत्यगात्मस्थल पर्याप्त है। अतएव 'न तावदयमेकान्तेनाविषयोऽस्मत्प्रत्ययविषयत्वादपरोक्षत्वाच्च प्रत्यगात्मप्रसिद्धेः' ऐसा अध्यासभाष्य में भगवद्वचन है। तत्रत्य भामती भी प्रकृत उपनिषद्भाष्य को स्पष्ट करती है।

१. गर्मीरूप और प्रकाशरूप से गर्मी और प्रकाश वैसा ही है यह तात्पर्य है। जैसे एक दाना चावल और एक मन चावल में चावलरूप से कोई भेद नहीं, वजन आदि का भेद है।
२. 'अंशो जीवभूतः' (गी० १५.७) 'अंशः०' (ब्र० सू० २.३.४३) इत्यादि स्थलों पर।
३. अर्थात् एक या अभिन्न।
४. अर्थात् वस्तुतः वह कारण हो और जीव कार्य हो, ऐसा नहीं है।
५. कार्य से कारण पर होता है यह अनुभवसिद्ध है।
६. नाम-रूप कहने पर समस्त जगत् कह दिया जाता है: 'अस्ति भाति प्रियं रूपं नाम चेत्यंशपंचकम्। आद्यं त्रयं ब्रह्मरूपं जगद्रूपं ततो द्वयम्'॥ ऐसा अभियुक्तों ने (दृग्दृ०) कहा है।
७. घटाकाशादि रूप वाले आकाश हैं, घटादि के परामर्श से रहित अवकाशात्मकस्वरूप आकाश का है।

स्वरूप की तरह 'यह नहीं, यह नहीं' इत्यादि प्रकार से कहे जाने वाली विशेषता[1] वाला अक्षर का[2] ही सब विभिन्न उपाधियों से रहित स्वरूप है, (उसे) बताने की इच्छा करती हुई श्रुति कहती है—

"(पराविद्या का विषय वह अक्षर) स्वप्रकाश, सब नामरूपों से असम्बद्ध तथा पूर्ण है। बाहर-भीतर जो कुछ भी है उसका वही अधिष्ठान है। वह जन्मवाला, प्राणवाला और मनवाला[3] नहीं। वह शुद्ध[4] है एवं (कार्य से सापेक्ष) परता वाले अक्षर से परे है॥ २॥"

'दिव्यः' स्वप्रकाश[5] होने से प्रकाश वाला; अथवा[6] (सदा) प्रकाश में (अर्थात् स्वप्रकाश होने से) अपने आप में (अपने से अभिन्न अपनी महिमा में) स्थित होने वाला; या लौकिक वस्तुओं की अपेक्षा भिन्न स्वभाव वाला; 'हि' क्योंकि (वह है इसलिये) 'अमूर्तः' शरीर से (अर्थात् नाम रूप से) रहित है। (तथा) 'पुरुषः' पूर्ण है या देहरूप पुर में शयन करने वाला है। (वह) दिव्य अमूर्त पुरुष 'सबाह्याभ्यन्तरः' बाहर होने वाले और अन्दर होने वाले—दोनों के साथ विद्यमान है। शरीर की अपेक्षा जो (घटादि) बाहर होने वाले प्रसिद्ध हैं व (इन्द्रियादि) अन्दर

---

१. विशेषता से रहित स्वरूप बताने का प्रकार यही है कि सब विशेषताओं का निषेध कर दिया जाये, जिसमें निषेध करेंगे वह निर्विशेष बच जायेगा। उस स्वरूप की विशेषता यही है कि उस पर कुछ रख नहीं सकते, जो रखा हो या रखा जा सके उसे हटा सकते हैं। 'उस पर से हटाया जा सकता है'— यह भी यदि उस पर रख दें तो उसे भी हटाना होगा, यह स्मर्तव्य है। अर्थात् निर्विशेषता कोई विशेषता नहीं।

२. सोपाधिक निरुपाधिक से पृथग्भूत कोई तत्त्व है ऐसा भ्रम निवृत्त किया है।

३. 'तथा ज्ञानेच्छाशक्त्यात्मकमनआदिकरणजालमपि न हि यं स्प्रष्टुं पारयति सोयम् (अप्राणो) अमनाः।' (उपनिषद्ब्रह्मयोगी)।

४. 'स्वातिरिक्ताशुभ्रकरणग्रामापह्नवसिद्धत्वात्' (उपनिषद्ब्रह्मयोगी)।

५. बुद्धि का विषय न होते हुए स्वापरोक्षव्यवहृतियोग्य होना स्वप्रकाश होना कहाता है। अर्थात् पराऽप्रकाश्य प्रकाश स्वप्रकाश है। द्योतित होना— द्योत्यत इति—द्योतन या प्रकाश (=ज्ञान) है। अक्षर और प्रकाश में भेद नहीं पर अभेद में भी भेदोपचार सम्भव होने से 'प्रकाश वाला'—ऐसा कहा।

६. सभी विकल्प विवक्षित हैं, इन सभी के कारण वह दिव्य है। ऐसे ही पुरुषादि शब्दों के व्याख्यान में समझना चाहिये।

होने वाले प्रसिद्ध हैं (तथा विभाजक शरीर जो किसी की अपेक्षा 'बाहर' और अन्य की अपेक्षा 'अन्दर' है), उस सबके साथ तादात्म्यवाला[1] होकर या उसका अधिष्ठान होकर रहता है अतः सबाह्याभ्यन्तर है। और[2] 'अजः' वह किसी से उत्पन्न नहीं होता क्योंकि अपने से भिन्न[3] उसके जन्म का कोई कारण नहीं जैसे जल में बुद्बुदादि की उत्पत्ति के लिये (उनसे भिन्न) वायु आदि कारण होते हैं (या) जैसे आकाश में प्रतीयमान विभिन्न छिद्रों (नाना प्रकार की खाली जगहों) के प्रति (उन जगहों से भिन्न) घटादि (उन जगहों के निरूपक उपाधियां) कारण होते हैं। (हि' क्योंकि वह सबाह्याभ्यन्तर है) इसीलिये सर्वस्वरूप होने से उससे भिन्न कोई कारण नहीं, अतः वह उत्पन्न नहीं होता, यह तात्पर्य है। 'उत्पन्न होता है, अवस्थित रहता है, बढ़ता है, बदलता है, क्षीण होता है, विनष्ट होता है' इस तथा ऐसे अन्य प्रकारों से बताये जाने वाले भाववस्तुओं के परिवर्तनों के निषेध में अजशब्द का तात्पर्य बताते हैं—भाववस्तुओं के सभी परिवर्तनों का मूल जन्म[4] है अतः जन्म के निषेध से सभी का निषेध हो जाता है। बाहर-भीतर जो कुछ है उसके साथ

---

१. 'घट है' आदि अनुभवों में घट से अभिन्न हुआ ही 'है' प्रतीत होता है अतः बाह्य से व 'मैं सुखी' इत्यादि में सुखी से अभिन्न हुआ ही 'मैं' प्रतीत होता है इसलिये आभ्यन्तर से वह आत्मा तादात्म्यवाला है। किं च 'तत्तादात्म्येन=प्रपञ्चानुयोगिकतादात्म्यप्रतियोगितया'। तादात्म्य का अर्थ है तत्सत्ताऽतिरिक्तसत्ताकत्वाभाव। यह अभाव प्रपंच में रहता है अतः प्रपंच इसका अनुयोगी है। यह अभावरूप सम्बन्ध जिसका है वह ब्रह्म इसका प्रतियोगी है। अतः तत्तादात्म्येन का अर्थ है—प्रपञ्चनिष्ठ स्वतादात्म्य-प्रतियोगीरूप से। तात्पर्य है—प्रपंच को सत्तान्वित करते हुए ब्रह्म रहता है जैसे सर्प को सत्तान्वित करते हुए रस्सी रहती है। इसीलिये 'तदधिष्ठानतया' लिख दिया।

२. 'अभावात्' से पूर्वावस्थित 'च' को भिन्नक्रम मानना चाहिये।

३. स्वतोऽन्यस्याभावाद् हेतोर्जन्मनिमित्तस्याभावाद्—ऐसा सम्बन्ध है। स्वतः अपना तो किसी का जन्म नहीं, अन्यतः ही होता है अतः जन्मनिमित्त के अभाव के प्रति स्वतः अन्य का अभाव हेतुरूप से कहा गया समझना चाहिये।

४. '''जन्म दुःखालयमशाश्वतम्' (गी० ८.१५)'''''आलीयन्ते यस्मिन् दुःखानीति दुःखालयं जन्म।' (भाष्यम्)।

(तादात्म्येन अधिष्ठानतया[१] वा) विद्यमान (अक्षर), क्योंकि जन्मरहित है इसलिये जरा, मरण, क्षय तथा भय से रहित (व) अपरिवर्तनीय है, यह तात्पर्य है। जीव प्राणादि (उपाधि) वाले हैं अतः ब्रह्म के जीव-स्वरूप होने पर वह भी प्राणादि वाला हो यह प्रतीत होता है; इस प्रतीति को हटाते हैं—यद्यपि देहादि विभिन्न उपाधियों को ही जो दृष्टि में रखते हैं उन्हें अविद्या (=अविवेक[२]) के कारण विभिन्न देहों में (वह अक्षर) मानो प्राणों वाला हो, मनवाला हो, इन्द्रियों वाला हो, रूपादि को विषय करने वाला हो—ऐसा प्रतीत होता है; जैसे आकाश सतहवाला, मैलवाला (भ्रमवशात् प्रतीत होता है); तथापि जो वास्तविकता को दृष्टि में रखते हैं उनके लिये तो वह स्वयं 'अप्राणः' (प्राणवाला नहीं है), विभिन्न क्रियाशक्तियों वाली वायु[३], जिसका स्वरूप चलना है, जिसमें विद्यमान नहीं, वह अप्राण (प्राण-रहित होता) है; (जैसे वह अक्षर अप्राण है) वैसे (वह) 'अमनाः' (मन वाला नहीं है), अनेक ज्ञानों की विभिन्न शक्तियों वाला—स्मृति, संशय आदि अनेक ज्ञानों के लिए विशेष (=अलग अलग) शक्तियाँ इसकी हैं अतः इस प्रकार कहा; संकल्प आदि (= विकल्प) रूप मन भी जिसमें विद्यमान नहीं वह यह (अक्षर) अमना (मन-रहित) है। वह (हि) निश्चय ही प्राणरहित और मनरहित है ऐसा कह देने से वायु के प्राण आदि सभी प्रकारों का[४], कर्मेन्द्रियों का, उनके[५] विषयों का, और इसी तरह बुद्धि व अहंकार का (एवं चित्त का[६]), ज्ञानेन्द्रियों और उनके विषयों का (सभी का) निषेध हो

---

१. तादात्म्येन—बाहर भीतर जो है उसे सत्तान्वित करते हुए व उसे अपने से एकमेक कर प्रतीत कराते हुए। 'घड़ा है' आदि प्रतीति में घड़ा है रूप ब्रह्म से भिन्न प्रतीत नहीं होता। अर्थात् है और घड़े का भेद प्रतीत नहीं होता। अधिष्ठानतया—बाहर-भीतर जो है उसके विवर्तकारणरूप से।

२. अविवेक को कार्यकारण के अभेद से अविद्या कहा।

३. क्रियामात्र की शक्ति जिसमें वह वायुशब्द से कहा गया है। अध्यात्म व अधिभूत उभयत्र समझ सकते हैं।

४. अपान, व्यान, कृकर आदि का।

५. कर्मेन्द्रियों के विषयों का व प्राणादि के अन्नप्रवेशनादि कार्यों का।

६. मन के अन्तर्गत चित्त तथा बुद्धि के अन्तर्गत अहंकार समझना चाहिये।

गया ऐसा समझना[1] चाहिये। (जैसा कि यह निषेध संगत हो) वैसा अन्य श्रुतिवचन में कहा है—'मानो ध्यान करता है, मानो चंचल होता है'[2] (बृ० ४.३.७)। क्योंकि पूर्वोक्त प्रकार से वह ऐसा है जिसमें स्थूल व सूक्ष्म दोनों उपाधियाँ नहीं हैं इसलिए 'शुभ्रः' (वह) शुद्ध है। इसलिये 'अक्षरात्' नाम-रूप के बीज (अधिष्ठान) की उपाधिरूप से जिसका स्वरूप समझा जाता है उस (अक्षर) से;—शुद्ध ब्रह्म कारण हो यह संगत नहीं[3] (अतः उपाधिवाला ब्रह्म कारण है), नाम-रूप का कारण जो ब्रह्म उसकी उपाधि के रूप से जिसका स्वरूप लक्षित[4] होता है—समझ आता है (वह माया अक्षर है अतः) इस प्रकार (नामरूप····आदि समास से) कहा। मायातत्त्वरूप[5] अक्षर पर (परम) कैसे ? ऐसा प्रश्न

---

१. उपनिषद्ब्रह्मयोगी इस निषेध की सूचना श्रुतिस्थ 'हि' शब्द से पाते हैं।

२. अर्थात् वस्तुतः आत्मा न ध्यान करता है और न चंचल होता है। केवल ध्यान करती या चंचल होती बुद्धि से अविवेक के कारण ऐसा प्रतीत होता है।

३. 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' से शुद्ध ब्रह्म के ज्ञानार्थ प्रयत्न का विधान कर ब्रह्म का लक्षण बताया 'जन्माद्यस्य यतः' अतः शुद्ध ब्रह्म कारण है इस प्रसिद्ध सिद्धान्त से विरोध की शंका नहीं करनी चाहिये क्योंकि यहाँ आचार्य का तात्पर्य है कि जहाँ अविद्या निवृत्त हो चुकी वह निवृत्ताविद्य ब्रह्म कारण नहीं वरन् अविद्या वाला ब्रह्म ही कारण है, और शुद्ध ब्रह्म ही अविद्या वाला है इसलिये शुद्ध ब्रह्म को कारण कहते हैं। अविद्या के आविद्यिक संश्लेष के बिना ब्रह्म कारण नहीं यह भाव है।

४. जिसके कारण शुद्ध ब्रह्म कारणब्रह्म है वही माया है—इसी तरह माया समझ में आ सकती है जैसा कि सर्वज्ञमुनि ने (१.३३२) अपूर्व की तरह माया सिद्ध कर स्पष्ट किया है। अतः अद्वैतरत्नरक्षण में स्पष्ट कहा '···मायादीनां द्वारभावः कल्प्यते।··· ब्रह्मणः कारणत्वप्रतिपादन-श्रवणादेव 'कल्प्यते' इत्यस्याभिधानात्।···तथा च शक्तिमद् ब्रह्म जगदुपादान-कारणं भवति, तथा च 'जन्माद्यस्य यतः' इति कारणत्वं ब्रह्मलक्षणं संगच्छते। अन्यैरप्युक्तम्—'साभासमेतदुपजीव्य चिदद्वितीया संसारकारणम्' (सं० शा० १. ३२३) इति'।

५. अभावविलक्षणता के लिए तत्त्वशब्द कहा है।

उठने पर कहते हैं—क्योंकि (कारण[1] ब्रह्म) सभी (सांसारिक) कार्यों व कारणों के बीजरूप से उपलक्ष्य[2] होता है इसलिए उस (कारण ब्रह्म) की उपाधिस्वरूप अव्याकृतनामक अक्षर सब कार्यों की अपेक्षा पर (परम) है;[3] प्रसिद्ध है कि कार्य (अपने कारण की अपेक्षा) अपर (स्थूल, अव्यापक, अनित्य) होता है, अतः कारणता[4] इस रूप से अवबोध होने से मायातत्त्व पर (परम) है (यह भाव है)। युक्ति के बल से होने वाले बाध के कारण अनिर्वचनीय होने पर भी क्योंकि उसकी स्वरूप से निवृत्ति (विदेहकैवल्य के बिना) नहीं होती[5], इसलिए वह (माया) अक्षर क्षर (नाश) से (रहित) है। अतः गीता में (१५.१६–१७) कहा है—'समस्त विकारसमुदाय क्षर तथा वंचनादि अनेक तरह से स्थित मायाशक्ति अक्षर है। सर्वोत्तम पुरुष इन दोनों से सर्वथा भिन्न स्वरूप वाला है जो (अविद्या व उसके कार्यों से परे और प्रत्यक्चैतन्य होने के कारण) वेदान्तों में परमात्मा कहा गया है।' उपाधिरहित अक्षर-पुरुष पूर्वोक्त पर अक्षर से—उपाधिरूप पर अक्षर (माया) से तथा उपाधिवाले पर अक्षर (मायावी, ईश्वर, कारण ब्रह्म) से—भी पर (अधिक[6] परम) है, यह

---

१. '···परं तद्···' इत्यन्वयश्चेत्तर्हि 'सर्वकार्ये'त्यादिनोपलक्ष्यमाणत्वमुपाधिभूताक्षरस्यैव विज्ञेयम्। परन्तु टीकायां 'तस्माद् उपाधिरूपात् तद्विशिष्टरूपाच्च···इति सम्बन्धः' इत्युक्तत्वादुपाधिमतोऽपि भाष्ये निर्देशः स्याद् अन्यथा 'सम्बन्ध' इति नोच्येतेति कृत्वा 'सर्वकार्ये'त्यादिना कारणब्रह्मण उपाधिमतो निर्देशः, तदुपाधिलक्षणमित्यस्य च तस्योपाधिलक्षणमित्यर्थत्वादुपाधिनिर्देश इति टीका संगतये व्याख्यातम्।

२. तटस्थलक्षण से निर्दिष्ट होता है।

३. क्योंकि उपाधि वाला परम है इसलिए उपाधि भी परम है। सब की अपेक्षा कारण परम है। वह जिसके कारण है उसकी परमता स्वतः हो जाती है।

४. कारण में रहने वाली कारणता मायारूप ही है। क्योंकि माया के बिना कारणता की उपलब्धि नहीं इसलिये माया से पृथक् कारणता को मानना व्यर्थ है।

५. अतएव तत्त्वज्ञान की दृश्योच्छेदकता के प्रसंग में 'भ्रमव्याप्यभुज्यमानादृष्टाद्यभाव' से भी तत्त्वज्ञान को चन्द्रिकाचार्य ने रत्नावली (पृ० १७७ प्र० द्वा०) में विशेषित किया है।

६. निरपेक्ष परमता इस पुरुष की है।

('परता वाले अक्षर से परे हैं' कहने का) तात्पर्य है। 'अपने व्यवहार के विषयों सहित[2] आकाशनामक[3] अक्षर (माया) जिसमें ओत-प्रोत—अधिष्ठित—है[4], वह प्राणादि वाला नहीं—यह कैसे? बताते हैं—जैसे पुरुष (आत्मा) अपने स्वरूप से[5] विद्यमान है ऐसे यदि प्राणादि अपनी उत्पत्ति से पूर्व अपने-अपने स्वरूप से विद्यमान हों तब (उन) विद्यमान प्राणादि के सम्बन्ध से पुरुष प्राणादि वाला हो। किन्तु उस समय पुरुष की तरह अपनी उत्पत्ति से पूर्व प्राणादि अपने स्वरूप से विद्यमान होते नहीं। इसलिए पुरुष (आत्मा) प्राणादि वाला नहीं; जैसे पुत्र उत्पन्न न होने पर देवदत्त पुत्र वाला नहीं होता (वैसे[6] ही प्रकृत में समझना चाहिए) ॥ २ ॥

वे प्राणादि (अक्षरपुरुष में) क्यों नहीं हैं यह (स्पष्ट करने के लिए) श्रुति कहती[7] है—"प्राण, मन, सब इन्द्रियाँ[8] और उनके विषय,

---

१. यस्मिन् तस्य कथमप्राणादिमत्त्वमिति सम्बन्धः। केचिद्—यस्मिन् स पुरुष इति पूर्वेण सम्बन्धं पश्यन्ति।

२. 'सव्यवहारविषयम्' इस भाष्यस्थ पद में व्यवहार शब्द से नाम समझना चाहिए, क्योंकि चतुर्विध व्यवहारों में शब्दात्मक व्यवहार विवरण प्रसिद्ध है; और विषय शब्द से रूप समझना चाहिये; एवं च पूर्ण पद का अर्थ है—नामरूपात्मक कार्य सहित। ऐसी विद्वानों ने इस पद की व्याख्या की है।

३. 'आकाशश्च प्रतिष्ठितः' (बृ० ४.४.१७) आदि श्रुतियों में अव्याकृत अक्षर माया को आकाश कहा है।

४. बृ० ३-६, ३-८ आदि की ओर संकेत है। लम्बाई में गुंथा तन्तु ओत और चौड़ाई में गुंथा तन्तु प्रोत कहाता है। अथवा उल्टा भी कह सकते हैं; 'ओतं दीर्घपटतन्तुवत्, प्रोतं तिर्यक्तन्तुवद्, विपरीतं वा' (बृ० भा० ३.६.१)। तात्पर्य अधिष्ठित या अध्यस्त से ही है।

५. अन्य किसी की अपेक्षा के बिना।

६. पुत्र हो चुकने पर जैसे देवदत्त पुत्रवाला होता है ऐसे ही प्रकृत परात्पर पुरुष से अपर पुरुष (पुरुषों) की सप्राणता विरुद्ध नहीं।

७. अब सात मन्त्रों में अध्यारोप को बताया जायेगा।

८. सूक्ष्म व स्थूल से हिरण्यगर्भ व विराट् की भी उत्पत्ति समझनी चाहिए। प्रकृत विषय पूर्व में (१.१.८) सूचित हो चुका है।

आकाश, वायु, अग्नि, जल तथा सबका धारण[1] करने वाली पृथ्वी—ये सब इस (परम अक्षर पुरुष) से उत्पन्न होते हैं ॥ ३ ॥"

निष्प्रकारक[2] स्वभावशुद्ध, उपाधिसम्बन्धरहित चेतनरूप ही जो (परम-अक्षर) ब्रह्म, जिसकी प्रत्यगभिन्नतारूप वास्तविकता के ज्ञान से जीवों का मोक्ष होता है, वही माया में प्रतिबिम्बितरूप से[3] (प्रपंच का)

---

१. 'धारिणी दधात्यवश्यम्—आवश्यकाधमर्ण्ययोर्णिनिः (३.३.१७)' इति नारायणः।

२. अविकल्प = निष्प्रकारक = जिसमें कोई विशेषता (गुण) नहीं।

३. द्वितीयसूत्र-विवरण में (पृ० ९०७ कल०) प्रकाशात्ममुनि ने बताया है कि अनिर्वचनीय माया वाला ब्रह्मप्रपञ्च का कारण है। माया वाला होना तीन प्रकार से समझाया जा सकता है—(क) जैसे जुड़े (=साथ बटे) हुए दो सूत रस्सी के कारण होते हैं वैसे माया से विशिष्ट ब्रह्म प्रपंच का कारण है। इस व्याख्या में माया व ब्रह्म की समान प्रधानता है। (ख) माया-शक्ति वाला ब्रह्म प्रपंचकारण है। इस व्याख्या में शक्तिमान् ब्रह्म की प्रधानता और तदाश्रित—उससे नियन्त्रित—माया की गौणता है। (ग) प्रपंच की उपादानभूत माया का आश्रय—अधिष्ठान—होने से ब्रह्म कारण है। प्रथम पक्ष में तुल्य प्राधान्य होने पर भी स्वरूपलक्षण से ब्रह्म का मायापार्थक्य स्पष्ट होता है किन्तु अगले दोनों पक्षों में उत्पन्न होने वाले कार्यों के आश्रय—अज्ञान—की सत्ता के हेतुरूप से मायापार्थक्य सुस्पष्ट है। अतः प्रथम पक्ष में प्रपंच की उपादानकारणता माया व ब्रह्म दोनों में है पर चेतन ब्रह्म की ही निमित्तकारणता है। तृतीय में तो उपादानता माया की और अधिष्ठानता ही ब्रह्म की है। द्वितीय में प्रधान-गौणभाव कहा ही जा चुका है। पर इस पक्ष में भी कार्य ब्रह्मनिष्ठ ही है यह याद रखना चाहिए, क्योंकि प्रपंच की उपादान-कोटि में ब्रह्म को रखना आवश्यक है, तभी एक विज्ञान से सर्वविज्ञान सम्भव होगा। सर्वथाऽपि ब्रह्म व माया—दोनों के सम्बद्धरूप से प्रपंचसृष्टि होती है यह तात्पर्य है। मायासम्बन्ध मायिक ही सम्भव है। इस माया और ब्रह्म के मायिक—अवास्तविक—सम्बन्ध को बताने के लिए प्रतिबिम्ब, आभास आदि शब्दों का प्रयोग है। उपाधि के अन्तर्गत वह वस्तु जो उस उपाधि के परिच्छेद से रहित तथा उस स्वरूपवाली है जो उपाधि के बाहर स्थित है, प्रतिबिम्ब कहाती है एवं बिम्ब उसे कहते हैं जो उपाधि के अन्तर्गत नहीं किंतु उपाधि के अन्तर्गत रूप से अभिन्न

कारण बनता है, यह बताते हैं—क्योंकि[1] 'एतस्मात्' नाम-रूप की बीजभूतउपाधि से लक्षित[2] पुरुष से (कारणब्रह्म से) ही[3] (प्राण)

होता हुआ उपाधि से बाहर है। यह विवेचन न्यायरत्नावली में (पृ० ३०९ प्र० द्वा०) किया गया है। अतः प्रतिबिम्ब कहकर यही सूचित होता है कि वस्तु अपने स्व-रूप से सत्य होते हुए भी मिथ्यारूप से प्रतीत हो रही है। वह प्रतिबिम्ब अपने स्वरूप से (—प्रतिबिम्ब रूप से) मिथ्या है, यह आभास शब्द से कहते हैं। यह भी उक्त ग्रन्थ में सूचित है (पृ० २५९)। इस प्रकार 'माया में प्रतिबिम्बितरूप से' का तात्पर्य है—माया से मायिक सम्बन्ध वाला होकर। इस विषय में सर्वज्ञगुरु का वचन है—'साभासमेत-तदुपजीव्य चिदद्वितीया संसारकारणम्—इति प्रवदन्ति धीराः। साभासमेत-दिति संसृतिकारणत्वे द्वारं परं भवति, कारणता दृशस्तु ॥ १.३२३ ॥' अर्थात् अद्वितीय चेतन ही कारण है पर साभास-अज्ञान को द्वार बनाकर। 'साभास-अज्ञान' और 'मायाप्रतिबिम्बित चेतन'—दोनों का एक ही अर्थ है। इस प्रकार स्पष्ट होता है कि शुद्ध चेतन की कारणता व मायाप्रति-बिम्बित की कारणता में विरोध नहीं—मायाप्रतिबिम्बितरूप से शुद्ध ही कारण है। विषय का यह संग्रह 'अद्वैतरत्नरक्षण' में मधुसूदनाचार्य ने स्पष्ट किया है।

१. इसलिये सिद्ध होता है कि यह अक्षरपुरुष वस्तुतः प्राणादि वाला नहीं, ऐसी वाक्ययोजना है। 'यस्मादिति तस्मात् सिद्धमस्येत्यत्रत्येन पंचम्यन्तेन सम्बद्ध्यते'।

२. नामरूप अव्यक्त रूप से माया में रहते हैं अतः वह बीज है। वह जिसकी उपाधि है वह पुरुष है। पूर्वमंत्रभाष्य में 'नामरूपबीजोपाधिलक्षित स्वरूपात्' समास उपाध्यर्थक और लगभग यही समास यहाँ पुरुषार्थक है।

३. अक्षरात्परतः परः से इस पुरुष की भिन्नता न समझ ली जाये अतः 'ही' कहा। अतएव 'किं द्वे ब्रह्मणी परमपरं चेति' प्रश्न का 'बाढं द्वे' उत्तर देकर अपसिद्धान्तपरिहार भाष्यकार ने किया है—'यत्र अविद्याकृतनाम-रूपादिविशेषप्रतिषेधाद् अस्थूलादिशब्दैर्ब्रह्मोपदिश्यते तत्परम्, तदेव यत्र नामरूपादिविशेषेण केनचिद् विशिष्टं उपासनायोपदिश्यते''''''तदपरम्।' ब्र० सू० भा० ४.३.५.१४ पृ० ८८९ (न्या० नि०)। यहाँ भी 'तदेव'—ऐसा कहा। एवमेव 'अविद्याकल्पितेन'''रूपभेदेन''''ब्रह्म''''सर्वव्यवहारास्प-दत्वं प्रतिपद्यते, पारमार्थिकेन च रूपेण सर्वव्यवहारातीतम्'''अवतिष्ठते' (ब्र० सू० भा० २.१.९.२७ पृ० ४०१ न्या० नि०) आदि वाक्य है। तथा

'जायते' उत्पन्न होता है; तब प्राण की उत्पत्ति के बाद परमात्मा प्राणों वाला हो जाएगा—इस सन्देह को हटाने के लिए अन्य श्रुतिवचन से प्रसिद्ध प्राण की विशेषता कहते हैं—मिथ्यास्वरूप वाला, जिसका होना नाममात्र को है अर्थात् जो कहने भर को हुआ है, वस्तुतः हुआ नहीं, भ्रम से जो जाना जाता है ऐसा कार्यरूप प्राण (उत्पन्न होता है); (ऐसी विशेषता को प्रसिद्ध करने वाली श्रुति बताते हैं—) 'शब्दाश्रित नाममात्र ही कार्य-कारण प्रपञ्च का स्वरूप है (वस्तुतः प्रपञ्च) अवास्तविक है" (छां० ६.१.४), इस अन्यत्रस्थित श्रुतिवचन से (प्राण उक्त विशेषता वाला अर्थात् मिथ्या सिद्ध है)। जैसे स्वप्न में दीखे पुत्र से वस्तुतः पुत्र-रहित (देवदत्तादि) वस्तुतः पुत्रवान् नहीं हो जाता, वैसे भ्रम-सिद्ध[2] मिथ्या उस (उत्पन्न हुए) प्राण से परम पुरुष प्राण वाला नहीं हो जाता। प्राणादि (यहाँ) जिस क्रम से (उत्पत्ति वाले) बताये हैं वह क्रम अर्थ की दृष्टि से जो क्रम होना चाहिये उसके द्वारा काट दिया जाता है[3] (अर्थात्

अविद्यात्मकनामरूपबीजव्याकरणापेक्षत्वात्सर्वज्ञत्वस्य' (२.१.६.१४ पृ० ३८१ न्या० नि०) आदि सूत्रभाष्य में परापर के भेद को हटाया गया है।

१५. 'नामधेयम्' पर्यन्त वाक्य छांदोग्य का है। श्रुति का फलितार्थ 'अनृतम्' शब्द से भाष्यकार ने बताया है।

१६. अविद्या = भ्रम, (अन्यथा विद्या-ज्ञान), उसका विषय।

१७. क्रमाध्याय से श्रुति, अर्थ, पाठ, स्थान, मुख्य और प्रवृत्ति—ये छह प्रमाण क्रम-विषयक अवगत हैं। साक्षात् शास्त्रविधान श्रुति है—जैसे 'वेदं कृत्वा वेदिं करोति' में स्पष्ट विधान है वेद (दर्भमुष्टि का आकार विशेष) बनाकर वेदि बनाने का। अर्थ से प्रयोजन समझना चाहिये। जो प्रयोजक है वह क्रम में पहले आवे यही संगत है। जैसे जौ पकाने और होम करने का विधान है तथा पके जौ से होम करने का विधान है तो पहले जौ पकाना चाहिये फिर उससे होम करना चाहिये यह क्रम अर्थ—प्रयोजन के कारण निर्णीत होता है। पदार्थ (= अनुष्ठान) बोधक वाक्यों का क्रम पाठक्रम है। प्रकृति के नाना पदार्थ विकृति में एकत्र अनुष्ठेय हों तो जिस पदार्थ के स्थान में सब अनुष्ठेय हैं उस पदार्थ का प्रथम अनुष्ठान करना स्थान प्रमाण से सिद्ध है। उदाहरणार्थ—प्रकृति में तीन पृथक् दिनों में तीन विशिष्टकर्म विहित हैं व विकृति में तीनों को इकट्ठे ही करने को कहा है। विकृति में जब उन्हें करना प्राप्त होता है तब उनमें जो मध्यवर्ती कर्म है उसे करना प्राप्त

अर्थ की दृष्टि से जो क्रम होना चाहिये वही यहाँ भी समझना चाहिये जिस क्रम से इन्हें कह दिया है उस क्रम से ये उत्पन्न हुए ऐसा नहीं समझना चाहिये)। 'प्राणादि पन्द्रह कलाएँ अपने कारणरूप महाभूतों में स्थिति प्राप्त करती हैं' (मुं० २.३.६)—इस श्रुति में सुना जाता है कि प्राणादि महाभूतों में लीन होते हैं अतः समझ आता है कि वे (प्राणादि) महाभूतों के विकार हैं, अतः महाभूतों की उत्पत्ति के बाद प्राणों की उत्पत्ति जाननी चाहिये। इसी तरह मन, सारी इन्द्रियाँ और (उनके)

होता है किंतु नियमवश तीनों ही करने आवश्यक हैं। इस स्थिति में तीनों में से पहले किसे करें ? इस प्रश्न का उत्तर दिया है कि मध्यवर्ती—जिसे करना स्वयं प्राप्त हुआ—ही पहले किया जाये व तदनंतर दोनों कर्म यथाक्रम किये जावें। प्रधानों को जिस क्रम से किया जाता है उसी क्रम से उनके अंगों को करना मुख्यक्रम कहलाता है। जैसे आग्नेययाग के पश्चात् ऐन्द्रयाग किया जाता है अतः इनके अंगभूत द्रव्यों का अभिघारण (द्रव्यों पर पूर्वयाग से बचे घी को विशिष्ट तरह से डालना) भी इसी क्रम से होता है अर्थात् पहले आग्नेयहवि का व तदनन्तर ऐन्द्र दधि का अभिघारण होता है। प्रवृत्ति समझने के लिये यह दृष्टान्त है—तीन थालियों में रखे नैवेद्य का एक बार में भोग लगाना हो तो भोग लगाने का मंत्र तो तीनों के लिये एकबार ही (तंत्रेण) बोला जा सकता है क्योंकि भोग लगाना एक ही कर्म है। किंतु उन थालियों को पत्र से आच्छादित करना और जल से उनका प्रोक्षण तो एक-एककर ही किया जा सकता है। किस क्रम से करें—इसका नियम नहीं अतः किसी क्रम से आच्छादन करने पर जब प्रोक्षण करना हो तो पुनः प्रश्न होता है कि किस क्रम से करें। यह जो दूसरा काम (प्रोक्षण) करना है, इसे उसी क्रम से करना चाहिये जिस क्रम से पहला काम (आच्छादन) किया हो। अर्थात् पहले जो थाली ढकी थी उसी का प्रोक्षण पहले करना चाहिये। यही प्रवृत्तिक्रम कहा जाता है। इस प्रकार छह प्रमाण क्रमनिर्णायक सिद्ध होने पर इनमें कहीं परस्पर विरोध हो तो कौन बलवत्तर होगा इसका भी निर्णय किया है। उस प्रसंग में पाठक्रम को अर्थक्रम व श्रौतक्रम से बाध्य माना है—'क्रमकोपोऽर्थशब्दाभ्यां श्रुतिविशेषाद् अर्थपरत्वाच्च' (जै० सू० ५.४.१)। इसी न्याय से प्रकृत में भूतसृष्टि का प्रयोजनविशेष प्राणसृष्टि भी होने से उपादेय से पूर्व उपादान सृष्टि आवश्यक होने से पहले भूतसृष्टि व उसके बाद प्राणादि की सृष्टि को समझना चाहिये,

विषय इस (अक्षर पुरुष) से ही उत्पन्न होते हैं। इसलिये[1] सिद्ध होता है कि इसकी प्राणादिरहितता गौण नहीं (वास्तविक है) यह तात्पर्य है। (प्राणादि) उत्पत्ति से पूर्व जैसे वस्तुतः नहीं थे वैसे ही नष्ट होने पर भी वस्तुतः नहीं रहते हैं—इस प्रकार उन्हें समझना चाहिए[2]। जैसे करण (अर्थात्) मन (अन्तःकरण) व इन्द्रियाँ (बहिष्करण) [उत्पन्न होते हैं] वैसे स्थूल देह तथा भोग्यविषयों के कारण महाभूत [उत्पन्न होते हैं]। [महाभूतों को बताते हैं—] 'खम्' आकाश; आवह आदि भेदों वाली वायु, मुख से विपरीत दिशा में बहने वाली वायु आवह है, सामने से बह जाने वाली प्रवह है, इत्यादि वायुभेद[3] हैं; 'ज्योतिः' अग्नि, 'आपः'

यद्यपि पाठक्रम विपरीत है। यहाँ श्रौतक्रम नहीं, पाठक्रम है। यदि प्राण उत्पन्न करके मन उत्पन्न किया, या पहले प्राण उत्पन्न किया फिर मन उत्पन्न किया इत्यादि ढंग से श्रुति ने क्रम कहा होता तब श्रौतक्रम होता। यहाँ केवल उत्पन्न वस्तुओं को गिना दिया है। जिस क्रम से गिनाया है वही पाठक्रम है। उत्पत्ति में क्रम इष्ट है यह ब्रह्मसूत्रों से (२.३.६; २.३. १४–१५ आदि) निश्चित होता है। अतः यहाँ भी उसके अनुसार अर्थ करना चाहिये यह टीकाभिप्राय है। अगर ऐसा मानें कि जिन भूतों की उत्पत्ति यहाँ कही है वे पंचीकृतभूत हैं, तब पाठक्रम का विरोध नहीं होगा किंतु सूक्ष्मभूतों की उत्पत्ति का अन्यत्र से समाकर्षण कर लेना पड़ेगा। भाष्यकार ने अन्यत्र भी कहा है 'आथर्वणे तु समाम्नायक्रममात्रं करणानां भूतानां च, न तत्रोत्पत्तिक्रमउच्यते' (ब्र० सू० भा० २.३.१५)।

१. उपक्रम के 'क्योंकि' से सम्बंध है।

२. परिणामवाद की दृष्टि से वस्तुतः विद्यमान वस्तु ही उत्पन्न (प्रकट) और नष्ट (लीन) होती है। 'सत्त्वपूर्वमिदं कार्यं तमोन्तस्थघटादिवत्। तस्याभिव्यक्तिधर्मत्वादन्यथा स्यान्नृशृंगवत् ॥ ७४ ॥ अतीतैष्यद्घटज्ञानं सद्घटालम्बनं भवेत्। घटज्ञानत्वतः साक्षाद् इहत्यघटबोधवद् ॥ १०८ ॥ तस्मात्सदेव कार्यं स्यात् प्रागुत्पत्तेरपि ध्रुवम् ॥ १११ ॥ एष्यद्घटनिषेधे च विरोधोपि प्रसज्यते। भविष्यति न भाव्यर्थो वर्तमाननिषेधवत् ॥ ११२ ॥' इत्यादि घटभाष्यवार्तिक (१. २. १.) में यह विस्तार से बोधित है। अतः जिसके बारे में कहा जाये कि उत्पत्ति से पूर्व तथा नाश के बाद वह वस्तुतः नहीं, वह वस्तु मिथ्या ही संभव है। अतः प्राणादि के मिथ्यात्वबोधन में तात्पर्य है।

३. सात भेद प्रसिद्ध हैं—'आवहः प्रवहश्चैव संवहश्चोद्वहस्तथा। विवहाख्यः परिवहः परावह इति क्रमात् ॥'

जल, 'पृथिवी' भूमि 'विश्वस्य' सबका धारण करने वाली। ये (महाभूत) भी[1]—(जिनके) विशेषगुण क्रमशः शब्द, स्पर्श, रूप, रस व गन्ध हैं और प्रत्येक उत्तरभावी महाभूत में अपने पूर्ववर्ती महाभूतों के भी गुण हैं[2]—इसी (अक्षर पुरुष) से उत्पन्न होते हैं। शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध क्रमशः उत्तरोत्तर (आगे-आगे उत्पन्न होने वाले) प्रत्येक महाभूत के विशेष गुण हैं जिन सब महाभूतों के वे महाभूत उस तरह ('शब्दस्पर्श-रूपरसगन्धोत्तरोत्तरगुणानि' समास द्वारा) कहे गये। जैसे सफेद धागे की अवस्था को प्राप्त उस कारण (मृद्) से[3], जो अपने सब कार्यों में अनुगत रहता है, उत्पन्न होने वाला कपड़ा सफेद रंग का उत्पन्न होता है, वैसे आकाश-अवस्था को प्राप्त ब्रह्म से[4] उत्पन्न होने वाली वायु आकाश के गुण शब्द से युक्त उत्पन्न होती है। उसी प्रकार वायुरूप को प्राप्त ब्रह्म से (उत्पन्न होने वाली) अग्नि वायु के दोनों गुणों से युक्त उत्पन्न होती

---

१. सिद्धान्त में समस्त प्रपंच भौतिक है (अविद्या को छोड़कर), अतः कुछ भी जो है वह अक्षर से उत्पन्न न हुआ हो ऐसा नहीं, यह 'भी' (च) शब्द का अर्थ है।

२. आकाश एक शब्द गुण वाला है। वायु में अपना विशेष गुण स्पर्श व कारण से आया गुण शब्द है इस प्रकार वह दो गुणों वाली है। इसी तरह आगे जानना चाहिये। वैशेषिक मत में प्रत्येक भूत एक गुण वाला ही है अतः वेदान्तविद्यार्थियों को भ्रम न हो कि इस सिद्धान्त में भी वैसा माना जाता है इसलिये भाष्यकार ने स्पष्ट किया।

३. घटभाष्य (बृ० १. २. १.) आदि में यह व्यक्त है कि कपड़े के प्रति धागा कारण नहीं बल्कि कारण वह है जो धागारूप में आकर कपड़ा रूप बनता है। क्योंकि नियमतः कपड़ारूप बनने से पहले वह धागारूप ग्रहण करता है इसलिये व्यवहार होता है कि धागा कपड़े का कारण है। परिणामवाद को यह भूमि विवर्तवाद की पूर्वपीठिका सरलता से बनती है।

४. 'तदभिध्यानादेवतु तल्लिंगात् सः' (२. ३. १३) सूत्र से निर्णीत है कि पूर्वावस्थ ब्रह्म ही उत्तरावस्था का कारण है : 'स एव परमेश्वरस्तेन तेनात्मनाऽवतिष्ठ-मानोऽभिध्यायंस्तं तं विकारं सृजति' (भाष्यम्)। 'तेन तेन आकाशादिभावेन उपा-दानभावेन अवतिष्ठमानः स्वयमधिष्ठाय निमित्तकारणभूतस्तं तं विकारं वाय्वादिकं सृजति इति युक्तम्।...साक्षात्परमेश्वरएवाधिष्ठाता निमित्तकारणं, न त्वाका-शादिभावमापन्नः। आकाशादिभावमापन्नस्तूपादानम्—इति' (भामती)।

है, इस प्रकार (सर्वत्र) समझना चाहिए। प्रश्न होता है कि पहले सूक्ष्म[1] (इन्द्रियों के अव्यवहार्य) महाभूत उत्पन्न होते हैं व उन सबके उत्पन्न होने के बाद प्रत्येक महाभूत पाँचों के मिले हुए स्वरूप वाला बनता है—यह पाँचों का मिलना भी[2] समझ में आये इसलिए प्रवृत्त, तीन महाभूतों का मिलना बताने वाली इस श्रुति से पता चलता है—'उनमें से एक-एक को (= प्रत्येक को) तीन-तीन टुकड़ों वाला कर दिया[3]' (छा० ६.३.४)। इसलिये प्रत्येक (पंचीकृत) महाभूत पाँचों गुणों वाला है ऐसा अन्य प्रकरणों में शास्त्र में वर्णित है। यहाँ—उपनिषत् के प्रकृत प्रसंग में—पंचीकरण की उपेक्षा[4] कर पहली (सूक्ष्म) उत्पत्ति के समय ही आकाश एक गुण वाला, वायु दो गुणों वाली, अग्नि तीन गुणों वाली इत्यादि

---

१. 'पृथिवी च पृथिवीमात्रा च' (प्र० ४. ८) आदि श्रुति के सार्थक्य के लिये स्थूल-सूक्ष्म भूतों को भिन्न मानना आवश्यक है।

२. छांदोग्य में तीन भूतों की उत्पत्ति बताकर उन्हें आपस में एक विशेष प्रकार से मिलाना बताया है। तैत्तिरीय में पाँच भूतों की उत्पत्ति बतायी पर मिलाना नहीं बताया। अतः दोनों की एकवाक्यता कर पाँचों की उत्पत्ति और पाँचों का मिलना समझना चाहिये—यह वियदधिकरण (२. ३. १) आदि में स्पष्ट है। 'पंचतन्मात्राणि चापंचीकृतपंचमहाभूतानि' (गी० गूढार्थ० ७. ४) इत्यादि आचार्यवचनों से तन्मात्रा सूक्ष्मभूत ही हैं। अतः प्रश्न में श्रुत आकाशमात्रा और वायुमात्रा को सूक्ष्म आकाश व सूक्ष्म वायु ही मानना होगा। इनकी सूक्ष्मता यही संभव है कि ये अपंचीकृत हों। अन्य किसी सूक्ष्मता को इनमें कहना संभव नहीं क्योंकि इनके स्थूलरूप में भी वह सूक्ष्मता रहेगी। इस प्रकार पंचीकरण श्रुतिसिद्ध है। अतः 'सम्प्रदायाद्धवना पंचीकरणं श्रुतिसम्मतम्। त्यक्त्वाऽकस्मात्कथं ब्रूते वाचस्पतिमतं शुभम्?॥' पाँचों भूतों को एक विशिष्ट प्रकार से आपस में मिलाना पंचीकरण कहलाता है। इसके फलस्वरूप प्रत्येक खण्ड में १/२ भाग एक भूतका और १/८ भाग अन्य चारों भूतों के हो जाते हैं। जिस भूत का १/२ भाग हो उसी का नाम उस खण्ड को मिलता है।

३. तीनों सूक्ष्म भूतों को ऐसे मिलाना कि प्रत्येक में १/२ भाग अपना रहे व अन्य प्रत्येक भूत का १/६ भाग भी आ जाये त्रिवृत्करण—तीन टुकड़ों वाला करना—कहा जाता है।

४. वस्तुतः, उपेक्षा नहीं उपसंहार समझा जा सकता है तथा जहाँ पंचीकरण बताया है वहाँ भी सूक्ष्मावस्था में ही उत्तरोत्तरभूतों में पूर्व-पूर्व भूतों के गुण

किसलिये कहा जा रहा है ? [उत्तर है कि प्रश्न उठना] ठीक है[१], (किन्तु) महाभूतों की उत्पत्ति हुई यह बताने में शास्त्र का तात्पर्य नहीं है यह द्योतित करने के लिए अन्यत्र कहे ढंग से यहाँ भिन्न ढंग को कहना (सिद्धान्त से) विरुद्ध नहीं[२]। महाभूतों की उत्पत्ति से सम्बद्ध कोई फल तो शास्त्र में सुना नहीं गया (जो इसे बताने में तात्पर्य हो[३])। [क्योंकि तात्पर्य से यह प्रसंग कहा नहीं है] इसीलिए [यहाँ के शब्दों के आधार पर] शब्दादि की गुणरूपता और आकाशादि की गुणिरूपता भी वैशेषिकसिद्धान्त की तरह (सर्वथा भेदसम्बन्ध वाली[४]) यहाँ बतायी जाये ऐसी शास्त्र की अभिलाषा नहीं, किन्तु जैसे 'राहु का सिर' ऐसा (सम्बन्धबोधक) प्रयोग (भेद न होने पर भी) होता है वैसे (गुण-गुणिरूप से) कह भर दिया है[५]। [६]आखिरी कार्य (पृथ्वी तथा नवम मन्त्र में

भी हैं यह माना ही है, अतः शंका अनुचित प्रतीत होती है; किंतु सृष्टि-प्रकरण में तात्पर्य नहीं यह टीकाकार बताना चाहते हैं अतः कथंचित् शंका उठाई है यह समझना चाहिये।

१. तात्पर्य है कि एकवाक्यतादि से संगति होने पर भी आपाततः प्रश्न उठ सकता है।

२. तात्पर्यविषयभूत अर्थ में मतभेद न होना चाहिये। मतभेद बताकर सूचित होता है कि उस विषय में तात्पर्य नहीं। वस्तुतः उत्पत्ति यदि हुई होती तो सब निश्चित होता और श्रुति सर्वत्र एक-सा उसे बताती। सर्वत्र अन्यथा बताकर उत्पत्ति वस्तुतः हुई नहीं यह बताया जा रहा है।

३. स्वाध्यायविधि से अध्येतव्य वेद निष्फल बात नहीं बता सकता। भूतसृष्टि ईश्वरकृत्य है अतः ऐसे सृष्टि करनी चाहिए यह विधान नहीं हो सकता। ऐसी उपासना भी विहित नहीं कि उससे कोई फल हो। अतः यह अर्थवाद प्रकरण है और अध्यारोप इसका प्रयोजन है।

४ उनके मत में गुण गुणी से सर्वथा भिन्न व समवायसम्बन्ध से रहता है।

५. भूत व उसके गुण को अश्व-महिष की तरह भिन्न तथा सर्वथा अभिन्न नहीं मान सकते अतः उनका भेदसहिष्णु अभेदरूप तादात्म्य या आध्यासिक सम्बन्ध मानना सिद्धान्तसम्मत है यह तात्पर्य है। अत्यन्त अभेद में षष्ठी प्रयोग का दृष्टान्त उपलक्षणार्थ है : 'घड़े का टुकड़ा' ऐसा अवयव-अवयवी में भी षष्ठी प्रयोग दृष्टचर है। वस्तुतः, जैसे षष्ठी औपचारिक है वैसे गुणगुणिभाव औपचारिक है यह दृष्टान्त का प्रयोजन है।

६. अध्यारोप का प्रयोजन दिखाते हैं—।

आए रस[1]) तक (=समेत) होने वाली सभी में उस-उस आकार में ब्रह्म (परमाक्षर पुरुष) ही विवर्तित हो रहा है, यह विस्तार से कहने का तात्पर्य है कि यह स्पष्ट हो जाये कि क्योंकि उस ब्रह्म से भिन्न थोड़ा भी कुछ नहीं है इसलिए उसे जान लेने पर यह सब जान लिया जाता है ॥३॥[2]

परा विद्या के (प्रतिपाद्य) विषय सर्वविशेषशून्य सत्य अक्षर पुरुष को 'स्वप्रकाश, सब नामरूपों से असम्बद्ध' इत्यादि मन्त्र से (२. १. २.) संक्षेप से बताकर पुनः वही (निर्विशेष) विशेषताओं सहित जैसा होता है वैसा विस्तार से बताया जाना चाहिये[3] क्योंकि जैसे संक्षेप से सूत्र में सूचित कर विस्तार से भाष्य में बताने पर बात आराम से समझ आ जाती है वैसे (अन्यत्र[4] भी) संक्षेप और विस्तार दोनों प्रकारों से बता देने पर, बतायी विषयवस्तु आराम से समझ आती है इसलिये (श्रुति 'प्राणादि पुरुष से उत्पन्न हुए' इत्यादि बताने में) प्रवृत्त हुई। सर्वप्रथम उत्पन्न होने वाले हिरण्यगर्भरूप समष्टि प्राण से भी जो स्थूल ब्रह्माण्ड में होने वाला (स्थूल ब्रह्माण्डरूप शरीर वाला) विराट् उत्पन्न होता है वह यद्यपि इस प्रकार बताया जाता है (मानो अक्षर पुरुष से) हिरण्यगर्भनामक किसी तत्त्व (वस्तु) के अन्तराल में हो—(मानों अक्षर-पुरुष और विराट् के मध्य हिरण्यगर्भ का व्यवधान हो)—तथापि वह

---

१. तथा घट-पर्यन्त समझना चाहिए।

२. कुछेक सम्पादक 'संक्षेपतः······भाष्योक्तिवदिति' तक के अग्रिम वाक्य को इसी मन्त्र के भाष्य का अंग मानते हैं। यह संगत भी प्रतीत होता है क्योंकि यहीं से विस्तरोक्ति प्रारम्भ है। किन्तु 'प्रववृते' इस भूतकालिक प्रयोग से इसे उत्तर भाष्य का अंग मानना ही ठीक है। यह स्मर्तव्य है कि जीव व ईश्वर की एकता बताने के प्रयोजन से यह मन्त्र कैवल्योपनिषत् (मं० १५) में आया है।

३. अध्यारोप-अवादन्याय से ही निष्प्रपंच ब्रह्म को तरह-तरह से समझा सकते हैं अतः श्रुति यहाँ अमूर्त में सब मूर्तियों का आरोप कर वे सब नहीं, पुरुष ही है ऐसा दशम मंत्र में अपवाद कर अक्षर को समझा रही है। प्रतीयमान प्रपंच से ब्रह्म की सद्वयता की शंका होने पर प्रपंच को मिथ्या सिद्ध करना आवश्यक है अतः प्रपंच ब्रह्म पर आरोपित है यह श्रुति स्पष्ट कहती है।

४. सूत्र-भाष्य स्थल से अन्यत्र।

इसी (अक्षर पुरुष) से उत्पन्न होता है और उसका स्वरूप—अपना रूप —यह अक्षर पुरुष ही है।[1] इस तात्पर्य को अग्रिम मंत्र कहता है और उस विराट् की विशेषताएँ बताता है—

"द्युलोक जिसका सिर है, चन्द्र व सूर्य जिसकी आँखें हैं, दिशाएँ जिसके कान हैं, प्रसिद्ध वेद जिसकी वाणी है, वायु जिसके प्राण हैं, सारा जगत् जिसका मन है, इसके पैरों से पृथ्वी उत्पन्न हुई है[2], वह यही (प्रकृत) है जो महाभूतात्मक विराट् शरीर के अंदर स्थित आत्मा है[3] ॥ ४ ॥"

'अग्निः' द्युलोक (आकाश) जिसका 'मूर्धा' सबसे ऊँचा देहावयव अर्थात् सिर है; [अग्नि—शब्द का अर्थ आकाश क्यों ? यह शंका होने

---

१. 'तस्यैव भूतयोनेः सर्वविकारात्मकं रूपमुपन्यस्यमानं पश्यामः·········तच्च परमेश्वरस्यैवोचितम्····प्रकरणाद्, 'एष' इति च प्रकृतानुकर्षात्।···कथं पुनरदृश्यत्वादिगुणकस्य भूतयोनेर्विग्रहवद्रूपं सम्भवति ? सर्वात्मत्वविवक्षया इदमुच्यते, न तु विग्रहवत्त्वविवक्षया इत्यदोषः।' इति सूत्रभाष्ये (१.२.६. २३)। यत्तु तत्र 'अन्ये पुन'रिति मतान्तरं तत्परमतं, पूर्वमेव भाष्यकृतः स्वमतमिति रत्नप्रभा–न्यायरक्षामणि–परिमल–ब्रह्मविद्याभरणादौ स्वीकृतम्। भामत्यां न्यायनिर्णये च 'अन्ये पुन'रित्यादि स्वमतमिति व्याख्यातम्। उपनिषद्व्याख्यां निशम्य तु रत्नप्रभादिकथितं भाति युक्तम्। भामत्याद्यभिमतमेव चेत्सिद्धान्तस्तर्हि इहापि 'जायत' इत्यत्र तात्पर्यं न तु 'एतस्मादेवे' त्यत्र 'एतन्मयश्चे'त्यत्र च। एतन्मयत्वं कारणात्सर्वथाभेदाभावात्कार्यस्य। न चैवं 'वैश्वानरः साधारणशब्दविशेषाद्' (१.२.७.२४) इत्यधिकरणविरोधः, तत्र हि—वैश्वानरईशएव, अग्निजीवसाधारणयोर्वैश्वानरात्मशब्दयोर्द्युमूर्धत्वादिबोधकशब्दयोगरूपाद्विशेषादिति स्थापितं, स्मार्तं च मानं तत्र दर्शितं 'स्मर्यमाणमनुमानं स्याद्' (१.२.२५) इति, तत इदं परस्यैवरूपं नापरस्य विराजः —इति शंक्यम्, परस्यैव विराडात्मकत्व एवंरूपत्वमिति व्याख्यासंभवात्, न ह्यमूर्तः स्वतः कथमपि मूर्तिमान्स्यादिति परस्यैवेदं शरीरमिति स्वीकारेपि न विराड्देहता निराकर्तुं शक्यते; ततः समंजसं सर्वमिति दिक्।

२. अर्थात् पृथ्वी ही जिसके चरण हैं।

३. समष्टिस्थूलाभिमानी है।

पर, विराट् पुरुष का सिर आकाश है ऐसा अन्यत्र[1] शास्त्रसिद्ध होने से यहाँ भी वही अर्थ है, तथा अग्निशब्द आकाश के अर्थ में प्रयुक्तचर है यह बताते हैं—] 'हे गौतम ! वह लोक (अर्थात् आकाश) अग्नि है' (छां० ५.४.१) इस श्रुति से (अग्निशब्द आकाशार्थक[2] सिद्ध होता है)। 'चन्द्रसूर्यौ' चन्द्र व सूर्य (जिसकी) आँखें हैं। आगे कहे जाने वाले 'इसका' इस शब्द का 'जिसका' ऐसा परिवर्तन कर 'जिसका (या जिसकी या जिसके)' इस शब्द का सब जगह सम्बन्ध करना चाहिये[3]। दिशायें [4]जिसके कान हैं। 'विवृताः' खुले हुए अर्थात् प्रसिद्ध वेद जिसकी

---

१. 'तस्य ह वा एतस्यात्मनो वैश्वानरस्य मूर्धैव सुतेजाः' इत्यादि (छां० ५.१८. २) श्रुति व 'द्यां मूर्धानं यस्य विप्रा वदन्ति' इत्यादि (वायुपुराण पूर्वं० ९.११२) स्मृति तथा पूर्वोक्त न्याय शास्त्रशब्द का अर्थ है।

२. यद्यपि आकाश में अग्निदृष्टि बतायी है तथापि गौणीवृत्ति से आकाश को अग्निशब्द से कहा जाता है यह भाव है।

३. द्युलोक शिर है, चाँद व सूर्य आँखे हैं—इत्यादि ढंग से उपनिषद् में कहा है किंतु पैर और पृथ्वी के साथ 'इसके' शब्द का प्रयोग है तथा आगे 'एषः' (यह) शब्द आया है जो किसी 'यः' शब्द की आकांक्षा करता है। अतः 'अस्य' का 'यस्य' परिणाम कर लें तो अध्याहार न करना होगा व 'अस्य पद्भ्यां पृथिवी' में वाक्य समाप्ति की प्रतीति भी न होगी। अतः जैसे 'फलमात्रेयो निर्देशाद् अश्रुतौ ह्यनुमानं स्यात्' (४. ३. ८. १८) सूत्र के आधार पर पूर्वमीमांसक 'प्रतितिष्ठन्ति' में प्रत्ययविपरिणाम कर 'प्रतितिष्ठासन्ति' बना लेते हैं वैसे यहाँ पूर्वोक्त वाक्य संगति के लिये 'अस्य' में प्रकृतिविपरिणाम कर 'यस्य' बना लिया जाता है।

४. सिद्धान्तबिंदु (श्लो० ८) आदि में स्पष्ट किया है कि आकाश में दिक्कृतविशेषणतासम्बन्ध से सर्वाधारता सम्भव होने से व उदयाचल से सम्बद्ध मूर्तवस्तुविशेष से उपहितत्व आदि रूप से पूर्वत्व आदि का निरूपण सम्भव होने से आकाशातिरिक्त दिक् कोई पदार्थ मानना अनावश्यक है। किं च श्रोत्र नभःकार्य प्रसिद्ध है तथा अनुमान से प्रमित भी है जैसा कि वार्तिककार ने प्रयोग किया है 'स्वग्राह्यार्थसजातीयमिन्द्रियं स्यात्प्रदीपवत्। रूपस्यैवावभासित्वात्, न चेत्, स्याच्छ्रोत्ररूपवत् ॥ न चेदर्थसजातीयं सर्वार्थग्रहणं भवेत्। एकैकस्येन्द्रियस्येह मनोबुद्ध्योर्यथा तथा' ॥बृ०वा० २.४. श्लो० ३६४-३६५॥ विमतं नाभसं शब्दस्यैव व्यञ्जकत्वाद्व्यतिरेकेण चक्षुरिवेति। ऐसे श्रोत्र की

वाणी' है। वायु जिसका प्राण है। 'विश्वम्' सारा जगत् 'अस्य' [पूर्वोक्त प्रकार से विपरिणत होकर इस शब्द का रूप जानना चाहिए–]

दिक् से उत्पत्ति कह कर वेद ने दिक् को नभोरूप बता दिया इसमें संदेह नहीं। रत्नावली में गौडस्वामी ने कहा है 'श्रुतिरेवाकाशस्य दिक्त्वे मानं, नाभसत्वेन प्रमितस्य श्रोत्रस्य दिग्जन्यताबोधकत्वात्' (पृ० ३२२ प्र० द्वा०)। दिङ्निराकरण वेदान्ताचार्यों ने बहुत्र किया है। जनार्दनपण्डित ने (जो आनंदगिरि स्वामी का गृहस्थनाम है) तत्त्वालोक में (पृ० २६) संक्षेप में इसे सूचित किया है 'देशो हि दिक्; तथा च देशभेदप्रत्ययपूर्वकः परापरप्रत्ययः, तद्बलाच्च देशभेदसिद्धिः—इति दुस्तरमितरेतराश्रयसागरम्'''। किं चैकां दिशं परिकल्प्य प्राच्यादिविभागः सूर्य-ख-योगभेदोपाधिकः परिकल्पितः, तद्वरं परिकल्पितनभोभाग एव सवितृसंयोगविभागकृतोऽयं दिग्विभागव्यवहारः, कल्पनालाघवात्।' तत्त्वप्रदीपिका में भी 'इन्द्रियानधिगम्यत्वात् नाध्यक्षं, नानुमा दिशि' (२.६२) श्लोक से सूचित कर विस्तार से दिक्खण्डन है। सांख्यवादी भी दिक् को आकाशकार्य मान लेते हैं—'दिक्कालावाकाशादिभ्यः' (सां० सू० १. १२)। वैयाकरणों ने भी शब्दतन्मात्रा का परिणाम दिक् को स्वीकारा है (लघुमंजूषा, लकारा०)। अतः दीधितिकारादि ने पदार्थनिर्णयादि प्रकरणों में दिक् को पदार्थान्तर नहीं माना जैसा कि दिनकरीय में सूचित है 'दीधितिकृतस्तु दिक्कालौ नेश्वरादतीरिच्येते मानाभावात्, तत्तत्कालोपाधि-दिगुपाधि-विशिष्टाद् ईश्वरादेव क्षणदिन-प्राचीप्रतीच्यादिव्यवहारोपपत्तेः—इत्याहुः' (भा० प० श्लो० ४६)। अतः यहाँ 'दिशायें' शब्द से आकाश ही समझना उचित है।

१. यद्यपि 'अग्निर्वाग्भूत्वा मुखं प्राविशत्' (ऐ० उ० १. २. ४) आदि श्रुति, 'अग्निस्तत्राधिदैवतम्' आदि पंचीकरणवार्तिक के आधार पर अग्नि को वाक् कहना चाहिये ऐसा प्रतीत होता है तथापि वागिन्द्रिय शब्दव्यंजक है अतः यहाँ वागिन्द्रिय के अभिव्यंग्य को कहना अनुचित नहीं। यह भी शंका नहीं करनी चाहिये कि 'मनोवृत्त्युपाधिपरिच्छिन्नं मनोवृत्तिनिष्ठं आत्मचैतन्यमनादिनिधनं यजुःशब्दवाच्यमात्मविज्ञानं मन्त्राः' इत्यादि (तै० ब्रह्म० ३) भाष्य में वेद की शब्दराशि-विलक्षणता सिद्ध होने से यहाँ वेद से शब्दराशि न समझी जाये, क्योंकि वेद का जो भी अर्थ निश्चित है वही यहाँ विवक्षित है। देवताधिकरण (१. ३. ८. २८) के अंतर्गत स्फोटनिराक्रियाप्रसंग से वेद की शाब्दिकता प्रतीत होती है किंतु उभयभाष्यवाक्यों में विरोध नहीं क्योंकि एक व्यक्त-स्थूल-रूप को विषय करता है व दूसरा अव्यक्त-कारण-रूप को।

'यस्य' जिसका 'हृदयम्' अन्तःकरण (मन) है। सारा ही जगत् मन का ही परिणाम है क्योंकि मन के सो जाने—(अर्थात् लीन हो जाने)- पर जगत् का प्रलय देखा जाता है तथा मन के जगने पर आग से चिनगारियों की तरह उससे ही (जगत् पुनः) व्यक्ततया स्थित होता है (इसलिए मनःपरिणाम ही है)[1]। तथा जिसके दोनों पैरों से पृथिवी उत्पन्न हुई है। (वह) यह विष्णु[2] (नामक) देव है जो अनन्त[3] है, [4]शरीरधारियों में प्रथम है (व) तीनों लोकों में विद्यमान (सभी) स्थूल शरीर इसी की उपाधि हैं क्योंकि यह सभी भूतों का अर्थात् पाँचों महाभूतों का अन्तरात्मा है अर्थात् स्थूल पंचमहाभूतात्मक शरीरवाला ही विराट् है। वही सब का कारणभूत आत्मा[5] सब प्राणियों में देखने वाला, सुनने वाला, सोचने वाला (व) निश्चय करने वाला (भी है। अर्थात् जीव रूप से भी वही अवस्थित है जो जगत्कारण ईश्वर है।) ॥ ४ ॥

---

१. मन के रहते प्रपंच रहता है और मन के न रहने पर नहीं रहता अतः प्रपंच मनःप्रयुक्त माना जाता है। 'उससे ही' = 'मन के जगने से ही'। इस प्रकार विज्ञानवाद का अभ्युपगम नहीं। 'मनसि सुषुप्ते' व 'मनसि जागरिते' ऐसा अन्वय कर उभयत्र 'सति' ऐसा अध्याहार जानना चाहिये। दृष्टान्त में भी आग होने पर चिनगारियाँ होती हैं—ऐसा समझना चाहिये। मन के लीन होने पर सारे जगत् के लय में 'सुषुप्तिकाले सकले विलीने' (कै० १.१३) इत्यादि आथर्वणोपनिषत् प्रमाण है। 'यस्य च सुप्तं महा-प्रलयः' (भामती मंगल २) इत्यादि में भी यही सूचित है। 'परिणाम' शब्द का प्रयोग इस दृष्टि से है कि प्रपंच पहले सूक्ष्माकार से मन में रहता है तभी स्थूलाकार से व्यक्त होता है। सूक्ष्म का परिणाम स्थूल प्रसिद्ध है क्योंकि कारण कार्य से सूक्ष्म होता है। अतः सभी समंजस है।

२. इससे जीवकोटिता बतायी। 'विष्णुर्व्यापकजीवस्वरूपम्' (ल० चं० प्रारंभ)। अतश्च जीव से अक्षर पुरुष के ऐक्य का सूचन किया।

३. समष्टि स्थूलाभिमानी होने से सापेक्ष व स्वरूप से निरपेक्ष आनन्त्य है।

४. शरीर = स्थूल शरीर।

५. त्रैलोक्यदेहोपाधिता की स्वयं व्याख्या करते हैं—सब इत्यादि से। कुछ अनुवादक इस वाक्य को उत्तरमंत्र के भाष्य में मानते हैं किंतु वह उचित नहीं।

जो जीव संसार में आवृत्त होते हैं तथा जो पाँच अग्नियों द्वारा संसार में आवृत्त होते हैं वे भी उसी परम पुरुष से उत्पन्न होते हैं यह (श्रुति द्वारा अगले मन्त्र में) बताया जा रहा है—; द्युलोक, बादल, पृथ्वी, पुरुष और स्त्री—इन पाँचों को अग्नि समझना चाहिए ऐसा अन्यत्रस्थित[1] श्रुति से विहित होने के कारण (ये पाँच यहाँ अग्नि कहे गये हैं), उनके द्वारा (जो उत्पन्न होते हैं)—यह ('पञ्चाग्निद्वारेण' शब्द का) अर्थ है।

---

१. छान्दोग्य ५.३ से ५.८ तक तथा बृहदारण्यक ६.२.९ से १४ तक के श्रुति-वाक्य विस्तार से इसे बताते हैं। उभयत्र यत्किंचिदंतर है अतः निम्न-लिखित संग्रह स्पष्ट करने के लिये है—[अनिर्दिष्ट वस्तुयें छान्दोग्य में बृहदारण्यक के समान हैं]।

	अग्नि		समित्		धूम		अर्चि	
	वृ०	छा०	वृ०	छा०	वृ०	छा०	वृ०	छा०
१.	द्यु	—	आदित्य	—	रश्मियाँ	—	अहः	—
२.	पर्जन्य	—	संवत्सर	वायु	अभ्र	—	विद्युत्	—
३.	अयंलोकः	पृथ्वी	पृथिवी	संवत्सर	अग्नि	आकाश	रात्रि	—
४	पुरुष	—	व्यात्त	वाक्	प्राण	—	वाक्	जिह्वा
५.	योषा	—	उपस्थ	—	लोम	उपमंत्रयते	योनि	—

	अंगारा		विस्फुलिंग		यत् जुह्वति		यत् संभवति	
	वृ०	छा०	वृ०	छा०	वृ०	छा०	वृ०	छा०
१.	दिशः	चंद्रमा	अवांतरदिशः	नक्षत्र	श्रद्धा	—	सोम	—
२.	अशनि	—	ह्लादुनयः	—	सोम	—	वृष्टि	(वर्ष)
३.	चंद्रमा	दिशः	नक्षत्र	अवांतरदिशः	वृष्टि	(वर्ष)	अन्न	—
४.	चक्षु	—	श्रोत्र	—	अन्न	—	रेतः	—
५.	यदन्तः-करोति	—	अभिनंदाः	—	रेतः	—	पुरुष	गर्भ

"उस पर अक्षर पुरुष से वह अग्नि उत्पन्न होती है जिसकी समिधा सूर्य है। (उस अग्नि में श्रद्धा के हवन से निष्पन्न) सोम का (बादल-रूप अग्नि में) होम करने से वृष्टि[1] होती है। पृथिवी-अग्नि में (उस वृष्टि के हवन के फलस्वरूप) ओषधियाँ उत्पन्न होती हैं, (जिनका पुरुष-अग्नि में होम करने से निष्पन्न) वीर्य की आहुति स्त्री-अग्नि में

यहाँ 'अयं लोकः'—वृहदारण्यक की तृतीयाग्नि और उसी की समिधा पृथिवी में देह-देहीभाव से भेद जानना होगा। श्रद्धा शब्द श्रद्धापूर्वक दी आहुतियों की सूक्ष्म जलीय स्थिति का वाचक है। सोमशब्द से 'चान्द्रकार्य' अर्थात् चन्द्रसमीपस्थ तत्सदृश शरीर समझना चाहिये। ह्रादुनयः = बादल गरजने का शब्द। व्यात्त = खुला मुख। उपस्थ से गोद या जंघाओं के मध्य का वह भाग जिसमें योनि है समझना होगा। यद्यपि उपस्थ और योनि समानार्थक हैं तथापि रूपक के अनुसार यही अर्थ ठीक है। उपमंत्रण = [स्त्रीकर्तृक] ग्राम्यधर्म की प्रेरणा। अन्तःकरोति = ग्राम्यधर्म का अनुष्ठान। अभिनन्दाः = अनुष्ठानजन्य सुख। ये दृष्टियाँ उक्त वस्तुओं में करने से गृहस्थों को देवयान मार्ग मिलता है, यह प्रवृत्तिमार्गियों के लिये फल है तथा आवागमन के इन कष्टप्रद व घृणित मार्गस्थानों के विचार से वैराग्य उत्पन्न होता है, यह निवृत्तिमार्गियों के लिये फल है। वृहदारण्यक में मरने पर शरीर को जिसमें जलाते हैं उस छठी अग्नि का भी वर्णन किया है जिसमें प्रसिद्ध अग्नि ही अग्नि है, लकड़ी आदि प्रसिद्ध समिधा ही समिधा हैं, प्रसिद्ध धुआँ ही धूम है, अर्चि, अंगारे व विस्फुलिंग भी लोकप्रसिद्ध ही हैं, उसमें पुरुष की—पाँचवी अग्नि से निष्पन्न शरीर की—आहुति दी जाती है और भास्वरवर्ण वाला पुरुष उससे उत्पन्न होता है। उसमें जला देने पर परलोकगामी पुरुष, जो सत्कर्म वाला होने से भास्वर है, संपन्न होता है। किंतु यह छठी अग्नि किसी उपासना के लिये नहीं बतायी है। केवल इसलिये इसका उपदेश है कि अंत में प्रिय शरीर का ज्वलन ही होना निश्चित होने से शरीर के प्रति वैराग्य हो।

१. यद्यपि पर्जन्य श्रुत है और 'पर्जन्यो द्वितीयोऽग्निः' भाष्य है तथापि पूर्वविलिखित पंचाग्निप्रसंगों के अनुसार यहाँ पर्जन्यसम्बन्धी वृष्टि ही पर्जन्यशब्द से लक्षित है ऐसा मानना संगत है।

पुरुष देता है। इस प्रकार[1] परम पुरुष से बहुत प्रजायें उत्पन्न[2] होती हैं ॥ ५ ॥"

'तस्मात्' (पूर्वोक्त प्रकृत) परम पुरुष से अग्नि—(द्युलोक, आकाश) [उत्पन्न होती है][3]—जिसका स्वरूप यह है कि वह (देवतारूप) प्रजाओं के रहने की खास[4] जगह है। उस अग्नि की विशेषता बतायी जाती है—सूर्य जिसकी 'समिधः' समिधा अर्थात् समिधा की तरह है, क्योंकि सूर्य से द्युलोक (आकाश) जलाया–तपाया[5]

---

१. 'न तृतीये तथोपलब्धेः' (३.१.१८) इत्यादि शारीरकसूत्र में निर्णीत है कि सभी प्रजायें उक्त पाँचों अग्नियों से आवृत्त हों यह बात नहीं। अतः 'इस प्रकार' से पंचाग्निक्रम व इससे रहित ढंग से आवृत्ति वाले सभी समझने होंगे। अत एव मन्त्रावतरणभाष्य में चकार के अनुरोध से 'याः संसरन्ति, याश्च पंचाग्निद्वारेण संसरन्ति'—ऐसा अन्वय माना था। क्योंकि पंचाग्नि-विद्या का फल 'तेषां न पुनरावृत्तिः' (बृ० ६.२.१५) सुनने से भ्रम होता है कि आत्यन्तिक अपुनरावृत्ति उसका फल है, इसलिये पंचाग्निद्वारा संसरण को विशिष्य कहना संगत है।

२. उत्पन्न होती हैं बताने में तात्पर्य नहीं, 'परम पुरुष से'—यह बताने में तात्पर्य है। अर्थात् विभिन्न प्रतीयमान प्रजायें परमपुरुष से ही उत्पन्न हुई हैं, अन्य से इनकी उत्पत्ति नहीं यह निश्चय करना चाहिये, तब, जब कहेंगे कि पुरुष से तो कुछ उत्पन्न हुआ ही नहीं तब यह निश्चय हो जायेगा कि 'न कश्चिज्जायते जीवः संभवोऽस्य न विद्यते' (मा० का० ३.४८)। यही अध्यारोपापवादप्रक्रिया है।

३. 'सम्प्रसूता भवन्ति' इति सर्वत्र सम्बद्धयते। तृतीये 'जायत' इति, अष्टमे 'प्रभवन्ति' इति वर्तमानापदेशादिहापि 'भवन्ती'ति बोध्यम्। ततश्च सृष्टेः सनातनत्वमीशस्य च कार्यमात्रं प्रति हेतुत्वं स्पष्टीक्रियतइति फलम्।

४. यद्यपि देवता भी कदाचित् पृथ्वीपर व मनुष्यादि भी कदाचित् आकाश में आ–जा सकते हैं तथापि दोनों के आवास की खास जगह क्रमशः आकाश व पृथ्वी है। यदि प्रजा से देवताग्रह न करें तो सीधे यह भी समझ सकते हैं कि सभी को रहने के लिये स्थान चाहिये व स्थान—खाली जगह—आकाशरूप है।

५. यद्यपि जलाने से प्रकाशित होना व तपाया जाना दोनों होते हैं तथापि क्योंकि पर्जन्याग्नि के लिये आकाश का तपाया जाना अधिक आवश्यक है अतः उसे प्रधान समझना चाहिये।

—जाता है। उस द्युलोक रूप अग्नि से ही (श्रद्धा के होम द्वारा) बने हुए सोम से बादलरूप द्वितीय अग्नि का फलरूप पर्जन्यसम्बन्धी वृष्टि[1] उत्पन्न होती है। उस वृष्टि से पृथ्वी पर ओषधियाँ—[जौ, चावल आदि]—उत्पन्न होती हैं। पुरुषरूप चतुर्थ अग्नि में होम कर दिया है जिन वीर्य की उपादानभूत ओषधियों का, उनसे निष्पन्न वीर्य की आहुति पुरुषरूप अग्नि 'योषितायाम्' [लौकिक व्याकरण के अनुसार रूप यह होना चाहिए—] 'योषिति' योषारूप अग्नि अर्थात् स्त्री में देता है। इस क्रम से 'बह्वीः' बहुत सी ब्राह्मण आदि प्रजायें परम पुरुष से 'सम्प्रसूताः' भली प्रकार से[2] उत्पन्न होती है ॥ ५ ॥

और भी, कर्म, उनके साधन और उनके फल भी उस अक्षर से ही उत्पन्न होते हैं यह श्रुति बताती है—

"वैदिक पद्य, वैदिक गीत, वैदिक वाक्य (गद्य), नियम, यज्ञ, क्रतु, दक्षिणायें, काल, यजमान तथा जिन्हें[3] सोम पवित्र करता है व सूर्य प्रकाशित करता है वे फलभूत लोक—ये सभी उस परम पुरुष से उत्पन्न होते हैं[4] ॥ ६ ॥"

---

१. अग्निरिति तन्निष्पन्नमुच्यते, लक्षणायां हेतुस्तु पंचाग्न्येकवाक्यतालाभएव। यद्वा, सोमादित्यानन्तर्ये पञ्चमी, अग्निः सम्भवतीति सगुणोऽग्निः संभवति सोमस्य द्वितीयाग्नेर्गुणत्वात्सोमसम्पत्त्युत्तरमेव द्वितीयस्याग्नेः सगुणता सम्भवेदिति मूलभाष्ययोर्व्याख्या।

२. इष्टादि कर्म करने वालों को प्रायः इस पूर्वोक्त क्रम से ब्राह्मणादि उत्तम योनि प्राप्त होती हैं अतः कहा—ब्राह्मणादि प्रजायें इस क्रम से उत्पन्न होती हैं। यह क्रम ही यहाँ 'भला प्रकार' है। 'प्रायः' इसलिये कि द्रोण, धृष्टद्युम्न आदि में कुछेक अग्नियों की कमी पुराणादि में प्रसिद्ध है। जो इष्टादि करने वाले नहीं, उनके लिये श्रुति ने 'पैदा हो, मरो' ऐसा विधान किया है 'जायस्व म्रियस्व' (छां० ५.१०.८) अतः वे इस क्रम से उत्पन्न नहीं होते। ऐसे ही स्वेदजादि प्रत्यक्ष ही इस क्रम से पैदा नहीं होते। इन 'भले प्रकार से' न पैदा होने वाली प्रजाओं का भी संग्रह यहाँ तो समझना ही चाहिये। यह 'बह्वीः' पद से सूचित होता है।

३. अक्षरशः तो 'जहाँ' यह अर्थ है।

४. 'सम्प्रसूताः' शब्द पूर्व या उत्तर मंत्र से आकृष्ट कर लेना चाहिये।

'तस्मात्' उस (प्रकृत) परम पुरुष से किस प्रकार के[1] (कर्मादि उत्पन्न होते हैं—यह श्रुति बताती है—) 'ऋचः' गायत्री आदि छन्दों वाले मन्त्र जिनके चरण निश्चित अक्षरों में पूरे हो जाते हैं, ऋचा[2] (कहलाते) हैं। पाञ्चभक्तिक—हिंकार, प्रस्ताव, उद्‌गीथ, प्रतिहार व निधन नामक पाँच भक्तियाँ अर्थात् अवयव जिसके हों वह इस प्रकार (पाञ्चभक्तिक शब्द से) कहा गया; तथा साप्तभक्तिक—हिंकार, प्रस्ताव, आदि, उद्‌गीथ, प्रतिहार, उपद्रव व निधन नामक सात अवयव[3] जिसके होते हैं वह इस प्रकार (साप्तभक्तिक नाम से) कहा गया; मन्त्रगान[4] जो गाये जाते हुए स्तोभ आदि अक्षरों वाला हो, साम (कहा जाता) है। अर्थरहित वर्ण स्तोभ (नाम से कहा जाता) है। वे वाक्यात्मक वैदिक

---

१. कथमिति कथंभूतानि कर्मादीनीत्यर्थः। यद्वा कथमाहेति सम्बन्धः। यथाऽऽह तथा ब्रूते तस्मादित्यादिना।

२. 'तेषामृग्यत्रार्थवशेन पादव्यवस्था' (२.१.११.३२) यह जैमिनीय ऋक्परिभाषा है। इसका अर्थ शबराचार्य ने किया है—'यत्र पादकृता व्यवस्था सामन्त्र ऋङ्नामा'। अतः जो नवीनों का मत है 'विशिष्टैकार्थप्रतिपादकत्वे सति पादबद्धमन्त्रत्वमृचो लक्षणम्' (कुतूहलवृत्ति) वह भाष्याभिमत नहीं क्योंकि भाष्यकार 'अर्थवशेन' इस सूत्रभाग को यों समझाते हैं 'अनुवाद एष प्रदर्शनार्थः'। अतः छंदोबद्ध मंत्र को ऋचा कहना संगत है।

३. छान्दोग्य के द्वितीयाध्याय में इनकी उपासनायें बतायी हैं।

४. 'गीतिषु सामाख्या' (२.१.१२.३३) यह सामलक्षण जैमिनि ने किया है। सप्तमाध्याय के द्वितीयपाद में बहुत ऊहापोह से पुनः यही सिद्धान्त स्थिर किया है। मंत्रगान के टुकड़े पूर्वोक्त भक्तियाँ हैं। जैसे आलाप, जोड़, झाला, विलम्बित, द्रुत—ये पांच स्थायी या अन्तरा ये दो टुकड़े आधुनिक संगीत में मिलते हैं वैसे सामगान के ये हिंकारादि टुकड़े हैं। जैसे आजकल आऽऽ इत्यादि अक्षरों का उच्चारण कर स्वरविस्तार करते हैं वैसे जिन अक्षरों का उच्चारण सामगान के लिये करें—जो अक्षर गीयमान ऋचा में न हों, वे स्तोभ कहलाते हैं। जैसे 'रघुपति राघव राजा' इत्यादि किसी शब्दरचना पर आधारित गायन होता है वैसे ऋचा पर साम का गान होता है। वह गान साम कहाता है। 'स्तोभादि' के आदि से अन्य उच्चारण परिवर्तनों को समझना चाहिये जो गायन के लिये कर दिये जाते हैं।

मन्त्र जो निश्चित अक्षरों में पूरे होने वाले चरणों वाले नहीं होते, यजुः[1]

---

१. जैमिनि ने सरल लक्षण दिया है कि जो मन्त्र ऋचा या साम न हों यजुः कहे जाने चाहिये—'शेषे यजुःशब्दः' (२.१.१३.३४)। ऋचा व गीत की समाप्ति तो समझना सरल है, यजुर्मन्त्र कहाँ पूरा होता है यह कैसे पता चले ? यह शंका कर पूर्वमीमांसा में उत्तर दिया है—'अर्थैकत्वादेकं वाक्यं साकांक्षं चेद् विभागे स्यात्' (२.१.१५.४२)। यज्ञ में कुछ करना हो तब मंत्रोच्चारण होता है। एक कार्य के लिये जितने पदों का उच्चारण आवश्यक हो उतने पदों को एक यजुः कहते हैं। 'इज्यतेऽनेनेति यजुः'—जिससे इज्या की जाये उसे यजु कहते हैं। इतना ही लक्षण करने पर एक कार्य को करने के लिये प्रयुक्त नाना वाक्य भी एक यजुः हो जायेंगे अतः यह और जोड़ा कि पूर्वोक्त लक्षण वाले पद-समुदाय से यदि एक भी पद हटाने से आकांक्षापूर्ति न हो पाये तभी उतने पदों को यजुः कहेंगे। शब्द सुनकर उसके सम्बन्धियों को जानने की इच्छा को आकांक्षा कहते हैं जो जब तक शांत न हो, अर्थबोध पूरा नहीं होता। जैसे 'रामका' सुनकर, क्या ? ऐसा प्रश्न उठता है। उस प्रश्न के उत्तर मिलने के बाद ही पूरा ज्ञान होता है। ऐसा कोई अनुत्तरित प्रश्न न रहे तब एक प्रयोजन के लिये उच्चरित पदसमुदाय को एक यजुः कहते हैं। विभज्यमान पद भी यदि साकांक्ष रह जाये तो भी यजुः सिद्ध नहीं होगा, जैसे 'देवस्य त्वा सवितुः....' आदि से 'देवस्य' पद हटाने पर 'त्वा सवितुः.....' आदि भाग तो साकांक्ष नहीं रहता पर 'देवस्य' साकांक्ष रह जाता है अतः 'त्वा सवितुः....' इत्यादि को एक यजुः नहीं कहा जा सकता। सूत्रस्थ अर्थ-शब्द अभिधेयवाचक नहीं, क्रतु की सांगता-संपादनरूप प्रयोजन को कहता है। यह समस्त प्रसंग कुतूहलवृत्ति में विस्तार से स्पष्ट किया है। 'शेषे यजुशब्दः' के आधार पर गद्यात्मक मंत्र को यजुः कहें तो सरलता होगी। अतएव अथर्ववेद का अपरिगणन भी सुव्याख्येय है। अथर्व-वेद के वचन गद्य या पद्य ही सम्भव होने से यजुः या ऋचा से कह दिये गये हैं। अतः पृथक् अथर्ववेद का नाम लेने की आवश्यकता नहीं। चार वेदों का विभाजन तो ऋत्विगों की दृष्टि से है अर्थात् अध्वर्यु के उपयोगी भाग यजुर्वेद, उद्गाता के उपयोगी सामवेद, होता के उपयोगी ऋग्वेद तथा ब्रह्मा के उपयोगी भाग अथर्ववेद कहलाते हैं। इस प्रकार शास्त्रयोनि-त्वाधिकरण के प्रथम वर्णन में स्थित बात 'तस्मादृचः साम यजूंषि'—से बतायी।

(कहाते) हैं। इस तरह तीनों प्रकार के मन्त्र[१] (उस पुरुष से उत्पन्न होते हैं)। 'दीक्षा' मूँज-निर्मित-मेखला को बांधना इत्यादि[२] कर्ता के लिए विहित नाना नियम (उसी से उत्पन्न होते हैं)। और अग्निहोत्र आदि सभी यज्ञ व क्रतु[३] (अर्थात् वे यज्ञ जिनमें) यूप भी आवश्यक हो (उसी से उत्पन्न होते हैं)। एक गाय से लेकर बिना सीमा के अपने समस्त धन पर्यन्त जो दक्षिणायें हैं वे भी (उसी से उत्पन्न होती हैं)। (प्रायशः न्यूनतम दक्षिणा एक गाय बतायी है)। विश्वजित् और सर्वमेध यज्ञों में अपने समस्त धन को दक्षिणारूप से (देने का विधान है)। इसलिए एक गाय से प्रारम्भ कर समस्त धन पर्यन्त दक्षिणायें होती हैं, (वे सभी उससे उत्पन्न होती हैं) यह तात्पर्य है। और 'संवत्सरः' कर्म के अंगभूत काल[४] (भी उससे उत्पन्न होते हैं)। 'यजमान' कर्म करने वाला[५] (उससे उत्पन्न होते हैं)। यजमान के कर्म के फलरूप लोक (भी उससे उत्पन्न होते हैं)। उन लोकों की विशेषता (श्रुति द्वारा) बताई जाती है—'यत्र' जिन लोकों में सोम लोगों को 'पवते' पवित्र करता है ओर 'यत्र' जिन लोको में सूर्य तपता है[६] तथा उपासक कर्म-कर्ताओं व अनुपासक कर्म-कर्ताओं को प्राप्य फलरूप वे लोक (क्रमशः) उत्तरायण व दक्षिणायन इन दो मार्गों से प्राप्त होते हैं॥ ६॥

---

१. ब्राह्मणों को उपलक्षण से समझ लेना चाहिए।

२. इत्यादि से सभी व्रत समझने चाहिए।

३. यूपसहित सोमसाध्य यज्ञ क्रतु कहा जाता है। यज्ञ में पशु को जिस लकड़ी के खम्बे से बाँधते हैं वह यूप होता है। क्रतु के महत्तातिशय द्योतनार्थ उसे पृथक् कहा।

४. प्रातः आदि या मास आदि काल यज्ञ के लिए विहित होने से उसका अंग है।

५. यद्यपि पूर्व में प्रजायें उससे उपजी कह चुके हैं व अगले मन्त्र में 'तस्माच्च… मनुष्याः' कहना है तथापि यहाँ कर्म के साधनों के प्रसंग में भी यजमान को गिन दिया।

६. उत्तरमार्ग से प्राप्य लोकों की पवित्रता अधिक है व दक्षिणमार्ग से प्राप्य लोकों में कुछ ताप भी—कष्ट भी रहता है यह ध्वनित होता है।

"बहुत तरह के[1] देवता[2], साध्य[3], मनुष्य[4], पशु, पक्षी[5], प्राण-अपान[6], जौ-चावल[7], तप[8], श्रद्धा[9], सत्य[10], ब्रह्मचर्य[11] तथा करने के

---

१. 'बहुत तरह के' इसका सभी से सम्बन्ध है।

२. वसु, रुद्र, आदित्य, इन्द्र, प्रजापति आदि भेद से नाना देवता प्रसिद्ध हैं। स्मार्तकर्म के फलस्वरूप देवलोक में उत्पन्न 'आजानजदेव', श्रौतकर्म के फलस्वरूप बने 'कर्मदेव' व उपासना सहित कर्म के फलस्वरूप बने 'देव'—ऐसे तीन भेद तैत्तिरीय में (ब्र० ८) प्रसिद्ध हैं। बृहदारण्यक में (४.३.३३) 'कर्मदेव' व 'आजानदेव' दो भेद कहे हैं व तैत्तिरीय से विपरीत कर्मदेव से आजानदेव का आनन्द अधिक बताया है। किंतु यह विषय पृथक् है।

३. गणदेवताओं में साध्यों का परिगणन है। 'साध्या द्वादश विख्याताः'—अतः ये संख्या में बारह हैं। मनु ने (१.२२) सृष्टि प्रक्रिया में इनकी उत्पत्ति कही है—'साध्यानां च गणं सूक्ष्मं [सोऽसृजत्प्रभुः]'। विराट् के पुत्र सोमसद्, साध्यों के पितर भी बताये हैं—'विराट्सुताः सोमसदः साध्यानां पितरः स्मृताः' (मनु० ३.१९५)। बारह होने से इन्हें बहुत तरह का कहा है।

४. ब्राह्मणादिभेद से मनुष्य बहुत तरह के प्रसिद्ध ही हैं।

५. पशु-पक्षी भी नाना प्रकार के प्रत्यक्ष ही हैं।

६. जीवन के लिये आवश्यक ऊर्जा या क्रियाशक्ति को 'प्राण-अपान' कहा है। यह प्राणिभेद से नाना प्रकार की है। किंच प्राणादि दस प्रसिद्ध भी हैं।

७. हविष्यान्न का उपलक्षण होने से और साक्षात् भी ये नाना प्रकार के हैं।

८. कायिकादिभेद से तप बहुत तरह के हैं।

९. सात्त्विकादि नाना प्रकार की श्रद्धा स्मृतिप्रसिद्ध है (गी० १७.२)।

१०. निश्चय, कथन व व्यवहार—इस तरह एवं कटु व प्रिय—इस तरह सत्य नाना प्रकार का अनुभवसिद्ध है।

११. ग्राम्यधर्म को याद न करना, उसकी चर्चा न करना, कामोद्दीपन हो ऐसे खेलादि व्यवहार न करना, ग्राम्यधर्म के अनुष्ठान या तत्सूचक क्रियाओं को साक्षात् या चित्रादि परंपरा से न देखना, ऐसा कुछ (गाली आदि) न बोलना जो गुह्यकर्मों से सम्बद्ध हो, ग्राम्यधर्म की इच्छा न उठने देना, इच्छा उठने पर भी 'ऐसा कर लूं' ऐसे निश्चय को न होने देना व ग्राम्यधर्म का अनुष्ठान न करना—इस तरह ब्रह्मचर्य भी बहुत तरह का दक्षादि स्मृतियों में बताया गया है।

ढंग[1]—ये भी उसी पुरुष से भली प्रकार[2] उत्पन्न होते हैं ॥ ७ ॥"

'तस्मात्' उस (प्रकृत) परम पुरुष से कर्मों के अंगभूत देवता[3] 'सम्प्रसूताः' भली प्रकार उत्पन्न होते हैं जो वसु आदि नाना गणों में[4] बहुत तरह से अवस्थित हैं। 'साध्याः' साध्य कहे जाने वाले एक विशेष प्रकार के गणदेवता (भी उससे उत्पन्न होते हैं)। (वैदिक) कर्मों को कर फल प्राप्त कर सकने वाले मनुष्य[5] (भी उससे पैदा होते हैं)। ग्रामीण[6] व जंगली पशु (तथा) 'वयांसि' पक्षी (भी उससे पैदा होते हैं)। मनुष्यादि के जीवनहेतु[7] प्राण-अपान (एवं) हवि के लिये[8] (आवश्यक) जौ-चावल (भी उससे उत्पन्न होते हैं)। कर्ता का संस्कार

---

१. शास्त्रीय व अन्य सभी कार्यों को करने के ढंग समझने चाहिये। अतः कुछ विचारक 'नमः कुलालेभ्यः' आदि श्रुति के आधार पर मानते हैं कि घट बनाने का ढंग ईश्वर ने ही सिखाया है।

२. इनकी उत्पत्ति में निमित्त व उपादान दोनों कारण वही है, यह तात्पर्य है। अथवा, इनकी उत्पत्ति निर्दोष—पूर्ण—है यह भाव है।

३. मीमांसक मानते हैं कि जो करने को कहा है वह प्रधान है व उसके लिये जो जरूरी है वह सब उस प्रधान का अंग है। 'कर्मोपदेशः स्याद्' यह षष्ठाद्य का निर्णय है। अतः नवम अध्याय में शंका होने पर कि जिस देवता के लिये याग कर रहे हैं वह प्रधान है या जो याग कर रहे हैं वह प्रधान है ? जैमिनि ने निःसंकोच घोषणा की है 'अपि वा शब्दपूर्वत्वाद् यज्ञकर्म प्रधानं स्यात्, गुणत्वेन देवताश्रुतेः' (९.१.४.७)। विहित होने से यज्ञकर्म ही प्रधान है। यज्ञ हो सके इसके लिये जरूरी है कि कोई देवता हो अतः देवता यज्ञ के लिये है। इसलिये वह यज्ञ की गुण-भूत है। गुण को ही अंग कह दिया जाता है। इसे मानकर यहाँ 'कर्मांगभूताः' ऐसा भाष्यकार ने कहा है।

४. यद्यपि इंद्रादि गणों में अवस्थित नहीं तथापि वसु आदि की दृष्टि से ऐसा कहा।

५. जै० सू० ६.१.५ तथा ब्र० सू० १.३.२५ से कर्मशास्त्र में मनुष्य का ही अधिकार है यह सिद्ध होता है।

६. गाय आदि वे पशु जो मनुष्य पर आधारित ही रह सकते हैं ग्रामीण कहे जाते हैं।

७. जीवनहेतु होने से प्राण-अपान (श्वास-प्रश्वास) को जीवन कहा है।

८. जिस द्रव्य का होम किया जाता है उसे हवि कहते हैं।

करना[1] जिनका प्रयोजन हैं ऐसे कर्माङ्गभूत तप तथा वे तप जो किसी कर्म आदि का अंग बने बिना स्वयं फल-प्राप्ति में पर्याप्त साधन हैं, (दोनों उसी से उत्पन्न होते हैं)। 'दूध पीना ब्राह्मण के लिए व्रत है, यवागू (जौ की लप्सी) खाना क्षत्रिय के लिए व्रत हैं, आमिक्षा (गरम दूध में दही मिलाने से बनने वाली वस्तु) खाना वैश्य के लिए व्रत है' (   ) इत्यादि प्रकार से जिनका विधान है वे कृच्छ्र[2] चान्द्रायणादि[3] व्रत यहाँ 'कर्माङ्गभूत तप' कहे हैं। चित्त की ऐसी शुद्धि व परलोकादि के अस्तित्व के विषय में ऐसा निश्चय जिसके होनेपर सभी[4] पुरुषार्थों के साधन का अनुष्ठान होता है, श्रद्धा (शब्द का अर्थ है; वह भी उससे उत्पन्न होती है)। झूठ न बोलते हुए वस्तु जैसी हो वैसा उसे बताना किन्तु ऐसे कि उससे किसी को पीडा न हो, सत्य (शब्द का अर्थ है, वह भी उससे पैदा होता है)।[5] मैथुन का आचरण

१. जिन व्रतों को कर चुक कर या करते हुए अथवा बाद में करने से ही व्यक्ति को किसी कर्म में अधिकार हो उन व्रतों को कर्मांग कहते हैं। कर्म की सांगता संपत्ति ही उनका फल है और उसका वैगुण्य ही उन्हें न करने का फल है।
२. प्रायश्चित्त बताते हुए मनु ने कृच्छ्र को कहा है (११.२१२–२१५)।
३. मनु० ११.२१६–२१९ तक चान्द्रायणभेद का वर्णन है।
४. यद्यपि यहाँ धर्म व मोक्ष इन्हीं पुरुषार्थों से तात्पर्य है, तथापि क्योंकि अर्थ व काम के भी शास्त्रीय साधन समझने चाहिए इसलिए उनका भी संग्रह किया जाता है। शास्त्रसंगत अर्थार्जन व कामभोग भी परलोकादिविषयक निश्चय की अपेक्षा रखता है, अन्यथा मर्यादोल्लंघन में झट प्रवृत्ति होती है।
५. 'यथादृष्टस्य यथाश्रुतस्य चात्मानुभवस्य परबुद्धिसंक्रान्तये तथैवोच्चार्यमाणा वाक् सत्यमुच्यते' (गी० भा० १०.४)। 'सत्यं ब्रूयात्प्रियं ब्रूयान्न ब्रूयात्सत्यमप्रियम्। प्रियं च नानृतं ब्रूयादेष धर्मः सनातनः' ॥मनु० ४.१३८॥ तैत्तिरीयभाष्य में (शी० ११) यह भी जोड़ा है कि जो बोलने योग्य हो, कथनीय हो, वह वास्तविक बात सत्य होती है—'यथाप्रमाणावगतं, वक्तव्यं च'। वक्ता की मंशा, नियत, पर बल है। अतः द्व्यर्थकादि वचन सत्य नहीं माने जा सकते। केवल वाग्व्यापार ही नहीं, किसी भी तरह जब हम किसी व्यक्ति या समुदाय को कुछ सूचित करें तब ऐसे कि जैसा हमने उस बात को समझा है वैसा वे भी उसे समझें, बात समझने लायक हो, और उस

न करना रूप[1] ब्रह्मचर्य (भी उसी से उपजाता है)। तथा 'विधिः' करने के ढंग (उस परम पुरुष से पैदा होते हैं) ॥ ७ ॥

और भी—

"(गले से ऊपर विद्यमान) सात प्राण (इन्द्रियाँ), उनसे होने वाले सात विषयप्रकाश, सात उन इन्द्रियों के विषय, इन्द्रियों से (विषय सम्बन्ध होकर) होने वाले सात ज्ञान तथा प्रत्येक प्राणी को प्राप्त शरीर में रहने वाली सात-सात (ये) इन्द्रियाँ जिन स्थानविशेषों में अपने कार्यों का आचरण करती है वे ये सात गोलक;—ये सभी उस परम पुरुष से उत्पन्न होते हैं ॥ ८ ॥"

सिर में[2] होने वाले सात प्राण—इन्द्रियाँ[3]—उस प्रकृत पुरुष से ही उत्पन्न होते हैं। तथा उनकी सात 'अर्चिषः' दीप्तियाँ अर्थात् अपने-

---

प्रक्रिया में किसी को दुःख न हो; तब हम सत्य व्यवहार करने वाले हो सकते हैं।

१. 'मिथुनस्य कर्म' इस व्युत्पत्ति से मिथुन शब्द से अण्प्रत्यय लगकर मैथुन शब्द बनता है। स्त्री-पुरुष का जोड़ा मिथुन है 'स्त्रीपुंसौ मिथुनं द्वन्द्वम्' (अमर०)। इसका—स्त्रीपुरुष के जोड़े का—असाधारण कर्म ग्राम्यधर्म ही है अतः उसी में मैथुनशब्द प्रसिद्ध है। उसकी निष्पत्ति के अष्टविध प्रकार प्रसिद्ध हैं अतः इन सभी का परित्याग ब्रह्मचर्य है। इस प्रकार—ऐसा कुछ न करना, न सोचना और न जानना (प्रेक्षण, श्रवणादि) जिससे मैथुन-विषयक संस्कार पड़े, ब्रह्मचर्य है। यद्यपि सभी इन्द्रियों का नियन्त्रण अपेक्षित है, 'इन्द्रियाणां प्रसंगेन दोषमृच्छत्यसंशयम्। संनियम्य तु तान्येव ततः सिद्धिं नियच्छति' ॥ मनु० २.९३ ॥ तथापि उपस्थनिग्रह कठिनतर होने से व उसके अनियन्त्रण से अन्य अनेक विक्षेपक कर्म आवश्यक होने से उसे मुख्यता दी जाती है। गृहस्थों को भी अनावश्यक मैथुनाचार न करना चाहिए ऐसा साधनप्रतिपादक शास्त्र को इष्ट है।

२. गले के ऊपर के भाग को सिर कहा है।

३. 'सप्त वै शीर्षण्याः प्राणाः' (तै० सं० ५.१.७.१) आदि श्रुति की प्रत्यभिज्ञा होने से तथा प्रकरण संगति होने से यहाँ 'सात प्राण' वे सात इन्द्रियभेद समझने चाहिये जो मुखदेश में स्थित हैं। यदि उक्त श्रुति को दृष्टि में न रखें तो आँख, नाक, रसना, वाक्, श्रोत्र, मन और त्वक्—ये सात समझ सकते हैं जैसा कि प्रकृत श्रुति के प्रसंग में न्यायनिर्णयादि ने कहा है

(अपने) विषयों के प्रकाश[1] (भी उससे उपजते हैं)। इसी प्रकार 'सप्त समिधः' सात विषय[2] (भी उससे पैदा होते हैं)। विषयों के द्वारा ही इन्द्रियाँ (मानो) जलायी जाती हैं (अतः विषय समिधा कहे गये)। उनको[3] विषय करने वाले अनुभव[4] सात होम हैं (वे भी उससे

(ब्र० सू० २.४.२.५)—'चक्षुर्घ्राणं रसनं श्रोत्रं वाङ्मनस्त्वगिति सप्त प्राणाः'। इन्द्रियों को गौणीवृत्ति से प्राण कहते हैं जैसा कि वाचस्पति मिश्र ने बताया है 'प्राणरूपताऽभिधानमिन्द्रियाणां प्राणायत्ततया भाक्तं गमयितव्यम्' (ब्र० सू० २.४.८.१७)। किंच घ्राण, अक्षि, श्रवण और वाक् ये चार ही इंद्रियाँ शीर्षण्य हैं केवल गोलक भेद से आँख, नाक व कान को दो-दो गिन लिया है। सूत्रभाष्य में (२.४.२.६) यह स्पष्ट है—'स्थानभेदाद्धयेते चत्वारः सन्तः सप्त गण्यन्ते'। त्वगिन्द्रिय समप्रदेहव्यापी होने से शीर्षण्य नहीं कही जायेगी। इससे मन की भी व्यवस्था समझ लेनी चाहिये।

१. 'घटो भासते, न भासते; अहं जानामि, न वा जानामि' इत्यादि अनुभव के अनुसार विषयावच्छिन्नब्रह्मचैतन्यनिष्ठ अभानापादक आवरण व अन्तःकरणावच्छिन्न-साक्षिनिष्ठ असत्त्वापादक आवरण—ये दो स्वीकारने पड़ते हैं। प्रथम की निवृत्ति अपरोक्ष प्रमा से होती है जब प्रमाता प्रमाण व प्रमेय तीनों का एकलोलीभाव अर्थात् एकवृत्त्युपारूढत्व (या सामान्य शब्द में—अभेद) हो जाये। इस आवरण के भंग से उपलक्षित चित् को फल व उससे तादात्म्य को फलव्याप्ति कहते हैं। क्योंकि विषयों के ऐसे ज्ञान में इंद्रिय आवश्यक है—'अस्वतंत्रं बहिर्मनः'—इसलिये ऐसा विषयभान जो इंद्रिय द्वारा होता है यहाँ अर्चिः कहा है। सात की संख्या पूर्ववत् समझनी चाहिये।

२. रूपादि विषय विवक्षित हैं। संख्याव्याख्या पूर्ववत् है।

३. विषयों को।

४. अन्तःकरणावच्छिन्नसाक्षिनिष्ठ असत्त्वापादक आवरण प्रमाणज्ञानमात्र से निवर्त्य है अर्थात् प्रमाता व प्रमाण इन दो के एकलोलीभाव से भी नष्ट हो जाता है और तीनों के एकलोलीभाव से भी। यहाँ मुख्यतः अपरोक्षप्रमा से असत्त्वापादक आवरण की निवृत्ति को अनुभव कहा है। अतः 'घटो भासते' यह अर्चिः, तथा 'घटमनुभवामि' यह होम है। विषयावभासको स्वयं में अर्पित कर दिया अतः होम है। कुछ व्याख्याता विज्ञान पद से वृत्ति ही समझते हैं—'होमस्तु वृत्तिः'। इस श्रुति के आधार पर आचार्यपाद ने

पैदा होते हैं)। 'जो इसका[1] अनुभव होता है उसे (समझना चाहिए कि) वह हवन कर रहा है' इत्य अन्य (महाना० २५) श्रुति से (विज्ञान की होमरूपता सिद्ध है)। और भी, ये[2] सात 'लोकाः' इन्द्रियों के गोलक[3] जिनमें प्राण (इन्द्रियाँ) 'चरन्ति' अपने कार्यों का आचरण करते हैं' इस प्रकार प्राणों की यह विशेषता इसलिए बतायी है कि (प्राणशब्द से) ऊर्ध्ववायु-अधोवायु आदि न समझ लिये जायें[4]। गुहा

उपदेशसहस्री में ऐसे ध्यान का मुमुक्षु के लिये विधान किया है (पद्य० १५.२१–२३)। विषयासक्तिनिवृत्ति उस ध्यान का फल है।

१. आत्मज्ञानी का। महानारायण के अंत में तत्त्वज्ञानी के सकल व्यवहारों को यागरूप बताया है। '...यागरूपत्वमुच्यते। लौकिकव्यवहाराणां सर्वेषां तत्त्ववेदिनः ॥५११॥ तस्य संन्यासिनो ब्रह्म साक्षात्कृतवतः सतः। जीवन्मुक्तस्य यो यज्ञः तस्यात्मा साक्षिलक्षणः ॥५१३॥' इत्यादि श्रीपुरुषोत्तमानन्दतीर्थ ने 'याज्ञिक्युपनिषद्विवरणम्' में (अड्यार सं० ७१) स्पष्ट किया है।

२. लोकशब्द के साथ सात की संख्या आते ही भूरादि की प्राप्ति होती है जिसे हटाने के लिये 'ये' इस प्रकार प्रत्यक्षता बतायी; 'इमे ग्रहणान्न बाह्याः'—नारायणः।

३. स्थूल शरीर का वह अंगविशेष जहाँ इन्द्रिय अपना कार्य करती हैं गोलक कहलाता है। जो इन्द्रियाँ विषयदेश पर जाती हैं वे भी निश्चित द्वारों से ही जाती हैं अतः तत्तद् इन्द्रिय के जाने के उन निश्चित द्वारों को उन इन्द्रियों का गोलक कहते हैं।

४. प्राण शब्द का मुख्यार्थ है—शरीर में उपलब्ध वायु का परिणाम-विशेष जो पाँच प्रकारों से बँटकर रहता है तथा सेन्द्रियशरीर की स्थिति का निमित्त है। यह 'न वायुक्रिये पृथगुपदेशात्' (२.४.५.९) अधिकरण में स्थापित है। वहाँ भाष्य में : 'वायुरेवायमध्यात्ममापन्नः पञ्चव्यूहो विशेषात्मनाऽवतिष्ठमानः प्राणो नाम भण्यते, न तत्त्वान्तरं नापि वायुमात्रम्।' तथा भामती में है 'वायुभेद एवाध्यात्ममापन्नः पञ्चव्यूहः प्राणः'। 'वायुभेद इति वायोः परिणामरूपकार्यविशेष इत्यर्थः'—(कल्प०)। वहीं ग्यारहवें सूत्र में इसका काम बताया है 'प्राणनिमित्तां शरीरेन्द्रियस्थितिं दर्शयति।...सुप्तेषु चक्षुरादिषु प्राणनिमित्तां शरीररक्षां (श्रुतिः) दर्शयति। ...प्राणनिमित्तां शरीरेन्द्रियपुष्टिं दर्शयति।...प्राणनिमित्ते जीवनस्योत्क्रान्तिप्रतिष्ठे दर्शयति' (भाष्य)। द्वादश सूत्र में पाँचों वृत्तियों का परिचय

में अर्थात् शरीर में (रहते हैं) या सोते समय हृदय में[1] शयन करते हैं इसलिये (ये सात प्राण-इन्द्रियाँ-) गुहाशय हैं। विभिन्न प्रत्येक प्राणी में[2] विधाता द्वारा (ये) सात-सात (प्राण) 'निहिताः' स्थापित हैं। उपासक आत्मयाजियों के अर्थात् 'विषयतया अनुभूयमान सब कुछ तथा मैं स्वयं परमात्मा ही हूँ' यह भावना कर 'मैं परमेश्वर की आराधना कर रहा हूँ' इस निश्चय से जो यज्ञ करते हैं उनके; जो कर्म व कर्मफल हैं (वे), तथा अनुपासकों के जो कर्म, कर्मों के साधन और कर्मों के फल हैं (वे), यह सब सर्वज्ञ परम पुरुष से ही उत्पन्न होता है—यह (उपदेश करना) इस सन्दर्भ का प्रयोजन है ॥ ८ ॥[3]

"सब समुद्र व पर्वत इस परम पुरुष से उत्पन्न होते हैं। (जो) नाना रूपों वाली नदियाँ बहती हैं (वे भी) इससे (उत्पन्न होती हैं)[4]। इसी से सब जौ-चावल आदि ओषधियाँ उपजती हैं तथा जिस रस से पोषित स्थूल महाभूतों से घिरा सूक्ष्मशरीर रहता है वह रस भी इसी परम पुरुष से उत्पन्न होता है ॥ ९ ॥"[5]

दिया है। 'सप्त प्राणाः' इत्यादि प्रकृत मन्त्र में इस प्राण को न समझ लें अतः गोलकों में व्यवहार-रूप विशेषता कही जो चक्षुरादि में है, उक्त मुख्य प्राण में नहीं। यह भाव है।

१. हृदय की हिता नाडी में लिंगदेह सोपुप्तावस्था में रहता है ऐसा अन्यत्र (बृ० ४.३.२० आदि) स्थित है।

२. प्राणिशब्द से मनुष्य समझना चाहिए।

३. याज्ञिक्युपनिषत् के (महानारायण के) दशम अनुवाक् में यह तथा अगला मन्त्र आए हैं। तात्पर्य समान होवे पर भी यत्किंचिद् अर्थविशेष के लिये तत्रस्थ सायणभाष्य देखना चाहिये।

४. उत्पत्तेः प्रकृतत्वादेवं व्याख्या। अथवा, यत्स्यन्दन्ते तदस्माविति तेषां तत्स्यन्दनानां चायमेवोच्यते हेतुरित्यर्थः। स्यन्दनावधिरेवायमिति मा भ्रमो भूदित्यतः प्रयासः।

५. महानारायणे 'येनैष भूतस्तिष्ठती'ति पाठः। तत्र भूतः सम्बद्ध इत्यर्थः। पुरुषोत्तमयतिस्तु—'येनौषधिरसेनायं बद्धे देहेऽत्र तिष्ठति। तादृशो रस उत्पन्न इत्यर्थः परिकीर्तितः' ॥ १७२½ ॥ इति व्याचचक्षे। समष्टिसूक्ष्मस्य स्थूलभूतरूपदेहेऽवस्थितत्वान्नार्थभेद इति दिक्।

'अतः' इस (प्रकृत परात्पर) पुरुष से खारे इत्यादि सब[1] समुद्र उत्पन्न होते हैं। हिमालय प्रभृति[2] सभी पहाड़ इस पुरुष से ही (उपजते हैं)। 'सर्वरूपाः' नाना रूपों वाली गंगा आदि 'सिन्धवः' नदियाँ 'स्यन्दन्ते' बहती हैं, (वे भी इसी से उत्पन्न होती हैं)[3]। जौ, चावल आदि सब ओषधियाँ[4] इसी परपुरुष से (उपजती हैं)। मधुर आदि छह प्रकार का[5] रस भी (इसी से उत्पन्न होता है)। [इसकी विशेषता स्वयं श्रुति ने कही है, उसकी व्याख्या करते हैं—] जिस रस से (पोषित)[6] स्थूल पाँच महाभूतों द्वारा घिरा हुआ 'अन्तरात्मा' लिंग अर्थात् सूक्ष्मशरीर रहता है (वह रस विवक्षित है)। [सूक्ष्मशरीर को अन्तरात्मा क्यों कहा ? यह बताते हैं—] सूक्ष्मशरीर स्थूलदेह और आत्मा के मध्य में[7] रहता है (और) आत्मा की तरह[8] रहता है, इसलिये (उसे) अन्तरात्मा (कहा) ॥ ९ ॥

---

१. खारा समुद्र तो प्रत्यक्ष सिद्ध है ही। इससे अतिरिक्त छह और समुद्र शास्त्र-प्रसिद्ध हैं—क्षीरोदो दध्युदश्चैव घृतोदश्च सुरोदकः। इक्षूदश्चापि शुद्धोदः [प्रत्यक्षो लवणोदकः]।

२. हिमवान् निषधो विन्ध्यो माल्यवान् पारियात्रकः। गन्धमादनम् अन्ये च हेमकूटादयो नगाः ॥ अमर० ॥ ये ७ प्रसिद्ध पहाड़ हैं। कुल पर्वत ये हैं—महेन्द्रो मलयः सह्यः शुक्तिमान् ऋक्षपर्वतः। विन्ध्यश्च पारियात्रश्च सप्तैते कुलपर्वताः ॥ किन्तु ये ही न समझ लिए जायें अतः 'सभी' कहा।

३. 'अस्माद् गङ्गादयो नद्यः संजाताः प्रवहन्ति च'। याज्ञि० पुरु० १७० ॥ नदियाँ कृष्ण, श्वेत, रक्तादि वर्णों की प्रसिद्ध हैं।

४. फलकर पकने के बाद नष्ट होने वाले धान, चना आदि पौधे ओषधि शब्द से कहे जाते हैं। उपलक्षणा से सभी उद्भिद् समझने चाहिए।

५. कसैला, मीठा, नमकीन, कड़ुवा, तीता (मिर्च आदि का स्वाद), व खट्टा—ये छह प्रकार के रस (या स्वाद) प्रसिद्ध हैं।

६. सूक्ष्म शरीर स्थूल शरीर से घिरा रहता है व वह स्थूलशरीर अन्नरसमय है। 'पोषितैरिति शेषः'।

७. स्थूलदेह से आत्मा का अभिमानरूप विशेष सम्बन्ध सूक्ष्मशरीर से सम्बद्ध होकर ही होता है अतः आत्मा और स्थूल शरीर के विशेष सम्बन्ध में सूक्ष्म शरीर माध्यम बनता है।

८. चिन्मयता सूक्ष्मशरीर में प्रकट होने से वह आत्मा की तरह है। शेषिता भी स्थूल के प्रति सूक्ष्म शरीर की है, अतः भी वह आत्मा की तरह है।

इस प्रकार (यह स्थित हुआ कि) यह सारा विषय प्रपंच परम-पुरुष से समुत्पन्न होता है। अतः समस्त कार्य वाणी पर ही आलम्बित है, नाममात्र को है (कहने भर को है, वस्तुतः नहीं), सत्य नहीं है[1]। पुरुष—इतना ही सत्य है[2]। इसलिये—[श्रुति अपवाद करती है]—

"हे सोम्य शौनक ! कर्म व तप रूप यह सारा विश्व पुरुष ही है, ब्रह्म ही है। सब प्राणियों के हृदय में रहने वाले इस परम अमृत (ब्रह्म) को 'यह मैं ही हूँ' ऐसे जो जानता है वह जीवित रहते हुए ही अविद्या और उसकी वासना को नष्ट कर देता है ॥ १० ॥"

यह 'विश्वम्' सब कुछ पुरुष ही है, पुरुष से अन्य विश्व नाम की कोई वस्तु नहीं है[3]। अतः जो तुमने 'हे भगवन् ! किसे जान लेने पर सब कुछ जान लिया जाता है ?' (१.१.३)—इस प्रकार कहा था—पूछा था—वह यह (पुरुष, जिसे जान लेने पर सब कुछ जान लिया जाता है) बता दिया गया—(संक्षेप व विस्तार से उसका) निरूपण कर दिया। 'यह सारा विश्व पुरुष ही है, उससे अतिरिक्त (कुछ) नहीं' इस तरह सबके कारणभूत (विवर्ताधिष्ठान रूप) इस (अपरोक्ष) परम-आत्म-पुरुष को जान लेने पर (सब) जान लिया जाता[4] है। यह क्या है जिसे 'विश्व' कहा जा रहा है ? अग्निहोत्र आदि जिसका स्वरूप है वह कर्म, 'तप.' उपासना और उनसे मिलने वाला (भोक्ता व साधन से) भिन्न फल—बस इतना ही यह सब कुछ है (जिसे विश्व कहा जा रहा है)। वह यह विश्व ब्रह्म में ही अध्यस्त है[5] अतः सभी ब्रह्म है। सब

१. छां ६ ४।
२. क्योंकि वह विकार नहीं।
३. 'सर्प रस्सी ही है' कहने का अर्थ ही है कि सर्प नहीं, रस्सी है। रस्सी से अतिरिक्त सर्प नहीं अतः रस्सी ही सर्प है, यह भ्रम से ही हो सकता है। ऐसे ही विश्व पुरुष ही है का अर्थ यही है कि पुरुष ही भ्रम से विश्व प्रतीत हो रहा है। कार्य कारण से अतिरिक्त सम्भव नहीं, समस्त कार्य का एकमात्र कारण परात्पर पुरुष है अतः उससे अतिरिक्त कुछ भी सम्भव नहीं।
४. जैसे रज्जु जान लेने पर सर्प, माला आदि सब जान लिए जाते हैं।
५. 'वह यह विश्व ब्रह्म का कार्य है'—यह अक्षरार्थ है। 'न तस्य कार्यम्' (श्वे० ६.८) आदि श्रुति से उसमें अध्यस्त होना ही उसका कार्य होना सम्भव है।

प्राणियों के 'गुहायाम्' हृदय में 'निहितम्' स्थित[1] [इस ब्रह्म को] जो "परामृतम्' परम[2] अमृत (यह ब्रह्म) मैं ही हूँ' इस ढंग से[3] जानता है वह इस प्रकार के अनुभवात्मक ज्ञान से 'अविद्याग्रन्थिम्' गाँठ की तरह पक्की हो चुकी (अविद्या और) अविद्या की वासना[4] को 'इह' जीवित रहते ही,[5] न कि मरकर 'विकिरति' छोड़ देता अर्थात् नष्ट[6] कर देता है। हे 'सोम्य'[7] प्रिय दीखने वाले (शौनक, यह निश्चित है)। विषयतया प्रतीयमान सब कुछ परमात्मा से उत्पन्न होता है अतः सब कुछ केवल वह ही है। (इसलिये) उसे जान लेने पर (सब) जान लिया जाता है। इस प्रकार अविद्या की निवृत्तिरूप फल कहते हुए (इस खण्ड का) उपसंहार किया[8] ॥ १० ॥

॥ इति द्वितीय मुण्डक में प्रथम खण्ड ॥

अथ द्वितीय खण्ड

अब,[1] एक बार ब्रह्मोपदेश का केवल श्रवण-मनन कर लेने से जिसे 'मैं सब भेदों रहित ब्रह्म हूँ' ऐसा महावाक्य के अर्थ का अनुभव

---

१. प्रत्यगात्मरूप से स्थित तत्पदार्थ का अभेद जिसमें बताया जा सके ऐसे स्वरूप से स्थित—यह भाव है।
२. इसकी यही परमता है कि इससे परम और कुछ नहीं।
३. निष्प्रकारक अखण्डवृत्ति विवक्षित है।
४. कर्तृत्व-भोक्तृत्वाध्यास।
५. इससे भाष्यकार को जीवन्मोक्ष में कितनी अधिक श्रद्धा है यह प्रकट होता है।
६. बाधित।
७. प्रारम्भ में (२.१.१) भी यही सम्बोधन था। जिज्ञासु के प्रति गुरु का प्रेम स्पष्ट है।
८. एवं च फल सहित पराविद्या का विस्तार इस खण्ड में किया॥ यत्कृपाल-वलेशाप्त्या भवतृष्णा विनश्यति। तत्कारुण्यसुधापूर्णपात्रं पीत्वाऽऽस्महे सुखम्॥
९. सफल पराविद्या का उपसंहार कर चुकने पर पराविद्या की प्राप्ति के उपाय बताने के लिए प्रकृत खण्ड है यह अर्थ है।

नहीं होता[११], उसके लिये कोई ऐसा उपाय होना चाहिये जो

---

११. श्रवणादित्रयस्यैव साधनत्वं स्वबोधने। तन्त्रे श्रीभाष्यकारीये मुख्याऽमुख्य-कथा वृथा॥ मिश्रप्रकाशयोरेवं मतभेदः कुतो भवेद्। इति चेन्मतभेदो न यत्नाधिक्यविधित्सया॥ तत्र तत्र तथा ताभ्यां व्याख्यातं साधनत्रयम्। परिसंख्याप्रकरणम् साहस्रयामपि विद्यते॥ आवृत्त्यधिकरण में (४.१.१) ज्ञानोत्पत्त्यर्थं साधनावृत्ति का सविस्तर उपपादन है। आवृत्ति अभेद बोधानुकूल ही होनी चाहिए—'न तत्त्वमसिवाक्यार्थात् प्रच्याव्य आवृत्ती प्रवर्तयेत्' (ब्र० सू० भा० ४.१.१.२)। बृहदारण्यक में (२.४.५) भी आचार्य ने स्पष्ट किया है—'एवं ह्यसौ दृष्टो भवति श्रवणमनननिदिध्यासन-साधनै निर्वर्तितैः'। यदा एकत्वमेतानि उपगतानि तदा सम्यग्दर्शनं ब्रह्मैकत्व-विषयं प्रसीदति, नान्यथा श्रवणमात्रेण।' निदिध्यासन शब्द से भाष्यकार किसे समझते हैं यह सूत्रभाष्य में स्वयं बताया है—'उपासनं निदिध्यासनं च, इति अन्तर्णीतावृत्तिगुणैव क्रियाऽभिधीयते' (४.१.१)। 'निदिध्यासितव्यः' श्रुतिव्याख्यान में वार्तिककार ने 'अपरायत्तबोधो हि निदिध्यासनमुच्यते' (२-४-२१७) कहा है जिससे प्रतीत होता है कि वे पूर्वोक्तस्वरूप वाले निदिध्यासन की साधनता का अपवाद कर रहे हैं, परन्तु ऐसा है नहीं और इसी शंका की निवृत्ति के लिए उन्होंने वहीं (श्लो० २३४) स्वयं कहा है—'विज्ञानोत्पत्तिहेतुत्वं ध्यानादेः प्रागवादिषम्'। श्रुतिसन्दर्भ से यहाँ निदिध्यासनपद विज्ञानपरक है यही तात्पर्य है न कि पूर्वोक्तलक्षण निदिध्यासन की असाधनता। यह शंका कर कि यदि यहाँ निदिध्यासन विहित न हुआ तो साधक उसे क्यों करेगा?—शास्त्रप्रकाशिका में स्पष्ट कर दिया है कि 'समाहितो भूत्वा' इत्यादि स्थलों से उसका विहितत्व प्राप्त हो जाता है। ज्ञान हो चुकने पर आवृत्ति आदि का निषेध वेदान्तसिद्धान्त में स्वीकृत है, ज्ञान के लिए उसका निषेध कथमपि स्वीकार्य नहीं। उपदेश-साहस्री आदि में परिसंख्यानप्रकरणादि स्वयं आचार्य ने निबद्ध किये हैं। श्रवण या निदिध्यासन के प्राधान्य का अतएव प्रश्न नहीं उठता। तीनों को ज्ञानोत्पत्ति पर्यन्त आवृत्ति अनुष्ठेय है। इतना अवश्य है कि श्रवण से परोक्षज्ञान और निदिध्यासन से आपरोक्ष्य—यह मत भाष्यकार का नहीं है, वे श्रवण से आपरोक्ष्य मानते हैं, किन्तु उसके लिए पदार्थज्ञान पहले आवश्यक है, जैसा कि सुरेश्वराचार्य ने कहा है 'त्वं ब्रह्मेति गुरोर्वाक्यात् तन्निविष्टपदार्थयोः। उक्तान्वयादिनोत्पन्नविवेकः सन्नबुध्यत॥ १.४.१३८८॥

किया[1] जाये।—इस तात्पर्य से कहते हैं—जिसका निरूपण नहीं किया जा सकता, ऐसा होते हुए जो परम अक्षर ब्रह्म है, वह किस तरह साक्षात् अनुभूत हो? महावाक्य के अर्थ को ही बार-बार (मन में) दुहराना[2] और (उसकी यथार्थता के विषय में) युक्तियों का विचार करना—यह (ब्रह्म के साक्षात् अनुभव का) उपाय है, यह बताते हैं—(साक्षात् अनुभव का उपाय श्रुति द्वारा) बताया जा रहा है—

"जो कहने को तो[3] बुद्धिगुहा (जैसी छोटी जगह) में कार्यरत है (पर) है सबसे महान् (क्योंकि) सब पदार्थों का आश्रय है, (वह) हमारे अतिनिकट (हमारे मन में) स्फुरित होने वाला ज्ञानरूप प्रकाश है। चलने वाला, साँस लेने वाला, क्रियावान् व निष्क्रिय—जो कुछ भी है वह इसी में आश्रित है। मूर्त व अमूर्तरूप वह सर्वश्रेष्ठ तथा चुनने योग्य (ब्रह्म), जो लोगों के ऐन्द्रियज्ञान से[4] परे है, उसे तुम लोग समझ लो ॥ १ ॥"

'आविः' ज्ञान-प्रकाश (रूप परमात्मा)—'आविः'-शब्द प्रकाश-वाचक उणादिसिद्ध अव्यय है।[5] संसार की उपलब्धि (ज्ञान) रूप से

'वाक्यार्थस्य च विज्ञानं पदार्थस्मृतिपूर्वकम् ॥ अन्वयव्यतिरेकाभ्यां पदार्थः स्मर्यते ध्रुवम्। एवं निर्दुःखमात्मानमक्रियं प्रतिपद्यते' ॥ २.४.११२ ॥ अतः सर्वज्ञमुनि ने 'चेतसस्तु चितिमात्रबोधता ध्यानमित्यभिवदन्ति वैदिकाः' और 'श्रुतिमननसमासौ तन्निदिध्यासनं हि' (३.३४५, ३४६) इस प्रकार निदिध्यासन को द्विविध बताया है। एवं च प्रकृतभाष्यादि प्रसंग भी सर्वथा संगत है।

१. श्रवणादि की क्रियारूपता वार्तिकादि के अनुरोध से अद्वैतसिद्धि में (परि० ३) स्थापित है।
२. 'सुनना' अर्थसिद्ध है क्योंकि सुने बिना दुहराना नहीं होगा।
३. 'गुहाचरमिति नाममात्रम्' (उपनिषद्ब्रह्मयोगी)।
४. 'विज्ञानादैन्द्रियकज्ञानात्परं दूरे वर्तते, पराञ्चि खानीति श्रुतेः' इति नारायणः।
५. 'अर्चिशुचि०' (उणा० २.११०) इत्यादि से विहित 'इस्'-प्रत्यय बाहुलकात् अव धातु से (भ्वा० ५० से) कर्ता अर्थ में करने से तथा पूर्व में आङ् उपसर्ग लगाने से 'समान्ताद् अवतीति आविः' इस प्रकार आविः अव्यय सिद्ध होता है। बोपदेव ने अवधातु के उन्नीस अर्थ बताये हैं—

ब्रह्म सदा प्रकट है—ऐसी भावना (चिन्तन, दृष्टि) करनी चाहिये, यह (ब्रह्म को प्रकाशरूप बताने का) तात्पर्य है। अन्य (व्यासादि) आचार्यों द्वारा भी कहा गया है 'जो कुछ भी है व जिसका भी भान होता है वह आत्मरूप ही है। आत्मा से भिन्न न किसी का भान होता है व न कुछ है। आत्मस्वभावरूप ज्ञान ही अकेला प्रकाशित होता रहता है। (उसमें)[1] 'यह विषय है', 'यह विषयी है' इत्यादि सभी भेदकल्पनायें

'अव् रक्षणे गतौ कान्तौ प्रीतौ तृप्तौ द्युतौ श्रुतौ। प्राप्तौ श्लेषेऽर्थने वेशे भागे वृद्धौ ग्रहे वधे। स्वाम्यर्थेऽवगते कामे कृतावपि च दृश्यते ॥' द्युति अर्थात् दीप्ति अर्थ से प्रकाशार्थक आविःशब्द समझना चाहिए।

१. नित्य सत्य ज्ञानरूप आत्मा में विषय और विषयी का अध्यास मानने से विज्ञानवादप्रसक्ति नहीं। यद्यपि 'नान्योऽनुभाव्यो बुद्ध्यास्ति तस्या नानुभवोऽपरः। ग्राह्यग्राहकवैधुर्यात् स्वयं सैव प्रकाशते ॥ अविभागोपि बुद्ध्यात्मा विपर्यासितदर्शनैः। ग्राह्यग्राहकसंवित्तिभेदवानिवलक्ष्यते ॥' (सर्व० द० सं० २; द्र० प्रमाणवार्तिक पृ० ३५३—जायस्वाल, पटना) आदि कीर्तिआदि वचनों से सिद्धान्तसाम्य प्रतीत होता है किन्तु आत्मरूप नित्यज्ञान की अधिष्ठानता का स्वीकार और अस्वीकार—यह दोनों में महान् भेद है। जैसा कि सूत्रभाष्य में सिद्धान्तस्वीकृत ज्ञान से बौद्ध-विज्ञान का पार्थक्य स्पष्ट किया है 'विज्ञानस्य उत्पत्ति-प्रध्वंस-अनेकत्व-आदि विशेषवत्त्वाभ्युपगमात्' (२.२.२८ अन्त में)। विवरणकार ने भी यह अन्तर स्पष्ट किया है (वर्णक १, पृ० ३६७ कल०) 'क्षणिकाद् विज्ञानाद् भेदेन अर्थक्रियासामर्थ्यसत्त्वशून्यं विषयमाहुर्विज्ञानवादिनः। तत्त्वदर्शिनस्तु अद्वितीयात् संवेदनाद् अभेदेऽपि, विषयस्य भेदेनापि अर्थक्रियासामर्थ्यसत्त्वं स्थायित्वं चाबाधितमस्तीति वदन्ति'। इस प्रकार द्विविध या त्रिविध सत्ता अवतरित कर पारमार्थिक आत्मस्वीकृतिरूप भेद स्पष्ट किया है, यह तात्पर्य है। संक्षेपशारीरक में भी भेद प्रदर्शित है—'ननु मातृमानविषयावगतीः अपरस्परं प्रति विभागवतीः। उपयन् भदन्तमुनिना सदृशः कथमेष वैदिकमुनिर्भवति' ॥ २.२७ ॥ परमात्मा में अज्ञान से, परस्पर भिन्न व स्थायी प्रमाता आदि वेदान्त में स्वीकृत हैं जबकि ग्राह्य, ग्राहक व ग्रहण को परस्पर संकीर्ण—अभिन्न—मानना बौद्धों का चातुर्य है। अतएव नैयायिक आचार्य ने कहा है 'तथागतमतस्य तु कोऽवकाशः' (आ० त० वि० पृ० २३०, काशी)।

मिथ्या हैं' ॥ ( )। [हमारे अत्यन्त] संनिकट है[१]। 'जलता है, चमकता है' ( ) इत्यादि अन्य[२] श्रुतिवचन से निश्चित है (कि वही) वाणी आदि उपाधियों द्वारा[३] शब्द आदि विषयों को[४] जानता हुआ सा[५] प्रतीत होता है। देखना, सुनना, सोचना, निश्चय करना आदि उपाधियों के धर्मों से सब प्राणियों के हृदय में (वही) प्रकट हुआ अनुभव में आता है[६]। सभी प्राणियों के हृदय में स्थित ब्रह्म ही जीवरूपता को प्राप्त हो[७] वाणी आदि उपाधियों द्वारा शब्दादि

---

१. निरवच्छिन्न संनिकटता प्रत्यग्रूपता ही है, यह उपोपसर्ग के अर्थ का व्याख्यान करने वाले वार्तिकादि में व्यक्त है।

२. उक्त वचन मृग्य हैं। तुलनीय है 'यस्मात् स्वमहिम्ना सर्वान् लोकान् सर्वान् देवान् सर्वान् आत्मनः सर्वाणि भूतानि स्वतेजसा ज्वलति, ज्वालयति…' (नृ० पू० २.४) एवम् 'सर्वा दिश ऊर्ध्वमधश्च तिर्यक् प्रकाशयन् भ्राजते यद्वनड्वान्। एवं स देवो भगवान्वरेण्यो योनिस्वभावानधितिष्ठत्येकः ॥ श्वे० ५.४ ॥ प्र० ४.९ आदि भी दर्शनीय हैं।

३. वाणी आदि से करता हुआ सा प्रतीत होता है—यह समझना चाहिए। वाणी आदि से शब्दादि उपलब्ध नहीं होते वरन् श्रोत्रादि से होते हैं। अतः भाष्यकार ने कर्मेन्द्रियरूप उपाधियों से कर्तृत्वप्रतीति होती है यह बताने के लिए 'वाणी आदि उपाधियों से' ऐसा प्रयोग किया है। कर्तृत्व व ज्ञातृत्व दोनों की कल्पितता अभिप्रेत है।

४. श्रोत्रादि उपाधियों द्वारा—इतना जोड़ना चाहिए।

५. तथा करता हुआ सा—यह भी समझना चाहिए। 'सा' का तात्पर्य है कि कर्तृत्व व भोक्तृत्व स्वरूप से भी कल्पित हैं। ब्रह्म कर्तादि न हो, जीव कर्तादि हो यह 'कर्ता शास्त्रार्थवत्त्वात्' (२.३.१४.३३) न्याय से शंका कर वह कर्तृत्वादि जीव में भी औपाधिक ही है यह 'यथा च तक्षोभयथा' (२.३.१५.४०) न्याय से परिहार सूचित करने के लिए 'सा' शब्द रखा है।

६. दर्शनाकारवृत्ति तो उपाधि में बनेगी पर वह दर्शन तभी होगा जब उसमें आत्मतादात्म्य हो। अतः दर्शनादि में जो वृत्ति से अतिरिक्त दर्शनांश है, उस रूप में आत्मा ही प्रतीत हो रहा है। वह अविविक्त या सविशेष प्रतीति है अत एव मोक्षप्रयोजक नहीं यह बात अलग है।

७. 'तस्माद् ब्रह्म अविद्यया जीवभावं प्राप्यासित्वा तावके तु स्वरूपे (२.१६२), 'ब्रह्मैव संसरति मुच्यत एतदेव दौवारिकं भवति संसरणं तु तस्य' (३.७)

विषयों को जानता हुआ सा[1] प्रतीत होता है। अतः (वह) अकारण ही साक्षाद् अपरोक्ष है—यह भी[2] सदा याद रखना चाहिये, यह तात्पर्य है। जो यह ज्ञानप्रकाशरूप ब्रह्म संनिहित अर्थात् हृदय में अच्छी[3] तरह स्थित है वह 'गुहाचरं नाम' हृदयरूप गुफा में देखना, सुनना आदि कई तरह से प्रकट होता है अतः 'गुहाचर'—इस नाम से प्रसिद्ध है। 'यह'—इस तरह विषय होने वाला परिच्छिन्न व समस्त कार्यप्रपंच,[4] किसी आश्रय वाला है, कार्य और परिच्छिन्न होने से, घटादि की तरह; अतः जो सबका आश्रय है वही माया का आश्रय[5] मेरा आत्मस्वरूप है। इस प्रकार युक्ति से विचार (करना चाहिये, यह श्रुति ने) कहा—'महत्पदम्' शब्द से। [उसकी व्याख्या भाष्यकार करते हैं—] सबसे

इत्यादि सर्वज्ञमुनि के वचन व 'विध्वस्तसमस्तविकल्पं चिन्मात्रमेव ब्रह्म स्वाविद्यापरिकल्पितांस्तत्तद्विकल्पान् पश्यत् संसरतीति' इत्यादि चित्सुखमुनि के वचन (४. एकजीव०; पृ० ५८१ यीगी०) इसमें स्मर्तव्य हैं। यह सूत्रभाष्य भी द्रष्टव्य है 'प्राग्विवेकविज्ञानोत्पत्तेः शरीरेन्द्रियमनोबुद्धिविषयवेदनोपाधिभिः अविविक्तमिव जीवस्य दृष्ट्यादिज्योतिःस्वरूपं भवति' (१ ३.५.१९)।

१. यहाँ भी भाष्य की तरह 'वाणी आदि उपाधियों द्वारा कर्म करता हुआ-सा और श्रोत्रादि उपाधियों द्वारा शब्दादि विषयों को जानता हुआ-सा'—ऐसा समझना चाहिए।

२. 'भी' से—ब्रह्म सदा प्रकट है इस पूर्वोक्त भावना का समुच्चय है। यहाँ जैसी भावना करने को कहा जा रहा है वैसा विचार भी करते रहना चाहिए यह याद रखना उचित है। भावना की तरह विचार भी आवृत्ति से दृढ होता है। अतः प्रत्येक अनुभव में सत् व चित् रूप से ब्रह्म का साक्षात्कार हो रहा है ऐसा विचार भी कर सके तो करना चाहिए।

३. विशेषोपलब्धि आत्मा की मन में होती है यह 'निचाय्यत्वाद्' (१.२.७) इत्यादि बादरायणवचन में स्पष्ट है।

४. अनादि वस्तुयें पक्ष से बहिर्भूत हों इसलिए परिच्छिन्न भी कहा। 'यावद्विकारम्' (२.३.७) न्याय को याद रखना चाहिए। ऐसे ही हेतुद्वय की उपपत्ति है। कार्यस्वरूप हेत्वन्तर लाभ के लिए पक्ष में कार्यता का उल्लेख है। घट कपाल या भूतलादि पर आश्रित प्रसिद्ध है।

५. तत्पदार्थ से अभेद स्थापित करने के लिए यह कहा।

महान् होने के कारण वह 'महत्' है; सभी पदार्थों का आश्रय होने से सबसे पाया जाता है अतः 'पद' है। वह महत्पद क्यों ? (यह श्रुति द्वारा) बताया जाता है—क्योंकि 'अत्र' इस ब्रह्म में 'एतत्' सब 'समर्पितम्' रथ की नाभि में अरों की (ताड़ियों की) तरह आश्रित है। 'एजत्' चलते हुए पक्षी आदि; 'प्राणत्' जो साँस लेते हैं वे प्राण-अपान आदि वाले मनुष्य आदि; और 'निमिषत्' जो पलक झपकना आदि क्रिया वाले हैं; च-शब्द की सामर्थ्य से जो पलक झपकना आदि क्रिया वाले नहीं; यह सारा[1] ही प्रपंच इस ब्रह्म में ही आश्रित है। हे शिष्यों ! यह सब जिसमें आश्रित है वह तुम्हारा आत्मा होकर विद्यमान है, उसे 'जानथ' समझ लो।[2] (वह) सद्-असत्-स्वरूप है, क्योंकि सत् और असत् अर्थात् मूर्त व अमूर्त (या) स्थूल व सूक्ष्म उससे सर्वथा भिन्न होकर है ही नहीं।[3] नित्य होने से वही सब द्वारा 'वरेण्यम्' चुनने योग्य अर्थात् चाहने योग्य है।[4] (वह) लोगों के

---

१. चशब्द से जडजगत् का व एतदादि से चेतनजगत् का ग्रहण किया है। जगत् में चेतना का पता क्रिया से लगता है अतः उसे ही कार्यकारणरूप से बताया। 'प्राणत्' से क्रिया का हेतु प्राण बताया। 'एजत्' व 'निमिषत्' से दोनों प्रकार की क्रियाएँ बता दी। स्थानप्रच्युति न कर जो स्पन्दनरूप क्रिया है वह 'निमिषत्' और चलना आदि स्पष्ट क्रिया 'एजत्' से बतायी।

२. अवगच्छथेत्यवगच्छतेत्यर्थे प्रयुक्तम्। यद्वा, एतद्यदास्पदमवगच्छथ = जानीथ, तद्भवतामात्मभूतमित्युपदेशस्तत्पदार्थमुद्दिश्य त्वमर्थाभेदं विदधातीति भावः। 'यह सब जिसमें आश्रित तुम लोग जानते हो, वह तुम्हारा आत्मा होकर विद्यमान है'—यह भी वाक्ययोजना हो सकती है।

३. स्थूल व सूक्ष्म समस्त प्रपञ्च ब्रह्म से ही सत्तान्वित है, उसे छोड़ने पर प्रपञ्च सत्तान्वित नहीं हो सकता—'है'—इस तरह प्रतीत नहीं हो सकता। सूक्ष्म से कारण समझना चाहिए जिससे अविद्या का भी ग्रहण हो जाये। अत एव मूर्तामूर्त कहकर पुनः स्थूलसूक्ष्म यह व्याख्या की। 'मत्स्थानि सर्वभूतानि' (गी० ९.४) की व्याख्या में भी कहा है 'मत्स्थानि मया आत्मना आत्मवत्त्वेन स्थितानि, अतो मयि स्थितानीत्युच्यन्ते। तेषां भूतानामहमेवात्मा....' (भाष्य)।

४. आत्मातिरिक्त कुछ भी चाहने आदि के योग्य नहीं, यह श्रुति 'द्रष्टव्य, वरेण्य' आदि प्रयोगों से बताती है।

सामान्य ज्ञान से—इस प्रकार श्रुतिस्थ 'विज्ञानात्' पद का सम्बन्ध (दो शब्दों) बाद आये 'प्रजानाम्' पद से है—'परम्' असम्बद्ध (=अज्ञेय) है[1]; तात्पर्य है कि जो लौकिक अनुभवों का विषय नहीं[2] (वह प्रकृत ब्रह्म है)। सब अच्छे पदार्थों में जो अकेला ही 'वरिष्ठम्' श्रेष्ठ है, सभी दोषों से रहित होने के कारण अत्यधिक अच्छा है, वह ब्रह्म है ॥ १ ॥

घटादि की तरह सूर्यादि के जड होने पर भी जो प्रकाश वाला होना रूप (घटादि से) विलक्षणता है, वह (चेतन कारण न होने पर) असंगत होगी, इसलिए भी उसका[3] (प्रकाशका या विलक्षणता का) कारण समझना चाहिए यह बताते हैं—और भी—

---

१. उपनिषत् से ही समधिगम्य होने के कारण—यह समझना चाहिए।

२. पूर्व में संनिहित आविः कहकर उसे नित्य अपरोक्ष बताकर अब उसे ही लौकिकविज्ञानागोचर बताने का भाव है कि जिस सविशेषरूप से वह संनिहित आविः है वह वरेण्य नहीं किन्तु जो प्रजाओं के विज्ञान से परे निर्विशेष —द्वैताभावोपलक्षित—रूप है वही वरेण्य है। उस तत्त्व की अत्यन्त अप्रसिद्धि शंकित होने पर उसे प्रसिद्ध करने के लिए संनिहित आविः का बोध कराया था। उतने से ही कृतार्थताशंका को लौकिकविज्ञान से परे बताकर निवृत्त किया।

३. यद्यपि 'कार्यायोजनधृत्यादेः पदात् प्रत्ययतः श्रुतेः। वाक्यात् संख्याविशेषाच्च साध्यो विश्वविदव्ययः' ॥ कु० ५.१ ॥ इत्यादि तार्किकोक्ति के अनुसार कार्यपक्षक अनुमान से, आयोजन अर्थात् मेघादि की क्रिया को पक्ष बना कर प्रयत्नजन्यता सिद्ध करने से, मेघादि के पतनाभावरूप धृति को प्रयत्नजन्य सिद्ध करने से, शब्द में पुरुषविशेषकृत संकेतता सिद्ध करने से, प्रमा को तात्पर्यज्ञानजन्य सिद्ध करने से, वेद को पौरुषेय सिद्ध करने से, वाक्यत्वहेतु से वेद को पुरुषकर्तृक सिद्ध करने से तथा द्व्यणुक के परिमाण की जनिका संख्या को अपेक्षाबुद्धिजन्य सिद्ध करने से साक्षात् या परम्परया ईश्वर सिद्धि होती है तथापि भाष्यकार श्रुतिसिद्ध ईश्वर का युक्ति से निश्चय कराने के लिए अनुमान बताते हुए विचित्रत्व को हेतु-विशेषण देते हैं—'कार्यत्वे सति यथोक्तलक्षणत्वात्' (के० वाक्य २.१)। इसका प्रयोजन टीका में स्पष्ट किया—'कार्यत्वादित्युक्तेऽबुद्धिपूर्वकारिकार्ये विभागज्ञप्रयत्नपूर्वकत्वं नास्तीत्यनैकान्तिकत्वम् स्यात्तदर्थं यथोक्तलक्षणत्वाद्

"जो दीप्ति वाला है, जो सूक्ष्म से भी सूक्ष्म और (स्थूल से भी अधिक स्थूल है), जिसमें लोक व लोकनिवासी स्थित हैं, वही यह (प्रकृत) अक्षर ब्रह्म है, वह प्राण है, वही वाणी और मन है। वही यह (ब्रह्म) सत्य तथा अविनाशी है। उसी में मन एकाग्र करना चाहिए। हे सोम्य (शौनक)! तुम उस अक्षर ब्रह्म में अपना मन समाहित करो॥ २॥"

जो 'अर्चिमत्'[1] दीप्तिवाला है; उसकी दीप्ति—(प्रकाश)—से[2] आदित्यादि प्रकाशित होते हैं अतः (वह) ब्रह्म दीप्ति वाला है। और भी, दीप्तिवाला होने से आदित्यादि की तरह वह इन्द्रियों से ग्राह्य भी हो यह प्राप्त होता है, उसका निषेध श्रुति करती है—जो सामक[3] आदि सूक्ष्म वस्तुओं से भी 'अणु च' सूक्ष्म है—(यदि अत्यन्त सूक्ष्म है) तो परमाणु के परिमाण वाला होगा—यह शंका नहीं करनी चाहिए, यह कहते हैं—'च' शब्द से (बताया कि वह) पृथ्वी[4] आदि स्थूल वस्तुओं से भी अत्यधिक स्थूल है। स्थूल होने से तव[5] अपने से भिन्न किसी में

इति'। अतः भाष्याभिप्राय के अनुकूल प्रकृत स्थल पर टीकाकार का प्रयोग जानना चाहिए।

१. 'अर्चि' स्त्रीलिंगशब्द नपुंसकलिंग 'आर्चिस्' शब्द के समानार्थक है 'ज्वालाभासो न पुंस्यर्चिः' (अमर०)।

२. 'तस्य भासा सर्वमिदं विभाति' यह दशम मन्त्र में कहना ही है। दीप्ति व दीप्तिमत् के भेद की विवक्षा नहीं है। यहाँ '...दीप्तिमद्दीप्त्या...' '....दीप्तिमत्तद्दीप्त्या' व 'दीप्तिमत् यद्दीप्त्या' इस प्रकार तीन पाठभेद मिलते हैं।

३. धान्यविशेष का नाम है। खस-खस, राई आदि छोटी कोई भी वस्तु समझी जा सकती है।

४. पृथ्वी के समस्त पिण्ड से तात्पर्य है। 'अणोरणीयान्महतो महीयान्' (श्वे० ३.२०) आदि अन्य वचन भी प्रमाण हैं। दोनों अत्यन्त विरुद्ध परिमाणों के विधान से ही उसकी परिमाणरहितता अत्यन्त स्पष्ट है।

५. स्थूल होने पर—यह अर्थ है। आश्रयत्वेन प्रसिद्ध सभी का वही आश्रय है अतः उसका अन्य आश्रय अप्रसिद्ध होने से वह अन्याश्रित नहीं। इसमें भूमब्राह्मण (छा० ७.२४) ओतप्रोतब्राह्मण (बृ० ३.८), 'न चाहं तेष्ववस्थितः' (गी० ९.४) आदि स्मृति, 'अधिष्ठानानुपपत्तेश्च' (२.२.३९) इत्यादि न्याय प्रमाण जानने चाहिए।

आश्रित होगा—यह शंका नहीं करनी चाहिए, यह कहते हैं—जिसमें भू-आदि लोक और जो 'लोकिनः' लोकों में रहने वाले मनुष्यादि हैं (वे) 'निहिताः' आश्रित हैं। क्योंकि यह सभी प्रसिद्ध (आश्रय स्वयम्) चेतन पर आश्रित हैं इसलिए, प्राण आदि का व्यापार जडनिष्ठ[1] व्यापार होने से रथ आदि के व्यापार की तरह किसी चेतन अधिष्ठाता[2] के कारण होता है (यह सिद्ध होता है) और चेतन नाना हैं इस बात में कोई प्रमाण न होने से[3] (समस्त प्रपंच का अधिष्ठान) अकेला एक चैतन्य है, यह विचार करना चाहिए, यह कहते हैं—वही यह (प्रकृत) अक्षर ब्रह्म सबका आश्रय है। वह (अक्षर पुरुष) प्राण है, वही[4] 'वाङ्मनः' वाणी और मन है व (वही) सभी इन्द्रियाँ है। प्राणादि का अधिष्ठान होने से आत्मा प्राणादि द्वारा लक्ष्य समझना चाहिए[5]।

---

१. 'जडप्रवृत्तित्वात्', 'जडवृत्तित्वाद्' इत्युभयथोपलभ्यते पाठोऽर्थे न विशेषः।

२. उस पर नियन्त्रण कर उसे प्रवृत्त करने वाले को अधिष्ठाता कहा। 'ईक्षतेर्नाशब्दम्' (१.१.५) इत्यादि प्रसंगों में सांख्यपुरुष से औपनिषद पुरुष का वैलक्षण्य स्पष्ट है अतः अभिन्न निमित्तोपादन चेतन को वेदान्तों में स्वीकारा है यह याद रखना चाहिए।

३. प्रथम मुण्डक में (१.२.१) एकजीववाद का निराकरण टीकाकार ने किया था, उससे विरोध नहीं क्योंकि नानाजीव मानने पर भी वेदान्त में नाना चेतन नहीं माने जाते। उपाधि से चेतन जीव होता है, उपाधि नाना हों तो जीव नाना व उपाधि एक हो तो जीव एक स्वीकारा जाता है। अतः यद्यपि ऐसा प्रतीत होता है कि एकजीववाद व बहुजीववाद में अन्तर है तथापि तथ्य यह है कि दोनों मतों में विभिन्न उपाधियों को मानकर एकत्व या बहुत्व को कहा जा रहा है अतः तात्त्विक अन्तर नहीं। हाँ, नाना अविद्या मान कर जीवभेद की कल्पना एकदेशियों ने की है जो मतान्तर के रूप में समझी जा सकती है। वह भी प्रक्रियाविशेष होने से सिद्धान्त में कोई भेद नहीं।

४. 'सेयं देवतैक्षतेत्यादौ तत्सत्यं स आत्मेत्यन्ते च श्रुतौ स्त्रीलिङ्गान्तदेवतावि-पदानां तत्सत्यमिति नपुंसकान्तस्य स आत्मेतिपुंल्लिङ्गात्मशब्दस्य एकार्थ-त्वमविवक्षितोपाधिमत्तया, तत्त्वंपदलक्ष्यार्थस्यैकत्वात्'—इति ललितात्रिशती-भाष्ये (श्लो० ५)।

५. जैसे 'रस्सी साँप है' कहने का अभिप्राय होता है कि जो साँप दीख रहा

'वही अन्दर विद्यमान प्रत्यक्‌चैतन्य है। प्राण इन्द्रिय आदि सभी समूह चैतन्य पर आश्रित ही हैं क्योंकि अन्य श्रुतिवचन भी है '(जो ब्रह्म को) प्राण का प्राण[2] जानते हैं, उन्होंने ब्रह्म को निश्चय ही जान लिया है)' (बृ० ४.४.१८)। जो प्राणादि का प्रत्यग्भूत अधिष्ठान चैतन्य है वही यह 'सत्यम्' तथ्य है, इसीलिए 'अमृतम्' अविनाशी है। वह 'वेद्धव्यम्' मन से बींधने योग्य[3] (विषय करने योग्य) है, अर्थात् उसे विषय कर[4] मन को एकाग्र करना चाहिए। क्योंकि वह ऐसा है, अतः हे सोम्य शौनक! 'विद्धि' अक्षर ब्रह्म में मन को एकाग्र कर स्थापित करो[5] ॥ २ ॥

हैं वह रस्सी है, रस्सी को बताने का उपाय प्रतीयमान साँप है, वैसे 'ब्रह्म प्राण हैं' आदि बाधसामानाधिकरण्य स्थलों में समझना चाहिए यह तात्पर्य है।

१. समष्टिव्यष्टिरूप प्राणादि का अधिष्ठान कोई ईश्वर होगा जिसकी उपासना आदि से फल होगा यह 'विद्धि' विधि का प्रयोजन है—ऐसी शंका को भाष्यकार निवृत्त करते हैं—वही इत्यादि से।

२. प्राण तभी प्राणन करता है जब वह आत्मरूप चैतन्यात्मक ज्योति से प्रकाश्य हो क्योंकि जड प्राण अपनी सत्ता स्फुरणा के लिए परमुखापेक्षी है, इत्यादि तत्रत्य भाष्य-प्रसंग में स्पष्ट है। इसी अर्थ की 'प्राणस्य प्राणः' इत्यादि केनश्रुति (१.२) भी है।

३. अगले मन्त्र में धनुष-बाण का रूपक उपस्थित करना है अतः यहाँ इस तरह कहा।

४. 'मनसैवानुद्रष्टव्यम्' (४.४.१९ बृ०) आदि श्रुति के आधार पर संस्कृत मन से शुद्ध ब्रह्म को विषय करना भी अविरुद्ध है। इससे, शुद्ध ब्रह्म वृत्तिविषय नहीं—ऐसा मानने वाले एकदशियों की भी चिन्त्यता स्पष्ट है। यद्वा, यहाँ सविशेष की भी उपासना बतायी जा रही है, अतः कोई विरोध नहीं।

५. 'विद्धि' से 'जानो' ऐसी विधि प्रतीत होती है किन्तु उसका भी तात्पर्य ज्ञान हो सके इसके लिए जो कर्तव्य है उसके विधान में ही सम्भव होगा। वार्तिक में कहा है 'अतोऽपुरुषतन्त्रत्वान्नात्मज्ञाने विधिर्भवेत्। अन्वयादि-क्रिया त्वस्य तत्तन्त्रत्वाद्विधीयते ॥ श्रवणं मननं तद्वत् तथा शमदमादि यत्। पुमाञ्शक्नोति तत् कर्तुं तस्मादेतद्विधीयते' ॥ २.४.१२१-२ ॥ प्रकृत में तो सन्दर्भ से ही उपासनक्रिया सिद्ध होने से उसी का विधान है।

विचार करने में असमर्थ साधक प्रणव का सहारा लेकर जीव-ब्रह्म की एकता को विषय कर मन एकाग्र करे जिमसे क्रममुक्तिरूप फल मिलता है, यह बताने के लिए (साधन प्रक्रिया का) उपक्रम (श्रुति के अनुसार) करते हैं—मन को एकाग्र कर कैसे स्थापित करना चाहिए ?—यह श्रुति द्वारा बताया जाता है—

"हे सोम्य ! उपनिषत्-प्रसिद्ध प्रणवात्मक धनुष को लेकर, जो कि एक उत्तम अस्त्र है, उपासना से[1] पैने किये आत्मरूप[2] बाण का सन्धान करे। उसे खींच कर—मन व इन्द्रियों को विषयों से व्यावृत्त कर—लक्ष्य में एकाग्र चित्त से उसी अक्षररूप लक्ष्य को बींधो—मन को उसमें स्थापित करो ॥ ३ ॥"

'औपनिषदम्' उपनिषदों में ज्ञात होने वाले प्रसिद्ध 'धनुः' धनुष को—(जो) धनुष 'महास्त्रम्' महान् (उत्तम) भी है अस्त्र भी है अतः महास्त्र (उत्तम अस्त्र) है—'गृहीत्वा' लेकर, उस पर तीर को (रखे)। किस विशेषता वाले बाण को ? यह बताया—'उपासानिशितम्' निरन्तर हर तरह से किये ध्यान द्वारा पैने[3] किये गये, अर्थात् उपासना के संस्कारों वाले (बाण) को, 'सन्धयीत' धनुष से जोड़े (उसपर रखे)। और (बाण को धनुष पर) रखने के बाद 'आयम्य' उसे खींचकर अर्थात् इन्द्रियों समेत मन को इन्द्रियों व मन के विषयों से विमुख कर लक्ष्य के प्रति ही अभिमुख कर (बींधो)। हाथ से धनुष को खींचने की तरह प्रकृत स्थल में खींचना तो सम्भव नहीं, (अतः कहा—) 'तद्भावगतेन' उस लक्ष्यरूप अक्षर ब्रह्म में भाव अर्थात् एकाग्रता को पा चुके चित्त से पूर्वोक्त स्वरूप वाले लक्ष्यरूप उसी अक्षर को हे सोम्य ! तुम बींधो (उसी में मन स्थापित करो)। इन्द्रिय समूह को जिसने विषयों से निवृत्त कर लिया है और 'ॐकार ब्रह्म है'—ऐसा ध्यान कर रहा है,[4] उसको

१. पैना करने के लिए पत्थर की जगह स्वरूप है—'स्वरूपध्यानोपलतीक्ष्णीकृतम् मनः' (उपनिषद्ब्रह्म०)।
२ अग्रिम मन्त्र में बताया आत्मा। 'बुद्धिलक्षणम्' नारायणः।
३. योगशास्त्र में तो क्लेशों को प्रतिपक्षभावना से कमजोर बनाना तनूकरण कहा गया है (यो० सू० २.४)।
४. अनुभूतिस्वरूपाचार्य के ये वचन तुलनीय हैं 'उपसंहृतबाह्यकरणेन समाहितमनस्केन ओंकारोच्चारणे सति यच्चैतन्यं स्फुरति तद् ओंकारसामीप्यात्

जो (अपने मन में) प्रणवाकार वृत्ति से अभिन्न हुआ चैतन्य का प्रतिबिम्ब स्फुरित होता—भासता—है वह (स्फुरित होता प्रतिबिम्ब) आत्मा है—ऐसा विचार 'प्रणव पर बाण रखना' है। उस चैतन्यप्रतिबिम्ब की बिम्बचैतन्य से एकता का विचार करना 'लक्ष्य को बींधना' है ॥ ३ ॥

जो धनुषादि (रूपक में) कहे थे, वे (उनके निरूप्यार्थ) श्रुति द्वारा बताये जाते हैं—

"प्रणव धनुष है, जीवात्मा[1] बाण है, ब्रह्म उसका लक्ष्य कहा जाता है। प्रमादहीन साधक को चाहिये कि उस लक्ष्य का वेधन करे (और) जैसे बाण लक्ष्य से अभिन्न हो जाता है, वैसे ब्रह्म से अभिन्न हो जाये ॥ ४ ॥"

शाखाचन्द्रन्यायेन ओंशब्देन लक्ष्यते। अतो लक्षणया ओंकारनिर्णयो ब्रह्मप्रतिपत्त्युपाय इति।' (मां० १, पृ० २१५-M.R.I.)। कठभाष्यटीका में आनन्दगिरि स्वामी ने भी कहा है—'यस्य शब्दस्य उच्चारणे यत् स्फुरति तत् तस्य वाच्यं प्रसिद्धम्, समाहितचित्तस्य ओंकारोच्चारणे यद् विषयाऽनुपरक्तं संवेदनं स्फुरति तद् ओंकारमवलम्ब्य तद्वाच्यं ब्रह्मास्मीति ध्यायेत्' (१.२.१६)। ओंकार की उपाधिवाले ब्रह्म को 'मैं'—ऐसा समझना है अतः ध्यान है। जैसे धनुष पर बाण रखते हैं ऐसे प्रणव पर आत्मा को रखना है—दोनों का अभेद स्थापित करना है। लक्ष्य तब बींधा जाता है जब धनुष से बाण छूटे ऐसे ही जब प्रणव से आत्मा छूटे—उसके लक्ष्य के रूप में भासित हो, प्रतिबिम्ब छोड़ बिम्बभाव में स्थिति हो—तब लक्ष्यवेध यहाँ भी सम्भव है। जैसे शरसन्धान किये बिना तीर छोड़ा नहीं जा सकता ऐसे ही प्रथम प्रतिबिम्ब में आत्मदृष्टि करनी चाहिए तभी बिम्बभाव में स्थिति हो सकती है। विचार-दृष्ट्या, लक्ष्यबोध के लिए वाच्यबोध आवश्यक है। ओंकार का (व्यक्त या अव्यक्त) उच्चारण कर 'ॐ' ऐसा जो ज्ञान है वह मैं हूँ यह पहले ध्यान करना चाहिए। फिर, वह ज्ञान मुझ से हो रहा है, मैं उससे भिन्न हूँ ऐसा ध्यान करना चाहिए यह भाव है।

१. 'आत्मा अन्तःकरण'मिति ब्रह्मयोगी। 'धीर्वाण' इति विद्याप्रकाशे (६-५९) अरण्यस्वामिनः। उभयत्रोपाधितद्वतोरभेदेनाविरोधः। प्रकाशे चात्र 'पञ्चीकृतोक्तमार्गेण प्रणवध्यानमाचरेदि'ति विहितम्। तदपि सन्ध्यावेलास्विति वार्तिकम्। तदुक्तमार्गस्तु त्रयाणामकारादीनामर्थान्विज्ञाय प्लुतप्रणवमुच्चरन् अकार-तदर्थौ उकारतदर्थयोः, उकारतदर्थौ मकारतदर्थयोः मकारतदर्थौ

'प्रणवः' ओंकार धनुष है। जैसे लक्ष्य में बाण के प्रवेश के प्रति धनुष कारण होता है वैसे अक्षररूप लक्ष्य में जीवरूप बाण के प्रवेश के प्रति कारण ॐकार होता है। जैसे धनुष से छोड़ा बाण लक्ष्य में अवस्थित हो जाता है (वैसे) अभ्यास किये जाते हुए प्रणव द्वारा संस्कृत किया जाता हुआ उस प्रणव का आधार (= अभ्यासकर्ता) बिना रुकावट के अक्षर ब्रह्म में अवस्थित होता है अतः धनुष की तरह होने से प्रणव (ॐकार) धनुष है। जल में प्रविष्ट सूर्य की तरह इस शरीर में प्रविष्ट बुद्धि की सभी वृत्तियों के साक्षिरूप से स्थित, उपाधि से लक्ष्यमाण परमात्मा ही बाण है।[1] जैसे बाण (अपने लक्ष्य से जुड़ जाता—अभिन्न हो जाता है) वैसे वह (उपाधि से लक्ष्यमाण परमात्मा) स्वरूपभूत अक्षर ब्रह्म में जुड़ जाता (—अभिन्न हो जाता) है, इसलिये मन को समाहित करने के इच्छुकों द्वारा अपने आत्म-

---

ॐकार-तल्लक्ष्ये विलापयन् स लक्ष्योऽहमेवेति चिन्तयेत्। 'ओङ्कारोऽहमी' त्यस्यायमेवार्थस्तथा च वार्तिके 'चिदात्मनि विलापयेत्। चिदात्माऽहं'मित्यादि (५०)। न ह्यत्र ब्रह्मणः कुत्रचिल्लयउक्तो, यथोक्तमानन्दगिरीये विवरणे तदपि ब्रह्म क्व लीयत इत्याशंक्य न कुत्रापीति—'न तस्मात्परं किंचिदस्ति' (पृ० ४४७ MRI)। तत्र पुराणमपि दर्शितम्। न च 'तत्साक्षिणि विलापयेदि'ति वार्त्तिकविरोधस्तस्य चित्तविलापनपरत्वाद्येन त्यजसि तत्त्यजेति-न्यायेन। नचाहमीति सप्तमीविरोधः, ध्याता ह्ययं, लक्ष्यमपि स्वाऽभेदेन न विजानातीत्योङ्कारार्थः शुद्धोप्यस्य विषयतया भासितुमीष्टे, तत्रापि यत्नतोऽहमेव स इति चिन्तनीयमिति सप्तम्यर्थः। सदाप्यभ्यासशीलाय प्रणवार्थः सुदुर्लभः। ततो विमुखचित्तानां मादृशान्तु कथा वृथा॥

१. 'अक्षमा भवतः केयं साधकत्वप्रकल्पने। किं न पश्यति संसारं तत्रैवाज्ञान-कल्पितम्' ॥ वा० १.४.१२७९, पृ० ४५० MRI॥ 'सर्वो हि लोक-व्यवहारो ब्रह्मण्येव कल्पितो न परमार्थः सन् इति अत्यल्पमिदमुच्यते—इयमेव कल्पनाऽपेशला—इति। तस्माद् यद् प्रविष्टं सृष्ट्वा ब्रह्म, तद्ब्रह्म' (बृ० भा० १.४.१०, पृ० ९२–९३ MRI)। ऐतरेयक में 'सईक्षत,··· स····ब्रह्म···अपश्यद्' (१.३.११–१३) इस प्रकार परमेश्वर का ही स्वात्म-दर्शन स्वयं श्रुति ने स्पष्ट किया है। प्रवेश का विस्तृत विचार बृहद्भाष्य में (१.४.७, पृ० ६९ आदि MRI) किया है। 'कार्यस्थस्य उपलभ्यत्वमेव प्रवेशः' (पृ० ७४)—यही निर्णय है।

स्वरूप से लक्ष्य किया जाने वाला होने से (वाण के) लक्ष्य की तरह वह ब्रह्म लक्ष्य कहा जाता है। ब्रह्मात्मता के साधनों की उक्त प्रकार की स्थिति निश्चित होने पर 'अप्रमत्तेन' बाह्य[2] विषयों का भोग करने की इच्छारूप प्रमाद से रहित, हर ओर से वैराग्य वाले, नियन्त्रित इन्द्रियों वाले (तथा) एकाग्रचित्त वाले साधक द्वारा लक्ष्यरूप ब्रह्म का वेधन— उसमें पूर्वोक्त प्रकार से मनःस्थापन—किया जाना चाहिए। फिर उस वेधन के बाद 'शरवत्तन्मयो भवेत्' जैसे लक्ष्य से अभेदप्राप्तिरूप फल वाण को मिलता है वैसे 'शरीर आदि मैं हूँ' ऐसे निश्चय को छोड़ अक्षर से अभिन्नस्वरूपतारूप फल पाना चाहिए, यह तात्पर्य है[3] ॥ ४ ॥

अगले मन्त्र से पूर्वोक्त बात ही दुहरायी गयी है (किन्तु इसकी आवश्यकता बताते हुए इस दुहराने की दोषरूपता[4] का) परिहार करते हैं—अक्षर ब्रह्म का समझ आना कठिन होने से उसे ही पुनः (श्रुति में) कहा जिससे[5] कि उसे आराम से समझा जा सके—

"आसमान, पृथ्वी और इनके बीच का सारा आकाश[6] तथा सभी इन्द्रियों सहित मन[7] जिस अक्षर में आधारित (अध्यस्त) है, उस अद्वितीयतत्त्व को ही प्रत्यगात्मा समझो (जानो)। भेदसम्बन्धी सब

१. प्रतिविम्ब से सम्बद्ध विम्ब लक्ष्य होता है।

२. आन्तरविषयों का भी उपलक्षण है। प्रत्यग्दृष्ट्या विषयमात्र बाह्य है।

३. यद्यपि बाण अपने लक्ष्य से सर्वथा अभिन्न नहीं हो जाता तथापि उसमें ऐसा संलग्न हो जाता है कि उससे अलग भी न हो। दार्ष्टांत में यद्यपि अत्यन्त अभेद अभिलषित है तथापि उपासना का प्रसंग होने से उसकी साक्षाद्विवक्षा नहीं भी है। अतः दृष्टान्त सर्वथा उपयुक्त है। 'फल पाना चाहिए' का अर्थ है फल पाने के लिए विहित मार्ग से उपासना करनी चाहिए।

४. यद्यपि गौतम ने (५.२.१४) 'अन्यत्रानुवादात्' कह कर व्याख्यारूप अनुवाद से इतर स्थल पर शब्द या अर्थ का पुनर्वचन अशोभनीय माना है तथापि भाष्यकार आचार्य शंकर निष्प्रयोजन पुनरुक्ति को ही दोष मानते हैं, सप्रयोजन को नहीं।

५. अभ्यासरूप तात्पर्यलिंग का लाभ भी समझना चाहिये।

६. द्यावापृथिव्योरन्तरीक्ष्यत इति व्युत्पत्त्या।

७. मन से मन और प्राण दोनों समझने चाहिए क्योंकि पहले (१.१.८) 'अन्ना-त्प्राणोमनः' इस प्रकार कहा जा चुका है। क्रियाज्ञानशक्त्यात्मक हिरण्यगर्भ व व्यष्टि, दोनों जानने चाहिये।

बातें छोड़ो। यह आत्मज्ञान ही मोक्षप्राप्ति का सेतु[1] (उपाय) है॥ ५॥"

हे शिष्यों! जिस अक्षर पुरुष में आसमान व पृथ्वी तथा इनके बीच का सारा आकाश, एवं अन्य सब 'प्राणैः' इन्द्रियों समेत मन 'ओतम्' आधारित (अध्यस्त) है, सब के आधाररूप उसी 'एकम्' अद्वितीय (ब्रह्म) को तुम्हारा अपना और सभी प्राणियों का 'आत्मानम्' सर्वान्तरतम आत्मा (प्रत्यगात्मस्वरूप) 'जानथ' जानो, और (अपने उस स्वरूप को) जानकर अपरा विद्या का अर्थात् अन्यत्वसम्बन्धी बातों का 'विमुञ्चथ' (इसका लौकिक व्याकरणानुकूल रूप होना चाहिए—) 'विमुञ्चत' परित्याग करो। (बातों के परित्याग का तात्पर्य है कि) अपरा विद्या जिसे प्रतिपादित करती है उस समस्त कर्मजात को उसके साधनों और फल[2] सहित छोड़ दो, क्योंकि,

---

१. पूर्व में धनुपादिरूपक से समझाया था, साथ ही उपासना का विधान किया था। यहाँ उपासना का विधान नहीं तथा सेतु (पुल) के रूपक से तत्त्व को समझाया है। इन्हीं प्रकारभेदों से बार-बार कहना सार्थक होता है। 'एष सेतुः' (बृ० ४.४.२२), 'आत्मा स सेतुः' (छा० ८.४.१), 'यः सेतुरीजानानाम्' (कठ० २.१.२), 'अमृतस्य परं सेतुम्' (श्वे० ६.१९) आदि प्रयोगों से श्रुति को यह रूपक प्रिय है यह प्रतीत होता है। 'द्युभ्वाद्यायतनं स्वशब्दात्' (१.३.१), 'धृतेश्च महिम्नोस्यास्मिन्नुपलब्धेः' (१.३.१६) आदि सूत्रों में भी इस शब्द का विचार दर्शनीय है। 'धारणाद्वामृतत्वस्य साधनाद्वास्य सेतुता' ऐसा भामतीकार ने व्यक्त किया है। उणादि तुन् (उणादिसूत्र सि० कौ० ४२६८) प्रत्यय 'षिञ् बन्धने' धातु से लगता है तो 'सिनोति = बध्नातीति सेतुः' शब्द सिद्ध होता है। पानी को बाँध दे तथा पानी पार करने का साधन बने—ऐसा जो निर्माण (जिसे एनिकट कहते हैं) वह सेतु शब्द का विवक्षित अर्थ है। सूत्रभाष्य में (१.३.१) 'अपर आह' कहकर भाष्य में ज्ञान और वाग्विमोक—इन्हें सेतुशब्द से निरूपित बताया है। वाचस्पति ने यहाँ अन्यवाग्विमोचन तथा आत्मज्ञान को विधेय भी माना है। ज्ञानविधान का तत्साधनविधान में पर्यवसान सुनिश्चित है।

२. 'च सर्वं' मिति चेन फलमपीत्यर्थः। परित्यजतेति पूर्वेण सम्बन्धः। एतेनात्मबोधदार्ढ्याय ससाधनं कर्म त्याज्यमित्येव भगवत्पादीयं मतमिति स्थितम्। न हीह दृढज्ञानादूर्ध्वं त्यागो विधीयते, तदा विधानानुपपत्तेः साधकस्यैवायं विधिः।

साधनों सहित सब कर्मों को छोड़कर आत्मा को ही जानना चाहिए इसी बात में कारण बताते हैं—'अमृतस्य एष सेतुः' यह आत्मयाथात्म्य का ज्ञान 'अमृतस्य' अमरतारूप मोक्ष की प्राप्ति के लिये 'सेतुः' सेतु की तरह है कारण कि संसार-समुद्र को पार करने का यह साधन है। (जैसे कि यह निश्चित होता है कि यही एकमात्र साधन है) वैसा अन्य श्रुतिवचन है—'उसे जानकर ही मृत्यु से पार जाता है', इससे अन्य कोई मार्ग मोक्ष के लिये नहीं है' (श्वे० ३.८)। [2]धनुषरूप अस्त्र से जिसे लक्ष्य किया जाता है (=जिसे लक्ष्य कर प्रणवधनुः का प्रयोग किया जाता है) वह धनुष का लक्षण[3]रूप जीव-ब्रह्म की एकता का साक्षात्कार (ही एकमात्र साधन मोक्ष का है) यह तात्पर्य है ॥ ५ ॥

और भी,

"जैसे रथ के पहिये की नाभि में ताड़ियाँ प्रवृष्ट रहती हैं वैसे नाड़ियाँ जहाँ प्रविष्ट हैं उस हृदय में[4] वह प्रकृत आत्मा (प्रसन्न, क्रुद्ध आदि) बहुत प्रकार का होता हुआ विद्यमान है। उस आत्मा का ॐकार के सहारे चिन्तन करो। अविद्या से परे[5] ब्रह्म को निर्विघ्न प्राप्त करो ॥ ६ ॥"

यत्तु ममेदं कर्मेत्याद्यभिमानाभावमात्रेणालमिति रागिगीतं तदाशामोदकतृप्तिमात्रम्। अभिमानाभावे कर्मत्यागस्यावश्यंभावादापातप्रतिपत्तिरपीदृशी निरुणद्धयेव कर्मेति चान्यत्रानन्दगिरिवचनादित्युपोद्धाते विस्तरेणोक्तत्वान्नेह तन्यते।

१. तं विदित्वैव मृत्युमत्येति—इति योज्यम्।

२. यह टीकावाक्य कातिबों की भूल से यहाँ आ गया है ऐसा कुछ आचार्य मानते हैं। 'अमृतस्यैष सुतुः' में 'एषः' शब्द की व्याख्या की जा रही है ऐसा माना जा सकता है। 'एतदात्मज्ञानम्' की जगह 'तल्लक्षणमात्मज्ञान' मित्यादि कुछ पाठ भाष्य में रहा हो यह भी संभव है।

३. लक्ष्य इस अर्थ में उक्त व्युत्पत्ति से लक्षण शब्द का प्रयोग है।

४. 'तत्रेत्यध्याहार्यम्'—इति ज्ञेयम्।

५. 'पादोस्य सर्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि' (छां० ३.१२.६), 'एकांशेन स्थितं जगत्' (गी० १०.४२) इत्यादि श्रुति-स्मृति से निश्चित है कि ब्रह्म सदा अविद्या से परे है ही। उसे मुक्तोपसृप्य के रूप में तत्र-तत्र कहा जाता है। सोपाधिक को मुक्तोपसृप्य मानने पर ईश्वरभावापत्ति होती है अतः ऐसी

'अरा इव' जैसे रथ के पहिये की नाभि (बीच) में ताड़ियाँ घुसी रहती हैं वैसे देह में हर तरफ फैली नाड़ियाँ 'यत्र' जिस हृदय में 'संहताः' भली प्रकार से घुसी हुई हैं, उस हृदय में बुद्धि-वृत्तियों का साक्षी हुआ हुआ वह 'एषः' प्रकृत आत्मा (अक्षर पुरुष) 'अन्तः' (हृदय के) भीतर[1] 'चरते' (लौकिक पदव्यवस्था में रूप होगा) 'चरति' रहता है। अन्तःकरणरूप उपाधि के अनुसार अपने को बना लेने वाला होने से[2] देखते हुए, सुनते हुए, विवाद करते हुए, निश्चय करते हुए 'बहुधा' अनेक प्रकार से क्रोध, हर्ष आदि वृत्तियों से 'जायमानः' मानो पैदा होता हुआ (रहता है)। सांसारिक लोग कहते हैं—हर्षित हो गया[3], क्रोधित हो गया—इत्यादि। 'ओमित्येवम्' ओंकार का सहारा लिये हुए पूर्वोक्त (धनुरादि) दृष्टियों से उस आत्मा का 'ध्यायथ' (अनवरत) चिन्तन करो। जानकार आचार्य द्वारा शिष्यों के लिये जो कुछ भी बताने योग्य है वह बता दिया गया। शिष्य भी अक्षर ब्रह्म प्रतिपादक विद्या को जानने की इच्छा वाले होने के कारण सब कर्मों से[4] निवृत्त होकर मोक्ष-मार्ग में प्रवृत्त होते हैं। आचार्य आशीर्वाद देते हैं कि उन्हें बिना किसी

प्रक्रिया रची जाती है। माया मायिक होने से उसका अधिष्ठान हमेशा उससे परे ही रहता है यह तथ्य है और इसी तात्पर्य से उक्त शास्त्रवचन हैं। उपाधिबाध के कारण ईश्वरभावापत्ति भी नहीं। दीक्षितमत से सर्व-मुक्तिपर्यन्त तद्भावापत्ति मानने में भी कोई दोष नहीं।

१. विशेषतः उपलब्धि वहाँ होने से ऐसा कहा है।

२. उपाधि से अविवेक के कारण—यह हेतु समझना चाहिये। अहंबुद्धि कर्तृप्रधान होती है ऐसा यहाँ बताने का अभिप्राय है कि हम चाहें तो उसे न करें। विवेक न करना रूप दोष से हम अपने को उपाध्यनुसार बना लेते हैं।

३. जैसे 'लड़का हो गया', 'बछड़ा हो गया' आदि में 'हो गया' का अर्थ है 'पैदा हो गया' वैसे यहाँ समझना चाहिये।

४. वस्तुतः कर्ममात्र काम्य है। अप्रत्यवायी होने की कामना से ही नित्य में भी प्रवृत्ति होती है। अतः कामनानिवृत्ति व्याप्त है कर्मनिवृत्ति से। तथा कामना आत्मसम्बन्धित हो जाने से अतिरिक्त फल की इच्छा न रह जाने पर प्रवृत्ति संभव नहीं। यद्यपि निवृत्ति भी प्रवृत्ति-विशेष कही जा सकती है तथापि मोक्षानुकूल प्रवृत्ति ही निवृत्ति पदार्थ है। मोक्षविमुख निवृत्ति को भी आचार्यों ने प्रवृत्ति ही माना है।

विघ्न के ब्रह्मप्राप्ति हो—'वः' तुम्हारा 'पाराय' दूसरे किनारे पहुँचना 'स्वस्ति' बिना विघ्न के हो जावे। कर्मों में आसक्ति वाले लोगों की संगति से कर्म में व विषयों में होने वाला आदरभाव[1] महावाक्य के अर्थभूत जीव-ब्रह्म-अभेद के ज्ञान को दृढतापूर्वक समझने में रुकावट डालने वाला विघ्न है, वह न हो यह आशीर्वाद है।[2] महावाक्य के उक्त अभेदरूप अर्थ की निष्कम्प अनुभूति हो जाने पर तो मोक्षरूप फल की प्राप्ति में किसी विघ्न की शंका नहीं है। इस तात्पर्य से कहते हैं—किसकी अपेक्षा दूसरे ? अविद्यारूप अन्धकार की अपेक्षा। अविद्या का जिसमें बाध हो गया है उस ब्रह्म को अपना स्वरूप समझने में (कोई विघ्न न हो) यह तात्पर्य है। मेरे उपदेश के बाद (उससे समझने में विघ्न न हो) यह अभिप्राय है ॥ ६ ॥

सब पर शासकता, मनोमयता आदि विशेषताओं वाले ब्रह्म का हृदय-कमल में ध्यान[3], जो कि क्रममुक्तिरूप फल देता है, उनके लिये विहित किया जा रहा है जो ब्रह्मलाभ के अभिलाषी होने पर भी महावाक्यार्थनिश्चय करने की योग्यता नहीं रखते; यह स्पष्ट करने के लिये कहते हैं—अज्ञानान्धकार से परे जो यह परा विद्या का विषय (या प्रतिपाद्य), जो संसार-सागर को पार कर प्राप्त होना है, वह किसमें रहता है, यह श्रुति बताती है—

"जो सर्वज्ञ और सर्वविद् है, जिसका वैभव (शासन) सब लोकों में विद्यमान है वह आत्मा हृदयाकाशरूप दिव्य ब्रह्मपुर में मानो रहता है। मनोवृत्तियों से ही स्फुट होने से वह मनोमय तथा प्राण और सूक्ष्मशरीर को एक भोगायतन से दूसरे में ले जाने वाला होने से प्राणशरीर-नेता है। अन्नविकारभूत स्थूलदेह में बुद्धि के पास वह रहता है। विवेकशील साधक साधनपूर्वक शास्त्रजनित अनुभवात्मक ज्ञान से उस आत्मतत्त्व को हर तरह से पूर्ण जानते हैं जो नित्य, सुख व अपना स्वरूप हुआ प्रकाशता है ॥ ७ ॥"

---

१. उनका कुछ भी मूल्य है ऐसी बुद्धि।
२. आशीर्वाद फल प्राप्त्यर्थ प्रसिद्ध है, अतः ऐसी व्याख्या क्यों ? यह शंकाकर कहते हैं—महावाक्य इत्यादि से।
३. इन विशेषताओं का ध्येयकोटि में अन्तर्भाव समझना चाहिए।

जो सर्वज्ञ व सर्वविद् है, (ब्रह्म सर्वज्ञ व सर्वविद् कैसे ? यह) समझाया जा चुका है (मुं० १.१.९)। पुनः उसकी विशेषताएँ श्रुति बताती है—जिसका यह प्रसिद्ध 'महिमा' वैभव है। यह कौन-सा वैभव ?[1] ये आकाश और पृथ्वी जिसके शासन में बँधे रहते हैं, सूर्य व चन्द्रमा जिसके शासन में अनवरत वैसे ही घूमते रहते हैं जैसे (चक्रात्मक प्रकाश प्रदर्शित करने की इच्छा वाले व्यक्ति के हाथ में पड़ी) मशाल चक्कर खाती है, जिसके शासन में नदियाँ और समुद्र अपनी सीमाएँ नहीं लाँघते, ऐसे ही बाकी स्थावर-जंगम भी जिसके शासन में नियमबद्ध हैं, एवं ऋतुयें, अयन[2] और वर्ष जिसके शासन का उल्लंघन नहीं करते, इसी प्रकार जिसके नियमन से कर्ता कर्म व फल अपने अपने समय को नहीं छोड़ते[3]—वह[4] यह[5] वैभव है। 'भुवि' सब लोकों में[6] जिसका (यह वैभव है) वह यह (प्रकृत) ऐसे वैभव वाला सर्वज्ञ देव है। 'दिव्ये' प्रकाशवाले, अर्थात् बुद्धि की सभी वृत्तियों से जिसमें ज्ञानप्रकाश किया जाता है उस 'ब्रह्मपुरे' (ब्रह्मपुर में)—हृदयकमल ब्रह्म का पुर (शहर) है क्योंकि वहाँ चैतन्य (ज्ञान) स्वरूप से ब्रह्म की सदा अभिव्यक्ति (प्राकट्य) होती है[7], उस हृदय-में जो आकाश[8] है उस 'व्योम्नि' आकाश में जो कि हृदयकमल में

---

१. वैभव को बताते हैं—ये इत्यादि से।

२. उत्तरायण व दक्षिणायन के छह-छह महीने एक-एक अयन कहाते हैं।

३. 'कारयति' (कौ० ३.८) श्रुति से ईश्वरेच्छानुसार कर्ता प्रवृत्त होता है अतः वह अपने काल को नहीं छोड़ता अर्थात् जब उसे कर्ता बनना है तब कर्ता बनता ही है। ऐसे ही कर्म (= क्रिया) व फल में जानना चाहिये।

४. इस प्रकार का। ५. प्रकृत।

६. लोक इति जातावेकवचनं लोकत्वावच्छिन्ने सर्वस्मिन्नित्यर्थः।

७. हमें जब देहादि से हट कर अपना खुद का भान होता है तब हृदय में (नाभि से दस अंगुल ऊपर) ही होता है। अतः अपना असाधारण व्यपदेश करना हो तो हृदय का ही स्पर्श कर 'मैं कह रहा हूँ' इत्यादि प्रयोग किया जाता है।

८. ध्यान के लिए कमल, आकाश आदि का विनियोग है। किं च, जब हृदय-कमल में आत्मा का रहना प्रतीतिसिद्ध है तो उसे रहने के लिए जगह—आकाश—भी चाहिये ही।

स्थित है, (वह उक्त वैभव वाला सर्वज्ञ) रहते हुए की तरह[1] प्रतीत होता है। आकाश की तरह सर्वत्र विद्यमान आत्मवस्तु का जाना, आना या रहना प्रतीत होने से अतिरिक्त किसी प्रकार से क्योंकि सम्भव नहीं[2] (इसलिये ऐसी व्याख्या की)। हृदयकमल में स्थित वह आत्मा क्योंकि अन्तःकरण की वृत्तियों द्वारा ही स्फुट अनुभूत होता है इसलिये 'मन है (मुख्य) उपाधि जिसकी' इस अभिप्राय से वह मनोमय है। 'प्राणशरीरनेता' प्राण और (सूक्ष्म-) शरीर को प्राणशरीर (कहते हैं), उस प्राणशरीर को एक स्थूल देह से अन्य स्थूल देह में ले जाने वाला यह (सर्वज्ञ आत्मा) है (अतः वह प्राणशरीरनेता[3] है)। 'अन्ने' खाये जाते (व्रीहि आदि) अन्न के कार्यभूत रोज़ बढ़ने और घटने वाले स्थूलदेहरूप अन्न में हृदयकमलस्थ आकाश में 'हृदयम्' बुद्धि को 'सन्निधाय' अपने पास रख 'प्रतिष्ठितः' रहता है[4]। बुद्धि के पास स्थित होना (इतरेतरा-ध्यास) ही आत्मा का (शरीर में) रहना है क्योंकि अन्नरसमय देह में आत्मा का (कुण्ड में बदर की तरह मुख्य) रहना संभव नहीं। आचार्य द्वारा दिये गये शास्त्र के उपदेश से उत्पन्न व इन्द्रियनिग्रह, मनोनिग्रह, एकाग्रता, ससाधन कर्मत्याग और संसार में रागनिवृत्ति से असंभावना-विपरीतभावना-रहित हो चुके 'विज्ञानेन' उक्त विशेषताओं वाले ज्ञान से 'तद्' उस आत्मतत्त्व को 'धीराः' विवेकी लोग (साधक) 'परिपश्यन्ति' हर तरह से पूर्ण[5] देखते हैं अर्थात् अपरोक्षतया जानते हैं। जो नित्य व 'आनन्दरूपम्' अनभीष्ट-अनुभवरूप सब दुःखों और थकानों[6] से

---

१. वस्तुतस्तु उसमें हृदयादि सब प्रपञ्च है फिर भी वह उसमें है ऐसा लगता है।

२. जाना या आना अव्यापक या मूर्त में ही सम्भव है और जाने आने वाला ही कहीं रहता पाया जाता है। क्योंकि आत्मा व्यापक है अतः उसका यह सब औपचारिक ही सम्भव है।

३. नारायणस्तु 'प्राणानां शरीरान्तरं प्रति प्रापक' इति व्याचख्यौ।

४. यद्वा—शरीरान्तर्गत हृदयकमलस्थ आकाश में बुद्धि को रखकर स्वयं भी रहता है—यह भाष्यार्थ है। 'तं प्रपदाभ्यां प्रापद्यत' (ऐ० २.१.३) तथा 'स एतमेव सीमानं विदार्यैतया द्वारा प्रापद्यत' (ऐ० उ० ३.१२) आदि श्रौतप्रक्रिया यहाँ समझनी चाहिये।

५. देश-काल-वस्तु-परिच्छेदरहित।

६. सांसारिक सुख बना रहे तो थका या अघा देता है, वैसा यह आत्मसुख नहीं यह भाव है।

रहित हुआ 'विभाति' विशेषतः स्वयं अपने आत्मस्वरूप में ही हमेशा भासता है ॥ ७ ॥

इस परमात्मज्ञान का—अर्थात्, जीवन्मुक्तिरूप फल देने वाले जीव-ब्रह्म के अभेदबोधक महावाक्य के अर्थ को समझने का एवं ऊर्ध्वलोकों को ले जाकर ब्रह्मादि के उपदेश से मोक्ष देने वाली (प्रणवादि-आश्रित) उपासना का--फल श्रुति द्वारा बताया जा रहा है—

"कारण व कार्यरूप धर लेने वाले (स्वयं कार्य-कारण से अतीत) उस सर्वज्ञ अक्षर को अपने से अभिन्न जान लेने पर बुद्धिस्थ अविद्याजन्य सब वासनायें[1] नष्ट हो जाती हैं, आत्मा के बारे में कोई संशय नहीं रह जाता और इस प्रकार के निःसंशय ज्ञान वाले के कर्म[2] समाप्त हो जाते हैं ॥ ८ ॥"

'भिद्यते हृदयग्रन्थिः' आत्म-अज्ञान तथा उससे उत्पन्न वासनाराशि, जो बुद्धि को आश्रित कर रहती है, जिसे 'इसके हृदय में स्थित जो कामनायें हैं (वे सभी नष्ट जब होती हैं तब यह अमर होता है)' (क० ६.१०) इत्यादि अन्यत्र आयी श्रुति के अनुसार काम शब्द से कहा जाता है (वह) 'भिद्यते' भेद अर्थात् नाश को प्राप्त होती है। यह (अज्ञान और वासनाराशि) बुद्धि में आश्रित है नकि आत्मा में आश्रित। [3]अज्ञान और वासना-राशि नष्ट हो जाता है—इसका क्या अर्थ है ? क्या बुद्धि के

---

१. यद्वा—चिज्जडग्रन्थिरूप अहंकार नष्ट हो जाता है। तथाहचुपनिषद्योगी—'हृच्छब्देन स्वाविद्यापदतत्कार्यमुच्यते, अयशब्देन तदारोपापवाधाधिकरण-मुच्यते। तयो र्भास्यभासकाधेयाधारतादात्म्यसम्बन्धो हि हृदयग्रन्थिः'।

२. पूर्व में मैंने कुछ नहीं किया या भोगा, अब मैं न कुछ कर रहा हूं न भोग रहा हूं, आगे भी मैं कुछ नहीं करूंगा या भोगूंगा—ऐसा निश्चय होने से कर्ममात्र की निवृत्ति अभिप्रेत है। यद्वा कर्म से अपूर्व कहा है। प्रारब्धाति-रिक्त अभुक्त कर्मापूर्व समाप्त हो जाता है, यह अर्थ है।

३. अज्ञान आत्मा में है—यह वेदान्त मर्यादा है, क्योंकि आत्मातिरिक्त कुछ है नहीं जहाँ वह रह सके। बुद्धि आदि स्वयं अविद्याकार्य होने से उसके आश्रयदाता बन नहीं सकते। भाष्यकार ने अज्ञान को यहाँ आत्माश्रित न कहकर बुद्धि के आश्रित घोषित कर दिया। अतः भाष्यतात्पर्य प्रकट करने के लिये विस्तृत शंकाग्रन्थ रचते हैं—अज्ञान इत्यादि द्वारा।

रहते हुए ही अज्ञान आदि[1] का नाश ज्ञान का फल है, या वुद्धि नष्ट होने पर (अज्ञान आदि का नाश ज्ञान का फल है) ? प्रथम पक्ष (अर्थात् वुद्धि के रहते अज्ञान आदि का नाश) संभव नहीं, क्योंकि उपादान कारण के[2] रहते कार्य का सर्वथा (स्वरूप से व स्वसंस्काररूप से) नाश असंभव है। दूसरा पक्ष (अर्थात् वुद्धि नष्ट होने पर अज्ञान आदि का नाश) भी ठीक नहीं क्योंकि ज्ञान का अज्ञान से ही सीधा[3] विरोध प्रसिद्ध है (वुद्धि से नहीं)[4]। [5]और भी विचारणीय है—क्या वुद्धि

---

१. आदि से वासना और तादात्म्य जानने चाहिये।

२. जिस कारण में कार्य की उत्पत्ति या लय हो उसे उपादानकारण कहते हैं। परिणामवाद की दृष्टि से कार्यकाल में उपादान कारण ही कार्यरूप से उपलब्ध होता है व अन्य काल में कार्य का संस्कार कारण में रहता है या कार्य सूक्ष्म (अप्रकट) रूप से कारण में रहता हैं। सर्वथा नाश तभी माना जाता है जब कार्य और उसका संस्कार या कार्य की सूक्ष्मावस्था—दोनों न रहें। दोनों का नाश उपादान के रहते संभव नहीं क्योंकि कार्यसंस्कार वाला होना ही उपादान होना है।

३. किसी माध्यम के विना। अज्ञाननिवृत्ति द्वारा अन्य का निवर्तक ज्ञान भले ही हो पर स्वयं तो केवल अज्ञान का निवर्तक है। प्रसिद्ध है अर्थात् शास्त्र, युक्ति से व वादियों में स्वीकृत है।

४. क्योंकि ज्ञान का वुद्धि से साक्षात् विरोध नहीं अतः वुद्धिनिवृत्ति की अपेक्षा रखने वाला फल ज्ञान का फल नहीं कहा जा सकता।

५. वुद्धि के रहते तो अज्ञानादि का सर्वथा उच्छेद असंभव है। वुद्धिनिवृत्ति से ही वह संभव है। वुद्धिनिवृत्ति ज्ञान का साक्षात् फल नहीं अतः ज्ञान की मोक्षफलकता असंगत होगी यह दोष दिया। अब वुद्धिनिवृत्ति की उपपत्ति के लिये विकल्प उठाते हैं—और भी इत्यादि से। अनादि भाववस्तु का नाश नहीं होता ऐसा तांत्रिक मानते हैं अतः वुद्धि अनादि नहीं स्वीकारी जा सकती। सादि स्वीकारने पर शंका होती है कि उत्पत्ति से पूर्व वुद्धि नहीं थी पर उत्पन्न हो गयी, ऐसे ही नष्ट होने पर पुनः उत्पन्न हो जायेगी अतः उसे नष्ट करना व्यर्थ है। यदि कहें कि उसका सकारणनाश अभिप्रेत है तब तो प्रश्न होगा कि उसका कारण क्या ? अज्ञान कारण हो तो वुद्धि उसकी आश्रय सम्भव नहीं। अन्य कारण प्रसिद्ध नहीं। साक्षाद् आत्मा कारण हो तो नित्य होने से वह निवर्त्य नहीं। अतः अज्ञानादि का वुद्धि में

भी[1] अनादि है या प्रारंभ (उत्पन्न होने) वाली है ? प्रथम पक्ष (अर्थात् बुद्धि अनादि है) संभव नहीं क्योंकि वैसा मानने पर 'प्राण, मन (= बुद्धि), सब इन्द्रियाँ और उनके विषय सब इससे उत्पन्न होते हैं' (मुं० २.१.३) इत्यादि श्रुति वचन का विरोध होगा। अन्तिम पक्ष (अर्थात् बुद्धि प्रारंभ या उत्पन्न होने वाली है) भी संगत नहीं क्योंकि यदि वैसा हो तो प्रलय में ब्रह्मात्म-ज्ञान के विना ही बुद्धि का नाश हो जाने से[2] (फिर भी बन्ध का आत्यंतिक उच्छेद न होने से) बुद्धि का नाश (और उसे करने वाला ज्ञान) व्यर्थ ही होगा। तथा बुद्धि के उत्पत्ति वाली होने पर (यह दोष भी है कि) उसका उपादान यदि विना किसी द्वार के सीधे ही ब्रह्म हो तो उस ब्रह्म के नाश के विना बुद्धि का सर्वथा नाश न होगा[3]। (बुद्धि का उपादानकारण) यदि माया[4] हो तो (उसे) देखने वाले में उत्पन्न हुए ज्ञान से वह (माया) नष्ट होने योग्य नहीं क्योंकि देखा जाता है कि लोक में मायावी (जादूगर)

आश्रित होना सम्भव नहीं और यथाकथंचित् हो तो निवृत्ति सम्भव न होने से अनिर्मोक्षतापत्ति होगी।

१. अनादि अज्ञान का आश्रय भी अनादि होना चाहिए। क्योंकि बुद्धि सादि प्रमित है अतः वह अनादि अज्ञान की आश्रय हो यह सम्भव नहीं यह तात्पर्य है। 'भी' से आत्मा व अज्ञान का संग्रह है।

२. क्योंकि प्रलय में सब जन्य वस्तुएँ नष्ट हो जाती हैं।

३. बुद्धि की केवल कार्यरूपता का नाश फल हो तो अनित्यता दोष है क्योंकि उपादान रहते पुनः कार्योत्पत्ति क्यों न होगी ? अतः बुद्धिनाश को कार्य-कारण-उभयनाश जानना होगा। बुद्धिकारण आत्मा हो तो वह नित्य होने से नष्ट नहीं हो सकता अतः बुद्धि का सर्वथा नाश असम्भव हो जायेगा।

४. माण्डूक्य पर अनुभूतिस्वरूपाचार्य की टीका (पृ० २२०-२२२ MRI) दर्शनीय है। माया ईश्वरोपाधि और उसके एकदेश अज्ञान हैं ऐसी उनकी प्रक्रिया है। वह माया यदि बुद्धि का उपादान हो तो भी ज्ञाननिवर्त्य नहीं इसमें लौकिक मायावी का दृष्टांत दिया। प्रेक्षक को तथ्य का पता चल भी जाये, तो भी मायावी की सामर्थ्य तिलभर भी कम नहीं होती और पुनः उसका प्रयोग कर लेता है। ऐसे ही महामायावी की माया के प्रेक्षक हम लोगों को आत्मज्ञान हो गया तो भी माया की निवृत्ति नहीं होगी (अज्ञान की तो हो जायेगी)। इससे वे बद्धमुक्त व्यवस्था बना लेते हैं। अतः माया उपादान हो तो भी बुद्धि की सर्वथा निवृत्ति असम्भव है।

की माया (उस माया को) देखने वालों में उत्पन्न (वास्तविक) ज्ञान से नष्ट नहीं होती। और भी (आपत्ति है बुद्धिनाश को फल मानने में); बुद्धि का नाश बुद्धि का ही फल नहीं हो सकता क्योंकि अपना नाश फल नहीं होता[1]। आत्मा का (फल भी बुद्धिनाश) नहीं हो सकता क्योंकि (यदि आत्मा बुद्धिनाशक होता तो) आत्मा का बुद्धि-सम्बन्ध होता ही नहीं[2] अतः आत्मा से बुद्धिनाशरूप फल हो यह असंभव है। इतना ही नहीं, आत्मा अविद्या आदि का आश्रय नहीं है—यह कहना[3] श्रुति से विरुद्ध है क्योंकि प्रारंभ में 'अज्ञानगर्त में रहते हुए' (मुं० १.२.८) इस प्रकार (आत्मा को अज्ञान का आश्रय) कहा और अन्तिम मुण्डक में 'मोहित हुआ अपनी असमर्थता से शोकाकुल होता है' (मुं० ३.१.२) इस प्रकार (आत्मा को मोहनामक अज्ञान का आश्रय) बताया है। यदि कहो कि बुद्धि में आश्रित अविद्या आदि का आत्मा पर अध्यास हो जाता है, तो प्रश्न है कि 'अध्यास हो जाता है' इसका क्या मतलब ? क्या (आत्मा पर) रख दिया जाता है या (केवल) भ्रम से (आत्मा पर) दीखता है ? प्रथम पक्ष (अर्थात् अध्यास हो जाता है का मतलब है कि आत्मा पर रख दिया जाता है) सम्भव नहीं क्योंकि एक वस्तु की विशेषता को अन्य वस्तु पर रखना असंभव है[4]। यदि (द्वितीय पक्ष लो अर्थात् कहो कि) भ्रम से (आत्मा पर अज्ञान दीखता है), तो पुनः शंका होती है कि किसे दीखता है ? आत्मा को तो दीखता नहीं क्योंकि आत्मा अविद्या का आश्रय है यह (प्रकृत भाष्य के व्याख्याता को) स्वीकृत नहीं (हो सकता)[5]। बुद्धि

---

१. स्वनाश में प्रवृत्ति ही नहीं होती।

२. यद्वा 'क्योंकि आत्मा का बुद्धि से कोई वास्तविक सम्बन्ध नहीं अतः बुद्धि-नाशरूप फल आत्मा से नहीं हो सकता'—यह अर्थ है।

३. भाष्यकार द्वारा।

४. हटने वाली होगी तो वह उसकी विशेषता ही नहीं होगी। अतः बुद्धि की यदि अज्ञान आदि विशेषता है तो उसे आत्मा पर रखा नहीं जा सकता। रखना आदि तो स्थूल घटादि का सम्भव है अतः द्वितीय पक्ष उपस्थित किया। बुद्धिस्थ अज्ञान आत्मा में वस्तुतः उत्पन्न हो यह भी सम्भव नहीं क्योंकि 'उपयन्नपयन्धर्मो विकरोति हि धर्मिणम्' इस विश्वरूपोक्ति से नित्य आत्मा में कोई अनित्य धर्म वस्तुतः उत्पन्न नहीं हो सकता।

५. आत्मा अविद्या का आश्रय नहीं तो उसे वास्तविक ज्ञान ही रहेगा अतः अपने में अविद्या दीखेगी नहीं।

को (भी आत्मा पर अज्ञान) नहीं दीख सकता, कारण कि (जड होने से) बुद्धि आत्मा को विषय करे यह संभव न होने से आत्मा पर स्थित अज्ञान को वह देखे यह असंभव है[1]। और यह भी मानी बात है कि अज्ञान आदि की भ्रान्ति उसी तत्त्वज्ञान से निवृत्त हो सकती है जो उसी आश्रय में उत्पन्न होवे जहाँ भ्रान्ति है[2], अतः (यदि बुद्धि में भ्रम माना जाये तो) आत्मतत्त्व का अनुभव भी बुद्धि को होता है ऐसा मानना होगा (जो अनुचित[3] है)। इसलिये (अज्ञान आदि आत्मा में नहीं बुद्धि में आश्रित हैं) इस भाष्यपंक्ति का समीचीन अर्थ समझ नहीं आता। [4]यदि यह शंका हो (कि उक्त युक्त्यादिविरुद्ध होने से यथाश्रुत अर्थ असंगत है अतः भाष्य का संगत अर्थ क्या है ?) तो इसका निराकरण करते हैं—

चैतन्य पर आश्रित अनादि मिथ्या अविद्या चैतन्य को ही विषय कर अपने द्वारा आश्रय व विषय किये चैतन्य का बुद्धि आदि से तादात्म्य (अभेद) है—इस रूप मे[5] परिणत होती है।

---

१. भूतल को विषय करें तभी भूतलस्थ घट को विषय कर सकते हैं, ऐसे ही आत्मा को विषय करे तभी आत्मगत अज्ञान को विषय किया जा सकता है। आत्मगत का अर्थ आत्मगतत्वेन समझना चाहिये। एवं च 'अध्यास हो जाता है' कहने से भी कोई फल नहीं निकला।

२. देवदत्तगतभ्रम देवदत्तगतबाधकप्रत्यय से ही निवृत्त हो सकता है।

३. तत्त्वज्ञान या तत्त्वानुभव चेतन को ही हो सकता है, जड बुद्धि को नहीं। 'विद्वान्नामरूपाद्विमुक्तः' (मुं० ३.२.८) आदि श्रुति से जिसे ज्ञान हुआ उसे मुक्त कहा है। मुक्त चेतन ही होगा अतः ज्ञान भी उसे ही मानना होगा। तत्त्वानुभवशब्द में अनुभव से चित्प्रतिबिम्ब कुछ व्याख्याता समझते हैं किन्तु तत्त्वज्ञानात्मिका वृत्ति की तरह फलव्याप्ति तत्त्वानुभव में स्वीकृत नहीं। अतः अनावृत चैतन्य ही अनुभवपदार्थ समझना उचित है।

४. 'अज्ञान और वासनाराशि' इत्यादि से प्रारम्भ की शंका का उपसंहार कर भाष्यतात्पर्य स्पष्ट करते हुए उक्त शंकाओं की निवृत्ति सूचित करते हैं— यदि इत्यादि से।

५. बुद्धि आदि रूप में और उनके आत्मतादात्म्यरूप में—दोनों ही रूपों में परिणत होती है यह समझना चाहिए। जैसे रजत और पुरोवर्तितादात्म्य दोनों की अनिवर्चनीय उत्पत्ति मानते हैं वैसे समझना चाहिए। बुद्धि आदि सबसे पृथक् कर आत्मा का बद्धावस्था में अनुभव दुर्लभ है। मूलस्थ विवर्तशब्द परिणामार्थक है।

तथा उस अविद्या का स्वरूप ऐसा माना गया है कि परब्रह्म की प्रत्यगात्मरूपता की अनुभवात्मक प्रमा से वह निवृत्त होती है। उस अविद्या की निवृत्ति होने पर उससे उत्पन्न हृदयग्रन्थि (अर्थात् आत्मा का बुद्धि आदि से तादात्म्य) का नाश श्रुति द्वारा कहा गया है। जो तो भाष्यकार ने अविद्या आदि को बुद्धि के आश्रित कहा है उसका अभिप्राय है कि अविद्या आदि ('मैं अज्ञानी' आदि अनुभवों में) अहङ्कारात्मिका बुद्धिवृत्ति के विशेषण रूप से ही[1] व्यवहार के विषय होते हैं, और जो कहा है कि अविद्या आदि आत्मा के आश्रित नहीं उसका अभिप्राय

---

१. 'चैतन्यस्याज्ञानशक्तेरनादेः जीवत्वन्तु व्यञ्जकं कल्पयन्तः। जीवारूढं व्यक्तमज्ञानमाहुर्जीवो मूढः कथ्यतेतो बहुज्ञैः' ॥ २.१९२ ॥ आदि संक्षेपशारीरक का अनुसन्धान करना चाहिए। स्वयं पद्मपादाचार्य ने 'अतएवार्थाज्जीवे ब्रह्मस्वरूपप्रकाशाच्छादिकाऽविद्या कल्प्यते' (पंचपा० २६८ कल०; पृ० ७३ मद्र०) कहा है। यद्यपि विवरण में 'चैतन्याश्रयम्' (पृ० २७४ कल०) कहा है तथापि वह उक्त सर्वज्ञरीति के अनुसार ही है यह 'अतो युक्तस्तद्रूपावगमे मिथ्यात्वोपगमः' वाक्य के विवरण में 'तथाही'त्यादि प्रसंग से (पृ० ३४९ कल०) स्पष्ट हो जाता है क्योंकि स्थूलदेह, मन व अज्ञान तीनों को एक की ही उपाधि बताया है। जो कुछ एकदेशीय आचार्य जीवाश्रित अविद्या मानते हैं उनका भी इसी प्रकार तात्पर्य समझना चाहिये जैसा कि सिद्धान्तलेशसंग्रह के टीकाकार ने प्रकट किया है—'जीवाश्रितेति पदेन जीवत्वविशिष्टचैतन्याश्रितत्वं विवक्षितं न भवति, किन्तु अक्षरब्राह्मणानुरोधेन चैतन्याश्रितत्वमेव, जीवत्वं तु मायापदवेदनीयाऽविद्यायाः चैतन्ये वृत्तौ अवच्छेदकमिति जीवाश्रितमायोच्यते' (पृ० ९७ कल०)। अत एव नृसिंहाश्रमस्वामी ने मतभेद दिखा यह निगमन किया है 'सर्वथापि उपपन्नमेव आत्माश्रयमात्मविषयमज्ञानम्' (वेदान्ततत्त्वविवेक पृ० ५०६, मैसूर०)। वस्तुतस्तु जब अनुभव को प्रधान रख विचार किया जाता है तब 'अहमज्ञः' आदि अनुभवानुरोध से जीवाश्रित कह दिया जाता है तथा जब 'सदेव सोम्येदम्' आदि श्रुति को प्रधान रख विचार करते हैं तब ब्रह्माश्रित अज्ञान कहते हैं। एवमपि दोनों बातें सर्वथा अविरुद्ध हैं यह स्पष्ट है। यही सूचित करने के लिए प्रकृत भाष्यवचन है।

आत्मा की विकाररहितता बताने में है[1]। [2]तथा बाधित अविद्या का भी अनुवर्त्तन[3] जैसे सम्भव है वैसा प्रकटार्थविवरण में[4] स्पष्ट किया गया है, अतः जीवन्मुक्ति भी[5] संगत है।

---

१. आत्मा में अविद्या आविद्यिक सम्बन्ध से ही रहती है, वस्तुतः नहीं।

२. उक्त प्रकार से हृदयग्रन्थिरूप तादात्म्य की निवृत्ति सम्भव हो भी जाये तो भी तादात्म्यनिवृत्ति के अनन्तर व्यवहारमात्र असम्भव होने से विद्वान् द्वारा उपदेश नहीं दिया जा सकता जिससे किसी को भी ज्ञान उत्पन्न नहीं हो सकता और हृदयग्रन्थिभेदन पुनः खपुष्पायमान हो जाता है—यह शंका कर अविद्यालेश से ग्रन्थिभेदोत्तर व्यवहार सम्भव होने से उक्त दोष नहीं इसे सूचित करते हैं—तथा इत्यादि से।

३. 'गन्ध—च्छाया—लेश—संस्कारभाषा विज्ञातव्या भाष्यकारीयतन्त्रे। स्वाविद्यायाः बाधितायाः प्रतीतिः पौर्वापर्येणार्थमालोच्य बुद्ध्या' ॥सं० शा०४/४२॥

४. ४.१.१५।

५. 'भी' कहकर पूर्वोक्त शंकाग्रन्थ का यथायोग्य निराकरण कर दिया। बुद्धि के रहते अज्ञाननिवृत्ति सम्भव है क्योंकि जीवन्मुक्तिवेला में बुद्धि रहती है जबकि अज्ञाननिवृत्ति भी रहती है। बुद्धि को अज्ञान का उपादान माना ही नहीं है कि उक्त दोष होवे। ऐसे ही बुद्धिनिवृत्ति को ज्ञानफल हम मानते ही नहीं। बुद्धि सादि होने पर भी परिणामवाद स्वीकृत होने से प्रलय में भी बुद्धि सूक्ष्मावस्था में है ही अतः वह भी दोष नहीं। इसीलिए 'लिंगभंगो हि मोक्षः' ऐसा साम्प्रदायिकों में प्रसिद्ध है, यहाँ भंग से अत्यंतोच्छेद कहा है। बुद्धि का उपादान अज्ञान ही है जो ज्ञान से निवर्त्य है। बुद्धि का उच्छेद फल ही नहीं तो वह किसका फल है—बुद्धि का या आत्मा का? इत्यादि प्रश्न उठता ही नहीं। किं च जैसे हथकड़ी वाले के लिए हथकड़ीनिवृत्ति फल है वैसे बुद्धि वाले के लिए बुद्धिनिवृति भी फल हो सकता है। बुद्धिप्रसंगाभाव इसलिए नहीं क्योंकि अखण्डवृत्ति की आवश्यकता है; आत्ममात्र बुद्धिनिवर्तक नहीं अपितु अखण्धीविषयीकृत आत्मा बुद्धिनिवर्तक है। आत्मा को अविद्याश्रय माना ही है अतः श्रुतिविरोध का प्रसंग नहीं। अत एव भ्रांति से आत्मा स्वयं अपने में अज्ञान देखता है, अतः 'किसे दीखता है' आदि शंका व्यर्थ है। एवं भ्रान्ति भी मुझे है—जीवावस्थ ब्रह्म को है—और तत्त्वानुभव भी, अतः बुद्धि की अनुभवाश्रयता मानने का प्रश्न ही नहीं। इस प्रकार सभी शंकायें निवृत्त हो जाती हैं। वस्तुतस्तु

सांसारिक लोगों को[1] ज्ञेय[2] आत्मा के विषय में मरण-पर्यन्त गंगा-प्रवाह की तरह हमेशा संशय बने रहते हैं किन्तु (ब्रह्मवेत्ता) के आत्मविषयक सभी संशय 'छिद्यन्ते' समाप्त हो जाते हैं। इस (सिद्धावस्था को प्राप्त साधक) के, जिसके कि आत्म-विषयक सब संशय निवृत्त हो चुके हैं व अज्ञान नष्ट हो चुका है, [3]जो आत्मानुभव की उत्पत्ति से पूर्व (इस जन्म में तथा) पूर्वजन्म में किये कर्म हैं जिन्होंने फल देना प्रारम्भ नहीं किया है तथा, जो उत्पन्न हुए ज्ञान के साथ[4] जीवन्मुक्त्यवस्था में हो जाते हैं वे (सभी कर्म) समाप्त हो जाते हैं। इस जन्म का प्रारम्भ करने वाले कर्म तो (समाप्त)

भाष्याक्षरमात्र का विचार करें तो अविद्याजनित वासनाराशि को ही बुद्धि के आश्रित कहा है न कि अविद्या को; अतः कोई शंकास्थान नहीं है। टीकाकार की दृष्टि से यहाँ फल बताया है पर केवल वासनानिवृत्ति कही, अविद्यानिवृत्ति नहीं बतायी अतः फलकथन पूरा नहीं हुआ, इसलिए अविद्यानिवृत्ति भी बतायी है यह व्याख्या आवश्यक है। भाष्यकार ने वासनानिवृत्ति को आत्यन्तिक मानकर उसके कारण अज्ञान की निवृत्ति को सिद्धवत् स्वीकार कर व्याख्या की है।

१. पूर्वमन्त्रोक्त विज्ञान से विमुखता सांसारिकता है।
२. 'ज्ञेयं यत्तत्प्रवक्ष्यामि···अनादिमत्परं ब्रह्म' (गी० १३.१३) आदि स्मृति से आत्मा ही ज्ञेय है।
३. पूर्व जन्मों में किए जा चुके वे कर्म जिनका फल न अभी तक भोगा है व न वर्तमान देह में भोगना प्रारम्भ करना है, सञ्चित कहे जाते हैं। जिन कर्मों का फल इस जन्म में भोगना प्रारम्भ करना है वे प्रारब्ध कहे जाते हैं। जिन कर्मों को हम इस जन्म में करते हैं जिनका फल अगले जन्मों में भोगा जायेगा, वे आगामी कहे जाते हैं। क्योंकि प्रारब्ध का ज्ञान से विरोध नहीं प्रत्युत वह ज्ञानोत्पत्ति में सहायक ही है इसलिए तथा उसके द्वारा फल देना प्रारम्भ कर चुकने के कारण ज्ञान से उसकी समाप्ति नहीं। अन्य दोनों तो ज्ञानाग्नि से भस्मसात् हो ही जाते हैं। ब्रह्मसूत्रों में (४.१.१३–१५) इसका विस्तृत विचार है। वस्तुतस्तु प्रारब्ध भी रहता नहीं यह रहस्य अपरोक्षानुभूति में (९१–९८) आचार्य ने स्पष्ट किया है।
४. जिसे ज्ञान हुआ है उसके द्वारा किये जाते कर्म—यह अर्थ है। यद्यपि ज्ञानोत्तर कर्म सम्भव नहीं तथापि कर्माभास को कर्म मानकर ऐसा कहा जाता है।

नहीं होते क्योंकि उन्होंने फल देना शुरू कर दिया है[1]। (यह सब होता कब है ? इस प्रश्न का उत्तर है—) सर्वज्ञ, संसारातीत, 'परावरे' कारणरूप से पर और कार्यरूप से अवर[2] 'तस्मिन्' उस पर व अवर-रूप ब्रह्म को 'यह मैं हूँ' इस तरह अपरोक्ष जान लेने पर संसार के कारणभूत (अपनी ब्रह्मरूपता के अज्ञान) की निवृत्ति हो जाने से कैवल्यमोक्ष हो जाता है, यह तात्पर्य है ॥ ८ ॥

पूर्वोक्त बात को ही संक्षेप से बताने वाले अगले तीनों मन्त्र हैं—

"जिन्होंने आत्मतत्त्व का विवेक कर लिया है वे, सबसे निकट विद्यमान, आत्मा की स्फुट अनुभूति के स्थान हार्दाकाश में—जहाँ बुद्धिनिमित्तक ज्ञानरूप प्रकाश होता है, सर्वदोषरहित जिस निरवयव तत्त्व का अनुभव करते हैं, वह ब्रह्म है। आदित्य आदि लौकिक प्रकाशों को भी प्रकाशित करने वाला वही शोभायमान प्रकाश है ॥ ९ ॥"[3]

'हिरण्मये' प्रकाशबहुल अर्थात् जहाँ बुद्धिनिमित्तक ज्ञानरूप प्रकाश होता है उस हार्दाकाश में; 'परे कोशे' जो आत्मा के स्वरूप की स्पष्ट अनुभूति होने का स्थान होने से तलवार की म्यान की तरह (मानों आत्मा की म्यान है), वह (हार्दाकाश ही लोम, त्वचा आदि) सब

---

१. ईश्वरेच्छाविशेष ही वस्तुतः प्रारब्ध है। ईश्वरेच्छा के अनुकूल कार्य न हो यह सम्भव नहीं। ज्ञानी ईश्वर से अपने को अभिन्न जानता है अतः वह उसकी स्वयं की इच्छा हो जाती है। सर्वज्ञ होने से ईश्वरेच्छा में कोई गड़बड़ी है नहीं कि उसमें फेरबदल किया जाये। ज्ञानी को अनुकूलतादि में रागादि नहीं कि वह किसी परिवर्तन को चाहे। अतः प्रारब्ध का भोग से समापन अत्यन्त संगत है।

२. ब्रह्म ही कारण-कार्य उभयरूप है व अत एव अनुभयरूप हो संसारातीत है, यही वेदान्तसिद्धान्त है। द्वितीय मुण्डक के प्रारम्भिक तीन मन्त्रों में भी यह कहा जा चुका है।

३. आत्मविदः परे हिरण्मये कोशे यद् विरजं निष्कलं विदुः तद् ब्रह्म, ज्योतिषां तच्छुभ्रं ज्योतिरिति सम्बन्धः। यद्वा तच्छुभ्रमिति तदा यदित्यध्याह्रियते। यद्विदुस्तद्, यच्च ज्योतिस्तद् ब्रह्मेत्यन्वयः। वस्तुतस्तु यद्ब्रह्म तद्विदुर्यच्च ज्योतिस्तद्विदुरिति वा, यद्ब्रह्म तज्ज्योतिर्विदुरिति वा योजना। ब्रह्मेति तत्पदार्थोक्तिः। ज्योतिषां धीवृत्तीनां ज्योतिः साक्षीति त्वम्पदार्थोक्तिरिति ध्येयम्।

की अपेक्षा अन्दर (अपने निकट) होने से परम है[1], उस (परम व कोश-समान हार्दाकाश) में; 'विरजम्' अविद्या आदि[2] समस्त दोषरूप रज अर्थात् मल से रहित ब्रह्म है, (उसे ब्रह्म इसलिये कहते हैं क्योंकि वह) सबसे महान्[3] है और[4] सर्वरूप है। 'निष्कलम्' निकल गयी हैं कलायें[5] जिससे (अर्थात् जिसमें कलायें नहीं हैं) वह निष्कल अर्थात् निरवयव (वही ब्रह्म) है, यह अर्थ है। क्योंकि वह दोषरहित और अवयवरहित है इसलिये 'शुभ्रम्' शुद्ध (शोभायमान[6]) है। वही 'ज्योतिषाम्' प्रकाशरूप अग्नि आदि सभी का 'ज्योतिः' प्रकाशक है।[7] तात्पर्य है कि अग्नि आदि की प्रकाशरूपता उनमें विद्यमान ब्रह्मरूप चेतन ज्योति के कारण है।[8] जो किसी अन्य के द्वारा प्रकाशित न होने वाला आत्मरूप ज्ञानप्रकाश है, वही परम ज्योति है। वह (वही है) जिसका 'आत्मविदः' आत्मा का अर्थात् शब्दादि को विषय करने वाली बुद्धिवृत्तियों के साक्षी अपने आप का विवेक करने वाले 'विदुः' अनुभव करते हैं। [9]आत्मा का विवेक करने वाले वे (ही) उस ज्योति

१. यदि हिरण्मय और पर के अनुरोध से अन्नमयादि कोषों की अपेक्षा परता लेनी हो तो हार्दाकाश की जगह बुद्धि या विज्ञानमयकोश समझ सकते हैं। 'कोशे कोशतुल्ये पुण्डरीके'—नारायणः। उपनिषद्योगी पुनः 'कोश इव कोशे हृत्पुण्डरीकावच्छिन्नाव्याकृताकाशे'।

२. आदि से अन्य क्लेश समझे जा सकते हैं।

३. 'बृंहेर्नोऽच्च' (उण० ४.१४७)—बृंहति वर्धते तद् ब्रह्म।

४. महत्ता में हेतु है सर्वरूपता।

५. ३.२.७ में कही जाने वाली प्राणादि कलायें भी समझनी चाहिये।

६. 'स्फायितञ्चि'''शुभिम्यो रक्' (उण० २.१३) से शोभते इति शुभ्रम् बनता है।

७. अग्नि आदि जड प्रकाश हैं, उन्हें जानने वाला होने से यही चेतन प्रकाश है।

८. जड प्रकाश भी अन्धकारावरणनिवर्तक और प्रकट करने वाला है, यह सामर्थ्य भी उसमें आत्मा के कारण ही है।

९. 'श्रृण्वन्तोऽपि बहवो यं न विद्युः' (कठ० २.७) 'यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः' (गी० ७.३) इत्यादि श्रुति-स्मृति का अनुसंधान कर कहते हैं—आत्मा का इत्यादि।

का अनुभव करते हैं जिन्होंने आत्मचिन्तन की आदत बना ली है।[१] क्योंकि वह परम (सूक्ष्म) ज्योति है इसलिये वे ही उसका अनुभव करते हैं, आत्मा से बहिर्भूत वस्तुओं का[२] चिन्तन करने की आदत वाले अन्य लोग नहीं ॥ ९ ॥

वह ब्रह्म प्रकाशरूप अग्नि आदि का भी प्रकाशक है यह कैसे? यह श्रुति बताती है—

[३]"उस आत्मरूप ब्रह्म (अक्षर पुरुष) को सूर्य प्रकाशित नहीं करता, न चन्द्रमा या तारे ही उसे प्रकाशित करते हैं। ये चमकने वाली बिजलियाँ उसे प्रकाशित नहीं करती तो यह तुच्छ आग उसे कैसे प्रकाशित करे? उसके प्रकाशमान होने पर ही सारा जगत् प्रतीत होता है। उस ब्रह्म के प्रकाश से ही सूर्य आदि सारा जगत्[४] नाना प्रकार से प्रकाशित होता है ॥ १० ॥"

'तत्र' निज-आत्मरूप उस ब्रह्म को विषयकर सबको प्रकाशित करने वाला सूर्य भी नहीं चमकता, अर्थात् उस ब्रह्म को प्रकाशित नहीं करता। 'भाति' (चमकता या प्रकाशता) शब्द की व्याख्या णिच्-प्रत्यय के[५] अर्थ (प्रयोजकव्यापार) के अध्याहार से की, (अतः

---

१. 'आवृत्तिरसकृदुपदेशाद्' (ब्र० सू० ४.१.१) आदि न्याय से आत्मचिन्तन को तरह-तरह से निरन्तर करने से चरमानुभव संभव है। किसी पुरुष-धौरेय को एकबार श्रवण-मात्र से भी हो सकता है पर वैसा साधक दुर्लभ होने से अभ्यास करना ही चाहिये।

२. सगुणात्म-चिन्तन भी मोक्षफलक नहीं हो सकता क्योंकि गुण भी आत्मा से बहिर्भूत हैं।

३. 'अनुकृतेस्तस्य च' (१.३.६.२२) सूत्र में इसी श्रुति का विचार है।

४. 'सर्वस्यैवास्य नामरूपक्रियाकारकफलजातस्य याऽभिव्यक्तिः सा ब्रह्मज्योतिः-सत्तानिमित्ते'ति सूत्रभाष्ये।

५. 'हेतुमति च' (३ १.२६) से प्रयोजकव्यापार बताने के लिये धातु से णिच् प्रत्यय विहित है। 'सनाद्यन्ता धातवः' (३.१.३२) से णिजन्त की पुनः धातुसंज्ञा होती है। णिच् का अर्थ प्रयोजक-व्यापार है : 'प्रयोज्यप्रवृत्त्यु-पहिता या प्रयोजकनिष्ठा प्रवृत्तिः सा णिजर्थः' (तत्त्वबोधिनी)। अतः ब्रह्म प्रकाशे (चमके, प्रतीत हो) इसके लिये होने वाली सूर्यनिष्ठ प्रवृत्ति प्रकृत में णिजर्थ होगी। ऐसी कोई प्रवृत्ति सूर्य में संभव नहीं जिससे प्रयुक्त

'प्रकाशता' का तात्पर्य 'प्रकाशित करता' बताया)। तात्पर्य है कि क्योंकि सूर्य ब्रह्म के प्रकाश से[1] ही अन्य[2] सब अनात्मवस्तुओं को प्रकाशित करता है, प्रकाश करने की सामर्थ्य उसकी निजी[3] नहीं है (इसलिए वह ब्रह्म को प्रकाशित नहीं कर सकता)। (जैसे सूर्य) वैसे ही चन्द्र व तारे (भी प्रकाशित) नहीं (करते)। ये (विस्तृत आकाश में चमकने वाली) विजलियाँ (भी ब्रह्म को) प्रकाशित नहीं करती। 'अयम्' हमें (अपनी उत्पत्ति आदि सीमाओं सहित) ज्ञात यह अग्नि [4]कैसे (उसे प्रकाशित करे)। अधिक कहने से क्या लाभ ? जो यह जगत् प्रतीत होता है वह 'तम्' परमेश्वर के ही 'भान्तम्' प्रकाशमान (प्रतीयमान) होने के 'अनुभाति' पीछे[5] प्रतीत होता है, (परमेश्वर तो) अपरतन्त्र ज्ञानप्रकाशरूप होने के कारण (प्रतीयमान, प्रकाशमान है)। जैसे जल, मशाल आदि, अग्नि-सम्पर्क से अग्नि के जलने के पीछे ही जलते हैं (गर्म होते हैं), स्वयं नहीं जलते, वैसे ही उस परमेश्वर के ही 'भासा' प्रकाश से यह सारा सूर्यादि जगत्

स्वप्रकाश ब्रह्म प्रतीत हो, यह श्रुत्यर्थ है। 'णिजर्थाघ्याहारेण.....' यह संगत पाठ है।

१. ब्रह्म का प्रकाश सूर्यादि का सजातीय चक्षुर्ग्राह्य नहीं समझना चाहिये किन्तु ज्ञान ही उसका प्रकाश है। उस ज्ञानरूपप्रकाश से सत्ता-स्फूर्तिवाला होकर ही सूर्यादि अपना व्यापार कर पाते हैं यह तात्पर्य है।

२. अन्य की ही व्याख्या है—सब अनात्मवस्तुओं को। ब्रह्म से अन्य अर्थ है। अथवा सूर्य अपने से अन्य सब अनात्मवस्तुओं को प्रकाशित करता है यह अर्थ है। जब प्रकाशरूप होने से सूर्य अपने को ही प्रकाशित नहीं करता तब प्रकाश के भी प्रकाशक ब्रह्म को क्योंकर प्रकाशित करेगा, प्रकाश-रूपता-समान होने से; इस प्रकार दृष्टान्त में तात्पर्य है।

३. क्योंकि उसकी सत्ता ही निजी नहीं इसलिये तन्निमित्तक सामर्थ्य भी उसी के सहारे है जिसके सहारे सत्ता है।

४. जब सूर्यादि जिनकी महत्ता हम जान नहीं सकते वे ही उसे प्रकाशित नहीं कर सकते तब जिसकी ससीम सामर्थ्य हम जानते हैं वह अग्नि तो उसे नहीं ही प्रकाशित कर सकती, यह अर्थ है।

५. अर्थात् जगत्प्रतीति ब्रह्मरूप प्रतीति के अधीन है। प्रतीति, ज्ञान, प्रकाश आदि समानार्थक समझने चाहिये।

नाना प्रकार से प्रकाशित होता है। 'उस परमेश्वर के प्रकाश से यह सारा संसार प्रकाशित होता है'—इसका तात्पर्य है कि परमेश्वर स्वयं प्रकाशरूप (ज्ञानरूप) है, यह बताते हैं—क्योंकि इस प्रकार वही (अक्षररूप से प्रकृत) परमेश्वर स्वयं भी प्रतीत होता है और संसार-रूप कार्य की विविध प्रतीतियों के रूप में[1] भी प्रतीत होता है, इसलिए यह पता चल जाता है कि उस परमेश्वर की प्रकाशरूपता स्वतन्त्र है। [2]जो प्रकाश स्वयं ही विद्यमान नहीं, वह अन्य का प्रकाशन नहीं कर सकता क्योंकि (अप्रकाशरूप) घट आदि अन्य वस्तुओं का प्रकाशन करें यह नहीं देखा जाता तथा प्रकाशरूप सूर्यादि अन्य वस्तुओं का प्रकाशन करे (यही) देखा जाता है ॥ १० ॥

(द्वितीय मुण्डक के) प्रसंग की समाप्ति के मन्त्र का तात्पर्य बताते हैं—जो वह लौकिक प्रकाशों का भी प्रकाशक परम ज्योतिरूप ब्रह्म है, वही सत्य है, उससे भिन्न उसका विकार (कार्यरूप) सारा प्रपंच 'कार्य केवल वाणी पर (बातों पर) आधारित है' (छा० ६.१.४) (आदि श्रुति से) केवल कहने भर को है, असत्य है;[3] यह बात हेतुकथन-पूर्वक विस्तार से बतायी; अब, पहले जिसे सिद्ध करने के लिए कहा

---

१. भासेतीत्थंभावे तृतीया। ज्ञानमात्रं ब्रह्मेति राद्धान्ताद् घटज्ञानमपि ब्रह्मज्ञान-मेव। अधिष्ठानात्मना ज्ञात्रात्मना वा भाति, अधिष्ठेयात्मना विषयात्मना वा विभातीति बोध्यम्। न च घटज्ञानस्य ब्रह्मज्ञानत्वे न कथं मोक्ष इति शंक्यम्, द्वैताभावोपलक्षितस्य तस्याखण्डज्ञानादेव मोक्षो, न तज्ज्ञानमात्रादित्यंगी-कारादिति दिक्।

२. स्वतन्त्र प्रकाशरूपता में उपपत्ति देते हैं—जो इत्यादि से। अन्य का प्रकाशन करने के लिये प्रकाश को स्वयं उपस्थित होना पड़ेगा। सब प्रकाशों के प्रति ब्रह्म की कारणता बता दी 'तमेव भान्तम्' द्वारा। यदि ब्रह्म प्रकाशरूप न हो तो जगदान्ध्यप्रसक्ति होगी, कारण कि ब्रह्मातिरिक्त सब प्रकाश ब्रह्मप्रकाश की अपेक्षा रखने वाले होने से ब्रह्म को प्रकाश दे नहीं सकते और स्वयं वह प्रकाशरूप होगा नहीं अतः न वह प्रकाशित होगा और न उसके कारण प्रकाशित होने वाला कुछ भी प्रकाशित होगा। इस-लिये ब्रह्म को स्वयमेव प्रकाशरूप मानना आवश्यक है। 'भारूपः' (छां० ३.१४.२) आदि श्रुतियाँ प्रमाण हैं ही।

३. सद्विविक्तत्वं मिथ्यात्वम्—इस अभिप्राय से असत्य पद है।

था उसे ही सिद्ध हो चुके रूप से पुनः कहने वाले[1] इस अन्तिम मन्त्र से संक्षेप में श्रुति कहती है—; उस (प्रकृत) ब्रह्म द्वारा[2] सारा जगत् विविध प्रकारों का किया (बनाया) जाता है, अतः यह उसका वि-कार है।

"यह जो सामने है वह नित्य ब्रह्म ही है, जो पीछे है वह भी ब्रह्म ही है, जो दायें और बायें है वह भी ब्रह्म ही है। नीचे व ऊपर, (सब ओर) फैला यह संसार सर्वश्रेष्ठ यह (प्रकृत) ब्रह्म ही है ॥११॥"

यह जो 'पुरस्तात्' सामने है वह पूर्वोक्तस्वरूप वाला 'ब्रह्मैव' अक्षरब्रह्म ही है, (किन्तु) अज्ञान से देखने[3] वालों को (सामने आदि भेद वाले अ-ब्रह्मरूप से) प्रतीत हो रहा है। [4]ऐसे ही (जो) पीछे (है वह भी) ब्रह्म है। इसी तरह (जो) दायें (हैं वह) ब्रह्म है। वैसे ही (जो) बायें (हैं वह) और उसी प्रकार (जो) नीचे व ऊपर (हैं वह भी ब्रह्म है)। सब ओर 'प्रसृतम्' फैला मानों[5] अपने से

---

१. 'हेत्वपदेशात्प्रतिज्ञायाः पुनर्वचनं निगमनम्' (गौ० सू० १.१.३९)। युक्तिपूर्वक प्रतिपादन की भारतीय शैली में पहले साध्य सहित पक्ष बताया जाता है जिसे प्रतिज्ञा कहते हैं। फिर वह कारण बताते हैं जिससे पक्ष में साध्य का ज्ञान होता हैं; यह हेतु है। तदनन्तर हेतु व साध्य के विशिष्ट सम्बन्ध को बताना पड़ता है जिससे पता चले कि क्यों वह उस साध्य का हेतु है, साथ ही जहाँ यह सम्बन्ध स्पष्ट हो ऐसा दृष्टान्त दिया जाता है; यह उदाहरण कहाता है। हेतु पक्ष में है इसे कहना उपनय कहा जाता है। इस प्रकार जो सिद्ध हुआ उसे कहना पड़ता है जो कि वही होता है जो प्रतिज्ञा में कहा था; यह निगमन है। यहाँ भी 'सबाह्याभ्यन्तरः' (२.१.२) से सर्वरूपता की प्रतिज्ञा कर नाना प्रकारों से उसे सिद्ध किया अतः अब निगमन किया जा रहा है।

२. निमित्तकथन से उपादान भी जानना चाहिये।

३. क्योंकि अज्ञान ज्ञानाभाव नहीं इसलिये अज्ञान से ज्ञान होना संगत है, वह ज्ञान अन्यथा ज्ञान या भ्रम होगा यह बात अलग है। इससे भावरूप मूलाविद्या को भाष्य-असंमत मानने वाले वैयाकरणानुगामी कुछ आधुनिक वेदान्तियों का प्रत्याख्यान हो जाता है।

४. दिशाविशेष में तात्पर्य नहीं यह बताने के लिये सबकी समानता 'तथा' शब्द से (ऐसे ही आदि) बतायी।

५. वास्तव भेद असंभव बताने के लिये 'मानो' (इव) कहा।

(ब्रह्म से) भिन्न है इस प्रकार कार्य के[1] रूप में प्रतीत होता नाम-रूप वाला[2] (सारा संसार ब्रह्म ही है)। (दायें, बायें आदि) अधिक (प्रतीयमान भेदों) को (गिनाने से) क्या (लाभ), 'विश्वम्' सारा ही 'इदम्' संसार सर्वश्रेष्ठ यह (प्रकृत) ब्रह्म ही है। '(कार्याकार से प्रतीयमान) सब ब्रह्म ही है' इस प्रकार कहने से (तथा प्रतीयमान सब का) बाध होने पर 'सब' और 'ब्रह्म' का अभेद बताया जाता है[3], जैसे 'जो यह ठूंठ (दीख रहा है) वह (वास्तव में) पुरुष है'

१. जिसका कुछ भी करने से सम्बन्ध हो सके, उसे यहाँ कार्य कहा है। अतः आकाशादि व स्वयं जीव का भी संग्रह समझना चाहिये।

२. नाम-रूपवाला इस तरह प्रतीययान जो, वह ब्रह्म है यह तात्पर्य है।

३. भिन्न शक्यार्थ वाले शब्द जब एक वस्तु का बोध कराते हैं तब उन शब्दों का सम्बन्ध सामानाधिकरण्य (या अभेद) कहा जाता है। जैसे लाल शब्द रंगविशेषमात्र का वाचक है पर 'लाल घड़ा' कहने पर लालशब्द भी कम्बु-ग्रीवादि वाले घड़े को बताता है और घड़ाशब्द भी उसे ही बताता है। [यह जरूर है कि लालशब्द उसकी ललाई भी बताता है]। अतः लाल-शब्द और घड़ाशब्द का सामानाधिकरण्य (या अभेद) अर्थात् एकार्थबोध-कत्वसम्बन्ध है। यह सम्बन्ध चार अवस्थाओं में हो सकता है : (क) बाध को विषय करने की अवस्था में; जैसे 'ठूंठ पुरुष है' कहने से ठूंठ का बाध कर ठूंठ रूप में प्रतीयमान का पुरुष से अभेद कहा जाता है। तात्पर्य है कि ठूंठ नहीं किन्तु पुरुष है। प्रकृत में भी कार्यरूप से प्रतीयमान सब नहीं है किंतु अव्यवहार्य ब्रह्म ही है यही तात्पर्य है। (ख) अध्यास को विषय करने की अवस्था में; जैसे शालग्राम विष्णु है आदि से शालग्राम पर 'यह विष्णु है' ऐसा अध्यास कहा जा रहा है। (ग) विशेषता बताने की अवस्था में; जैसे लाल घड़ा आदि में। (घ) एकता बताने की अवस्था में; जैसे रात को आकाश देखता हुआ कोई बालकादि जिज्ञासु पूछे कि आकाश में दीखने वालों में चाँद कौन सा है ? तो उत्तर दिया जाता है 'बहुत प्रकाश वाला चाँद है'; इस 'बहुत' आदि वाक्य से एकमात्र चाँद-व्यक्ति का बोध कराया जा रहा है। उसमें बहुत प्रकाश है यह बताया नहीं जा रहा क्योंकि पूछने वाला यह जानना ही नहीं चाह रहा कि उसमें कैसा प्रकाश है। वह इतना ही जानना चाह रहा है कि चाँद कौन है अतः उत्तर का भी तात्पर्य केवल चाँद बताने में है। इस प्रकार 'बहुत प्रकाश वाला' इस वाक्यखण्ड

इस प्रकार कहने से (ठूंठ का बाध होने पर ठूंठ-रूप से दीखने वाले का पुरुष से अभेद बताया जाता है)। प्रपंच का सत्ता से सम्बन्ध और असम्बन्ध होने पर भी ब्रह्म का[1] कभी अभाव नहीं—यह बताने से जगत् केवल ब्रह्मरूप है यह समझाया जा रहा है[2]। [3]ब्रह्म से भिन्न वस्तुओं के सभी[4] ज्ञान केवल अविद्या[5] हैं जैसे रस्सी के विषय में 'यह

का (प्रकृष्टप्रकाशः शब्द का) और चाँद शब्द का एक ही चाँदव्यक्ति बताना प्रयोजन है, बाध, अध्यास या विशेषता बताना नहीं। अतः यह ऐक्यविषयक सामानाधिकरण्य है। यह विषय श्रीगंगाधरेन्द्रसरस्वतीकृत स्वाराज्यसिद्धि में (२.३८) रुचिर ढंग से बताया गया है। वहाँ महावाक्य का प्रसंग होने से 'वस्त्वैक्यपक्षस्थितिः' यह निष्कर्ष है यह पृथक् बात है। सर्वज्ञमुनि ने सामानाधिकरण्य के दो भेद माने हैं—'संसर्गरूपार्थनिवेशि गौणम्, मुख्यं त्वखण्डार्थनिविष्टमाहुः' (१.२१८)। अतः अखण्डार्थ (पूर्वोक्त ऐक्य) प्रतिपादन अवस्था में ही मुख्य सामानाधिकरण्य है, अन्य तीनों में नहीं।

१. अन्वयः सम्बन्धो व्यतिरेकस्तदभावः। परिहारस्त्यागः। प्रपंचस्यान्वय-व्यतिरेकयोः सतोरपि ब्रह्मणोऽभावत्यागः सदा सत्त्वमिति बोधनेनेति समासार्थः। यद्वा, ब्रह्मणोऽन्वयाभावपरिहारेण, अन्वय एवेति बोधनेन; प्रपंचस्य च व्यतिरेकाभावपरिहारेण, व्यतिरेक एवाभावएवेति बोधनेनेत्यर्थो ज्ञेयः। ['ब्रह्म का कभी अभाव नहीं होता और प्रपंच का अभाव होता ही है यह बताने से…' इस प्रकार भी टीकावाक्य समझ सकते हैं।]

२. जिनके परिवर्तित होते हुए जो अपरिवर्तित रहता है वह उनका स्वरूप है यह नियम है जैसे घट, शराव आदि के परिवर्तित होते हुए मिट्टी अपरिवर्तित रहती है, अतः मिट्टी घटादि का स्वरूप है।

३. घटादि हैं नहीं, केवल ब्रह्म है—ऐसा सुनकर शंका होती है कि घटादि प्रतीत क्यों होते हैं ? इस शंका का 'वे अविद्या से प्रतीत होते हैं' यह उत्तर देने के लिए कहते हैं—ब्रह्म से इत्यादि।

४. शास्त्रीय ज्ञानों का संग्रह है।

५. अवास्तविक विद्या या अवास्तविक ज्ञान हैं। विद्या या ज्ञान से वास्तविक प्रमा विवक्षित होती है। लोक में भी 'अमुक विषय का ज्ञान है' कहने से उस विषय की प्रमा है यही समझ आता है। यदि उस विषय में भ्रम हो

सर्प है' ऐसा ज्ञान (अविद्या, अज्ञान, ही है)। यही वेद की शिक्षा है कि एक ब्रह्म ही वास्तविक सत्य है ॥ ११ ॥

इति द्वितीय मुण्डक में द्वितीय खण्ड
तथा
समग्र द्वितीय मुण्डक समाप्त

अथ तृतीय मुण्डक

प्रथम खण्ड

जिसे (स्वाभेदेन यथावत्) समझ लेने पर संसार के कारणभूत हृदय-ग्रन्थि आदि[1] का सकारण[2] नाश हो जाता है वह पुरुषनामक सत्यभूत अक्षर ब्रह्म जिससे समझा जाता है वह परा विद्या बतायी, तथा उस ब्रह्म के ज्ञान का साधनभूत योग[3] धनुष आदि ग्रहण करने के रूपक से बताया। इसके बाद अब उस (योग तथा समझ) को (क्रमशः[4] सफल होने व उत्पन्न होने में) सहायता देने वाले सत्य आदि[5] साधन बताने चाहिये[6] इसलिये अगला मुण्डक प्रारंभ होता है। प्रधान होने से, अर्थात्

तो 'उस विषय का अज्ञान है' ऐसा कहा जाता है। अतः यहाँ अविद्या से अन्यथा विद्या समझना चाहिए। यद्वा कार्यकारण के अभेद से अविद्या कहा है। यत्कारुण्यात् सुधालेपः कलुषेऽपि मनस्यभूत्। नामं नाममहं भक्त्या तं कुर्वे श्रवणं गुरूम् ॥

१. ग्रन्थि से वासना या तादात्म्य और आदि से कामना आदि का ग्रहण है।

२. मूलाविद्या।

३. मन को परमेश्वर में लगाना।

४. अर्थात् योग को सफल होने में व समझ को उत्पन्न होवे में।

५. शुद्धचेतस्त्व (३.१.८), वरण (३.२.३), बल, अप्रमाद, तप, संन्यास (३.२.४) आदि का 'आदि' पद से संग्रह है।

६. क्योंकि अनुभवसिद्ध है कि श्रवणादि कर लेने पर भी फलसिद्धि नहीं होती इसलिए कारणसामग्री में कुछ कमी अवश्य है। उस कमी को दूर करने के लिए कारण सामग्री को जानना आवश्यक है। सत्यादि सहायककारण है जिनकी कमी से श्रवणादि सफल नहीं हो पाते।

वेदातिरिक्त प्रमाण से ज्ञेय न होने के कारण वेद का तात्पर्यतः विषय (प्रतिपाद्य) होने से, तत्त्वभूत ब्रह्म के स्वरूप का निरूपण भी (पूर्वापेक्षया) अन्य प्रकार से (इस मुंडक में) किया है; यद्यपि (तत्त्वनिरूपण पूर्व में) किया जा चुका है तथापि (पुनः इस मुण्डक में किया है) क्योंकि (तत्त्व) अत्यन्त मुश्किल से समझ आता है[1]।

इस तृतीय मुण्डक में वास्तविक वस्तु ब्रह्म को विविक्तकर समझाने के लिये संक्षेप से बताने वाला मन्त्र प्रारम्भ में श्रुतिद्वारा बताया जाता है—

"सदा साथ रहने वाले, चेतन—इस समान नाम वाले, जो औचित्य से ही नियम्य-नियामक-भाव को प्राप्त हुए हैं ऐसे जीव व ईश्वररूप दो पक्षियों ने शरीर रूप एक वृक्ष का आलिगन किया है। उनमें एक—जीव—विचित्र अनुभवों वाले कर्मफलरूप पीपलफल का उपभोग करता है, दूसरा–ईश्वर–उपभोग न करता हुआ केवल देखता है, प्रकाशित होता रहता है ॥ १ ॥"[2]

'सुपर्णा' (इसका लौकिक रूप है) 'सुपर्णौ' जिनका नियम्य-नियामक-भावको प्राप्त होना उचित है उन—जीव अज्ञानी है अतः नियमन किये जाने योग्य है जिससे उसका नियम्यभाव को प्राप्त होना उचित है तथा ईश्वर क्योंकि सर्वज्ञ है इसलिये नियामकता के अनुकूल शक्ति का उससे सम्बन्ध होने से उसका नियामकभाव को प्राप्त होना शोभन अर्थात् उचित है, अतः वे दोनों ऐसे कहे गये हैं जिनका नियम्य-नियामकभाव को प्राप्त होना उचित है; 'द्वा' दोनों—'द्वा सुपर्णा' इत्यादि श्रुतिप्रयोगों में द्विवचन-सूचक 'औ'-विभक्ति के स्थान पर 'आ' का प्रयोग (द्वौ आदि की जगह द्वा

---

१. तथा अभ्यासरूप तात्पर्यबोधक लिंग का लाभ होता है।

२. 'गुहां प्रविष्टावात्मानौ हि तद्दर्शनाद्' (१.२.३.११) अधिकरणन्याय का प्रकृत मन्त्र में अतिदेश सूत्रभाष्य में बताया है। यद्यपि पैंगिरहस्य ब्राह्मण के अनुसार अन्तःकरण व जीव (क्षेत्रज्ञ) को दो पक्षी मानने का पक्ष भी बताया है और टीकाकारों की दृष्टि से वही सिद्धान्त है, जीव-ईश्वर को दो पक्षी मानना कृत्वाचिन्ता (अभ्युपेत्यवाद) है, तथापि पैंगिप्रसंग की दृष्टि से ही वैसा है, मुण्डक (और श्वेताश्वतर ४.६) के प्रसंग में तो जीव-ईश्वर को ही मानना उचित होने से सूत्रभाष्य व उपनिषद्भाष्य सर्वथा अविरुद्ध हैं ऐसा आचार्यों का अभिप्राय है।

आदि कहना) वैदिक स्वातन्त्र्य से[1] साधु है। सुपर्णों ने[2]; अथवा[3] क्योंकि वृक्ष का आश्रयण आदि उक्त मंत्र में सुना गया है इसलिये पक्षियों की समानतावाले होने से दोनों पक्षियों ने, 'सयुजा' (इसका लौकिकरूप है) 'सयुजौ' जो सदा ही परस्पर सम्बद्ध[4] हैं, 'सखाया' (इसका लौकिक रूप है) 'सखायौ' जो समान आख्यान वाले हैं अर्थात् जिनकी अभिव्यक्ति का कारण एक ही है[5] 'इस प्रकार (सुपर्ण, सयुक् व सखा) हुए दोनों ने

१. 'सुपां सुलुक्-पूर्वसवर्णाच्छेयाडाड्यायाजालः' (७.१.३९) सूत्र से 'आ' हुआ है यह समझना चाहिए।
२. शोभन है अर्थात् उचित है पर्ण अर्थात् उक्तभाव प्राप्ति जिनकी उन्हें इस योग से सुपर्ण कहा।
३. रूढिप्राबल्य के अनुरोध से कल्पान्तर है।
४. ईश्वर बिम्ब व जीव प्रतिबिम्ब है इस प्रक्रिया की दृष्टि से तादात्म्यसम्बन्ध है। अविद्यारूप उपाधिप्रयुक्तत्व दोनों का होने से दोनों जब होंगे तब साथ ही होंगे, एक रहे दूसरा न रहे यह नहीं हो सकता यह सरलार्थ है। जीव-कल्पित ईश्वर मानने वालों के मत में भी दोनों अनादि व तत्त्वज्ञाननिवर्त्य माने ही जाते हैं अतः समान व्यवस्था है। अविद्यानिवृत्ति व माया की अनिवृत्ति मानने वाले प्रकटार्थकारके (व सम्भवतः प्रकृत टीकाकार के) मत में भी क्योंकि माया के एकदेश ही अविद्यायें हैं अतः माया के रहते एक न एक अविद्या रहना लाजमी है जिससे मायोपहित के रहते अविद्योपहित अवश्य होगा और 'सयुजौ' श्रुति संगत रहेगी। इस पक्ष की तुलना अप्पय-दीक्षित द्वारा विशदीकृत सर्वमुक्तिवाद से कर लेनी चाहिए।
५. आख्यान का अर्थ अभिव्यक्तिकारण भाष्यकार ने किया है। आख्यान का रूढार्थ नाम है। अतः 'समान नाम वाले' यह भी अर्थ है। 'चेतन' उन दोनों का समान नाम है। सखा मित्र को कहा जाता है, अतः यहाँ 'वे दोनों परस्पर मित्र हैं' यह भी कहा जा रहा है। इनका परस्पर स्वारसिक प्रेम है यह भाव है। क्योंकि इनका वास्तविक स्वरूप एक है अतः इनका प्रेम आत्यन्तिक है; यह परप्रेमरूप भक्ति वेदान्तानुसार ही सम्भव है, भेद या भेदाभेदवादों में नहीं, यह रहस्य है। ईश्वर का जीव के प्रति प्रेम करुणा व जीव का ईश्वर के प्रति प्रेम भक्ति कहा जाता है। 'समाने ख्यः स चोदात्तः' (उ० ४.१३८) से 'समानं ख्यातीति सखा' सिद्ध होता है। दोनों का अभिव्यक्तिकारण एक अज्ञान ही है यह स्पष्ट है।

'वृक्षम्' वृक्ष की तरह काटे जाने वाले होने की समानता से[1] (शरीर ही वृक्ष है, उस) शरीररूप वृक्ष का, जो कि 'समानम्' अकेला ही दोनों की उपलब्धि[2] का समान स्थान है, 'परिषस्वजाते'[3] आलिंगन किया हुआ है, मानो फल का उपभोग करने के लिये[4] दो पक्षियों ने एक वृक्ष का (आलिंगन किया हो—उपाश्रयण लिया हो)। (फल का उपभोग करने के लिये इसलिये) क्योंकि ऊर्ध्वमूल,—ऊर्ध्वं अर्थात् उत्कृष्ट ब्रह्म इसका मूल अर्थात् अधिष्ठान है[5] अतः यह ऊर्ध्वमूल है; नीचे की ओर शाखाओं वाला,—(ब्रह्म की अपेक्षा) नीचे की ओर (अर्थात् न्यूनसत्ता में) शाखाओं[6] की तरह प्राण आदि[7] (फैले हैं) अतः यह नीचे की ओर शाखाओं वाला

---

१. ओव्रश्चु छेदने धातु से 'स्नुव्रश्चिकृत्यृषिभ्यः कित्' (उ० ३.६६) के अनुसार 'वृतृवदि०' (३.६२) आदि में विहित 'सः' कित् होकर लगने से 'वृश्च्यते छिद्यतेऽसौ वृक्षः' सिद्ध होता है। अर्थात् जो काटा जाये उसे वृक्ष कहते हैं। शरीरशब्द भी ईरन् प्रत्यय (उ० ४.३१) लगाकर 'शीर्यते हिंस्यत इति शरीरम्' इस प्रकार जिसकी हिंसा की जाये—इस अर्थ में बनता है। शरीर से त्रिविध शरीर समझे जा सकते हैं किन्तु रूपक के अनुसार स्थूलशरीर ही वृक्ष कहा गया है।

२. चिद्रूप से उपलब्धि विवक्षित है। सद्रूप से ईश्वर की सर्वत्र उपलब्धि है। प्रमातृरूप से जीव की व साक्षितया ईश्वर की शरीर में ही उपलब्धि होती है।

३. परि + ष्वञ्ज (अभिष्वंगे) + लिट् प्र० द्वि० (आत्म०); 'स्वञ्जेरुपसंख्यानम्' वार्तिक से परसकार का षत्व नहीं होता। प्रथम सकार का 'परिनिविभ्यः सेवसितसयसिवुसहसुट्स्तुस्वञ्जाम्' (८.३.७०) से षत्व होता है।

४. उपभोग करने के लिए जीव ने व वह उपभोग कर सके इसके लिए उसे उपभोग कराने के लिए ईश्वर ने; ऐसा समझना चाहिए। सूत्रभाष्य में 'पाययन्नपि पिबतीत्युच्यते' ऐसा गुहाप्रविष्टाधिकरण में सूचित किया है। अत एव 'अनश्नन्' यह वाक्यशेष संगत है।

५. 'आनन्दाद्ध्येव…जायन्ते' (तै० ३.६) श्रुति इसमें प्रमाण है।

६. पुष्प, फल आदि धारण करना शाखा का काम है और वह तने से निकलती है। प्राणादि भी अविद्या से निकलते हैं व फलभोग को सम्भव करते हैं।

७. इन्द्रियाँ आदिशब्द से समझनी चाहिए।

है; अश्वत्थ, कल तक (भी) रहना इसका निश्चित नहीं किया जा सकता[१] इसलिये यह अश्वत्थ है; अव्यक्तरूप मूल से उत्पन्न होने वाला, अव्यक्त अर्थात् अव्याकृत (माया), वही है मूल—उपादान—अर्थात् कार्य में अनुगत होने वाला कारण, उससे उत्पन्न होता है अतः उसे इस प्रकार (अव्यक्त-रूप मूल से उत्पन्न होने वाला) कहा, तात्पर्य है कि जब तक अज्ञान है तब तक यह (शरीर) बना रहता है;[२] क्षेत्र-नामक यह वृक्ष प्राणियों के सभी कर्मों के फलों को भोगने का स्थान[३] है। अविद्या-मूलक कामना, कर्म और वासनाओं का आश्रयभूत सूक्ष्मदेह है[४] उपाधि जिस आत्मा की वह—इस प्रकार कहा गया—जीव और ईश्वर—इन दोनों पक्षियों ने उस वृक्ष का आलिंगन किया हुआ है। 'तयोः' आलिंगन किये हुए उनमें 'अन्यः' एक (जो) जीव (वह) विवेक न करने से[५] सूक्ष्मदेहरूप उपाधि जिसमें है उस स्थूलदेहरूप वृक्ष पर आश्रित हो 'स्वादु' अनेक नाना प्रकार के ज्ञानों के अनुभवरूप स्वाद वाले, 'पिप्पलम्' अपने पूर्वकृत कर्मों से निर्मित सुख-दुःखरूप फल को 'अत्ति' खाता है अर्थात् (उसका) उपभोग करता है। 'अन्यः' (जीव से) दूसरा (अर्थात्) ईश्वर (जो) नित्यस्वभाव-वाला, शुद्धस्वभाववाला, बुद्धस्वभाववाला,[६] मुक्तस्वभाववाला, सर्वज्ञ, सत्त्वोपाधि[७]—इसकी मायानामक सत्त्व उपाधि है अतः यह सत्त्वोपाधि है; कहा भी है 'ज्ञानरूप व निर्मल सत्त्वराशि वाले को (क्या अज्ञात है ?) [वि० पु० ५.१७.३२]—शासन करने के शील वाला है वह 'अनश्नन्'

---

१. न श्वः तिष्ठतीति व्युत्पत्त्या। अनित्यता में तात्पर्य है।

२. मुक्तशरीर भी अविद्यालेश की अपेक्षा रखता है।

३. शरीरधारण के बिना फलभोग सम्भव नहीं।

४. 'खवाय्वग्न्यम्बुक्षितयो भूतसूक्ष्माणि पंच च। अविद्याकामकर्माणि लिंगं पुर्यष्टकं विदुः' ॥ पंची० वा० ३६ ॥ इस वार्तिक में अविद्यापद वासनापरक है क्योंकि अविद्या स्वयं तो कारणशरीर है न कि लिंगशरीर। अत एव प्रकृत भाष्य व टीका में 'अविद्यामूलक कामादि' इस प्रकार समासार्थ समझना चाहिए।

५. विवेक न करने से पूर्व यथावत् ज्ञान न होना आवश्यक है यह स्मरण रखना चाहिए।

६. अर्थात् ज्ञानस्वभाव वाला।

७. कहीं 'सर्वसत्त्वोपाधिः' ऐसा पाठ है।

उपभोग नहीं करता, क्योंकि यह भोग के विषय और भोग के कर्त्ता— दोनों को सदा केवल अपनी साक्षिता रखने से (अर्थात् स्वयं सदा केवल साक्षी रहते हुए) प्रेरणा देता है।[1] उपभोग न करता हुआ वह दूसरा (ईश्वर) तो 'अभिचाकशति' केवल देखता ही है, क्योंकि केवल देखना ही उसका प्रेरण करना है[2] जैसे राजा (देखता है—ध्यान देता है, इसी से राज्य कर्मचारियों द्वारा राज्य के काम होते रहते हैं) ॥ १ ॥

जीव व ईश्वर में (जीव की) ऐसी स्थिति होने पर (उससे उबरने का उपाय बताने के लिये श्रुति कहती है)—

"जहाँ ईश्वर भी अभिव्यक्त होता है उस देहरूप वृक्ष पर स्थित भोक्ता जीव गलत निश्चयवशात् देह को अपना स्वरूप मानकर 'मैं कर्त्ता हूँ' आदि भ्रमों में पड़ा अपनी असामर्थ्य से सन्तप्त होता है। योगियों द्वारा व कर्मियों द्वारा सेवित ईश्वररूप दूसरे[3] पक्षी को जब 'वह मैं ही हूँ' इस प्रकार जानता है तथा 'यह जगद्रूप महिमा मेरी ही है' ऐसा समझ लेता है, तब इसका समस्त सन्ताप निवृत्त हो जाता है ॥ २ ॥"

---

१. सांख्यपुरुष से वैलक्षण्य स्पष्ट है। अथापि विकारिता नहीं यह 'अभिचाकशीति' से स्पष्ट है।

२. ईश्वर की सत्ता व चित्ता के बिना कहीं कुछ होना असम्भव है तथा सत्ता चित्ता देने के लिए ईश्वर को कोई व्यापार भी करना पड़ता नहीं।

३. यह भ्रम नहीं होना चाहिए कि यहाँ ईश्वर को 'दूसरा'—जीव से भिन्न—बताया होने से भेदोपदेश में श्रौततात्पर्य है क्योंकि वैसा उपदेश व्यर्थ ही होगा, कारण कि ईश्वर को अपने से भिन्न शास्त्र पढ़े बिना सभी जानते हैं। किं च 'ब्रह्मैवेदं विश्वम्' (२.२.११) कहकर उस ब्रह्म के निर्धारणार्थ ही दो पक्षियों के रूपक का उपन्यास है तथा 'प्राणो ह्येष यः सर्वभूतैर्विभाति' (३.१.४), 'पश्यत्स्विहैव निहितं गुहायाम्' (३.१.७) आदि से इस खण्ड में व 'पुरुषमुपैति दिव्यम्' (३.२.८), 'ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति' (३.२.९) आदि से अगले खण्ड में अभेद का ही सफल वर्णन किया है। अतः अब्रह्मनिवृत्त्यर्थ अब्रह्मबोध आवश्यक होने से बाधयोग्य खाने वाले जीवरूप पक्षी का प्रतिपादन समझना चाहिये। भगवान् भाष्यकार ने भी कहा है—'चेतनस्य क्षेत्रज्ञस्याऽभोक्तृत्वं ब्रह्मस्वभावतां च वक्ष्यामीति (श्रुतिः प्रवृत्ता), तदर्थं...भोक्तृत्वमध्यारोपयति' (ब्र० सू० १.२.१२)। यद्यपि

'समाने वृक्षे' पूर्वोक्त विशेषता[1] वाले शरीर में 'पुरुषः' (कर्मफल का) उपभोग करने वाला जीव, अपने स्वरूप को न जानना,[2] (अत एव होने वाली) इच्छाओं, (उनसे अवश होकर किये जाने वाले) कर्मों, (उनसे प्राप्य सुख-दुःखरूप) फलों व (उन फलों में) राग आदि[3]—इन अत्यधिक भारों से दबा हुआ 'निमग्नः' (गलत) निश्चय से[4] स्वयं को शरीर से अनतिरिक्त[5] समझता हुआ 'यही (हाथ, पैर वाला) मैं हूँ, इसका

वहाँ सत्त्व-क्षेत्रज्ञ का सन्दर्भ है तथापि वाक्य प्रकृतानुकूल है। यदि यहाँ सन्देह भी हो तो 'द्वा' आदि व 'समाने' आदि मन्त्र श्वेताश्वतर में भी यथाक्रम आए हैं (४.६, ७), वहीं उनका अभेदविषयकत्व निर्धारित कर लेना चाहिए। वहाँ 'आत्मा गुहायां निहितः' (३.२०), 'सर्वात्मानम्' (३.२१) आदि से ब्रह्म में पूर्वाध्याय समाप्त कर एकमात्र परमेश्वर से चतुर्थाध्याय प्रारम्भ किया 'य एकः' (४.१); 'तदेवाग्निः' (४.५), 'त्वं स्त्री' आदि से सर्वरूपता बतायी; 'यतो जातानि भुवनानि विश्वा' से (४.४) जगत्कारण बताकर जगत्स्वरूप बकरों व पक्षियों के रूपकों से समझा कर 'अजो ह्येको जुषमाणोनुशेते' (४.५), 'अन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्ति' (४.६), मोक्षोपायभूत ज्ञान का उपदेश दिया 'यदा पश्यति' (४.७) से तथा भेदमिथ्यात्व कण्ठतः बताया 'अन्यो मायया सन्निरुद्धः' (४.९) आदि से। अभेद का पुनरपि वर्णन किया 'एकः' (४.११), 'एकम्' (४.१४), 'एकम्' (४.१६), 'केवलः' (४.१८), आदि से व शिवज्ञान से मोक्ष का भूयः उपदेश दिया। अतः स्पष्ट ही प्रकृत मन्त्र अभेदबोधनोपायभूत है इसमें संशयलेश भी नहीं।

१. जीव-ईश्वर दोनों की अभिव्यक्ति का स्थान होना देह की पूर्वोक्त विशेषता है।

२. अ-विद्या की तरह 'न जानना' का भावरूप अविद्यापरक अर्थ कर लेना चाहिये।

३. आदि से द्वेष समझना चाहिए।

४. गलत निश्चय ही बन्धन का व सही निश्चय मोक्ष का निदान भाष्यकारीय दर्शन में प्रसिद्ध है।

५. 'मैं देह' ऐसा सबको प्रायः स्पष्ट न होने पर भी देह-धर्मों का अपने पर अध्यास सभी को होता है। पद्मपादाचार्य ने सूचित किया है कि अहंकार यद्यपि देहादिभिन्न भोक्ता को विषय करता है तथापि देहादिभेद के ज्ञानपूर्वक नहीं, बल्कि देहादि से विशिष्ट को विषय करता है, अतः देहधर्मों को अपना धर्म मानता है—'यद्यपि देहादिव्यतिरिक्तभोक्तृविषयएवायमहंकारः, तथापि तथा अनध्यवसायात् तद्धर्मान् आत्मनि अध्यस्यति' (पृ० २७९ कल०)।

(देवदत्तादि का) पुत्र हूँ, इसका (यज्ञदत्तादि का) पौत्र हूँ, कमजोर हूँ, मोटा हूँ, निपुणता-सम्पन्न हूँ, सद्गुणों से रहित हूँ, (कभी) सुखी (व कभी) दुःखी (रहता हूँ)'—इस प्रकार के विचार रखते हुए 'इस शरीरादिविशिष्ट से अतिरिक्त (मेरा कुछ स्वरूप) नहीं है' ऐसा (सोचता हुआ) जन्मता मरता है व (देह को निमित्त कर) सम्बन्धित बन्धुओं से मिलता-बिछुड़ता रहता है[1]; (इस प्रकार) जैसे समुद्र के जल में तुम्बी[2] (अधिक भार से दब कर डूबी रहती है वैसे जीव उक्त भारों से दब कर संसारसमुद्र में डूबा रहता है)। अतः (निमग्न होने से) 'अनीशया' 'मैं किसी (काम) के समर्थ नहीं, मेरा पुत्र नष्ट हो गया, मेरी पत्नी मर गयी, मेरे जीवन से क्या (लाभ) ?' इस प्रकार की दीनता अनीशा है, उसके कारण, अविद्या के दो काम हैं—जो जैसा है उसका वैसा ज्ञान न होने देना तथा वह जैसा नहीं वैसा उसे प्रतीत करा देना। इन दोनों में जो अपनी ईश्वरता का न समझना रूप आवरण है, वही अनीशा है।[3] 'शोचति' सन्ताप करता है, 'सन्ताप करता है' यह विक्षेप (जैसा नहीं वैसा समझना) बताया। इन दोनों का (आवरण व विक्षेप का) कारण मोहशब्द से कहा अनिर्वचनीय अज्ञान है (यह बताते हैं—) [क्योंकि] 'मोमुह्यमानः' आवरण व विक्षेप के कारणभूत मोह वाला होकर 'मैं करने वाला हूँ' आदि अनर्थभूत बन्धन देने वाले अनेक प्रकारों की बुद्धिवृत्तियों से अविवेकता द्वारा अर्थात् उन बुद्धिवृत्तियों से अपने को अभिन्न समझ कर चिन्ता

---

१. देहोत्पत्ति से जन्म, देहनाश से मरण, देहसंयोग से मिलन, देहवियोग से बिछुड़ना—इन सबको अपना मानता है।

२. तुम्बी स्वभावतः तैरती है, असह्य भारवश डूबने पर भी ऊपर की ओर आने का प्रयास करती है। ऐसे ही जीव स्वभाव से मुक्त है, अविद्यादि से संसरण करते हुए भी मोक्ष के लिए प्रयास करता रहता है। यह इस भाष्यीय दृष्टान्त का भाव है ऐसा श्वेताश्वतरव्याख्यान में आचार्यचरणों ने प्रतिपादित किया है।

३. 'स्वभावसिद्धेश्वरस्यानीश्वरत्वं तद्भावाप्रतिपत्तिरेव, वस्तुनोऽनपायात्; ततश्चेश्वरभावाप्रतिपत्तेः शोकस्य च निमित्तं मोहं दर्शयति (अनीशयेत्यादि श्रुतिः)' इति विवरणे। 'मुह्यमानः सन्नीश्वरभावं न प्रतिपद्यते ततः शोकोपलक्षितं संसारमनुभवतीत्यर्थः' इति तत्त्वदीपने (पृ० २६४ कल०)।

को प्राप्त हुआ रहता है। इस प्रकार प्रेत, पशु, मनुष्य आदि योनियों में आजव अर्थात् निरन्तर जवीभाव को अर्थात्[1] नीचता को[2] (एवं) लक्षणा से लघुता को[3] (और) कर्मरूप वायु से प्रेरित होने के कारण जवीभाव अर्थात् जल्दी को[4] प्राप्त हुआ वह जीव कभी[5] अनेक जन्मों में किये शुद्ध[6] धर्मों से अर्जित पुण्यरूप निमित्त से अत्यन्त करुणावान्[7] किसी गुरु द्वारा परमात्मा से अभेदसम्बन्ध की प्राप्ति के उपाय के विषय में उपदेश पाता है (और) प्राणिपीडावर्जन, सत्य, वेदान्त-अध्ययन[8] सर्वत्यागरूप संन्यास, मनोनिग्रह, इन्द्रियनिग्रह आदि का पुष्कल[9] अभ्यास कर एकाग्र होकर ध्यान करता हुआ 'जुष्टम्' योग-मार्ग में चलने वाले व कर्म करने वाले अनेक साधकों द्वारा[10] सेवित 'ईशम्' संसरण न करने वाले[11], भूख-प्यास, शोक-मोह, बुढ़ापा-मौत—इनसे (छहों ऊर्मियों से) रहित शिव को (जो कि) सारे जगत् का शासक है (और) 'अन्यम्' शरीरवृक्षरूप उपाधि को अपना स्वरूप मानने वाले जीव से भिन्न स्वभाव वाला (दूसरा पक्षी है), 'यह शिव मैं ही हूँ, सबका वास्तविक रूप[12] मैं हूँ, एकरस[13] हूँ, सब

---

१. जवीभाव के तीन विवक्षित अर्थ टीकाकार बता रहे हैं।

२. शुद्ध आत्मा को अशुद्ध समझना नीचता-प्राप्ति है।

३. व्यापक सर्वेश्वर को देहमात्रस्थित दीन हीन समझना लघुताप्राप्ति है।

४. स्वस्वरूप का विचार करने की फुर्सत न होना जल्दी है। हमें कर्म की—या उसे करने की या उसका फल भोगने की—इतनी जल्दी है, उतावली है कि हमें यह सोचने का समय नहीं कि 'कोऽहम्, मुक्तिः कथम्, केन संसारं प्रतिपन्नवान्' (सूत० सं० २ ज्ञान० १४-५)।

५. दुर्लभता में तात्पर्य है।

६. फलासक्तिराहित्य धर्म की शुद्धि है।

७. आत्मोपदेश के प्रति करुणा ही कारण है।

८. उपस्थनिग्रह इंन्द्रियनिग्रह से गतार्थ होने के कारण ब्रह्मचर्य पद वेदाध्ययन-परक और प्रसंगानुसार वेदान्ताध्ययनपरक समझना चाहिये।

९. सामान्य अभ्यास की अपर्याप्तता 'सम्पत्ति' शब्द से बतायी जाती है।

१०. असाधक तो योग या कर्म से ईश्वरसेवन नहीं करते अतः साधक ही अभिप्रेत हैं।

११. देहादितादात्म्य संसरणपदार्थ है।

१२. अर्थात् अधिष्ठान। १३. भेदवर्जित।

प्राणियों में क्षेत्रज्ञ[1] मैं ही हूँ, शिव से भिन्न जो[2] अविद्या से उत्पादित शरीररूप उपाधि से सीमा वाला मिथ्या स्वरूप वाला है वह मैं नहीं हूँ इस प्रकार[3], और 'इस (शिवरूप) मुझ परमेश्वर का ही यह सारा जगद्रूप 'महिमानम्' वैभव हैं' इस प्रकार 'यदा' जिस समय 'पश्यति' देखता है[4], उस समय 'वीतशोकः' सारे शोक-समुद्र से सर्वथा छूट जाता है[5]। तात्पर्य है कि कृतकृत्य हो[6] जाता है ॥ २ ॥

एक और मन्त्र इसी बात को[7] विस्तार से कहता है—

"साधक जब स्वप्रकाश विश्वकर्ता जगन्नियन्ता पूर्णपुरुष कारणरूप ब्रह्म को अपने से अभिन्न जानता है तब ऐसा जानकर समग्र कर्म का बाधकर[8] सर्वक्लेश-निर्मुक्त हो पारमार्थिक अद्वैतभाव में प्रतिष्ठित हो जाता है ॥ ३ ॥"

'यदा' जिस समय 'पश्यः'[9] अर्थात् समझने वाला जानकार साधक 'रुक्मवर्णम्' अन्य-अनधीन ज्ञानप्रकाशस्वरूप (आत्मा को) या[10] स्वर्ण को

---

१. क्षेत्रज्ञाध्याय की प्रक्रिया से समझना चाहिये।

२. जो = अहंकार।

३. इस प्रकार = अभेद से; शिव को जब अपने से अभिन्न जानता है—यह वाक्यार्थ है।

४. पश्यति द्रष्टेति व्यवहितेन सम्बन्धः।

५. वीतशोकोऽस्य महिमानमित्येतीत्यर्थः परिमलकृतामितीत्यत्र गुणाभावश्छान्दसो महिमा च स्वरूपमेवेति ज्ञेयम्। यदा पश्यति तदा वीतशोक इति दर्शनस्य शोकाभावप्रयोजकत्वं व्यतिरेकस्य च व्यतिरेक इति ज्ञानमोक्षवादोराद्धान्त-तयागादि। ततश्च भक्तिकर्मसमुच्चयवादिनां च मतान्यश्रौतानीति दिक्।

६. शिवदर्शन के बाद भी कुछ कार्य बच जाता है इस मन्दशंका का निराकरण किया।

७. ब्रह्मज्ञान से मोक्षको।

८. 'विधूय मिथ्यात्वेन निरस्य, तन्निरसनेपि निरंजनः सन्नि' त्युपनिषद्ब्रह्मयोगी।

९. 'पाघ्राध्माधेट्दृशः शः' (३.१.१३७) सूत्र से दृश् धातु से कर्त्रर्थक शः प्रत्यय हो 'पाघ्रा०' (७.३.७८) से दृश् को पश्य आदेश हो 'अतो गुणे' (६.१.९७) से पररूप हो 'पश्यः' सिद्ध होता है।

१०. या = और।

तरह[१] जिसका अविनाशी ज्ञानप्रकाश है उस (आत्मा) को, जो कि समस्त संसार का रचयिता और शासक है, (पूर्ण होने से) पुरुष है तथा 'ब्रह्मयोनिम्' वही ब्रह्म है व वही (जगत् का) कारण[२] है अतः ब्रह्मयोनि है, या[३] अपर ब्रह्म का कारण[४] होने से ब्रह्मयोनि है उसे पहले की तरह अर्थात् अपने से अभिन्न 'पश्यते' जानता है; वह[५] इस तरह जब जानता है तब वह जानकार साधक 'पुण्यपापे' बन्धनरूप[६] कर्मों को उनके मूल (कामना)[७] सहित 'विधूय' निरस्त कर अर्थात् बाधित कर 'निरञ्जनः' आत्मा से लिपट जाना जिनका स्वभाव है[८] उन सभी क्लेशों से निर्मुक्त हो 'परमम्' विशिष्ट अर्थात् सर्वाधिक 'साम्यम्' समता को,[९] जिसका रूप अभेद है—द्वैत में[१०] होने वाली समानतायें इस (जीव-ईश्वर की) समानता से कम[११] ही हैं, अतः अभेदरूप यह समानता सर्वाधिक है, उस सर्वाधिक समात को 'उपैति' प्राप्त करता है ॥ ३ ॥

और भी—[१२]

---

१. स्वाभाविकता में दृष्टान्त है।

२. 'कर्तारम्' कहा जा चुका है अतः उपादान कारण समझना चाहिये।

३. या = और।　　　　　　　　　　४. द्रष्टव्य मुं० २.१.२।

५. निजवाक्य का अन्वय स्पष्ट करने के लिये पुनरादान है।

६. कुछ करना आवश्यक हो या कुछ न करना (ब्रह्महत्यादि) आवश्यक हो, यही बंधन है।

७. अविद्यानिवृत्ति 'निरंजनः' से कहनी है।

८. आत्मा से अतिरिक्त वे कहीं रह नहीं सकते। आत्मा पर भी रहते नहीं, अतः मिथ्या हैं यह रहस्य है।

९. एक वस्तु के अनेक धर्म जब अन्य वस्तु में मिलते हैं तब दूसरी को प्रथम के (या वैपरीत्येन) समान कहते हैं—(तद्भिन्नत्वे सति) तद्गतभूयोधर्मवत्त्वम्। जब सभी धर्म मिल जायें तब साम्य सर्वाधिक होगा। यह तभी संभव है जब दोनों वस्तुएँ एक ही हों।

१०. द्वैतविषयाणि द्वैताधिष्ठितानीत्यर्थः। अधिष्ठानपरो विषयशब्दोऽध्यासभाष्ये 'मिथ्याप्रत्ययश्चारोपविषयारोपणीयस्ये' त्यादिवाक्ये।

११. अनेक धर्म समान हो सकते हैं, सब नहीं।

१२. पूर्वमंत्रोक्त जानकार साधक के विषय में श्रुति और भी कुछ बताती है, यह अर्थ है।

"यह (प्रकृत) प्राणनामक परमात्मा सबका स्व-रूप हुआ नाना प्रकार से प्रकाशित होता है। जानकार साधक इसे 'यह मैं ही हूँ' ऐसा जानते हुए अन्य सबसे बढ़कर बोलने वाला[1] नहीं होता। आत्मा में ही क्रीडा करने वाला, आत्मा में ही प्रेम वाला व ज्ञान[2] ध्यान आदि क्रिया वाला यह (उक्त जानकार) ब्रह्मवेत्ताओं में प्रधान होता है ॥४॥"

जो यह—जिसका प्रकरण चला हुआ है—मुख्य प्राण को भी जीवन (सत्ता) देने वाला प्राणनामक[3] परात्पर महेश्वर है वह निश्चय ही 'सर्वभूतैः' ब्रह्मा से लेकर घास के तिनके तक सब रूपों में—('सर्वभूतैः' पद में) तृतीया विभक्ति यह बताने के लिये है कि आत्मा इस प्रकार का है[4]—अर्थात् सब भूतों में (प्राणियों में) स्थित, सबका स्व-रूप हुआ

---

१. अन्य से अपनी श्रेष्ठता बताना बढ़कर बोलना कहा जाता है। क्योंकि यह अपने से अन्य कुछ नहीं मानता (जानता) अतः किससे बढ़कर बोले ? किंच स्वयं जैसा न हो वैसा अपने को बताये तो बढ़कर बोलने वाला कहा जाये। यह तो सर्वात्मा है अतः कुछ ऐसा है ही नहीं जो यह न हो। फलतः यह जो बोलेगा वह ठीक ही बोलेगा, बढ़कर बोला गया नहीं होगा, यह भी जानना चाहिये। अतः छान्दोग्य में अतिवदन की अनुमति (७.१५.४) संगत है। 'यस्मात्सर्वेश्वरात्मत्वेन गतस्तस्मान्नापह्नवे कारणमस्ति'—ऐसा श्रीनरेन्द्रपुरी जी ने कहा है।

२. 'एतज्ज्ञानम्' (गी० १३.८-१२) में कहे ज्ञान की क्रियारूपता संगत है। यद्वा 'धात्वर्थः क्रिया' ऐसी पारिभाषिक क्रिया समझनी चाहिये। तब स्वरूप-ज्ञानस्थिति में तात्पर्य होगा।

३. श्रुति में (केन० १.२, कठ० २.३.२, बृ० ४.४.१८, आदि) अनेक जगह प्राण पद परमात्मार्थक आया है।

४. 'इत्थम्भूतलक्षणे' (२ ३.२१)। व्यक्ति या वस्तु यदि किसी प्रकार की हो गयी हो और उसे (उस प्रकार की हो चुकी व्यक्ति या वस्तु को) बताने के लिये किसी शब्द का प्रयोग हो तो बताने वाले शब्द में तृतीयाविभक्ति लगानी चाहिये ऐसा पाणिनि का अनुशासन है। जैसे कोई व्यक्ति तपस्वी बन गया है और हम जटाशब्द से बताना चाहते हैं कि (जटी होने से पता चलता है कि) वह तपस्वी है तो हमें 'जटाभिस्तापसः' कहना चाहिये। जटाओं से ज्ञाप्य जो तपस्विता, उससे विशिष्ट यह व्यक्ति है, यह वाक्यार्थ होगा। प्रकृत में 'सर्वभूतैर्विभाति' का अर्थ होगा—सर्वभूतों से ज्ञाप्य विभान (प्रकाशन)

'विभाति' नाना प्रकार से प्रकाशित[1] होता है। जो (साधक) इस प्रकार[2] सब प्राणियों में स्थित (परमेश्वर) को 'यह (परमेश्वर) मैं हूँ' इस तरह अपरोक्ष आत्मरूप से [3]केवल महावाक्य के अर्थ के साक्षात्कार से जान लेता है वह ऐसा जानते हुए 'भवते' (इसका लौकिक रूप है) 'भवति' नहीं होता—यह कहा; क्या (नहीं होता) ? 'अतिवादी' अन्य सबसे बढ़कर बोलना जिसका स्वभाव हो वह अतिवादी होता है, जो तो इस प्रकार प्राण के भी जीवनदायक परमात्मा को अपरोक्ष आत्मा जानता है, वह अतिवादी नहीं होता यह अर्थ है। जब 'सब अपना स्वरूप ही है, उससे पृथक् कुछ नहीं' यह जान लिया तब यह (जानकार अपने से भिन्न) किससे[4] बढ़कर बोले ? जो तो अपने से निकृष्ट अन्य किसी को जानता है वह उससे बढ़कर (अपने को) बताता है। यह तो परमात्मा को जानता है (अतः) किसी को भी अपने से भिन्न नहीं देखता,[5] अपने से भिन्न को सुनता[6] नहीं व अपने से भिन्न किसी को

वाला। सारस्वतव्याकरण में सूत्र है 'इत्थंभावे तृतीया'। अनुभूतिस्वरूपीय व्याख्यान है 'अन्यस्यान्यत्रोपचारेण वर्तमानत्वमित्थंभावस्तस्मिन्नित्थंभावे तृतीया विभक्तिर्भवति। शिष्यं पुत्रेण पश्यति'। ब्रह्म की सर्वभूतरूपता उपचार से ही है यह भी अतः तृतीया से विज्ञेय है।

१. ब्रह्मा—इस तरह प्रकाशित (प्रतीत) होने वाला भी वही प्राणाख्य महेश्वर है तथा घास का तिनका—इस तरह प्रतीत होने वाला भी वही है। अतः नाना प्रकारों से प्रतीत होने वाला कहा। साहस्री में भी आचार्य ने कहा है—'वासुदेवो यथाऽश्वत्थे स्वदेहे चाब्रवीत्समम्। तद्वद्वेत्ति य आत्मानं समं स ब्रह्मवित्तमः' ॥१५.१२॥ श्रुति के 'ब्रह्मविदां वरिष्ठः' का 'ब्रह्मवित्तमः' से अनुवाद किया है।

२. इस प्रकार = आत्मा (स्वरूप) होकर; सब प्राणियों के स्वरूप होकर स्थित परमेश्वर को—यह अर्थ है।

३. अनतिवादितारूपमोक्ष में महावाक्यार्थ का दृढ साक्षात्कार ही एकमात्र समर्थ साधन है यह बताते हुए साधनान्तर की व्यावृत्ति करते हैं—केवल आदि से।

४. कोई अन्य हो तो उससे अधिक अपने को बता सकता है पर वैसा है नहीं अतः नहीं बताता यह अर्थ है।

५. देखने से अपरोक्ष ज्ञान कहा।

६. सुनने से शास्त्रीय व परोक्षज्ञान कहे।

समझता[1] नहीं, अतः बढ़कर नहीं बोलता। और भी, 'आत्मक्रीडः' जिसकी क्रीडा अर्थात् खेलना आत्मा में ही है पुत्र, पत्नी आदि अन्य वस्तुओं में[2] नहीं वह आत्मक्रीड (यह विद्वान् बन जाता है)। और ऐसे ही 'आत्मरतिः' आत्मा में ही जिसकी रति—रमण अर्थात् प्रेम है वह आत्मरति (यह हो जाता है)। क्रीडा बाह्य उपकरणों की अपेक्षा से होती है जबकि रति बाह्य[3] उपकरणों की अपेक्षा किये विना बाह्य विषयों में होने वाला केवल प्रेम है; यह (इन दोनों में) अन्तर है। (जैसे यह लोकविलक्षण क्रीडा व रति वाला होता है) ऐसे ही 'क्रियावान्' जिसकी ज्ञान, ध्यान, वैराग्य[4] आदि क्रियायें होती हैं वह क्रियावान् यह (हो जाता है)। ['आत्मरतिक्रियावान्' ऐसे] समस्त पाठ में 'आत्मरति ही इसकी क्रियां होती है, (अन्य नहीं)' इस प्रकार (असमस्त पाठ में जो 'आत्मरतिः'[5] इस) बहुव्रीहि का और ('क्रियावान्'[6] इस) मतुवन्त का अर्थ है उससे अतिरिक्त ('अन्य क्रिया नहीं' यह) अर्थ निकलता है। ('आत्मरतिक्रियावान्' इस समस्त शब्द

---

१. समझने से यौक्तिक ज्ञान कहे और विपरीतभावना का अभाव बताया।

२. जैसे बच्चा बच्चों में खेलता है या युवक-युवकों या युवतियों में क्रीडा करता है। सुख लेने के लिए, ऐसा यह नहीं करता क्यों कि इसे नित्य सुख अनावृत है व अपने से भिन्न कुछ नहीं जानता जिसमें यह खेले।

३. मनरूप अन्तःकरण की अपेक्षा तो है।

४. रागाभावमात्र वैराग्य नहीं किन्तु भाववृत्तिविशेष है ऐसा आचार्य ने सूचित किया है। अत एव वैराग्य करना इस प्रकार बताया है 'सम्यग्ज्ञानानुरागं कुरु विषयगतं छिन्धि निर्बन्धमेनम्' (सं० शा० ३.५६)। आदि से अद्वेष्टृत्वादि समझने चाहिए। 'उत्पन्नात्मप्रबोधस्य त्वद्वेष्टृत्वादयो गुणाः। अयत्नतो भवन्त्यस्य न तु साधनरूपिणः' ॥ नै० सि० ४.६९ ॥ ऐसा विश्वरूपाचार्य ने घोषित किया है।

५. अन्य पदार्थ बहुव्रीहि में प्रधान अर्थ होता है। आत्मा में रति है जिसकी वह सिद्ध आत्मरति शब्द का अर्थ है।

६. 'तदस्यास्त्यस्मिन्निति मतुप्' (५.२.९४) से विहित मतुप्-प्रत्यय का 'मादुपधायाश्च मतोर्वोऽयवादिभ्यः' (८.२.९) से 'वान्' ऐसा प्रथमान्त रूप बनता है।

में) 'आत्मा में रति' इस तत्पुरुषसमास[1] से आत्मरतिशब्द (पहले) बना; (फिर) 'वह (आत्मरति) ही इसकी क्रिया है' इस (अर्थ का बोधक) 'आत्मरतिक्रियावान्' (यह शब्द) बना;[2] इस प्रकार (आत्मरतिक्रियावान् शब्द में तत्पुरुषपूर्वक) केवल मतुप्-प्रत्यय ही समझ आता है। (तब) भाष्यकार ने कैसे कहा कि बहुव्रीहि व मतुप् के अर्थों की अपेक्षा उनमें एक का (अर्थात् मतुप् का) अर्थ (समस्त पाठ में) अतिरिक्त निकलता है ? (समस्तपाठ में बहुव्रीहि नहीं है यह बात) ठीक है; (भाष्यपंक्ति का) अर्थ यह है—('आत्मरतिः' और 'क्रियावान्' इस प्रकार) जिस पक्ष में समास-रहित पाठ था तब दोनों की ('आत्मरतिः' इस बहुव्रीहि की और 'क्रियावान्' इस मतुबन्त की) सार्थकता थी, किन्तु जिस पाठ में ये दोनों मिले हुए हैं—समस्त हैं, उसमें इनमें एक अर्थात् मतुप् प्रत्यय का अर्थ (असमस्तपाठ के अर्थों से) अतिरिक्त है अर्थात् विशेषता वाला है क्योंकि (इस मतुप् से) बाह्य (अर्थात् आत्मरति से भिन्न) क्रिया की रहिततारूप अर्थ अधिक[3] प्राप्त होता है।

---

१. उत्तरपदप्रधान समास तत्पुरुष कहा जाता है। यह षष्ठीतत्पुरुष समास है। अर्थ बताने के लिए विषयार्थ में सप्तमी का टीकाकार ने प्रयोग किया है।

२. आत्मरतिरेव क्रिया इस प्रकार 'आत्मरतिः' व 'क्रिया' शब्दों में कर्मधारय व तदनन्तर 'आत्मरतिक्रिया' शब्द से 'मतुप्' प्रत्यय हो उक्त पद बना यह अर्थ है।

३. आत्मा में रति वाला तथा क्रिया वाला—ये दो ही अर्थ असमस्त पाठ में निकलते थे। समस्तपाठ में इनकी अपक्षा अन्य ही अर्थ निकला—बाह्यक्रिया की रहितता। प्रश्न हो सकता है कि समस्त पाठ में भी 'आत्ममें रतिरूप क्रिया वाला' इतना ही अर्थ निकलना चाहिये जैसे धनवान् शब्द से धन वाला इतना ही अर्थ निकलता है, अन्यक्रियानिवृत्ति अर्थ कैसे प्राप्त हुआ ? उत्तर यह है कि एक सामान्य नियम है कि कर्मधारय से उस अवस्था में मतुप्प्रत्यय नहीं लगाना चाहिए जब कर्मधारयघटित बहुव्रीहि से वही अर्थ आ जाये जो मतुप् लगाकर आना हो : 'न कर्मधारयान्मत्वर्थीयो बहुव्रीहिश्चेत्तदर्थप्रतिपत्तिकरः'। यदि आत्मरति रूप क्रिया वाला—इतना ही अर्थ कहना होता तो 'आत्मरतिक्रियः' (आत्मरति है क्रिया जिसकी वह) ऐसा प्रयोग किया होता। वह न कर जो कर्मधारय से मतुप् लगाया है वह उससे कुछ भिन्न अर्थ बताने के लिए ही है।

औपनिषद दर्शन के (सिद्धार्थबोध, जीव-ब्रह्मैक्य आदि) कुछ भागों को स्वीकार करने वालों द्वारा (इस प्रसंग में) की व्याख्या को बताकर उसका खण्डन करते हैं—कुछ व्याख्याता तो (क्रियावान् शब्द) अग्निहोत्र आदि कर्म और ब्रह्मज्ञान का सहसमुच्चय[1] बताने के लिये है ऐसा मानते हैं। किन्तु यह मानना 'यह ब्रह्मवेत्ताओं में प्रधान होता है' इस वचन से, जो कि अनुपचरित अर्थ वाला[2] है, विरुद्ध हो जाता है। [3]कोई भी (युगपत्) आत्मातिरिक्त विषयों में क्रीडा करने वाला[4] और [5]आत्मा में ही रति वाला नहीं हो सकता। जिसकी बाह्य-क्रियायें

---

१. ज्ञानदार्ढ्यानन्तर भी विहित कर्म करना आवश्यक है, तभी मोक्ष मिल सकता है यह मत ज्ञानकर्म का 'सह-समुच्चय' कहा जाता है। कर्म से चित्तशुद्धि होती है व कर्मत्यागपूर्वक ज्ञाननिष्ठा से मोक्ष होता है इस प्रकार पहले कदम में कर्म, दूसरे में कर्मत्याग व तीसरे में ज्ञान मानना क्रमसमुच्चय कहा जाता है जो वेदान्तसिद्धान्त है। ज्ञानसमकाल या ज्ञान से उत्तर कर्म असंभव है यह उपनिषदों का निश्चय है।

२. ब्रह्मविद् शब्द अनौपचारिक हो तो उसे ही विषय करता है जिसने तत्त्वमस्यादि महावाक्यों के अभेदरूप अर्थ का साक्षात्कार किया है। उसके लिए 'केन कम्' (बृ० २.४.१४) आदि श्रुति से कुछ करना असम्भव है। यदि क्रियावान् से करने का विधान मानें तो ब्रह्मवित् को अपर ब्रह्मविद् मानना होगा। इस तरह अमुख्य या उपचरित अर्थ मानने की आपत्ति होगी। किंच वर्तमानप्रयोग विधिघातक होने से क्रियावत्त्व का विधान नहीं माना जा सकता।

३. क्रियावान् का उक्त अर्थ उत्तरस्थ ब्रह्मवित् पद से विरुद्ध है यह बताया। अब पूर्वस्थ आत्मक्रीडशब्द से भी वह अर्थ विरुद्ध है यह बताते हैं—कोई आदि से। अतः समस्त वाक्यशेष उक्त अर्थ से विरुद्ध होने से 'संदिग्धे तु वाक्यशेषात्' (१.४.२०) नियम से उक्त अर्थ निरस्त हो जाता है यह तात्पर्य है।

४. आत्मातिरिक्त वस्तुओं से क्रिया करना ही उनमें क्रीडा करना है। क्रियावान् से अग्निहोत्रादि क्रिया कहने पर बाह्यक्रीड ही कहा जायेगा अतः आत्मक्रीड व बाह्यक्रीड का स्फुट विरोध है।

५. आत्मक्रीड व ब्रह्मवित् शब्दों का विरोध दिखाकर आत्मरतिशब्द का विरोध भी है यह सूचित करते हैं—आत्मा में आदि से। जिनमें रति = प्रेम होता

सर्वथा निवृत्त हो चुकी हों वही आत्मा में क्रीडा करने वाला होता है क्योंकि बाह्यक्रीडा और आत्मक्रीडा परस्पर विरुद्ध हैं। अन्धकार और प्रकाश एक ही समय एक ही स्थान पर नहीं रह सकते। इसलिये 'इससे—अर्थात् (क्रियावान्) इस शब्द से ब्रह्मज्ञान और अग्निहोत्रादि कर्मों के सहसमुच्चय का प्रतिपादन किया जा रहा है' यह कहना गलत ही है। 'भेद सम्बन्धी सब बातें छोड़ो' (मुं० २.२.५), '(सर्वकर्मत्यागात्मक केवलब्रह्मनिष्ठारूप) संन्यास योग से' (मुं० ३.२.६) इत्यादि (पूर्वोत्तर) श्रुतियों से भी (ज्ञानकर्मसमुच्चय विरुद्ध पड़ने वाला होने से हेय है)। इसलिए (क्योंकि अन्य क्रियायें बताना असम्भव है) यही यहाँ कियावान् (कहा गया) है जो ज्ञान-ध्यान आदि क्रिया वाला है। जो इस प्रकार 'मैं ही सर्वभूतस्थ सर्वात्मा हूँ' इस अपरोक्ष साक्षात्कार वाला[1] संन्यासी है, जिसने पुरुषार्थरूप मोक्ष की अक्रियत्वादि मर्यादाओं को तोड़ा नहीं है[2], वह बढ़कर बोलने वाला नहीं होता, आत्मक्रीड, आत्मरति, क्रियावान् तथा ब्रह्म में ही निश्चितरूप से स्थित[3] रहता है; वही सभी ब्रह्मवेत्ताओं में[4] 'वरिष्ठः' प्रधान होता है ॥ ४ ॥

है उन बालकादियों में ही क्रीडा करना देखा गया है। क्योंकि इसे आत्मरति कहा इसलिए इसे आत्मक्रीड की कहना उचित है बाह्यक्रीड नहीं। अन्यथा बाह्यरति भी कहा होता। आत्मक्रीड कहा जा चुका है अतः क्रियावान् से वही कहना पुनरुक्ति होगा ? इस शंका का उत्तर है कि असमस्तपाठ में आत्मक्रीड की व्याख्या क्रियावान् से की गयी है तथा समस्त पाठ में तो स्पष्ट ही बाह्यक्रियानिवृत्ति बतायी है अतः दोष नहीं।

१. एवंलक्षण इत्येवं 'सर्वभूतैर्विभाति (यः) प्राणः (तं) विजानन्नि' ति विषया यस्य लक्षणं दर्शितं सइत्यर्थः।

२. अर्थः पुमर्थो मोक्षः प्रकरणात्, तस्य मर्यादा अक्रियत्वादिः 'एतद्धस्म वै तत्पूर्वे विद्वांसोऽग्निहोत्रं न जुहवांचक्रुरि'त्यादिकौषीतक्यादिश्रुतेः, तद्भेदनं न कृतं येन सइत्यर्थः।

३. अपनी अकर्तृरूपता में परिवर्तन नहीं आने देता।

४. जिन्हें ब्रह्म का केवल ज्ञान है किन्तु मोक्षोपयोगी दार्ढ्य वाला नहीं वे भी ब्रह्मवेत्ता तो हैं ही। जो दृढ साक्षात्कार वाले हैं वे भी ब्रह्मवेत्ता हैं। दोनों में प्रधान दृढ साक्षात्कार वाले हैं यह तात्पर्य है। 'ज्ञानमात्रे सर्वाश्रमिणाम्' आदि उपोद्घातवाक्य का अनुसन्धान करना चाहिए। दृढ-

अब श्रुति संन्यासी के लिये सत्य आदि उन साधनों का विधान करती है जो मुख्यतः कुछ न कुछ 'न करना' रूप हैं तथा आत्मा को ठीक-ठीक समझने में सहायता देते हैं; यहाँ 'ठीक-ठीक समझना'—से महावाक्य के अर्थ का वह ज्ञान कहा है जिसकी सार्थकता आत्मवस्तुरूप उपनिषत्तात्पर्यविषय की अखण्डता के अनुभवरूप फल से है। (वह ज्ञान उत्पन्न हो इसके लिए सत्यादि सहायता करते हैं)। अनुभव ही जिसका फल है वह ज्ञान अविद्यानिवृत्तिरूप अपने कार्य में सहायक की अपेक्षा रखे यह सम्भव नहीं[1]। इसलिए पके हुए (अर्थात् संशयादिरहित) ज्ञान की प्राप्ति के लिए उस ज्ञान का जो अभी पका नहीं है (संशयादिरहित नहीं हुआ) और सत्य आदि साधनों का एक ही साधक में एक साथ रहना अभीष्ट ही है। इतने मात्र से भास्कर ने जो स्वीकारा है[2] वह

साक्षात्कार वालों में किन्हीं वसिष्ठादि में कर्म दीखता है व किन्हीं भरतादि में नहीं दीखता पर इससे प्रधान-अप्रधानभाव नहीं होता क्योंकि कर्म दीखने न दीखने से दृढसाक्षात्कार वाले में कोई अन्तर नहीं। अतः पञ्चदशी में भोगी, त्यागी, राजा, कर्मकर्त्ता आदि चाहे जैसे दीखा करें, ज्ञानियों में कोई तरतमता नहीं यह कहा है।

१. असम्भवादितिच्छेदः।

२. भास्करनामक संकरवादी त्रिदण्डी ने ज्ञान व कर्म के सहसमुच्चय से मोक्ष माना है। तथाहि न्यायचन्द्रिकायाम् 'विद्याकर्मसमुच्चयो निःश्रेयसकर इति भास्करीयाः। यदाह गीताभाष्ये भास्करः—प्रतिपाद्यं तावद् ज्ञानं कर्मचेत्थं कर्तव्यमिति, न स्वरूपतः, शास्त्रान्तरसिद्धत्वात्; ताभ्यां समुच्चिताभ्यां निःश्रेयसाधिगमः प्रयोजनम् इति' (पृ० ५१८)। (इत्थं कर्तव्यमिति प्रतिपाद्यं, स्वरूपतो न प्रतिपाद्यं सिद्धत्वादिति वाक्यार्थः)। अतएव अपने सूत्रभाष्य में (पृ० २०७, काशी) ज्ञानी को आश्रमकर्म करने ही चाहिए ऐसा प्रतिपादन किया है 'यथैव शमादयो यावज्जीवमनुवर्तन्ते विदुषामपवर्गप्राप्तये तथाश्रमकर्माणीति नान्तराले परित्यागः'। इन बातों का वाचस्पति, प्रकाशात्ममुनि, नरेन्द्रपुरि, आनन्दपूर्णाचार्य आदि ने घोर खण्डन किया है। संक्षेप में शाङ्करमत यह है कि प्रवृत्ति-निवृत्ति कर्मों से चित्त में संसार से विरति और परमात्मप्रेम होता है जिसके दृढ हो चुकने पर प्रवृत्तिकर्मों का परित्याग कर देना चाहिए क्योंकि वे कर्तृत्वादि अध्यास को दृढ करने वाले होने से परमात्मलाभ में परिपन्थि हैं तथा शमादि

(हमने मान लिया यह) सिद्ध नहीं हो जाता। पके हुए ज्ञान को (अपना फल उत्पन्न करने के लिए) किसी सहायक की आवश्यकता है इस बात में कोई प्रमाण न होने से (भास्कर की मान्यता गलत व हमारे द्वारा अमान्य है)। किंच श्रुतियों में बताया है कि ज्ञान से कर्मसम्बन्ध छूट जाता है[1] तथा जिन्हें किसी कर्म में अधिकार नहीं उन देवता आदि की मुक्ति होती है[2], अतः (कर्म की सहायता पाकर ज्ञान मोक्षरूप फल देता है यह कथमपि माना नहीं जा सकता)।

"झूठ का सदा त्याग करना, मन व इन्द्रियों को कभी अनेकाग्र न रहने देना तथा मैथुन का सदा परित्याग करना—इनसे सहकृत आत्मयाथात्म्यज्ञान से यह आत्मा प्राप्तव्य है जिस शुद्ध स्वप्रकाश आत्मा का क्रोधादिरहित प्रयत्नशील संन्यासी अपने हृदयमें साक्षात्कार करते हैं ॥ ५ ॥"

'सत्येन' झूठ को त्यागने से अर्थात् झूठ बोलना[3] (सदा) छोड़ने से (यह आत्मा) 'लभ्यः' पाया जा सकता[4] है। और[5] भी (साधन

निवृत्तिधर्मों का अनुष्ठान करते हुए मनन-निदिध्यासन सहकृत श्रवण करते रहना चाहिए जिससे अखण्डसाक्षात्कार होता है जो जब अप्रतिबद्ध होता है तब बिना किसी सहायता के स्वयं ही अज्ञान की आत्यन्तिक निवृत्ति कर परमानन्दरूप मोक्ष में स्थित कर देता है। भास्कर तथा अन्य समुच्चयवादी मोक्षोत्पत्ति में कर्मों की हेतुता का प्रवेश चाहते हैं जो उपनिषत् से बहिर्भूत होने से श्रौतों को अस्वीकार्य है।

१. 'क्षीयन्ते सर्वकर्माणि' (मु० २.२.८), 'प्रव्रजन्ति (बृ० ४.४.२२), 'यथापुष्करपलाश आपो न श्लिष्यन्त एवमेवंविदि पापं कर्म न श्लिष्यते' (छा० ४.१४.३) आदि।

२. 'यो यो देवानां प्रत्यबुद्धयत स एव तदभवत्' (बृ० १.४.१०)। 'देवता आदि' में आदि से ऋषियों को समझना चाहिए। देवताओं को देवतान्तराभाव से व ऋषियों को आर्षेयाभाव से कर्माधिकार नहीं ऐसा षष्ठाध्याय में जैमिनि ने सिद्ध किया है व उक्त श्रुति में जैसे देवताओं का मोक्ष बताया है वैसे ही ऋषियों का भी 'तथर्षीणाम्' (बृ० १.४.१०)।

३. बोलना सब व्यवहारों का उपलक्षण है।

४. 'झूठ छोड़ने द्वारा उसे पाना चाहिए' यह वाक्यार्थ है। आगे भी ऐसे ही समझना चाहिए।

५. यहाँ बताये साधनों के समुच्चय में तात्पर्य है।

बताया जा रहा है) 'तपसा' इन्द्रियों व मन को सदा ही एकाग्र रखने[1] से (यह आत्मा प्राप्य है)। 'मन और इन्द्रियों की एकाग्रता ही सर्वश्रेष्ठ तपस्या है' ऐसा स्मृतिवचन[2] होने से (सर्वश्रेष्ठ मोक्ष के उपायरूप से विहित तप भी सर्वश्रेष्ठ तप ही समझना उचित है) क्योंकि वह तप ही (प्रकृत मार्ग के) अनुकूल है, कारण कि (उससे साधक) आत्मा के ज्ञान के लिए तैयार होता है[3]—(संसार से मुँह मोड़कर आत्मज्ञान की दिशा में मुँह करता है), अतः वह श्रेष्ठ उपाय है। इससे भिन्न[4] चान्द्रायणादि तप (इस मार्ग के लिए उत्तम साधन) नहीं हैं। 'यह आत्मा पाया जा सकता है'—इसका सभी साधनों से सम्बन्ध है (सत्य

---

१. 'निवृत्तिप्रधानानि' इस अवतरणिका भाष्य के अनुरोध से अनेकाग्र न रहने देने में तात्पर्य है। 'यतयः' से बताया यत्न इन साधनों में जोड़ना ही है। अतः अनेकाग्र न रहने देकर यत्न करें तो एकाग्रता फलतः सिद्ध है अतः यहाँ ऐसी व्याख्या की। यद्यपि इन्द्रियों से आत्मविषयता सम्भव न होने से उनकी उसमें एकाग्रता कहना अनुचित है तथापि आत्मलाभानुकूल यत्न किया जाये इसके लिए इन्द्रियों की अनेकाग्रता तो नहीं ही होनी चाहिए, साथ ही श्रवणादि के लिए श्रोत्रादि की एकाग्रता भी चाहिए ही अतः सब संगत है।

२. मोक्षधर्म० २५०.४ व वनपर्व० २६०.२५ में यह श्लोक है 'मनसश्चेन्द्रियाणां च ह्यैकाग्र्यं परमं तपः। तज्ज्यायः सर्वधर्मेभ्यः स धर्मः पर उच्यते'।

३. आत्मदर्शनानभिमुखो यतो हेतोस्तदभिमुखो भवति तदिदं तपस्तस्मात्परमं साधनमित्यर्थः।

४. मुख्य उपाय श्रवणादि के अनुकूल तपों से भिन्न वे तप हैं जो श्रवणादि को ही सम्भव न होने दें अतः यति को उनका त्याग करना चाहिए। उन तपों का उपयोग चित्तशुद्धि में तो होता है पर तदनन्तर वे स्वयं भारभूत हो जाते हैं अतः प्रत्यक्प्रावण्य का अनुभव होने पर उन्हें छोड़ देना चाहिए। वस्तुतः उन तपों में रुचि ही इसकी सूचक है कि प्रत्यक्प्रावण्य हुआ नहीं अतः उनमें रुचि वाले को उन्हें और तीव्रता से करना ही चाहिए। तथापि आचार्य उनकी हेयता उन साधकों के लिए स्पष्ट करते हैं जो उन तपों को परमसाधन मानकर रुचि न होने पर भी भ्रमवश उनमें ही प्रवृत्त हो सकते हैं। वेदान्तमर्यादा है कि साधनानुष्ठान में प्रथम उत्तम साधन ही अपनाना चाहिए, यदि उसमें अपने को असमर्थ पाये तो

से यह आत्मा पाया जा सकता है इत्यादि)। 'सम्यग्ज्ञानेन'[1] आत्मा का जैसा स्वरूप है वैसा ही उसे समझने से (यह आत्मा पाया जा सकता है)। 'ब्रह्मचर्येण' कभी भी[2] मैथुन न करने से (यह आत्मा पाया जा सकता है)। 'नित्यम्' हमेशा—यह 'नित्यम् (हमेशा)' शब्द बीच में रखे दीपक की तरह[3] सभी साधनों से सम्बद्ध कर लेना चाहिये—असत्य का हमेशा परित्याग करने से, हमेशा तप करने से, सम्यग्ज्ञान के लिए हमेशा प्रयास करने से, (इस तरह 'हमेशा' सबसे जोड़ना चाहिए)। (इन साधनों की आवश्यकता श्रुति स्वयं) बतायेगी[4] भी—'जिनमें कुटिलता न हो तथा जो बतायें कुछ और करें कुछ और ही—ऐसी माया वाले न हों वे ब्रह्मलोक को जाते[5] हैं (प्र० १.१६)। इन साधनों से जो प्राप्त करने योग्य है वह आत्मा

उससे न्यून साधन का सहारा लेना चाहिए व क्रमशः अतिकमजोरी होने पर ही सर्वतोन्यून साधन का अभ्यास करना चाहिए। अन्य उपदेशक तो इससे विपरीत न्यूनसाधन से आरम्भ कर उत्तम साधन तक पहुँचना समझाते हैं। वेदान्तदृष्टि भगवान् ने स्पष्ट की है 'अथैतदप्यशक्तोसि' इत्यादि से।

१. साधनों में भी उपकार्य-उपकारकभाव है। सम्यग्ज्ञान ही चरम उपकार्य साधन है। सत्यादि इसके उपकारक हैं। इसमें 'नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय' (यजुः सं० ३१ १८) आदि प्रमाण समझने चाहिये। सम्यग्ज्ञान से भी असम्यग्ज्ञाननिवृत्ति में तात्पर्य है क्योंकि असम्यग्ज्ञानों के हट जाने पर सम्यग्ज्ञान स्वतः ही स्फुट रहता है। अतएव कदाचित् साम्प्रदायिकों का कथन होता है कि अविद्यानिवृत्ति के लिये ही यत्न आवश्यक है, ज्ञान प्राप्ति के लिये नहीं।
२. यतिप्रसंग होने से ऐसा विधान है। अन्य साधक को भी न्यूनतम ग्राम्यधर्म करना चाहिये यह भी सूचनीय है।
३. कई वस्तुओं के बीच में रखा दीपक सब वस्तुओं से सम्बद्ध होता है।
४. मन्त्रानन्तर ब्राह्मण होने से ऐसा कहा।
५. यद्यपि कर्म व उपासना के समुच्चय के अनुष्ठाताओं को फललाभ के लिये अकुटिल और अमायावी होने के लिये प्रश्नश्रुति ने कहा है तथापि कैमुतिक-न्याय से यहाँ उद्धरण है : जब ब्रह्मलोक जैसे सांसारिक लाभ के लिये ही इनकी आवश्यकता है तो मोक्षरूप परम लाभ के लिये ये अत्यावश्यक हैं इसमें कहना ही क्या ?

कौन है—यह बताया जाता है—'क्षीणदोषाः' जिनके चित्तवर्ती क्रोधादि दोष अत्यल्प[1] हो चुके हैं वे 'यतयः' संन्यासी, जो आदतन आत्मलाभार्थ यत्न करते हैं, 'यम्' (जिस) आत्मा का 'अन्तःशरीरे' शरीर के 'अन्तः' अन्दर हृदयकमलस्थ आकाश में[2] 'पश्यन्ति' साक्षात्कार करते हैं वह 'ज्योतिर्मयः' सोने की तरह स्वारसिक चमकवाला (स्वप्रकाश) 'शुभ्रः' शुद्ध[3] आत्मा सदा सत्यादि साधनों का अनुष्ठान करने वाले संन्यासियों द्वारा प्राप्त किया जाता है, यह वाक्यार्थ है। केवल कुछ समय के लिए अपनाये गये सत्यादि साधनों से वह प्राप्त नहीं किया जा सकता ॥ ५ ॥

सत्य आदि[4] साधनों की प्रशंसा करने के लिए यह अर्थवाद उपस्थापित किया जाता है[5]—

---

१. सब दोष सर्वथा समाप्त होना असंभवप्राय है। विक्षेपकदोष इतने कम तो अवश्य करने चाहिये कि वे विक्षिप्त न किया करें। तदनन्तर आत्मदृष्टि की स्थिरता से स्वयं वे कम होते जायेंगे। यत्नशील होने से 'नष्टदोषाः' नहीं कहा।

२. 'मैं'—इस तरह स्फुरित होने वाले को ब्रह्म जानते हैं यह अर्थ है। तृतीय मुण्डक के अवतरण में कहा था कि योग व ज्ञान दोनों के सहायक साधन बताये जायेंगे। योगपक्ष में शरीर में हृदयाकाश में उक्त प्रणवादि की सहायता से आत्मदृष्टि करने वाले समझ लेने चाहिये।

३. संसारधर्मों से या युष्मद्धर्मों से वर्जित यह तात्पर्य है।

४. कुछ हस्तलेखों में यहाँ आदिपद नहीं है और उसका न होना ठीक भी है क्योंकि उत्तरमन्त्र में केवल सत्य की प्रशंसा की है—ऐसा 'गोविन्दप्रसादिनी टिप्पणी' में सूचित है। अथवा जो सत्य आदिसाधन अर्थात् प्रथम या प्रमुख साधन है उसकी स्तुति में तात्पर्य है: सत्यं च तदादिसाधनं च तस्य स्तुत्यर्थः। इसमें 'सम्यग्ज्ञानाद्यसाधनं सत्यम्' यह उपनिषद्ब्रह्मयोगी का वाक्य अनुकूल है। नारायण तो 'सत्याख्यसाधनस्य स्तुतिमाह' कहते हैं। यद्वा, सत्य है आदि में जिनके उन सभी साधनों की प्रशंसा करने के लिये उनके आदि में स्थित सत्य की प्रशंसा कर दी, इतने से ही सत्य के पाश्चात्य साधन भी प्रशंसित हो गये। यहाँ साधनविधान में प्रथम सत्य का ही विधान किया है।

५. जिसका विधान है उसमें शीघ्र प्रवृत्ति हो व जिसका निषेध है उससे शीघ्र निवृत्ति हो इस अर्थ से—प्रयोजन से—जो वाद होता है—कहा जाता है—वह अर्थवाद हुआ करता है। क्योंकि यह प्रशंसा या निन्दा द्वारा प्रवृत्ति या

"सत्य को अपनाने वाला ही जीतता है, झूठ को अपनाने वाला नहीं। जिस मार्ग से तृष्णारहित ऋषि सत्यरूप साधन की फलभूत सर्वोत्तम निधि को पाते हैं वह देवयाननामक मार्ग यथार्थ व्यवस्था बताने वाले शास्त्रद्वारा ही सनातनरूप से प्रतिपादित है (—बिछाया गया है)[1] ॥ ६ ॥"

'सत्यमेव' सत्य को अपनाने वाला ही जीतता है, झूठ बोलने वाला नहीं। क्योंकि किसी व्यक्तिद्वारा न अपनाये गये अकेले सत्य और झूठ की जीत या हार सम्भव नहीं है (इसलिए उपनिषत् में 'सत्यम् (सच)' और 'अनृतम् (झूठ)' इतना ही कहा होने पर भी लक्षणा से[2] सत्य व झूठ को अपनाने वाले जीतने व हारने वाले बताये हैं यह समझना चाहिए)। लोक में (भी) प्रसिद्ध[3] है कि सच बोलने वाले द्वारा झूठ बोलने वाला अभिभूत[4] कर लिया जाता

निवृत्तिपरक है इसलिये 'यत्परः शब्दः स शब्दार्थः' नियम से इसका जो यथाश्रुत अर्थ है उसमें अधिक आग्रह नहीं रखा जाता ऐसी वाक्यशास्त्रियों की मर्यादा है। प्रकृत में भी सत्याश्रयण करना चाहिये यह तात्पर्य है, अतः सत्य अपनाने वाले की यदि हार देखी भी जाये तो शास्त्रवचन अपार्थक नहीं हो जाता क्योंकि शास्त्र का यहाँ यह तात्पर्य नहीं कि सत्य अपनाने वाले की जीत ही होती है प्रत्युत सत्य अपनाना चाहिये यह तात्पर्य है। इसे सूचित करने के लिये 'अर्थवाद' शब्द रखा है।

१. शास्त्र ने सत्य को अपनाया है क्योंकि उसी का प्रतिपादन किया है जो सत्य है। तथा जो मार्ग बताया है वह सनातन है—हर युग में उस पर चलने वाले उस निधि को पा सकते हैं। शास्त्र की महत्ता भी इसलिये है क्योंकि उसने सत्य अपनाया है और शास्त्र से पुनः सत्य की महत्ता पता चलती है।

२. इस प्रकार तात्पर्यानुपपत्ति ही लक्षणाबीज मानना आवश्यक नहीं, सत्य का जय से साक्षात् अन्वय (सम्बन्ध) न होना भी लक्षणबीज है—यह बता दिया।

३. प्रसिद्ध से सूचित किया कि यद्यपि अनुभव कहीं विपरीत भी होता है तथापि सामान्य मान्यता यही है। भाषा में भी 'साँच को आँच नहीं' आदि प्रसिद्धियाँ प्रचलित हैं।

४. अभिभूत कहकर बताया कि सत्यवादी को आर्थिकादि लाभ हो जाये यह जरूरी नहीं पर झूठ बोलने वाला सच बोलने वाले के सामने दब अवश्य जायेगा क्योंकि उस पर दो कार्यों का बोझ होगा—अपनी झूठी बात की

है (हरा दिया जाता है), उल्टा (झूठ बोलने वाले से सच बोलने वाले का अभिभव) नहीं होता; इससे भी सिद्ध होता है कि सत्य बलवान् साधन है। और भी (अर्थात् न केवल लोक से), शास्त्र से भी यह पता चलता है कि सब साधनों में सत्य अधिक विशेषता रखता है। कैसे (पता चलता है) ? (ऐसे पता चलता है—) 'सत्येन' यथार्थ बात की जो व्यवस्था[1] की गयी है, (शास्त्र की) उस व्यवस्था से (ही) देवयाननामक मार्ग 'विततः' बिछाया गया है अर्थात् सदा बना हुआ है[2]। (वह वह मार्ग है) जिस मार्ग से 'ऋषयः' दर्शन (अर्थात् उपासना और कर्म) करने वाले साधक, जो कुहक, अर्थात् दूसरे को धोखा देना, माया अर्थात् अन्दर निश्चय (या ज्ञान) एक प्रकार का हो और बाहर उसे अन्य प्रकार का दिखाना[3], शाठ्य अर्थात् अपने पास जो वैभव है उसके अनुरूप दान न करना, अहंकार अर्थात् स्वयं जैसा न हो वैसा अपने को मानना, दम्भ अर्थात् अपने धर्म का (अपनी धार्मिकता का) दिखावा करना, अनृत अर्थात् जैसा नहीं जाना है वैसा बताना (जैसा जाना है वैसा न बताना)— इन दोषों से रहित हैं (तथा) 'आप्तकामाः' जिन्हें किसी भी विषय की तृष्णा नहीं है, (ऐसे वे साधक वहाँ) 'आक्रमन्ति' जाते ही हैं 'यत्र' जहाँ सत्यरूप श्रेष्ठसाधन से सम्बद्ध वह साध्य है जो पारमार्थिक

रक्षा और उसकी सच्ची बात की काट। यद्यपि सत्यवक्ता को भी सच्ची बात की रक्षा और झूठी बात की काट करनी पड़ती है तथापि झूठ की काट करना और सत्य की रक्षा करना सरल होता है।

१. अमुक साधन से अमुक साध्य मिलता है ऐसी शास्त्र ने व्यवस्था की है। वह यथार्थ है अर्थात् ऐसा नहीं होता कि उस साधन से वह साध्य न मिले। क्योंकि इस यथार्थता को अपनाया है इसीलिये शास्त्र पर सबको श्रद्धा होती है। अतः सत्यवान् जीतता है यह स्पष्ट हो जाता है।

२. लोग उस मार्ग पर इसीलिये चलते हैं क्योंकि शास्त्रव्यवस्था में श्रद्धा रख उन्होंने साधनानुष्ठान किया है। अतः व्यवस्था के कारण ही मार्ग बना हुआ है। जिस पर चला जाता रहे उसे ही कहते हैं कि वह रास्ता बना हुआ है। जिस पर चलना छूट जाये उसे कहते हैं कि वह अब रास्ता नहीं रहा।

३. कुहक में धोखा देने का भाव है और माया में दूसरे को भ्रम में डालने का भाव।

तत्त्व है (और) 'परमम्' महत्ता वाला निधान हैं—'(यह वस्तु) व्यक्तिद्वारा प्रार्थित है' इस रूप से जिसे सँभाल कर रखा जाता है उसे निधान (निधि कहते हैं)। उस परमार्थतत्त्व को जिस मार्ग से जाते हैं वह मार्ग भी शास्त्र की यथार्थ व्यवस्था से बना हुआ है—इस प्रकार ('जिस मार्ग से' इत्यादि का) पूर्व में स्थित ('यथार्थ बात का' इत्यादि) से सम्बन्ध है ॥ ६ ॥

जो सत्यरूप साधन का निधिरूप साध्य बताया उसकी और विशेषतायें (अगले मन्त्र में) बताई जा रही हैं, यह कहते हैं—वह निधि क्या है और कैसी विशेषताओं[1] वाला है वह ? यह (इस मन्त्र से) बताया जाता है—

"वह महान् और स्वप्रकाश है (अतः) उसके विषय में विचार[2] नहीं किया जा सकता। वह आकाशादि सूक्ष्म वस्तुओं से भी अधिक सूक्ष्म[3] है और सूर्यादि विभिन्न आकारों में प्रतीत होता है। वह दूर से दूर देश में भी वर्तमान है तथा शरीर के अन्दर भी है। इस संसार में ही[4] प्राणियों की बुद्धि-गुहा में भली प्रकार से स्थित है ॥ ७ ॥"

जिसका प्रकरण चला हुआ है, सत्य आदि साधनों से प्राप्य वह ब्रह्म (निधि)[5] 'बृहत्' महान् है क्योंकि हर ओर फैला हुआ है[6] तथा 'दिव्यम्' स्व-प्रकाश अर्थात् इन्द्रियों द्वारा विषय किये जाने योग्य नहीं

---

१. असाधारण स्वरूप को विशेषता समझना चाहिए।

२. 'अप्राप्य मनसा सह' (तै० ब्रह्म० ९) आदि श्रुतियाँ जाननी चाहिये। आत्मा को गाय आदि की तरह विषय कर विचार असम्भव है। स्वरूपतया विचार तो अभीष्ट है।

३. कार्य से कारण सूक्ष्म होता है। सर्वकारण की सर्वाधिक सूक्ष्मता है ही।

४. निधि क्या है ? इसका उत्तर दिया जा रहा है—प्राणियों की इत्यादि से। बाकी उसकी विशेषताएँ बतायी हैं।

५. पूर्वमन्त्रों में निधि या निधान शब्द से ब्रह्म ही कहा है। यद्यपि देवयान से सीधे ही ब्रह्मप्राप्ति नहीं तथापि ब्रह्मलोक में ब्रह्मोपदेश से वह हो सकती है। ब्रह्मलोक में ज्ञान स्पष्ट होता है इसमें यह कठवल्ली प्रमाण है 'छायातपयोरिव ब्रह्मलोके' (२.३.५)।

६. दूर में प्रविष्ट है यह 'अन्तिके' से कहना है।

है; इसीलिये[1] 'अचिन्त्यरूपम्' इसके स्वरूप के विषय में विचार नहीं किया जा सकता। वह 'सूक्ष्मात्' आकाश आदि सूक्ष्म वस्तुओं से भी अधिक सूक्ष्म है; क्योंकि यह सबका कारण है इसलिये इसकी सूक्ष्मता से अधिक (और किसी की) सूक्ष्मता नहीं है। यह 'विभाति' सूर्य, चन्द्र आदि अनेक आकारों में भासता है, प्रकाशित होता है। और भी, यह 'दूरात्' दूर देश से भी 'सुदूरे' और अधिक दूर देश में है, कारण कि जो उसे नहीं जानते उनके लिए वह ऐसा है मानो पाया ही नहीं जा सकता (जैसे अत्यधिक दूर देश की वस्तु)। वह ब्रह्म 'इह' शरीर के अन्दर 'अन्तिके' (अपने अत्यन्त) निकट भी है, कारण कि जो उसे जानते हैं उनके लिए वह उनका स्वरूप ही है[2], तथा (वह इसलिये भी निकट है) क्योंकि वह सबके भीतर स्थित है; (यह बात) आकाश के भी भीतर ब्रह्म है यह बताने वाली श्रुति से[3] (पता चलती है)। संसार में 'पश्यत्सु' अर्थात् चेतना वालों में (सभी प्राणियों में) 'निहितम्' रहता है, योगियों द्वारा दर्शन आदि क्रियाओं से[4] लक्षित[5] किया जाता हुआ (रहता है)। (प्राणियों में) कहाँ (रहता है) ? बुद्धिरूप गुफा में[6] (रहता है)। इसके जानकारों द्वारा यह वहीं छिपा हुआ[7] देखा जाता है। (यद्यपि स्वप्रकाशादिरूप और सबमें है) तथापि

---

१. मनोऽगम्यता बताते हैं—अचिन्त्यरूपम् से।

२. यद्यपि न जानने वालों का भी वही स्वरूप है तथापि वे उसे दूर मानते हैं तथा जानकार उसे अपने से अभिन्न मानते हैं। वेदान्तभिन्न धर्म परमेश्वर को दूर ही मानना चाहते हैं यह वैलक्षण्य है।

३. बृ० ३.७.३–२३।

४. मतुबुत्तरभावप्रत्ययस्य प्रकृतिमात्रद्योतकत्वात्क्रियावत्त्वं क्रियैव तया हेतुभूतयेत्यर्थः।

५. साक्षात् तो क्रिया से क्रियावान्—प्रमाता—का पता चलता है किन्तु उससे सम्बद्ध साक्षी को लक्षित किया जाता है। व्यवहारसिद्धि के लिए क्रिया से साक्षी को समझना अनावश्यक है अतः योगी ही इस कार्य को करते हैं।

६. बुद्धि-प्रकाशकरूप से रहना विवक्षित है।

७. जानकारी के पहले छिपा और बाद में स्पष्ट देखा जाता है।

अविद्या से[1] ढका हुआ बुद्धि-गुहा में रहता हुआ ही जो जानकार नहीं उनके द्वारा नहीं देखा जाता ॥ ७ ॥

(यद्यपि इस निधिरूप ब्रह्म की स्वाभेदेन प्राप्ति के साधन उपनिषत् कई बार[2] बता चुकी है) तथापि[3] पुनः[4] उस साधन को बताती है जो इसकी प्राप्ति के लिये अनिवार्य[5] है—

---

१. हम उसे नहीं जानते—यही अविद्या है। इतने से अविद्या की अभावरूपता की प्राप्ति होने पर कहा—ढका हुआ। अभाव किसी को ढँक नहीं सकता। अतः न जानना रूप अविद्या की भावरूपता (अभावविलक्षणता) स्पष्ट हो जाती हैं। उसका यथावत् प्रतीत न होना ढका होना है।

२. 'अथ परा' (१.१.५) में प्रारम्भ ही ब्रह्मप्राप्ति की साधनभूत पराविद्या से किया। 'परीक्ष्य' (१.२.१२) से विवेकादि का विधान किया। 'धनुर्गृहीत्वा' (२.२.३) से अनुत्तम साधक के लिए उपाय बताया जिसका विनियोग विचारद्वारा उत्तम साधक भी कर सकता है। 'जानथ, अन्या वाचो विमुञ्चथ' (२.२.५) में अन्यवाग्विमोक पूर्वक ज्ञान की साधनता बताई। 'ओमित्येवं ध्यायथ' से (२.२.६) चिन्तन की आवश्यकता कही। 'जुष्टं यदा पश्यति' (३.१.२) से वीतशोक होने के लिए दर्शन की साधनता स्पष्ट की। 'पश्यते रुक्मवर्णम्' (३.१.३) में उसी का विस्तार और कर्म निवृत्ति का बोधन किया। 'प्राणो ह्येष' (३.१.४) से सर्व भूतों के आत्मभूत आत्मा की ज्ञातव्यता, वाह्यक्रियानिवृत्ति, आत्मरति व आत्मक्रीडा को ब्रह्मविद्वरिष्ठत्व का साधन बताया। 'सत्येन' (३.१.५) से तो साधन बताना ही प्रारम्भ किया। आगे भी 'यमेवैष वृणुते' (३.२.३), 'एतैरुपायैः' (३.२.४), 'सम्प्राप्य' (३.२.५), 'वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्थाः' (३.२.६), 'ब्रह्मवेद' (३.२.९) आदि में साधनों का निरूपण करना ही है।

३. तत्त्वलाभ में अतिशय आदर वाली होने से उसके उपायों को निःसंशय हृदयंगम कराने की इच्छा वात्सल्यवती श्रुति को है अतः पुनः कहती है।

४. एवमपि पुनरुक्ति नहीं यह बताते हैं—उस आदि से। इस मन्त्र में बताना है कि रागादि से अकलुषित चित्त—जो कि आचार्य द्वारा दिए शास्त्रोपदेश से संस्कृत हो चुका है—आत्मज्ञान में आवश्यक कारण है। शास्त्राचार्योपदेशसंस्कृतमनस्कत्व 'विशुद्धसत्त्वः' से सूचित है।

५. यहाँ कार्य उत्पन्न होने के लिए अवश्य जिसकी अपेक्षा रखे उसे भी असाधारण कारण कहते हैं—इस दृष्टि से भाष्य में 'असाधारणम्' शब्द है।

"(निधिरूप वह ब्रह्म) न आँख से[1] विषय किया जाता है, न वाणी से[2] और न ही अन्य इन्द्रियों से[3]। तपस्या[4] और कर्म द्वारा भी वह प्राप्त नहीं होता। सत्यादिसाधनसम्पन्न हो एकाग्रता से उसका चिन्तन करते हुए साधक बुद्धि में शान्ति पाता है (और) शान्त तथा रागादि से अकलुषित हो चुकी बुद्धि वाला (साधक) उस भेदरहित आत्मा का साक्षात्कार करता है ॥ ८ ॥"

क्योंकि[5] (यह निधिरूप आत्मतत्त्व) किसी भी व्यक्ति द्वारा[6] आँख से विषय नहीं किया जाता, कारण कि यह रूपवाला नहीं है[7], और न

यदि केवल उसी कार्य में शक्त कारण को उस कार्य के प्रति असाधारण कहा जाता है—इस नियम को मानें तो भी दोष नहीं क्यों कि एतावता उस असाधारण कारण की अकेले की ही उस कार्य को उत्पन्न करने की शक्ति है ऐसा नहीं सिद्ध होता। अतः प्रमाणज्ञान की सम्प्रदायसिद्ध असाधारण कारणता भी संगत रहती है। कुछ आचार्य तो अखण्डवृत्ति का उपादान होने से संस्कृत मन भी असाधारण है व उसका निमित्त होने से प्रमाणज्ञान भी असाधारण है ऐसा सुन्दर सामंजस्य स्थापित करते हैं। अतः 'शास्त्रं मनः प्रोक्तमपि प्रबोधेऽसाधारणं कारणमादरेण। आचार्यपादैरिति पद्मपादामिश्रा मिथो नैव विरुद्धमाहुः ॥'

१. सब ज्ञानेन्द्रियाँ समझनी चाहिये।
२. सब कर्मेन्द्रियाँ समझनी चाहिये।
३. मन व प्राण भी समझ लेने चाहिये।
४. कर्मविशेष होने पर भी दुष्प्राप्य के भी प्रापकरूप से प्रसिद्ध होने से तथा निवृत्तिप्रधान होने से तप को पृथक् कहा। अतएव कर्म से प्रवृत्तिधर्म प्रमुखतः समझने चाहिये।
५. इसका 'इसलिये (बताना···)' से सम्बन्ध है। यस्मात्पुनरिति सम्बन्धः पुनरिति तस्मादित्यर्थः।
६. इससे यह शंका हटाई कि कोई विशेष सामर्थ्य वाले ऋषि देवता आदि आत्मा का साक्षात्कार श्रवणादिभिन्न उपाय से कर सकते हैं।
७. 'संभाव्यो गोचरे शब्दः प्रत्ययो (शब्देतरोपायः) वा न चान्यथा (अगोचरे)। न संभाव्यौ तदात्मत्वादहंकर्तुस्तथैव च ॥२४॥ न ह्यजात्यादिमान् कश्चिदर्थः शब्दै निरुप्यते ॥३०॥' आदि उपदेशसाहस्री के तत्त्वमसिप्रकरण का अनुसन्धान करना चाहिये।

वाणी से विषय किया जाता है कारण कि यह शब्द की शक्ति से असम्बद्ध है[1], एवं 'अन्यैर्देवैः' अन्य इन्द्रियों से भी विषय नहीं किया जाता[2]; हर प्राप्तव्य की प्राप्ति का साधन तपस्या (प्रसिद्ध) है, फिर भी (आत्मा) तपस्या से नही पाया जाता[3]; (जैसे तपस्या की सामर्थ्य प्रसिद्ध है) वैसे ही प्रसिद्ध महत्ता वाले अग्निहोत्र आदि वैदिक कर्मद्वारा भी आत्मा प्राप्त नहीं होता[4]; इसलिए (बताना चाहिए कि)[5] उसकी प्राप्ति का साधन क्या है। अतः श्रुति कहती है—'ज्ञानप्रसादेन'—इस शब्द में 'पदार्थ इसके द्वारा जाना जाता है' इस व्याख्या के अनुसार ज्ञानशब्द से वुद्धि कही जा रही है। सब प्राणियों की बुद्धि यद्यपि स्वभाव से[6] आत्मा का ज्ञान कराने में समर्थ है तथापि आत्मातिरिक्त

---

१. शब्द में एक स्वारसिक शक्ति या सामर्थ्य माननी पड़ती है जिससे शब्द अपने ही अर्थ का बोध कराता है। वह शक्ति ही शब्द का अर्थ से सम्बन्ध है। क्योंकि जाति, गुण, क्रिया या स्वामित्वादि सम्बन्ध वाले से ही शब्द का सम्बन्ध देखा गया है अतः उनसे रहित आत्मवस्तु से शब्द का सम्बन्ध संभव नहीं। शब्द लक्षणाद्वारा तो विषय कर सकता है। जैसा कि आचार्य ने साहस्री में कहा है: 'आभासो यत्र तत्रैव शब्दाः प्रत्यग्दृशि स्थिताः। लक्षयेयुर्न साक्षात्तमभिदध्युः कथंचन' ॥१८.२९॥ जो तो शुद्ध तत्त्व को शब्द से कथमपि अविषयता मानना चाहते हैं उन्हें 'औपनिषदम्' आदि श्रुतियों को क्लिष्टता से समझाना पड़ता है।

२. कारण यही है कि इन्द्रियाँ गुणों को या द्रव्य को विषय करती हैं व आत्मा न गुण है, न गुणवान् और न द्रव्य।

३. कारण कि प्राप्त की प्राप्ति का साधन तप या कोई भी कर्म नहीं हो सकता।

४. कारण कि ऐसा कोई कर्म नहीं जिसका फल आत्म-प्राप्ति हो : 'साध्य-साधनभावोऽयं वचनात्पारलौकिकः। नाश्रौषं मोक्षदं कर्म श्रुतेर्वक्त्रात्कथंचन ॥ १.२७ ॥ न च प्रमाणमस्ति—मोक्षकामो नित्यनैमित्तिके कर्मणी कुर्यात्, काम्यप्रतिषिद्धे च वर्जयेत्, आरब्धफले चोपभोगेन क्षपयेद्—इति (१.८१ सम्बन्ध) इत्यादि नैष्कर्म्यसिद्धि में इसका विस्तार है।

५. यस्मादेवं पुनस्तस्मात्किं साधनमिति वक्तव्यमित्यतआह इति वाक्यमध्याहारेण योज्यम्।

६ बुद्धि भूतों के सात्त्विकंश का कार्य होने से यथार्थ ज्ञान कराने में स्वभाव से ही समर्थ है। यह भी तुलनाप्रिय अनुसन्धित्सुओं के लिये ध्यातव्य है कि

विषयों में रागादिरूप दोषों से मैली, अशान्त, अशुद्ध[1] हुई वह सदा स्वरूपतः[2] ही स्थित आत्मतत्त्व का ज्ञान (हमें) नहीं कराती जैसे मैल से ढका काँच[3] या वह[4] जल जिसे हिला दिया हो (बिम्ब को नहीं दिखाता या साफ नहीं दिखाता)। जब वह (ज्ञानशब्दित बुद्धि) इन्द्रियों व विषयों के सम्बन्ध से उत्पन्न राग आदि मैलरूप कालिमा को हटा देने से दर्पणादि की तरह स्वच्छ हो जाती है व, उस जल

वेदान्त बुद्धि अतएव तदुपाधिक जीव को स्वभाव से शुद्ध मानता है, कारण-वश अशुद्धि आयी है जो निवृत्त हो जाये तो स्वाभाविक शुद्धि बनी रहेगी, जब कि अन्य धर्मों में इन्हें स्वभाव से अशुद्ध व प्रयत्नतः शोधनीय माना जाता है। शुद्ध को शुद्ध बनाना संभव व अशुद्ध को शुद्ध बनाना असंभव नहीं तो असंभवप्राय है।

१. 'मैली' से मूढावस्था, 'अशान्त' से क्षिप्त तथा विक्षिप्त अवस्थायें एवं अशुद्ध से इन सबके संस्कारों वाला होना समझना चाहिये। अग्रहण व अन्यथा-ग्रहण जिसमें प्रधान हो उसे मूढ अवस्था कहते हैं। विषयों में फेंका जाता हुआ चित्त क्षिप्त कहाता है। अस्थिरशील वाला रहते हुए ही कभी किसी विषयप्राप्ति आदि से स्थिर हुआ चित्त विक्षिप्त होता है। ये तीन हेय अवस्थायें चित्त की योगादि शास्त्रों में प्रसिद्ध है। इनसे भिन्न एकाग्र व निरुद्ध अवस्थायें उपादेय मानी हैं। जब चित्त की समस्त वृत्तियाँ रुक जायें व वह संस्कारमात्र ही बचे (—क्योंकि उत्थित अवस्था में मिलता है इसलिये तब भी है ऐसा उसे मानना तो पड़े पर उस समय उसका पता न चले) तब उसे निरुद्ध कहते हैं। योगमत में निद्रा वृत्तिविशेष ही है अतः समस्त वृत्तियों में वह भी आ गयी। इन अवस्थाओं को आचार्य सायण ने सर्वदर्शनसंग्रह में पातंजलदर्शन के अंतर्गत (पृ० ३५४–६, B. O. R. I.) बताया है।

२. निरवच्छिन्न संनिधि को स्वरूप ही मानना होगा।

३. आदर्शशब्द प्रायः पुल्लिङ्ग मिलता है। प्रकृत प्रयोग आर्ष मान सकते हैं। अथवा 'चक्षुः' ऐसा अध्याहार कर यह अर्थ करना चाहिये—'जैसे मलावनद्ध आँख दर्पण को पुरःस्थित होने पर भी नहीं दिखा पाती'।

४. मलावनद्ध दर्पण तो बिम्ब को बिल्कुल भी नहीं दिखाता जबकि आत्मा का यत्किंचित् ज्ञान तो होता ही है अतः दृष्टांत्वान्तर देते हैं—वह इत्यादि से। प्रथम दृष्टान्त आत्मयाथार्थ्य के अभान में व द्वितीय उसके अन्यथाभान में समझना चाहिये।

आदि की तरह जिसका हिलना रुक चुका है, शान्त हो जाती है तब बुद्धि की (वास्तविक) शान्ति होती है, बुद्धि की उस शान्ति के कारण 'विशुद्धसत्त्वः' जिसके अन्तःकरण के[1] सब दोष भली प्रकार निवृत्त हो चुके हैं ऐसा साधक ब्रह्म का साक्षात्कार करने योग्य बनता है। क्योंकि (वह योग्य हो चुकता है) 'ततः' इसलिए सत्य आदि साधनों से सम्पन्न हो इन्द्रियों को अन्तर्मुख कर एकाग्र मन से 'ध्यायमानः' ध्यान करते हुए अर्थात्[2] चिन्तन करते हुए 'निष्कलम्' सब अवयवों और भेदों से रहित[3] 'तम्' आत्मा का ('तु') ही 'पश्यते' (इसका लौकिकरूप है) 'पश्यति' साक्षात्कार करता है। यह समझ लेना चाहिए कि ध्यान करते हुए (उसके प्रभाव से) बुद्धि की अभीष्ट शान्ति मिलती है (और) बुद्धि की उस शान्ति के कारण (साधक शुद्ध चित्त वाला हो श्रवणादि द्वारा) आत्मा का साक्षात्कार करता है। तात्पर्य है कि क्योंकि संशय आदि[4] दोषों से वर्जित प्रमाणज्ञान ही (किसी भी तथा प्रकृत में आत्मरूप) तत्त्व के साक्षात्कार का (अनुभव का) हेतु है और ध्यानरूप क्रिया प्रमा की उत्पादिका है ऐसा (विचारकों द्वारा) स्वीकारा नहीं जाता[5] (इसलिए 'ध्यायमानः पश्यते' से ध्यान दर्शन का साक्षात् साधन बताया जा रहा है[6] ऐसा भ्रम नहीं होना चाहिए) ॥ ८ ॥

[7]"जिस शरीर में प्राणादि पाँच भेदों वाला होकर वायु प्रविष्ट है

---

१. अंतःकरण व बुद्धि को समानार्थक समझना चाहिये।

२. प्रायः ध्यानशब्द वस्तुतः अन्य वस्तु को विधि-आदिवशात् अन्य समझने का प्रयासरूप मानसव्यापार बताता है। वह न समझ लिया जाये अतः कहते हैं—चिंतन। गीताभाष्य में (१३.२५) भी ध्यान का यही अर्थ किया है : 'ध्यानं नाम शब्दादिभ्यो विषयेभ्यः श्रोत्रादीनि करणानि मनस्युपसंहृत्य मनश्च प्रत्यक्चेतयितरि एकाग्रतया यच्चिन्तन तद् ध्यानम्'।

३. अर्थात् आत्मा में कोई अवयव नहीं व सजातीय-विजातीय भेद भी नहीं।

४. आदि से संशय के भेद व विपरीत निश्चय समझना चाहिये।

५. किसी भी सिद्धान्त में ध्यान प्रमाणरूप से परिगणित नहीं।

६. जैसे 'खाते हुए प्रसन्न होता है' कहने से खाना प्रसन्नता का साक्षात् कारण है यही उत्सर्गतः प्रतीत होता है।

७. आत्मा की सूक्ष्मता बताते हुए साधनभूत चित्त की विशेषता बताने के लिये यह मंत्र है।

उस (अपने) शरीर में ही, चक्षु आदि से अग्राह्य यह सूक्ष्म आत्मा प्राणियों के उस चित्त से वेदनीय है जो सारा[1] चित्त, इन्द्रियों समेत, चैतन्य से व्याप्त है और जिस (चित्त) के विशुद्ध होने पर आत्मा अपने को स्पष्ट प्रकाशित कर देता है ॥ ९ ॥"

जिस आत्मा का (साधक) पूर्वोक्त प्रकार से साक्षात्कार करता है (वह) यह 'अणुः' सूक्ष्म[2] (आत्मा) 'चेतसा' केवल विशोधित बुद्धि से जाना जा सकता है। यह कहाँ (जाना जा सकता है) ? जिस शरीर में 'प्राणः' वायु प्राण, अपान आदि[3] भेद से पाँच प्रकार की होकर 'संविवेश' भली प्रकार[4] प्रविष्ट है उस शरीर में ही (स्थित) हृदय में (शुद्ध) बुद्धि से जाना जा सकता है—यह (प्रथमार्ध का) अर्थ है। कैसी बुद्धि से जाना जा सकता है यह श्रुति बताती है—बौद्ध[5] आदि का ऐसा भ्रम देखने में आता है कि बुद्धि चेतन है, (इस भ्रम का कारण ढूंढ़ने से पता चलता है कि) बुद्धि स्वभाव से ही इस योग्य[6]

---

१. अहंकार के भी समावेश के लिये 'सारा' कहा है।

२. आकारादि न होने से व समझने में कठिन होने से सूक्ष्म है।

३. व्यान, समान और उदान।

४. मरणपर्यन्त कभी शरीर को न छोड़ना ही प्रवेश का भला प्रकार है।

५. यद्यपि अन्तःकरणरूप भौतिक बुद्धि को बौद्ध आत्मा मानते हों ऐसी कोई बात नहीं तथापि जिस अस्थायी ज्ञान को वे तात्त्विक मानते हैं वह बुद्धि-वृत्ति ही हो सकता है ऐसा मान कर इस प्रकार कहा जाता है। उप० सा० १६.४ आदि में भी यही भाव है। 'बुद्धिरिति तद्विदः' (वै० प्र० २५) में तो बुद्धिशब्द ज्ञानार्थक है या पारिभाषिक है जैसा अनुभूतिस्वरूपाचार्य ने वहाँ कहा है 'बुद्धिर्बाह्यविषयाकारा, चित्तं बाह्यविषयाकारशून्यं विज्ञानं स्वसंवेद्यं ते वस्तुनीइति बौद्धभेदा भ्रान्ताः'। अथवा वहाँ बौद्धशब्द से भौतिक ही बुद्धि को आत्मा मानने वाले चार्वाकविशेष समझने चाहिए। इन्हें सरस्वतीजी ने 'मन इत्येके' (सि० बिं० पृ० २१७, प्र० द्वा०) से कहा है।

६. 'चैतन्यमपि स्वभावविशेषादन्तःकरणे संसृज्यते नान्यत्रेति युक्तम्, यथा च केवलेन वह्निना न दाह्यमपि तृणादि अयःपिण्डसमारूढेन दह्यते तथाऽहङ्कार-समारूढेनात्मना केवलेनाप्रकाश्या अपि विषयाः प्रकाश्यन्ते' (विवरणम् पृ० ३६६, कल०)। 'विषयव्यापकस्तद्भागो विषयस्य ज्ञानकर्मत्वसम्पादकम-

है कि स्वयं अपने में तथा जिससे सम्बद्ध हो उसमें चेतन को प्रकट कर दे (उसकी चिद्रूपता को स्फुट—अनभिभूत—कर दे)। इसलिए बुद्धि में परमात्मा का प्रकट होना (साक्षात्कार होना) सम्भव होने के कारण बुद्धि द्वारा उसे जाना जा सकता है ऐसा श्रुति द्वारा कहा जा रहा है। अतः (बुद्धि में साक्षात्कार की) सम्भावना है यह बताने के लिए श्रुति कहती है—प्राणियों का 'प्राणैः' इन्द्रियों समेत 'चित्तम्' सारा ही अन्तःकरण घी से दूध की तरह या आग से लकड़ी की तरह चैतन्य से व्याप्त[1] है; प्राणियों का समूचा[2] ही अन्तःकरण चेतना वाला है—ऐसा लोक में प्रसिद्ध है; (ऐसी चैतन्य से व्याप्त होने के स्वभाव वाली बुद्धि से जाना जा सकता है[3])। यदि सभी की बुद्धि चेतन से व्याप्त है[4] तो ब्रह्म स्वयं ही[5] क्योंकर अपरोक्ष नहीं हो जाता? इस शंका को हटाने के लिए कहते हैं—[6]तथा जिस बुद्धि के क्लेश आदि मैल से रहित हो शुद्ध होने पर उसमें 'एषः' पूर्वोक्त आत्मा अपने विशेष

भिव्यक्तियोग्यत्वमिति उच्यते। तस्य च त्रिभागस्यान्तःकरणस्य अतिस्वच्छत्वात् चैतन्यं तत्र अभिव्यज्यते' (सि० बिं०) 'अभिव्यक्तियोग्यत्वमिति—आवरणनिवृत्त्यादिरूपाभिव्यक्तिं प्रति कारणीभूताया वृत्तिज्ञानरूपक्रियाया योग्यतारूपमित्यर्थः।' (न्या० रत्न०, पृ० २७५ प्र० द्वा०)। आदि अनेक स्थलों पर ये विषय प्रकट हैं। जैसे तेल स्वयं चमकता है व स्वयं न चमकने वाली लकड़ी आदि पर लगने पर उसे भी चमका देता है वैसे बुद्धि न केवल स्वयं चेतन को अभिव्यक्त करती है वरन् जिस घटादि से सम्बद्ध हो जाती है वह घट भी भासने लगे—ऐसा उसे बना देती है।

१. अर्थात् मन व इन्द्रियों को सभी वृत्तियों में चेतन भासता है। येन=चैतन्येन। एष विभवतीत्युत्तरेण सम्बन्धाद्येनेति चैतन्येनेत्यर्थः।

२. अर्थात् उसकी सब वृत्तियाँ।

३. घटादिज्ञान कराकर जिसने ज्ञान कराने की अपनी सामर्थ्य में सबकी श्रद्धा बना ली है—यह भाव है। साथ ही बुद्धि की जडरूपता भी बता दी।

४. अर्थात् सभी ज्ञानों में ब्रह्म ही भास रहा है।

५. अर्थात् अनन्तादिरूप से।

६. उपलक्षणरूप द्वैताभाव की आवश्यकता बताने के लिए कहते हैं—तथा आदि से। द्वैतवद्ब्रह्म का ज्ञान मोक्षहेतु नहीं द्वैताभावोपलक्षित का ज्ञान मोक्षहेतु है।

(अनन्तानन्दादि) स्वरूप से 'विभाति' विभात होता है—अपने को प्रकाशित करता है[१] (उस बुद्धि से आत्मा जाना जा सकता है) यह तात्पर्य है ॥ ९ ॥

इस प्रकार जिसका स्वरूप बताया, सबके आत्मभूत (स्वरूपभूत उस ब्रह्मतत्त्व) का जो 'यह मैं ही हूँ' ऐसा प्रमाणतः समझकर अपरोक्ष कर लेता है वह क्योंकि स्वयं को सबका आत्मा जानता है इसीलिए उसे यह फल होता है कि उसे सभी कुछ प्राप्त हो जाता है, यह अगला मन्त्र बताता है;—निर्गुणविद्या की स्तुति[२] करने के लिए,

---

१. फलव्याप्ति का निषेध सूचित किया। अज्ञाननिवृत्त्यर्थ प्रयास चाहिए, ज्ञान स्वयं हो जाता है।

२. भाष्य में फल कहा है। छान्दोग्य में (८.१.६) आनन्दगिरि स्वामी ने भी फल कहा है 'विदुषां स्वातन्त्र्यफलं कथयति—अथेत्यादिना'। सूत्र-भाष्य में (४.४.८ अन्त) भी 'प्राकृतसङ्कल्पविलक्षणत्वान्मुक्तसंकल्पस्य' से मुक्त की अवन्ध्यसंकल्पता कही है। 'विश्वैश्वर्यम्' (श्वे० १.११) आदि श्रुति भी इसके अनुकूल है। इसी आधार पर संक्षेपशारीरककार ने वेदान्तसाफल्य बताया है : 'स्वाराज्यमत्र कवलीकृतभोगभूमि सम्पूर्णमस्य विदुषो भवतीति दृष्टम्' (१.३०१)। तथापि 'कामादीतरत्र तत्र चायतनादिभ्यः' (३.३.३९) सूत्र की व्याख्या में आचार्य ने स्पष्ट किया है कि छान्दोग्य का उक्त प्रसंग सगुणविद्या का है : 'सगुणा हि ब्रह्मविद्या छान्दोग्य उपदिश्यते··· 'एतांश्च सत्यान्कामा'नित्यात्मवत्कामानामपि वेद्यत्वश्रवणात्'; तथा 'सर्वस्य वशी' (बृ० ४.४.२२) में कहे वशित्व को स्तुत्यर्थ बताया है 'वशित्वादि तु तत्स्तुत्यर्थमेव गुणजातं वाजसनेयके संकीर्त्यते'। अतएव भामती में कहा गया है : 'ऐश्वर्यश्रुतयस्तु सगुणविद्याविपाकावस्थापेक्षाः, मुक्त्यभिसन्धानन्तु तदवस्थाऽऽसत्तेः, यथाऽरुणदर्शने सन्ध्यायां दिवसाभिधानम्' (४.४.१६ अन्त)। सर्वज्ञमुनि ने भी 'तदनु नेति च नेति वचःश्रुतेर्यदपि मोक्षगतं स्तुतये हि तत्' (३.१७०) आदि से ऐश्वर्यादि को मोक्षावस्था में औपचारिक ही माना है। इसी सब को दृष्टि में रख यहाँ टीकाकार ने 'स्तुति'—ऐसा कहा है। वस्तुतस्तु 'द्वादशाहवदुभयविधं बादरायणोऽतः' (४.४.१२) न्याय से दोनों ही बातें ठीक हैं। जब जीवन्मोक्ष की दृष्टि से विचार करें तो सत्यसंकल्पत्वादि फल में गिने जा सकते हैं और जब वास्तविकता का विचार करें, 'इत्येषा परमार्थता'

जिससे कि उसमें रुचि उत्पन्न हो जाये, सगुण-उपासना का फल भी (निर्गुणविद्या से प्राप्त हो जाता है ऐसा) श्रुति बताती है—

"जिसके अविद्यादि क्लेश निवृत्त हो चुके हैं वह विद्वान् अपने लिए (या अन्य के लिए) पितृलोकादि जिस जिस लोक की प्राप्ति का मन से संकल्प करता है तथा जिन भोगों को (अपने लिए या अन्य के लिए) चाहता है, उस-उस लोक को वह प्राप्त हो जाता (तथा प्राप्त करा देता) है एवं उन भोगों को पा लेता (या दिला देता) है। अतः जो वैभव[1] पाना चाहे उसे चाहिए कि आत्मज्ञानी की अर्चना करे ॥ १० ॥"

'विशुद्धसत्त्वः' जिसके अविद्यादिक्लेश निस्तत्त्व[2] हो चुके हैं वह रागादिमलरहित अन्तःकरण वाला आत्मवेत्ता मनसे[3] पितृलोकादिरूप जिस-जिस लोक का 'यह मुझे या अमुक अन्य व्यक्ति को[4] मिले' ऐसा 'संविभाति' संकल्प करता है तथा जिन 'कामान्' भोग्यवस्तुओं को (या उपभोगों को) 'कामयते' चाहता है, (वह[5]) उस-उस लोक को 'जयते' प्राप्त करता है तथा उन 'कामान्' भोगों को (भोग्यवस्तुओं या

(मा० वै० प्र० ३२), तब उन्हें स्तुत्यर्थ समझना होगा। अथवा, मुमुक्षुदृष्टया फलवचन और मुक्तदृष्टया स्तुतिवचन है ऐसी व्यवस्था जाननी चाहिए।

१. इहलौकिक व पारलौकिक सम्पत्ति तथा ब्रह्मज्ञान—सभी वैभवशब्द से समझने चाहिए; 'ऐहिकामुष्मिकसम्पत् तद्विरलब्रह्मसंविद्वा भूतिशब्दार्थः' (उपनिषद्ब्रह्मयोगी)।
२. जीवन्मुक्ति में लेशतः अवस्थिति मानी है पर वह प्रतीतिमात्र है, उसमें कोई तात्त्विकता नहीं, अतः वह प्रारब्ध सहित स्वयं ही, यत्न के बिना, निवृत्त हो जाती हैं।
३. 'संकल्पादेव तु तच्छ्रुतेः' (४.४.८) सूत्र से मानस संकल्पातिरिक्त कोई प्रयास नहीं करना पड़ता यह स्पष्ट है। उस संकल्पवश ही दृष्ट निमित्त भी अनुकूल हो जाते हैं।
४. रागादिराहित्य कह दिया गया है अतः कारुण्यवश अन्यार्थ संकल्प हो सकता है। जीवन्मुक्ति में व्यवहार होने से 'अन्य' ऐसा देखना आदि संगत है।
५. वह से मुक्त या जिस अन्य के लिये उसने संकल्प किया हो उसे लेना चाहिये।

उपभोगों[1] को) जिनको उसने चाहा था, पाता है। 'तस्मात्' क्यों कि ब्रह्मवेत्ता अमोघ संकल्प वाला होता है इसलिये 'भूतिकामः' वैभव चाहने वाले को[2] चाहिए कि 'आत्मज्ञम्' आत्मसाक्षात्कार से जिसका अन्तः-करण सर्वथा निर्दोष हो चुका है ऐसे ब्रह्मवेत्ता की पैर धोना, सेवा,[3] नमस्कार आदि से 'अर्चयेत्' अर्चना करे। आत्मबोध प्राप्त हो चुकने से यह अवश्य ही पूजा के योग्य है ॥ १० ॥

॥ इति तृतीय मुण्डक में प्रथम खण्ड ॥

अथ द्वितीय खण्ड[4]

"उक्त स्वरूप वाले परात्पर शुद्ध ब्रह्म को, जो सब कामनाओं का विषय है, जिसमें सारा संसार स्थित है तथा जो स्वज्योतिरूप से भासता है, (उस ब्रह्म को) क्यों कि वह जानता है इसलिये जो मुमुक्षु उस आत्मज्ञ पुरुष की परमेश्वर की तरह सेवा करते हैं वे बुद्धिमान्, शरीर के कारणरूप से प्रसिद्ध शुक्र को लांघ जाते हैं (अर्थात् दीर्घकाल तक सद्गति पाते हैं तथा चित्तशुद्धि व उपदेश पाकर मुक्त हो जाते हैं। अतः उसकी अर्चना करे) ॥ १ ॥"

---

१. 'तस्मान्मानसा एव ब्राह्मलौकिका अरण्यादयः संकल्पजाश्च पित्रादयः कामाः' (छां० भा० ८.५.४ पृ० ३७५ M.R.I.)।

२. यद्यपि अन्य शास्त्रीय व लौकिक कर्मों से भी वैभव मिल सकता है तथापि ब्रह्मवेत्ता की अर्चना से उसके उपदेशादि द्वारा तथा कृपा से भगवान् की ओर रुचि होगी और परम पुरुषार्थ के लिए व्यक्ति प्रयासशील होगा ऐसा विचार कर हितैकपरायण श्रुति ने विषय-प्रवण के लिए भी आत्मज्ञसेवा का विधान किया है।

३. श्रोतुमिच्छा शुश्रूषा इस व्युत्पत्ति से उसके उपदेश सुनना भी अर्चना में समझना चाहिये ॥ यदर्चना वेदशिरःसु चोदिता विभूतिहेतुः पुरुषास्येऽपि या। वटं श्रितो यो मुखरोप्यजायत जयत्यसौ मे गुरुराणमहेश्वरः ॥

४. यद्यपि विषयदृष्ट्या प्रथम खण्ड से द्वितीय खण्ड का वैलक्षण्य स्पष्ट होना कठिन है तथापि द्वितीय खण्ड निर्विशेषप्रधान कहा जा सकता है क्यों कि 'सर्वं एकी भवन्ति' (७), 'नामरूपाद्विमुक्तः' (८), ब्रह्मैव भवति' (९)—इस प्रकार उपसंहार किया है जब कि प्रथमखण्ड में सत्यकामत्वादि में उप-संहार था।

क्योंकि वह (ब्रह्मवित्) जानता है[१]। (किसे ?—) 'एतत्' जिसका स्वरूप बता दिया गया है उस 'परमम्' सर्वोत्तम ब्रह्म को (जो कि) सब कामनाओं का 'धाम' आश्रय अर्थात् विषय है[२], 'यत्र' जिस ब्रह्मरूप धाम में 'विश्वम्' सारा जगत् 'निहितम्' स्थित है, जो अपने प्रकाश से भासता (प्रकाशता) है तथा 'शुभ्रम्' शुद्ध है। (इसलिए[३]) जो 'अकामाः' वैभव की कामना से रहित तथा ('हि') केवल मुमुक्षु होकर इस प्रकार आत्मा को जानने वाले उस ब्रह्मवेत्ता की परमेश्वर की तरह[४] 'उपासते' सेवा करते हैं वे 'धीराः' बुद्धिमान् शरीर के उपादान कारण 'एतत्' (इस) प्रसिद्ध 'शुक्रम्' पुरुष-बीज को[५] 'अतिवर्तन्ति' लाँघ जाते हैं अर्थात् पुनः (जन्म ग्रहण करने के लिये किसी माता की) योनि में प्रवेश नहीं करते[६]। 'वह फिर किसी विषय में प्रेम नहीं करता' (   ) इस श्रुति से (भी यही स्थिर होता है[७])।

१. 'जानातीत्येतद्' ऐसे पाठ में 'जानातीति' पर विराम समझना चाहिये। 'जानात्येतद्' ही बेहतर पाठ है।
२. कामना सुख को विषय करती है और ब्रह्म ही सुख है अतः वही सब कामनाओं का विषय है।
३. अर्थात् अर्चना में कारण उसकी आत्मज्ञता है अन्य वर्ण, आश्रम, पद, सामर्थ्य आदि नहीं। उपक्रम में 'यस्मात्' है अतः 'तस्मात्' समझ लेना होगा।
४. 'यथा देवे तथा गुरौ' (श्वे० ६.२३)।
५. पिता के शुक्र में आकर उसके द्वारा मातृगर्भ में प्रवेश कर शुक्रशोणित के विकारभूत शरीर में अभिमान करना ही जन्म है। जब शुक्र को लाँघ लिया तो आगे की प्रक्रिया से स्वतः बचाव हो गया।
६. आत्मवेत्ता की अर्चना के फलरूप से प्रायशस्तु वैराग्यादि हो यहीं मोक्ष होता है। प्रतिबन्धक होने पर ऊर्ध्वगति हो उत्तम लोकों में ज्ञान हो मोक्ष होता है। अत्यधिक रागादि हो तो भी दीर्घकाल तक गर्भवास तो नहीं ही होता—ऐसा समझना चाहिये।
७. प्रेम योनि-प्राप्ति में कारण बनता है क्योंकि कर्म सुखादि के प्रति और वासना योनि (शरीर—मनुष्य, कुत्ता आदि) के प्रति कारण है ऐसा कठादि उपनिषदों में बताया है। जिससे प्रेम हो उसकी वासना दृढ होती है। अतः प्रेम योनि का कारण है। क्योंकि प्रेम नहीं रहा अतः योनि नहीं मिलती, यह भाव है।

इसलिए उस आत्मज्ञानी की पूजा करनी चाहिये, यह तात्पर्य[1] है ॥ १ ॥

मोक्ष चाहने वाले के लिये कामनाओं का त्याग ही मुख्य साधन है[2], इसे श्रुति बताती है—

"जो विषयों को ही बहुत मानते हुए उन्हीं की कामना करता है वह कामनावाला हुआ ही उस-उस योनि में पैदा होता रहता है (जो-जो उसे कामना के कारण मिलती जाती है)। जिसकी तो कामनायें पूरी हो चुकी हैं[3], जिसने अपने आपको अपने वास्तविक स्वरूप में स्थित कर लिया है, उसकी सभी कामनायें शरीर रहते ही सकारण नष्ट हो जाती हैं ॥ २ ॥"

जो 'मन्यमानः' उनके गुणों का चिन्तन करते हुए 'कामान्' अनुभूत तथा अननुभूत (या ऐहिक व आमुष्मिक) विषयों की 'कामयते' प्रार्थना (कामना) करता है वह धर्म तथा अधर्म में प्रवृत्ति के प्रति हेतुभूत विषयों की इच्छारूप 'कामभिः' कामनाओं सहित वहाँ-वहाँ उत्पन्न होता है[4]। जिस-जिस विषय की प्राप्ति के लिए कामनायें पुरुष को कर्मों में लगाती हैं, वहाँ-वहाँ अर्थात् उन-उन विषयों में उन्हीं कामनाओं से युक्त हो पैदा होता है[5]। जो तो संसारतत्त्व की वास्तविक हेयता समझ

---

१. जैसे 'उपयन्ति' का 'उपेयुः' ऐसा विपरिणाम कमंठों ने (४.३.१८) स्वीकारा है वैसे ही 'उपासते' से 'उपासीत' समझना चाहिये।

२. 'यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामायेस्य हृदि श्रिताः। तदा मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते ॥' बृ० ४.४.७ ॥ 'काम एषः···विद्धयेनमिह वैरिणम्' (गी० ३.३.७)। आदि श्रुति व स्मृति का अनुसंधान करना चाहिये।

३. भोग से तो कामना पूरी होना संभव नहीं। 'न वित्तेन तर्पणीयो मनुष्यः' (कठ० १.२६)। अतः जिसने विषयकामनायें प्रयत्नतः त्याग दी हैं यह अर्थ है। 'प्रविलीयन्ति' से पुनरुक्ति नहीं क्योंकि वहाँ सकारण आत्यन्तिक निवृत्ति कही है, यहाँ प्रयत्नतः उनका त्याग कहा है।

४. इसे ही अगले वाक्य से स्पष्ट करते हैं।

५. जब पैदा होता है तब उस विषय में कामना वाला होकर पैदा होता है जिसकी प्राप्ति के लिये कामना से प्रेरित हो कर्म किया था। इस प्रकार कामना वाला पैदा होता है, कामना से कर्म करता है और उसे भोगने के लिये फिर कामनावाला ही पैदा होता है—यह चक्र चलता रहता है यह भाव है।

कर अर्थात् विषयों में वस्तुतः विद्यमान दोषों को देखकर[1] आत्मा की ही कामना वाला होने से जिसकी सब (वैषयिक) कामनायें 'परि' अर्थात् हर तरह से पूरी हो चुकी हैं ऐसा पर्याप्तकाम—विरुद्धलक्षणासे[2] 'अत्यल्प राग वाला' यह तात्पर्य है। अर्थात् जिसे आत्मा की ही कामना है वह आत्मा होने की[3] उस अतितीव्र इच्छा से ही चित्त को वश में कर लेता है और उसकी कामनायें विषयों से हट ही जाती हैं। (और) जिसने अपने आत्मा को अविद्यात्मक जीवरूप से हटाकर अपने परब्रह्म-रूप का बना लिया है ऐसा कृतात्मा हो चुका है, उस पर्याप्तकाम और कृतात्मा की 'सर्वे' धर्म में व अधर्म में प्रवृत्ति कराने वाली सब कामनायें 'इहैव' शरीर के रहते ही 'प्रविलीयन्ति' विलीन हो जाती हैं अर्थात् नष्ट हो जाती हैं। अभिप्राय है कि क्योंकि उनकी उत्पत्ति का कारण (अज्ञान) नष्ट हो चुका है इसलिए कामनायें उत्पन्न नहीं होती। (यद्यपि कामनायें नष्ट होती हैं कहा है तथापि) कामनायें अपने कारण के नष्ट हो चुकने से उत्पन्न नहीं होती यह अभिप्राय (कृतात्मत्व प्रयुक्त प्रविलय बताने की) सामर्थ्य से पता चलता है। उत्पन्न हो चुकी काम-नायें तो आत्मज्ञान के विना भी नष्ट हो सकती हैं (अतः आत्मज्ञान का फल उनका नष्ट होना मात्र नहीं किन्तु उत्पन्न न होना है) यह अर्थ है ॥ २ ॥

---

१. 'स्थानाद्बीजादुपष्टम्भान्निष्यन्दान्निधनादपि। कायमाधेयशौचत्वात् पण्डिता ह्यशुचिं विदुः' ॥ 'चर्मखण्डं द्विधा भिन्नमपानोद्गारधूपितम्। तत्र मूढा निम-ज्जन्ति प्राणैरपि धनैरपि ॥' 'अर्थानामर्जने दुःखं तथैव परिपालने। नाशे दुःखं क्षये दुःखम्' इत्यादि रीति से विद्यमान दोषों का पुनः पुनः विचार करने से—यह तात्पर्य है।

२. काकु आदि से अन्यथा प्रतीत होते हुए जब कहा जाता है 'ये पण्डित हैं' तब पण्डित शब्द अपने से विरुद्ध मूर्ख को लक्षणा से बताता है। शक्य से विरोध ही सम्बन्ध है। यहाँ भी पूर्वोत्तर प्रसंग से ('कामयते' की व्यावृत्त्यर्थ आये 'तु' से और 'प्रविलीयन्ति' से) अन्यथा अर्थ निश्चित होने से 'जिसकी काम-नायें पूरी हो चुकी हैं' का अर्थ है 'जिसकी कामनायें समाप्त हो चुकी हैं'। पूरी होने से विरुद्ध है समाप्त होना।

३. 'मैं वस्तुतः जो हूँ वही हो जाऊँ, भ्रमवश जैसा अपने को जान रहा हूँ वैसा न जानूँ'—ऐसी।

यदि[1] इस प्रकार[2] आत्मलाभ सभी लाभों से श्रेष्ठ[3] है तो आत्म-प्राप्ति के लिए वेदाध्ययन आदि साधनों का बहुतायत से अनुष्ठान करना चाहिए—यह समझ[4] आने पर यह कहा जाता है—

"यह पूर्वोक्त आत्मा न अधिक वेदादिका अध्ययन करने से, न ग्रन्थ याद रखने की सामर्थ्य से और न अधिक श्रवण से मिलता है[5]। साधक परमात्मा को ही पाना चाहता है; परामात्मा से अपने अभेद का अनुसन्धान[6] करने से यह प्राप्त होता है। साधक का अपरोक्ष[7] आत्मा अपना स्वरूप प्रकाशित कर देता है ॥ ३ ॥"

जो यह आत्मा पूर्वग्रन्थ से समझा दिया गया है, जिसकी अवगति परम पुरुषार्थरूप मोक्ष है वह 'प्रवचनेन' वेदों व शास्त्रों के अध्ययन की बहुतायत से (अधिक अध्ययन से) नहीं मिल सकता। ऐसे ही 'मेधया' ग्रन्थ याद करने की सामर्थ्य से (अर्थात् अधिक सूचनायें याद करने से) नहीं (मिल सकता)। 'न बहुना श्रुतेन' और न ही उपनिषदों के विचार से भिन्न बहुत श्रवण[8] करने से (मिल सकता है) यह अर्थ है। तब किससे प्राप्त हो सकता है?—यह बताया जाता है—यह जानकार[9] साधक 'यमेव' परमात्मा को ही 'वृणुते' पाना चाहता है। 'तेन' अभेद-अनुसन्धान से 'एषः' परमात्मा मिल सकता है किसी अन्य से अर्थात्[10] किसी अन्य साधन से नहीं। ('यम्' का

१. यदि शब्द संदेहबोधक नहीं, स्वीकारबोधक है।

२. कामना की आत्यन्तिकनिवृत्ति द्वारा मोक्ष का हेतु है इसलिये।

३. आत्मलाभातिरिक्त सब लाभों से।

४. श्रेष्ठ लाभ के लिये श्रेष्ठ साधनों की पुष्कलता अनेकत्र आवश्यक देखी होने से।

५. नारायणानुसारी अर्थ यह है: आत्मा (परमात्मा) जिस साधक पर कृपा करता है उस साधक द्वारा प्राप्य है। आत्मा का भजन करने वाले पर कृपा होती है। 'अपने कर्म से उसकी अर्चना कर मानव सिद्धि पाता है' ऐसी स्मृति भी है (गी० १८.४६)।

६. शास्त्र से निर्धारण कर युक्ति से दृढ कर अनवरत चिन्तन करना अनुसन्धान है।

७. अपरोक्ष होने पर भी अनुसन्धान के अभाव से अज्ञात है।

८. तात्पर्यनिर्णय। वेदान्तेतर ग्रंथों का तात्पर्यनिर्णय मोक्षफलक नहीं।

९. मूर्ख साधक विवेतरप्राप्ति का इच्छुक हो उत्पथ पर ही चलता है।

१०. स्वपदानि वर्ण्यन्त इति भाष्यताख्यापनाय अन्येनेत्यस्य व्याख्या साधनान्तरेणेति।

शाब्दिक अर्थ है 'जिसे'। 'तेन' का शाब्दिक अर्थ है 'उससे'। सामान्य नियम है कि 'यत्'-शब्द से (जो शब्द से) कहे हुए को 'तत्' शब्द (वह शब्द) विषय करता है[१]। प्रकृत में 'यम्' का 'परमात्मा को' अर्थ किया व 'तेन' का 'अभेदानुसन्धान से' अर्थ किया।) प्रश्न होता है कि 'तेन' 'अभेदानुसन्धान से इस प्रकार यत्-शब्द (यम्) का अन्य अर्थ और तत्-शब्द (तेन) का अन्य अर्थ, ऐसी व्याख्या क्यों की ? (उत्तर देने के लिए) हम (सिद्धान्ती) कहते हैं कि (मन में आत्म-लाभ के) साधन को बताने की इच्छा उपस्थित है, इसलिए (ऐसी व्याख्या की)[२]। 'परमात्मा मैं हूँ' ऐसा अभेद-अनुसन्धान भाष्यकार ने 'वरण' शब्द से ('अभेद-अनुसन्धान' से) कहा है। उस वरण से यह आत्मा प्राप्त हो सकता है। बहिर्मुख व्यक्ति द्वारा तो सैकड़ों के हिसाब से श्रवण आदि किये जाने पर भी (आत्मा) नहीं मिलता। इसलिए 'परमात्मा मैं हूँ' ऐसा अभेद-अनुसन्धानरूप परमात्ममनन पूर्व में[३] करके ही श्रवणादि करना चाहिए यह तात्पर्य है। अथवा (यत्तत् शब्द एक अर्थ को ही विषय करें ऐसा आग्रह हो तो) यह अर्थ (किया जा सकता) है : जिस परमात्मा को ही पाना चाहता है, मुमुक्षुरूप में

१. जैसे 'जो आया था उसने कहा' में जो शब्द से कहे देवदत्तादि को ही 'उसने' शब्द विषय करता है।

२. तात्पर्य है कि यत्-तत् की समानार्थकता रखते तो 'तेन' का अर्थ होता 'परमात्मा द्वारा' और परमात्मा कोई साधन है नहीं—हम परमात्मा कर नहीं सकते। बताना यहाँ साधन है—हम क्या करें। अतः सामान्य नियम छोड़कर अर्थ किया। यत्तत् की समानार्थकता के नियम की तरह ही यह भी नियम है कि सर्वनाम प्रकृत प्रधान को विषय करता है। 'यमेव वृणुते' में परमात्मा प्रधान होने से यच्छब्दार्थ है। 'तेन लभ्यः' में साधन प्रकृत होने से वही तच्छब्दार्थ है।

३. नित्य ही श्रवणादि करने के पूर्व अभेद-परामर्श करना चाहिये यह भाव है। श्रवण भी वस्तुतः क्रियाविशेष ही है ऐसा वार्तिक आदि आकरों में निर्णीत है। क्रिया स्वभावतः भेदनिष्ठा-प्रधान होती है। उससे अभेद में प्रतिष्ठित होने के लिये हमें अभेद की ओर जागरूक रहना होगा, अन्यथा क्रियान्तर की तरह श्रवणादि भी होकर भेदस्थापन करता रहेगा। किं च अभेद को दृष्टि में रख श्रवणादि करने से कुतर्क से बचा जा सकता है।

स्थित उसी परमात्मा द्वारा श्रवण और अभेद-अनुसन्धानरूप प्रार्थना (वरण) करके मिल सकता है। 'परमात्मा ही मुमुक्षुरूप में स्थित है'—ऐसे अभेद-अनुसन्धान से ही मिल सकता है, (अन्य किसी) कर्म से नहीं। (अन्य साधन से इसलिए नहीं मिल सकता) क्योंकि यह स्वभाव से ही सदा प्राप्त है। जानकार साधक को होने वाला आत्म-लाभ कैसा है ?[1] यह सूचित किया जा रहा है—उस (साधक) का यह (अपरोक्ष) आत्मा अविद्या से ढके[2] अपने परम 'तनुम्' स्वात्म-तत्त्व अर्थात् स्वरूप को 'विवृणुते' प्रकाशित कर देता है। तात्पर्य है कि जैसे अँधेरे में (पहले से ही स्थित) घट आदि, प्रकाश हो जाने पर[3] प्रकट हो जाते हैं वैसे ज्ञान हो जाने पर[4] (आत्मा) प्रकाशित हो जाता है। इसलिए अन्य सब को छोड़ आत्मलाभ की (वरणरूप) प्रार्थना[5] ही आत्मलाभ का साधन है, यह तात्पर्य है[6] ॥ ३ ॥

लिङ्गयुक्त अर्थात् संन्यास-सहित बल, अप्रमाद और तप—ये आत्म-लाभ की (वरणरूप) प्रार्थना के सहायक[7] साधन हैं क्योंकि—

"जिसमें शास्त्रप्रोक्त आत्मतत्त्व में श्रद्धाख्य[8] बल नहीं है, उसके

---

१. प्राप्त-प्राप्ति को सोदाहरण बतायेंगे।

२. प्रकाशित करने से पूर्व अविद्या से ढके—ऐसा समझना चाहिये।

३. घटादिः प्रकाशे सत्याविर्भवतीति योज्यम्। अँधेरे में पड़ा घड़ा प्राप्त ही था, प्रकाशित होने पर जो अनुभव होता है 'घड़ा मिल गया' वह प्राप्त-प्राप्ति का दृष्टान्त है। अँधेरे की जगह अज्ञान जानना चाहिये।

४. 'अहं ब्रह्म' ऐसी प्रामाणिक अप्रतिबद्ध अखण्डवृत्ति बन जाने पर।

५. यदि टीका को छोड़कर अर्थ करना हो तो; भाष्यकार ने वरण का अर्थ प्रार्थना किया है, अतः यहाँ तीव्र जिज्ञासा या मुमुक्षा की साधनता बतायी जा रही है, ऐसा कह सकते हैं।

६. कठ० १.२.२३ में भी यह मंत्र है। वहाँ भाष्य में वही अर्थ है जो यहाँ टीकाकार ने 'अथवा' आदि से बताया है। कठटीका में आनन्दगिरिस्वामी ने 'तेन' से अनुग्रह विवक्षित माना है।

७. प्रार्थन को फलित होने में सहायता देने वाले होने से। अन्यथा तो प्रार्थनादि सब तप (ज्ञान) के सहायक हैं।

८. श्रद्धा से वस्तुलाभ चूडामणि में कहा है 'शास्त्रस्य गुरुवाक्यस्य सत्यबुद्ध्या-वधारणा। सा श्रद्धा कथिता सद्भिर्यया वस्तूपलभ्यते' ॥२६॥ सर्ववेदान्त-

द्वारा आत्मा पाया नहीं जा सकता। आत्मा की शास्त्रोक्त यथार्थता का निश्चय हटना रूप प्रमाद से, जिसके कि कारण विषयासक्ति होती है, भी आत्मा नहीं मिल सकता और न ही वह संन्यासरहित ज्ञानरूप तप से मिल सकता है। अडिग श्रद्धा और निश्चय, संन्यास तथा ज्ञान—इन उपायों से जो विवेकी तत्पर हो प्रयत्न करता है उसका आत्मा अपने ब्रह्मभाव में प्रतिष्ठित हो जाता है॥ ४॥"

यह (प्रकृत) परमात्मतत्त्व 'बलहीनेन' जिसमें बल नहीं है उसके द्वारा, अर्थात् आत्मस्वरूप में निष्ठा से[1] उत्पन्न वीर्य जिसमें नहीं है उसके द्वारा; यहाँ 'वीर्य' से वह दृढता बतायी है जो गलत ज्ञानों से अभिभूत न हो सके (दब न सके); प्राप्त नहीं किया जा सकता। संसार में होने वाले पुत्र, पशु आदि विषयों में आसक्ति का कारण जो प्रमाद[2]

सिद्धान्तसारसंग्रह में भी 'श्रद्धा निदानं मुक्तिसिद्धये ॥२१०॥ श्रद्धावतामेव सतां पुमर्थः समीरितः सिद्धयति नेतरेषाम्। उक्तं सुसूक्ष्मं परमार्थतत्त्वं श्रद्धत्स्व सोम्येति च वक्ति वेदः ॥२११॥ श्रद्धाविहीनस्य तु न प्रवृत्तिः प्रवृत्तिशून्यस्य न साध्यसिद्धिः'(२१२ १/२) इस प्रकार सकारण श्रद्धा की आवश्यकता समझायी है। उपनिषद्योगी तीव्रतम वैराग्य को बल शब्द से समझते हैं। बृहद्भाष्य में (३.५.१ पृ० २५८ M.R.I.) कहा है 'बलं नाम आत्मविद्यया अशेषविषयदृष्टितिरस्करणम्'। छान्दोग्य में (७.८.१ पृ० ३१३M.R.I.) 'मनसो विज्ञेये प्रतिभानसामर्थ्यम्' कहा है।

१. आत्मा को जैसा अकर्तादि बताया है वैसा ही वह है यह श्रद्धा यहाँ कही है। कुछ टिप्पणीकार श्रवणादिलक्षण अनन्यव्यापारजनित निष्ठा यहाँ विवक्षित मानते हैं। तब तपःशब्दित ज्ञान को ज्ञानसाधनपरक समझना होगा।

२. आत्मा को जैसा शास्त्र में बताया है वैसा वह है इस निश्चय—श्रद्धा—के हटने से ही रागादि आसक्ति होती है। अथवा विषयासक्ति है कारण जिसका वह प्रमाद अर्थात् आत्मलाभ के साधनों के प्रति असावधानी से नहीं मिल सकता, यह समझना चाहिए। 'स्वदेहदारपुत्रादौ अहं ममाभिमानपूर्वकं स्वात्मतत्साधनविस्मरणं प्रमादः' से उपनिषद्योगी ने दोनों अर्थ सूचित कर दिये हैं। [स्वात्मविस्मरणं पूर्वं यस्मादभिमानात्तत्स्वात्मविस्मरणमभिमानपूर्वकम्, अभिमानश्च पूर्वो यस्मादात्मसाधनविस्मरणात्तद्विस्मरणमभिमानपूर्वम्]। नारायण तो आसक्ति को ही प्रमाद मानते हैं। भाष्य में आसक्ति, उसका कारण और आसक्ति का कार्य—तीनों ही प्रमाद शब्द से विवक्षित है।

है, उससे भी नहीं (मिल सकता)। इसी तरह 'आलिंगात्' लिंग-रहित तप से भी (नहीं मिल सकता)। यहाँ ज्ञान ही तप है और संन्यास ही लिंग है। संन्यास-रहित ज्ञान से आत्मा नहीं मिलता—यह अर्थ है। इन्द्र, जनक, गार्गी आदि को (जो संन्यास-रहित थे) आत्मलाभ हुआ था ऐसा उपनिषदों में सुना जाता है, इसलिए संन्यास-रहित (ज्ञान से आत्मा नहीं मिलता) यह कैसे कहा ? (इन्द्रादि का आत्मलाभ उपनिषदों में सुना जाता है, यह) ठीक है; (किन्तु वे संन्यासरहित थे यह गलत है)। (क्रिया, कारक, फल—) सबको छोड़नारूप ही संन्यास कहा जाता है। क्योंकि इन्द्रादि को किसी भी क्रियादि के प्रति 'यह मेरा है' ऐसा भाव नहीं था[1] इसलिये उनका भी (बाहर न दीखने पर भी) अन्दर (निश्चयरूप से विद्यमान) संन्यास था ही। संन्यास के चिह्न जो बाहर दीखते हैं, उन्हें बताने की इच्छा यहाँ[2] श्रुति को नहीं है क्योंकि स्मृति में भी कहा है 'चिह्नधारण करने से ही धर्म नहीं हो जाता' (मनु० ६.६६)। [3]यहाँ तो इतना ही बताने की इच्छा है कि ज्ञान के साथ कर्मत्याग अवश्य होना चाहिये। बल, अप्रमाद और संन्यास सहित ज्ञान—इन उपायों से तो जो 'विद्वान्' अर्थात् आत्मा के विविक्त-रूप को समझने वाला 'यतते' तत्पर[4] हुआ प्रयत्न करता है उस विवेकी का यह (अपरोक्ष) आत्मा ब्रह्मस्वरूप में 'विशते' एकमेक हो प्रतिष्ठित हो जाता है ॥ ४ ॥

---

१. सम्बन्धग्रन्थ में 'यस्य मे नास्ति किंचन' आदि जनक की उक्ति बताकर उनमें कर्म नहीं था यह बताया जा चुका है।

२. अन्यत्र चिह्नों का भी विधान है। प्रायः तो वे चाहिए ही किन्तु उनका होना इसीलिए है कि सर्वत्याग—'न मे कश्चित्किंचिद्वा' ऐसा निश्चय—हो सके। यदि किसी अद्भुत साधक को वह निश्चय चिह्न के बिना हो जाये तो उसके लिए चिह्न अनावश्यक है। इससे उन आधुनिकों का निषेध हो जाता है जो मानते हैं कि भाष्यकार के मत में कर्मों का स्वरूपतः त्याग आवश्यक साधन नहीं। नैष्कर्म्य साहित्यमात्र विवक्षित है यह स्पष्ट अर्थ है।

३. 'नैष्कर्म्यसाहित्यन्तुविवक्षितम्' यह 'स्मरणात्' के अनन्तर यहीं का वाक्य है।

४. उसकी प्राप्ति ही एकमात्र जीवन का उद्देश्य होना चाहिये, प्राप्ति के उपायों का अनुष्ठान हो सके इसके लिए आवश्यक अन्य कुछ करते हुए भी मुख्य काम उन उपायों का अनुष्ठान ही रखना चाहिए।

आत्मा ब्रह्म से एकमेक हो प्रतिष्ठित कैसे होता है?—यह बताया जा रहा है—

"इस आत्मा को ठीक तरह समझकर इसे जानने वाले केवल ज्ञान से तृप्ति पाते हैं; अपने आत्मा को परमात्मा बना चुकते हैं; रागादिदोषों वाले नहीं रह जाते व उनकी इन्द्रियाँ विषय-प्रावण्य छोड़ देती हैं। इस प्रकार के हुए वे अत्यन्त विवेकी तथा सदा एकाग्र चित्तवाले जीवित रहते ही[1] हर तरह से सर्वव्यापक परमात्मा को अपना स्वरूप जान कर मरने पर व्यापक ब्रह्म से एकमेक हो प्रतिष्ठित होते हैं ॥ ५ ॥"

'एनम्' (प्रकृत) आत्मा को 'सम्प्राप्य' ठीक तरह समझ कर 'ऋषयः' जानने वाले उस ज्ञान से ही तृप्त[2] होते हैं, शरीर फुला देने वाले[3] तृप्ति के बाहरी[4] साधनों से नहीं। 'कृतात्मानः' अपने आत्मा को परमात्मस्वरूप से अवस्थित कर लिया है जिन्होंने ऐसे होते हुए वे 'वीतरागाः' रागादिदोषरहित (और) 'प्रशान्ताः' (विषयों से) उपरत (विमुख) इन्द्रियों वाले हो जाते हैं। इस प्रकार हुए वे 'धीराः' अत्यन्त विवेकी 'युक्तात्मानः' सदा एकाग्रचित्त रहने के स्वभाव वाले 'सर्वतः' हर तरह से[5] 'सर्वगम्' आकाश की तरह सर्वव्यापक (परात्पर तत्त्व को) समझ कर—किसी उपाधि से सीमित एक स्थान में[6] (समझ कर) नहीं; तब कैसे (समझ कर)? उस अद्वितीय व्यापक तत्त्व को अपना स्वरूप समझकर शरीर छूटने के समय भी[7] 'सर्वम्' सर्वव्यापक ब्रह्म से एकमेक हो प्रतिष्ठित हो जाते हैं। जैसे घड़ा फूटने पर जो घड़े

---

१. भाष्य में 'प्राप्य = प्रतिपद्य···शरीरपातकालेऽप्याविशन्ति' ऐसी योजना होने से प्राप्ति = समझ जीवित रहते ही बतायी है। 'ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति' (बृ० ४.४.६) आदि। श्रुतियाँ इसमें प्रमाण हैं।

२. तृप्ति=इच्छा-समाप्ति।

३. स्थूल भोजनादि साधन स्पष्ट ही शरीर फुला देते हैं। अन्य विषय भी चित्त में संस्कार डालकर सूक्ष्म शरीर को फुला देते हैं।

४. अर्थात् आत्मा से पराक्। 'आत्मक्रीड' आदि को ही समझ लेना चाहिए।

५. केवल दैशिक व्याप्ति की व्यावृत्ति समझनी चाहिए। अथवा, 'व्यापक तत्त्व को हर जगह समझ कर' यह अर्थ है।

६. यदि अपने से भिन्न समझें तब भी सीमित ही समझा कहा जायेगा।

७. इससे पता चलता है कि पूर्वोक्त समझना जीवित काल में है।

से उपहित[1] आकाश था वह महाकाश से[2] एकमेक हो प्रतिष्ठित हो जाता है वैसे ही ब्रह्मवेत्ता अविद्या से होने वाली[3] (अविद्या या[4] अन्तःकरण-रूप) उपाधि से प्रतीयमान सीमितता–उपहितता–छोड़ देते हैं[5] और ब्रह्मस्वरूप से एकमेक हो प्रतिष्ठित हो जाते हैं ॥ ५ ॥

और भी[6]

"उपनिषत् से जिसका अनुभव होता है उस ब्रह्म का 'यह मैं ही हूँ' ऐसा जिन्होंने अकम्प निश्चय कर लिया है, सर्वकर्मत्यागपूर्वक केवल-ब्रह्मनिष्ठारूप योग करने से जो यत्न करने वाले कहे जाते हैं[7], शुद्ध चित्त वाले[8] वे सभी जो जीवित अवस्था में ही परम-अमृतरूप हैं, अपने उस अन्तकाल में जिसके बाद पुनः अन्तकाल (मरण) होना नहीं[9],

---

१. घड़े से सीमित प्रतीत होने वाला ।

२. निःसीम आकाश से । यद्यपि हर समय था वही आकाश तथापि पूर्व में भेदप्रतीति थी, अब नहीं है ।

३. अविद्या भी अविद्या से ही उपाधि बनती है : 'मोहं च कार्यं च बिभर्ति मोहः' (सं० शा० १.५५) ।

४. प्रकृतटीकाकार की प्रक्रिया से मायैकदेश अज्ञान समझ सकते हैं । विदेह-मोक्ष को दृष्टि में रख स्थूलशरीर भी समझ लेना चाहिए ।

५. ब्रह्मवेदन से—यह समझना चाहिए ।

६. आत्मप्राप्ति में प्रमाण की विशेषता तथा जीवन और उसकी समाप्ति से अन्तर न पड़ना बताने के लिए उत्तर मन्त्र है ।

७. यद्यपि इनके सभी यत्न समाप्त हो चुके तथापि यत्न करने वाले संन्यासियों में जैसे कर्मत्यागपूर्वक ब्रह्मनिष्ठा रहती है वैसे इनमें भी रहती है अतः गौणीवृत्ति से इन्हें भी यत्न करने वाला कहते हैं । वे दोनों साधकों में सप्रयास रहते हैं तथा सिद्धों में अनायास ।

८. अथवा रजः व तमः द्वारा अनभिभूत शुद्धसत्व अपने स्पष्ट ज्ञान व निरतिशय सुखरूप कार्यों से जिनमें जाना जा सकता है उन्हें 'शुद्धसत्वाः' कहा ।

९. क्योंकि पुनः जन्म नहीं होना । वस्तुतः इसलिए क्योंकि यह निश्चित हो चुका है कि जन्म या मरण तीनों कालों में है ही नहीं । उपनिषद्योगी तो —परमात्मा का अपने से भिन्न प्रतीत होने का अन्त जो ला देता है वह सम्यग्ज्ञान परान्तकाल है, उसके होने पर—यह अर्थ करते हैं । 'स्वाति-

हर तरह से[1] मुक्त होते हैं—ब्रह्मरूप में स्थित होते हैं ॥ ६ ॥"[2]

उपनिषत्-श्रवण से उत्पादित अनुभव वेदान्तविज्ञान है, उसका विषयभूत अर्थ है परमात्मा, उस परमात्मरूप अर्थ का जिन्हें ('यह मैं ही हूँ ऐसा) निश्चय है वे वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्थ[3] हैं, और वे 'संन्यासयोगात्' सभी कर्मों के ससाधन त्यागरूप योग से तथा एकमात्र ब्रह्म में हर तरह स्थित रहनारूप[4] योग से 'यतयः' यत्न करने के स्वभाव वाले[5] हैं। (एवम्) त्यागपूर्वक ब्रह्मस्थिति से जिनका चित्त शुद्ध[6] हो चुका है ऐसे वे 'शुद्धसत्त्वाः' शुद्ध चित्त वाले हैं। संसारी लोगों के जो मरणकाल होते हैं वे अपरम-अन्त हैं (परम = चरम अंत नहीं, उसके बाद अगले जन्म में फिर अन्त होना है), उनकी अपेक्षा मुमुक्षुओं का[7] प्रारब्धसमाप्ति पर देह छोड़ने का काल परम अन्तकाल

रेकेण यत् परम् अन्यदिव भाति तस्य अन्तम् = अवसानं यस्माज्ज्ञानं कलयति स परान्तकालस्तस्मिन्'।

१. आवरण तो पूर्व ही नष्ट हो चुका था, विक्षेप भी नष्ट हो चुकता है।

२. जिस मत में यहाँ क्रममुक्ति का प्रतिपादन है उस मत में 'सुनिश्चितार्थाः' से वे समझने होंगे जिन्होंने त्वंपदार्थ का शोधन कर लिया है। (द्र० भारत भावदीप गीता ८.५)।

३. 'निष्ठा' (२.२.३६) की दृष्टि से सुनिश्चितवेदान्तविज्ञानार्थ—यह लौकिक प्रयोग बनेगा।

४. प्रतीति से परिवर्तन न पाने वाला 'मैं उक्तस्वरूप ब्रह्म हूँ' ऐसा अनुभवात्मक निश्चय विवक्षित है।

५. अर्थात् कर्मत्याग व ब्रह्मनिष्ठा से भिन्न कोई यत्न नहीं है। वे भी यत्न नहीं रह गये हैं, यह बात दूसरी है।

६. राग-द्वेष ही चित्त की अशुद्धि है। वे दोनों निवृत्त हो चुके हैं। अथवा, पहले चित्त आत्मा से मिला हुआ ही दीखता था, अब उसे साफ कर दिया है—अकेला वही दीखता है, आत्मा उससे मिला—एक हुआ नहीं दीखता यह भाव है।

७. भूतपूर्वगति से मुमुक्षुवचन समझना चाहिए। अर्थात् जो पहले मुमुक्षु थे और संन्यासयोग से यत्नपूर्वक शुद्धसत्व हो जिन्होंने वेदान्तविज्ञानार्थ का सुनिश्चय कर लिया है।

है (क्योंकि फिर जन्म न होने से मरणकाल आना नहीं) उस परान्त-काल में ब्रह्मलोकों में—जो ब्रह्म ही लोक[१] है उसे ब्रह्मलोक कहा, वह एक रहते हुए भी क्योंकि साधक बहुत हैं इसलिए मानो अनेक हो ऐसा प्रतीत होता है[२] या अनेक है ऐसा मानकर प्राप्त किया जाता है[३] इसलिये 'ब्रह्मलोकों में' ऐसा बहुवचन प्रयुक्त है—अर्थात् ब्रह्म में 'ते परामृताः'[४] वे जिनका परम व अमृत—मरना जिसकी विशेषता नहीं—ब्रह्म आत्मरूप है परामृत (कहाते हैं, अर्थात्) जो जीवित रहते ही ब्रह्म हुए रहते हैं (वे) सब परामृत (अपने परान्तकाल में ब्रह्म में) 'परिमुच्यन्ति' 'परि' अर्थात् हर तरफ से छूट जाते हैं; जैसे बत्ती के कारण होने वाली सीमितता नष्ट हो जाने पर दीपक व्यापक तेजोमात्र-रूप हो जाता है वैसे (इनका भी ब्रह्मरूप होना है) यह बताते हैं—दीपक के मोक्ष की[५] तरह और[६] घट से सीमित आकाश के मोक्ष की

---

१. जिसका अवलोकन—अनुभव—किया जाये वह लोक कहाता है अतः स्वयं अनुभवरूप होने से ब्रह्म को लोक कहा ।

२. साधकावस्था में हर साधक अपनी दृष्टि से ब्रह्म को देखता है अतः यद्यपि वह एक है तथापि हर साधक की दृष्टि से एक एक ढंग का दीखने से मानो अनेक हो ऐसा प्रतीत होता है ।

३. देवदत्तरूप साधक यज्ञदत्त का स्वरूप तो बनना नहीं चाहता अतः वह ऐसा मानता है कि एक यज्ञदत्त का स्वरूपभूत ब्रह्म है जिसे वह प्राप्त करेगा व एक मेरा स्वरूपभूत ब्रह्म है जिसे मैं प्राप्त करूँगा । इस प्रकार ब्रह्म को अनेक मानकर उसे प्राप्त करते हैं । वस्तुतः उपनिषत् ने ब्रह्म नहीं ब्रह्मलोक में बहुवचन रखा है । तात्पर्य है कि ब्रह्म की लोकरूपता—ब्रह्म को विषय करने वाले जो अनुभव होते हैं वे अनेक हैं क्योंकि साधक अनेक हैं ।

४. ते ब्रह्मलोकेष्विति प्रतीकस्थस्य त इतिपदस्य परामृता इति प्रतीकपार्श्व आकर्षणमौचित्यात् ।

५. दीपक 'बुझने' पर नष्ट नहीं होता, व्यापक तेजस्तत्त्व में 'लीन' हो जाता है । ऊर्जा का नाश तो हो ही नहीं सकता । यह दृष्टान्त का भाव है ।

६. सीमित का असीम से एक हो जाना घटाकाश दृष्टान्त में दीपक दृष्टान्त की अपेक्षा स्पष्ट है । शंका होती है कि आकाश पहले-पीछे प्रतीत होता रहता है, केवल घटीयता की प्रतीति होती और निवृत्त हो जाती है पर ऐसे ब्रह्म में सीमितता ही प्रतीत होती हो ऐसा नहीं, एक स्वतन्त्र व्यावहारिक जीव-

तरह 'परिमुच्यन्ति' 'परि' अर्थात् हर तरफ से मुक्त हो जाते हैं, उन्हे गन्तव्य किसी अन्य स्थान (को पहुँचने) की कोई आवश्यकता नहीं होती। 'जैसे आकाश में पक्षियों के और जलमें जलचर के पैर अर्थात् पैर रखने से पड़ी छाप नहीं दीखते क्योंकि होते ही नहीं. वैसे ही आत्म-ज्ञान वालों का (कहीं स्वर्गादि लोक को) जाना नहीं दीखता (क्योंकि होता ही नहीं)' (महाभा० शां० २३९.२४); 'मार्गों को पार कर चुकने के इच्छुक मार्ग-रहित हो जाते हैं' (   ) अर्थात् संसार में घुमाते रहने वाले मार्गों के जो पारयिष्णु होते हैं, उन्हें समाप्त करने की इच्छा करते हैं अतः उनकी समाप्ति चाहने वाले होते हैं वे ऐसे हो जाते हैं जिनके लिए किसी मार्ग की आवश्यकता ही नहीं रहती—इन स्मृति व श्रुतियों से (यह स्पष्ट है कि मुक्त को अन्य देश में नहीं जाना पड़ता')। युक्ति के अनुसार भी यहीं मोक्ष होता है यही कहना चाहिए यह समझाते हैं—देश से सीमित गति (= प्राप्ति) संसार में ही होती है क्योंकि वह सीमित साधनों से होती है। ब्रह्म तो सर्वव्यापक है अतः किसी देश में (स्थान में) स्थित हुआ ब्रह्म पाया जा सके यह सम्भव नहीं (क्योंकि ब्रह्म किसी स्थान में बंधा है ही नहीं)। यदि ब्रह्म किसी स्थान से सीमित हो तो (अन्य) ससीम (अर्थात् क्रिया वाले) द्रव्य (कम से कम, परिमाणगुण के आश्रय) की तरह जन्म और नाश वाला, अपने से भिन्न किसी के अधीन सत्ता-स्फुरत्ता वाला, टुकड़ों वाला, कुछ ही समय रहने वाला और किसी के द्वारा बनाया हुआ होगा। किन्तु ब्रह्म इस प्रकार का हो नहीं सकता[२]। अतः उसकी प्राप्ति भी किसी स्थानविशेष से सीमित हो (किसी ही जगह पहुँचकर हो सके) यह युक्तिसंगत नहीं। यह भी बात है कि अविद्या से उत्पन्न (कर्तृत्वादि) संसाररूप बन्धन की आत्यंतिक निवृत्ति को ही ब्रह्मवादी मोक्ष मानते हैं, उत्पन्न होनेवाला (ब्रह्म-सम्बन्ध, लोकप्राप्ति आदि) नहीं; (और अविद्यानिवृत्ति से देश-विशेष की प्राप्ति सम्भव नहीं[३]) ॥ ६ ॥

में—प्रतीत होता है, वह कैसे ब्रह्म में लीन होगा ? इसके निवारणार्थ दीपक का दृष्टान्त है।

१. ब्र० सू० ३.३.२९; ४.२.१२; आदि दर्शनीय हैं।

२. क्योंकि तब वह अब्रह्म ही होगा।

३. क्योंकि प्राप्ति गति की अपेक्षा रखती है।

और भी, विदेहमोक्ष होते समय[1]—

"प्राण आदि पन्द्रह[2] कलायें अपने-अपने कारणों में लीन हो जाती हैं और इन्द्रियादि में स्थित सब देवता अपनी प्रतिष्ठाभूत समष्टि देवताओं में लीन[3] हो जाते हैं। अप्रवृत्तफलक कर्म और बुद्ध्युपाधिक आत्मा—ये सब परम अविनाशी शिव में एक हो जाते हैं॥ ७॥"

देह का प्रारम्भ करने वाली[4] जो प्राण आदि कलायें हैं वे अपनी-अपनी प्रतिष्ठा में अर्थात् अपने-अपने कारण में 'गताः' चली जाती हैं, यह अर्थ[5] है। 'अपने कारणों को चली जाती हैं' इस प्रकार महाभूतों के अंशों का[6] तथा महाभूतों के कार्यों का[7] महाभूतों में लय होता

---

१. अर्थात् जीवन्मुक्त की मृत्यु के समय।

२. प्राण, श्रद्धा, पांच महाभूत, इन्द्रियाँ, मन, अन्न, वीर्य, तप, मन्त्र, कर्म, लोक और नाम—ये कलाएँ प्रसिद्ध हैं (प्र० ६.४)। प्राण को वायु से या मन को इन्द्रिय से गतार्थ मानकर यहाँ पन्द्रह कह दिया है। कुछ व्याख्याता नाम का यहाँ अपरिगणन मानना चाहते हैं क्योंकि नाम बाद में भी चलता रहता है तथा नाम को नामी से भिन्न व्यक्तियों की अविद्या का कार्य स्वीकारने से उसका बचना संगत मानते हैं। किन्तु जैसे भूतादि लीनावस्था में ही बचे रहते हैं ऐसे नाम भी बचा रहे तो कोई विरोध न होने से उसे यहाँ छोड़ना विवक्षित मानना युक्त प्रतीत नहीं होता। इस विषय में बृ० ३.२.१२ का भाष्यादि भी देख लेना चाहिये। 'षोडशकलाःपुरुषायणाः' (प्र० ६.५) में कलाओं को पुरुष में लीन होने वाला स्वयं विद्वान् की दृष्टि से कहा है जबकि यहाँ उनका स्वकारणों में लय अज्ञों की दृष्टि से कहा है अतः विरोध नहीं। 'तानि परे तथा ह्याह' (ब्र० सू० ४.२.१५) में यह विषय विचारित है।

३. तात्पर्य है कि उपकार्य न रह जाने से देवता उपकार बन्द कर देते हैं। यही देवताओं का लय है। उनकी इन्द्रिय-स्थिति भी यही है कि वे इन्द्रियों पर उपकार करते हैं।

४. स्थूल-सूक्ष्म-संघात जिनके कारण कार्यादि करने योग्य आयतन बना रहता है।

५. 'गताः' से ऐतिह्य नहीं कहा जा रहा किन्तु शाश्वत नियम बताया जा रहा है यह 'भवन्ति' का अध्याहार कर समझाया इसलिये 'इत्यर्थः' कहा।

६. पुर्यष्टक में महाभूतों का भी परिगणन है।

७. इन्द्रियादि सभी कार्य जानने चाहिये।

है यह बता दिया। (श्रुति में!) 'प्रतिष्ठाः' यह शब्द द्वितीया विभक्ति के बहुवचन में है[१]। 'पञ्चदश' गिनती में (कुल) पन्द्रह, जो अन्तिम प्रश्न में—ब्राह्मणभाग के (प्रश्नोपनिषत् के) छठे प्रश्न में प्राणादि जो कलायें साफ गिन दी गयी हैं वे प्रसिद्ध[२] (कलायें अपने कारणों में चली जाती हैं)। तथा देह में रहने वाले आँख आदि (ज्ञान या क्रिया के) साधनों पर (उपकार करते हुए) स्थित सभी देवता आदित्यादि अपने प्रतिष्ठाभूत देवताओं में चले जाते हैं, यह अर्थ है। प्रत्येक जीव के अपने-अपने जो प्राणादि उत्पन्न होते हैं वे हर जीव के पुण्य-पाप से सहकृत हर जीव के जो सूक्ष्म महाभूत हैं, जो कि जीवों की अपनी-अपनी अविद्या के कार्य हैं, उनसे उत्पन्न होते हैं, वे सूक्ष्म-महाभूत माया के कार्य समष्टिमहाभूतों के अंश होने से अपने अंशी पर आश्रित होते हैं[३]। कर्मों का फल भोगा जाये इसके लिए आदित्यादि देवताओं द्वारा वे प्राणादि अधिष्ठित[४] होते हैं। भोगे जा

१. प्रतिष्ठाभूत कलायें—ऐसा अन्वय भ्रमवश न हो इसलिए बताया।

२. प्रायः सब शास्त्रैकगम्य नहीं।

३. जैसे कपड़े के रंग का समवायी कपड़ा है और उसके तत्तद् अंश में जो रंग है उसका समवायी तत्तद् अंशभूत धागा है। या बर्तन के समग्र दूध से सारा दही बनता है और एक-एक बूंद दूध से उतना-उतना दही बनता है। ऐसे ही माया से समष्टि महाभूत बने और माया की एकदेश जो जीवों की अविद्यायें उनसे महाभूतों के वे अंश बने। क्योंकि वे अंश हैं अपने अंशी महाभूत के इसलिये उन्हीं के आश्रित हैं ऐसा कहा, अंश का अंशी पर आश्रित रहना प्रसिद्ध है। अनुभूतिस्वरूपाचार्य की इस प्रक्रिया से मुक्त के मरने के बाद हमें उपलब्ध होते जगत् की व्यवस्था सुगम हो जाती है। टीकोक्त 'भूतसूक्ष्मैः' से 'सूक्ष्मभूतैः' ही समझना चाहिये।

४. ऐतरेयकादि में देवताओं का करणादि रूप से शरीर में प्रवेश और प्रकृतादि स्थल में उनका निकलना बताया है। देवता करणभाव को प्राप्त हों यह संभव नहीं क्योंकि देवता चेतन हैं व करण जड। अतः देवता व करण का अधिष्ठातृ-अधिष्ठेयभावरूप सम्बन्ध ही श्रुति में विवक्षित हो सकता है। देवता की उपलब्धि करण से पृथक् रूप में नहीं होती और देवता से अधिष्ठित हुए बिना करण कुछ कर नहीं पाता इसलिये 'देवता करण हो गया' ऐसा दोनों का अभेद कह दिया है। यद्यपि तन्त्रान्तर में तन्निष्ठक्रियाजनक, तन्निष्ठ-

चुकने से कर्मों की[1] समाप्ति होने पर वे देवता अपने स्थानों को लौट जाते[2] हैं। जो तो[3] (मुक्तों की) अपनी-अपनी अविद्या का कार्य है

व्यापारजनकज्ञानजनक, तन्निष्ठज्ञानवत्त्वसम्पादक, या तद्भिन्न तज्जन्यकार्योपधायक (=कारण) को अधिष्ठाता कहा गया है (द्र० रामरुद्रीय, श्लो० ४७) तथापि प्रकृत स्थल में करणों की प्रवृत्ति के ठीक पूर्व जो उनके स्वरूप और उनसे साध्य प्रयोजन को जानकर उन्हें प्रेरित करता है उसे अधिष्ठाता कहते हैं। अमलानन्दस्वामी ने यही बताया है 'अधिष्ठातृत्वं तु—अधिष्ठानानन्तरपूर्वक्षणे अधिष्ठेयस्वरूप-तत्साध्यप्रयोजनज्ञानपूर्वकं तत्प्रेरकत्वम्' (कल्प० पृ० ६४५)। यद्यपि बहुधा यह काम जीव से सम्पादित हो जाता है तथापि कदाचित् अनचाहे दुर्गन्ध आदि के ज्ञान होते हैं जिनके लिये जीव को प्रेरक माना नहीं जा सकता अतः कोई अन्य प्रेरक मानना होगा जो श्रुत्युक्त तत्तद् देवता ही हो सकते हैं। अप्रेरित इंद्रियाँ तो जड होने से कार्य कर नहीं सकती। कर्मफलभूत सुखादिभोग कराने के लिये देवता प्रेरणा दे दिया करते हैं। उक्त प्रेरणा को ही उपकार शब्द से कहा जाता है। 'ज्योतिराद्यधिष्ठानन्तु तदामननात्' (२.४.१४) सूत्र में इस विषय पर चर्चा है।

१. प्रारब्धेतर का तो दर्शनमात्र से समापन 'कर्माणि क्षीयन्ते तस्मिन् दृष्टे' (२.२.८) कहा जा चुका है। यहाँ प्रारब्ध का समापन कहा जा रहा है।

२. अर्थात् उन करणविशेषों को प्रेरित करना बन्द कर देते हैं। फलभोग के लिये ही प्रेरित करते थे, फल बचा नहीं अतः प्रयोजन न होने से प्रेरणा नहीं करते। अपने स्वरूप से तो बने ही रहते हैं अतः कहा 'लौट जाते हैं'। बृहद्भाष्य में (४.४.२ पृ० ३४९ M.R.I.) कहा है 'आदित्यांशो भोक्तुः कर्मणा प्रयुक्तो यावद्देहधारणं तावच्चक्षुषोऽनुग्रहं कुर्वन्वर्तते। मरणकाले स्वस्य चक्षुरनुग्रहं परित्यजति स्वमादित्यात्मानं प्रतिपद्यते'। सूत्रभाष्य में 'अग्न्यादिगतिश्रुतेरितिचेन्न भाक्तत्वात्' (३.१.४) की व्याख्या में भी कहा है 'वागाद्यधिष्ठात्रीणामग्न्यादिदेवतानां वागाद्युपकारिणीनां मरणकाले उपकारनिवृत्तिमात्रमपेक्ष्य वागादयोऽग्न्यादीन् गच्छन्तीत्युपचर्यते'।

३. देवतादि मायामय वस्तुओं की व्यावृत्ति के लिये 'तो' है। च = तु। यद्यपि महाभूतों को भी अपनी-अपनी अविद्या का कार्य बताया था तथापि वे समष्टि भूतों के अंश थे अतः वे तो अंशी से एक होकर बच जाते हैं। जो केवल अविद्यामय हैं उनका ब्रह्म में लय है। एवं च मायाप्रयुक्तत्वेन मायैकदेशाविद्याप्रयुक्तत्व वाली वस्तुओं का बचना और अविद्याप्रयुक्तत्वेन तदंशिमाया-

वह सारा ब्रह्मरूप ही हो जाता है, यह बताते हैं—और मुमुक्षु द्वारा[1] किये वे कर्म जिन्होंने फल दिया नहीं है (परब्रह्मरूप अधिष्ठानमात्र हो जाते हैं)—जिन्होंने फल दे दिया है[2] उनका तो भोग से ही समापन हो चुका है अतः (वे हैं ही नहीं कि उनका कहीं लय बताया जाये); तथा विज्ञानमय आत्मा (परब्रह्मरूप अधिष्ठानमात्र हो जाता है) : अविद्या से बनी बुद्धि आदि उपाधि को 'यह (या ऐसा) ही मैं हूँ' ऐसा मान कर संसार में विभिन्न शरीरों में[3] जो वैसे ही घुसा है जैसे जल आदि में सूर्य आदि का प्रतिबिम्ब घुसता है वह क्योंकि बुद्धि आदि से विविक्त अपने स्वरूप को नहीं जानता इसलिए विज्ञानशब्दित बुद्धि को ही प्रायः अपना स्वरूप समझने से विज्ञानमय (कहा गया) है; कर्म उसे[4] फल भुगवाने के लिए हैं अतः उसी विज्ञानमय आत्मा के साथ (वे भी अधिष्ठानमात्ररूप हो जाते हैं)। वे ये सब—कर्म और विज्ञानमय आत्मा, बुद्ध्यादि[5] उपाधि के समाप्त हो जाने पर परम, 'अव्यये' अनन्त, कम न होने वाले, आकाश की तरह (व्यापक), जन्मरहित, जरारहित, उच्चावचभावशून्य (परिवर्तनशून्य), मृत्युरहित, भयरहित, कारणरहित, कार्यरहित, प्रत्यक्तम, भेदरहित, शान्त, शिव[6], ब्रह्म में 'एकीभवन्ति' अविशेषता को प्राप्त होते हैं अर्थात् एक हो जाते हैं। जैसे[7] जल आदि रूप आधार के न रहने पर सूर्यादि के

प्रयुक्तत्व वाली वस्तुओं का अविद्यासमाप्ति से अधिष्ठानमात्र हो जाना यह व्यवस्था सुबोध्य है।

१. मुमुक्षु होने से पूर्व, उत्तर तथा मुक्त होने के बाद किये वे कर्म जिनका फल नहीं भोगा है, अर्थात् संचित व आगामी कर्म।
२. प्रारब्ध एवं पूर्वोपभुक्त दोनों समझ लेने चाहिये।
३. नाना योनियों में स्थूल-सूक्ष्म शरीरों में।
४. विज्ञानमय आत्मा को।
५. प्रारब्धरूप उपाधि को भी समझना चाहिये।
६. 'ईशानो भूतभव्यस्य' (कठ० २.४.१३) आदि श्रुति व 'शब्दादेव प्रमितः' (१.३.२४) आदि न्याय से भगवान् शङ्कर की ही परमेश्वररूपता वैदिकों को स्वीकार्य है।
७. वस्तुतः भिन्न न होकर अवस्तुतः ही अभिन्न होने में दृष्टान्त हैं। पूर्वमन्त्रस्थ-भाष्योक्त दृष्टान्तों की तरह ही यहाँ भी दोनों का सार्थक्य है।

प्रतिबिम्ब सूर्यादि अपने बिम्बों में (एक हो जाते हैं) या घटादि न रहने पर घटादि से सीमित आकाश महाकाश में (एक हो जाते हैं, वैसे ही विज्ञानमय आत्मा अपने कर्मों सहित शिव में एक हो जाता है) ॥ ७ ॥

ओर भी[1]—

"जैसे बहती हुई नदियाँ समुद्र में पहुँच अपने-अपने नाम-रूप को छोड़ एक हो जाती हैं, वैसे नाम-रूप से सर्वथा छूट चुका ब्रह्मज्ञ अक्षर से भी परम दिव्य पुरुष से एक हो जाता है ॥ ८ ॥"

जैसे 'स्यन्दमानाः' बहती हुई गंगा आदि नदियाँ 'समुद्रे' समुद्र को प्राप्त कर 'नामरूपे' (अपने-अपने गंगा, यमुना आदि) नामों व (श्वेत, कृष्ण आदि) रूपों को 'विहाय' छोड़कर 'अस्तम्' (भिन्न-भिन्न) नहीं दीखती, एकस्वरूपता 'गच्छन्ति' पा जाती हैं, वैसे ही अविद्या के कार्य नाम और रूप से सर्वथा छूटा हुआ ब्रह्मज्ञ 'परात्' पूर्वोक्त[2] अक्षरतत्त्वसे भी परम (जो) दिव्य और पहले[3] जैसा बताया वैसे स्वरूप वाला पुरुष (है) उसे 'उपैति' अभेदेन[4] प्राप्त कर लेता है ॥ ८ ॥

शंका होती है कि यह प्रसिद्ध है कि कल्याणप्राप्ति में अनेक विघ्न होते है अतः क्लेशों[5] में किसी (एक या अधिक क्लेश) के द्वारा अथवा देव आदि किसी के द्वारा विघ्न डाल दिया गया होने से ब्रह्मवेत्ता भी

---

१. 'एकीभवन्ति' से शंका होती है कि जैसे सर्प रस्सी से एक होता है तो सर्प नहीं रह जाता ऐसे यदि हम भी परमात्मा से एक होंगे तो हम रह नहीं जायेंगे। इस शंका को हटाने के लिये और भी एक मंत्र है यह तात्पर्य है। समुद्र में जल रह न जाता हो ऐसा कुछ नहीं। ऐसे ही हम न रहेंगे—यह नहीं। कुछेक पाश्चात्यों ने इसी शंका से वेदान्त से भय खाया है किन्तु स्वरूप की अपेक्षा नामरूप में राग के कारण ही यह भय है।

२. २.१.२।

३. १.१.६; २.२.९–११; ३.१.७ आदि समग्र उपनिषत् में।

४. उप = समीप। अभेद ही निरवच्छिन्न समीपता है। नदियाँ समुद्र से अभिन्न हो जाती हैं व उनका आपसी भेद भी नहीं रहता।

५. अस्मिटादि समझने चाहिये।

मरा हुआ किसी अन्य गति[1] को जाता है, ब्रह को ही जाये[2] ऐसा नहीं (— यह सम्भव है) । (किन्तु यह शंका संगत) नहीं, क्योंकि ब्रह्मज्ञान से ही[3] (परममोक्ष के) सभी प्रतिबन्धक हटा दिये जा चुकते हैं। मोक्ष अविद्या से केवल प्रतिबद्ध है[4], अन्य कोई प्रतिबन्धक[5] उसका नहीं। नित्य व आत्मस्वरूप होने से भी (मोक्षलाभ में अविद्येतर प्रतिबन्ध सम्भव नहीं) । इसलिये—

"संसारमें जो कोई भी उस परम ब्रह्म को 'यह मैं ही हूँ' ऐसे अपरोक्ष जानता है वह ब्रह्म ही होता है। उसके कुल में कोई ऐसा नहीं होता जो ब्रह्म को न जाने। वह शोक और धर्माधर्म से परे हो जाता है। हृदयग्रन्थियों से छूटा हुआ अमृत हो जाता है ॥ ९ ॥"

यह निश्चित तथा शास्त्रप्रसिद्ध है कि संसार में जो कोई भी[6] उस परम ब्रह्म को 'यह मैं ही हूँ' ऐसे साक्षात् (अपरोक्ष) जानता है वह आत्मातिरिक्त किसी गति को नहीं जाता, देवताओं द्वारा भी वह ब्रह्मरूप हो इसमें कोई विघ्न नहीं डाला जा सकता क्योंकि वह (ब्रह्म का उक्त जानकार) इन प्रसिद्ध देवताओं का भी स्वरूप है[7]। अतः ब्रह्म

१. प्राप्तव्य स्थान।

२. ब्रह्ममात्र रूप हो जाये।

३. जीवितकाल में ही।

४. मोक्ष उत्पन्न या प्राप्त नहीं होना है जो कोई प्रतिबंधक रुकावट डाले, वह तो अविद्या से प्रतिबद्ध ही है। अविद्या हटते ही नित्यसिद्ध है।

५. नान्यप्रतिबन्ध इति युक्तः पाठः।

६. इससे मनुष्यमात्र का ब्रह्मविद्या में अधिकार मानना संगत हो गया। मनुष्येतरों का भी अधिकार 'तदुपर्यपि बादरायणः संभवात्' (१.३.२६) में सिद्ध है। 'शुगस्य तदनादरश्रवणात् तदाद्रवणात् सूच्यते हि' (१.३.३४) से यद्यपि वेदपूर्वक अधिकार वेदानधिकारियों को नहीं तथापि इतिहास, पुराण, प्रकरणग्रन्थ आदि में वे भी अधिकृत हैं तथा उनसे ज्ञान पा सकते हैं। उपदेशसाहस्री को उपनिषत् बताते हुए स्वयं आचार्य ने कहा है— 'तस्मादज्ञानहानाय संसारविनिवृत्तये। ब्रह्मविद्याविधानाय प्रारब्धोपनिषत्त्वियम्' ॥ १.२५ ॥ अतः वेदाधिकारियों को तत्पूर्वक व तदनधिकारियों को पुराण-गीतादिपूर्वक ब्रह्मज्ञान में अधिकार शांकरमत में सिद्ध है।

७. बृ० बृ० १.४.१०।

का जानकार ब्रह्म ही होता है। और भी, 'अस्य' ब्रह्मज्ञानी के कुल में ऐसा कोई नहीं होता जो ब्रह्म को न जाने[1]। और भी, जीवित रहते ही यह 'शोकम्' इच्छित वस्तुओं के वियोग से होने वाले मानस सन्ताप से 'तरति' परे हो जाता है[2]। धर्म-अधर्मनामक पाप से भी परे हो जाता है[3]। 'गुहाग्रन्थिभ्यः' बुद्धिस्थ आविद्यिक वासनाबाहुल्य से छूटा हुआ[4] अमृत हो जाता है[5]। यह 'अविद्याजन्य बुद्धिस्थ सब वासनायें नष्ट हो जाती हैं' (२.२.८) इत्यादि ढंग से कहा जा ही चुका है ॥ ९ ॥

---

१. अर्थात् जो ब्रह्मवित् हैं वे ही उसके कुल में गिने जाते हैं, अन्य यद्यपि लौकिक दृष्टया उसके कुल में हों तथापि वस्तुतः उसके कुल में वे नहीं होते। 'सजातीयैः कुलम्' ऐसा अभिधान है। यहाँ ब्रह्मविविदिषुओं को भी ब्रह्मवित् कहा मानना चाहिए।

२. अर्थात् उसे सन्ताप नहीं होता। प्रथम तो इच्छा नहीं रहती तथा सर्वात्मा होने से उठी भी इच्छा अपूर्ण नहीं रहती 'यं यं लोकम्' (३ १.१०) से सत्यकामत्वादि कहा भी जा चुका है।

३. आत्मयाथात्म्य-विस्मरणरूप महापाप के अनन्तर ही धर्म भी हो सकने से धर्म भी पाप ही है। धर्माधर्म का उसे कोई बन्धन नहीं—धर्म करना ही चाहिये, अधर्म से बचना ही चाहिए ऐसा उसके लिए नियोग नहीं। 'आम्नायस्यापि तत्प्रभवत्वात्; नहि स्वविज्ञानोत्थेन वचसा स्वयम् नियुज्यते, नापि बहुवित् स्वामी अविवेकिना भृत्येन' (ऐ० भा० पृ० ६३३ M.R.I.) आदि भाष्य में यह विषय चिन्तित है। 'एतं ह वाव न तपति किमहं साधु नाकरवम्, किमहं पापमकरवम्' (तै० ब्र० ९) 'नैनं पाप्मा तपति' (बृ० ४.४.२३) (—पुण्यपालक्षणो न प्राप्नोति) आदि श्रुतियाँ इसमें प्रमाण हैं।

४. यद्यपि ज्ञान से अज्ञान निवृत्त हो चुका तथापि उसकी वासना—संस्कार, गन्ध, लेश—बचने से विक्षेप अनिवृत्त था, अब वह वासना भी समाप्त हो गयी—ऐसी व्याख्या अपुनरुक्ति के लिए कर लेनी चाहिए।

५. जैसे अमृत का सेवन करने से अमरता मिलती है ऐसे इसका सेवन अमरता देता है यह ध्वनित है। अमृत का शब्दार्थ है जो कभी मरा नहीं। ज्ञानी का अनुभव यह नहीं कि अब तक मैं मरता था व अब अमर हो गया किन्तु मैं कभी मरा नहीं—यह अनुभव होता है।

उपनिषत्के उपदेश के बाद अब (इस ग्रन्थ से) ब्रह्मविद्याका प्रदान हो इसके लिये (शिष्य को) जिस विधान से अनुष्ठान[1] करना आवश्यक है उसे दिखाते हुए ग्रन्थ का समापन किया जाता है—[अथवा— ब्रह्मविद्या प्रदान करनी चाहिए यह बताते हुए समापन किया जाता है—]

"इस विद्या को देने का विधान मन्त्रद्वारा बताया गया है—अपर-ब्रह्म के उपासक व परब्रह्म के जिज्ञासु वेदज्ञ जो विहित कर्मों के अनुष्ठाता होते हुए स्वयं श्रद्धान्वित हो एकर्षिनामक अग्नि में होम करते हैं तथा जिनके द्वारा शिरोव्रत का यथाविधि अनुष्ठान किया गया है, उन्हें ही इस ब्रह्मविद्या का उपदेश देना चाहिए ॥ १० ॥"

'तदेतत्' ज्ञान देने की विधि 'ऋचा' (इस) मन्त्र द्वारा 'अभ्युक्तम्' स्पष्ट बतायी गयी है। 'क्रियावन्तः' जैसा (उनके लिए शास्त्रद्वारा) कहा गया है (वैसा)[2] कर्मों का अनुष्ठान करने वाले, वेदज्ञ, 'ब्रह्मनिष्ठाः' अपरब्रह्म की उपासनों में संलग्न तथा परब्रह्म के जिज्ञासु जो स्वयं 'श्रद्धयन्तः' श्रद्धावान् होते हुए 'एकर्षिम्' एकर्षिनामक अग्नि में 'जुह्वते' होम करते हैं, शोधित चित्त वाले, (अतएव) विद्या-ग्रहण करने के योग्य हो चुके उन्हें ही अथर्ववेदियों को इस ग्रन्थद्वारा ब्रह्मविद्या के उपदेश की यह विधि है[3], यह, जिसका विषय चला है उसे बताने वाले 'एतत् (इस)'—शब्द से पता चलता है। क्योंकि यह सम्भव है कि इस विधि की सार्थकता इस ग्रन्थद्वारा विद्या देने में हो इसलिए[4] सभी

---

१. विधिरिति वैधं कर्म लक्ष्यते। यद्वा सम्प्रदानस्य विधिरित्यर्थो वदेतेति श्रवणात्।

२. जिज्ञासु होने से वे विविदिषन्तिविधि से प्रेरित हो कर्म करेंगे, कामना से प्रेरित होकर नहीं।

३. अतः अन्यवेदवालों के लिए इसके बिना भी इसका उपदेश हो सकता है।

४. 'तेषामेव ब्रह्मविद्यां वदेत' कहा होता तब तो ब्रह्मविद्या के प्रदानमात्र की यह विधि हो यह शंका होती किन्तु 'एताम्' यह ब्रह्मविद्या का विशेषण दे देने से इसका प्रकृत से ही सम्बन्ध होता है। यदि प्रकृत से सम्बद्ध हो विधि चरितार्थ न हो पाती तब भी इसका अन्यत्र गमन होता किन्तु वैसा भी नहीं है, यह तात्पर्य है।

ग्रन्थों से ब्रह्मविद्या के उपदेश के लिए यह विधि नहीं है, इसे सूचित करते हुए कहते हैं—इस ब्रह्मविद्या का 'वदेत' उपदेश देना चाहिए।[1] 'शिरोव्रतम्' सिर पर आग[2] रखना जिसका स्वरूप है वह अथर्ववेदियों का वेदव्रत जैसा[3] प्रसिद्ध है (वैसा ही शिरोव्रत कहाता है)। (योग्य हो चुके हों) तथा 'यैस्तु' जिनके द्वारा वह शिरोव्रत 'विधिवत्' जैसा विधान है वैसा अनुष्ठित हो चुका हो उन्हें ही (इस ग्रन्थपूर्वक ब्रह्मविद्या का उपदेश देना चाहिए)[4] ॥ १० ॥

"इस ग्रन्थ में प्रतिपादित प्रसिद्ध सत्य अक्षर पुरुष अंगिरा ऋषि ने बताया। जिसने व्रत का आचरण नहीं किया वह इसका अध्ययन न करे। परब्रह्म का साक्षात्कार करने वाले परम-ऋषियों को नमस्कार है; परम-ऋषियों को नमस्कार है ॥ ११ ॥"

('एतत्') इस ग्रन्थ में प्रतिपादित ('तत्') प्रसिद्ध सत्य अक्षर पुरुष अंगिरा नामक ऋषि ने 'पुरा' प्राचीन काल में शास्त्रोक्त विधि से ब्रह्म जानने के लिए निकट आये शौनक को, जिसने इसके विषय में

---

१. 'स्वाध्यायस्य तथात्वेन हि समाचारेऽधिकाराच्च सववच्च तन्नियमः' (३.३.३) सूत्र में सिद्धान्त किया है कि यहाँ बतायी विधि स्वाध्याय-विधि से अध्ययन करने वालों के लिए ही है: 'गोदानादीनि वेदाध्ययनांगत्वेनानुष्ठेयानि व्रतानि, शिरोव्रतमपि वेदव्रतेषु अन्तर्गतत्वेन उक्तं, तेन यथा गोदानादि अध्ययनांगं, तथा इदमपि' (न्या० नि०)। अतएव इसी ग्रन्थ से इसी विद्या की सफल प्राप्त करने के लिए अथर्ववेदियों को इन धर्मों का अनुष्ठान करना आवश्यक है।

२. पात्रस्थ अग्नि रखने से तात्पर्य है।

३. सम्प्रदायैकगम्यता सूचित की।

४. वदेतैवेति च सम्बन्धः, पात्रेऽदानस्य दोषत्वात्। यत्त्वपरब्रह्मनिष्ठगृहस्थानामेवेमं ग्रन्थं पाठयेदिति केषांचिट्टिप्पणं, तच्चिन्त्यम्, स्वाध्यायधर्मतया शिरोव्रतादेर्निश्चितत्वात्स्वाध्याये च अगृहस्थानामप्यधिकारात्। केचित्तु मुण्डकेति समाख्या शिरोव्रतानुष्ठानपूर्वकग्राह्यत्वादस्य ग्रन्थस्येति शिरोमुण्डयोरेकार्थतयाऽऽहुः। तथा च नारायणः 'शिरस्यग्निधारणव्रतादस्य ग्रन्थस्य मुण्डकोपाख्या प्रसिद्धे'ति। पौराणिकानां भस्मना सर्वांगोद्धूलनं शिरोव्रतम्। नव्यास्तु शिरश्छेदं सोढुं समर्थेनाध्येयत्वादिदं नामेति व्याकुर्वन्ति। शिरश्छेदश्चाहंकारबाध इति स्पष्टम्।

पूछा, बताया। तात्पर्य है कि (जैसे अंगिरा ऋषि ने बताया) वैसे अन्य भी (श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ आचार्य) कल्याण की कामना वाले[1], मुक्त होने की इच्छा वाले[2] तथा शास्त्रोक्त विधि से परमात्मा को जानने के लिए शास्त्रोक्त विधि से निकट आये शिष्य को[3] उसके मोक्ष के लिये[4] इस अक्षर पुरुष का उपदेश देवे। 'अचीर्णव्रतः' जिसने व्रत का[5] आचरण नहीं किया है वह भी इस ग्रन्थ का 'न अधीते' अध्ययन न करे[6]। जो व्रत का आचरण कर चुका है उसमें (इस ग्रन्थ द्वारा) उत्पन्न विद्या ही फल देने में समर्थ होती है क्योंकि उस विद्या का (वैध) संस्कार हो चुकता है[7]। इस प्रकार जिसका प्रतिपादन समाप्त हुआ वह ब्रह्मविद्या जिन ब्रह्मा आदि से[8] अनन्तरभावी शिष्यादि को प्राप्त होते हुए उन सब के व्यवधान से हमें भली प्रकार प्राप्त हुई है उन (ब्रह्मादि) परम-ऋषियों को नमस्कार है। जिन ब्रह्मा आदि ने परम ब्रह्म को बिना व्यवधान के[9] जाना और 'मैं ही ब्रह्म हूँ' ऐसे समझा[10] वे परम-ऋषि हैं, उन्हें पुनरपि नमस्कार है। दो बार कहना

---

१. इससे कुतूहलमात्रवश पूछने वाले को नहीं बताना चाहिए यह कहा।
२. इससे संसार से विरक्त को ही बताना चाहिए, यह कहा क्योंकि वही मुक्त होना चाहेगा। सरक्त तो कल्याण भी संसारान्तर्गत ही चाहेगा।
३. शिष्यभाव ग्रहण किये बिना विद्या दुर्लभ है।
४. अपराविद्या के बोधन के लिये नहीं।
५. प्रकरण से शिरोव्रत समझना चाहिये। ब्रह्मविद्यामात्र से सम्बन्ध करें तो सत्यादि व्रत जानने चाहिये।
६. अक्षरशः तो 'नहीं करता' कहा है, पर न पढ़े—इसी में तात्पर्य है।
७. आचरितव्रतनिष्ठता ही संस्कार समझना चाहिये।
८. मुं० १.१.१–३।
९. बृ० १.४.२ में बताया है कि उस आधिकारिक स्थिति में ब्रह्मा को परम्परा-व्यवधान के बिना ही ज्ञान हुआ था। अथवा गुणव्यवधान के निषेध में तात्पर्य है।
१०. बृ० १.४.१०।

उनके प्रति अत्यधिक आदर प्रकट करने के लिए और मुण्डकोपनिषद् की समाप्ति सूचित करने के लिए है ॥ ११ ॥

॥ इति तीसरे मुण्डक का दूसरा खण्ड व समग्र तीसरा मुण्डक ॥

इति मुण्डकोपनिषत्

॥ श्रीमद्गोविन्दपादाचार्य के शिष्य परमहंस परिव्राजकाचार्य श्रीशङ्करभगवत्पादकृत अथर्ववेदीय मुण्डकोपनिषत्का भाष्य समाप्त ॥

॥ श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्य श्रीमद् आनन्दज्ञान[1]-विरचित मुण्डकोपनिषद्भाष्य-व्याख्यान समाप्त ॥

नौमि श्रीदक्षिणामूर्त्ति शङ्करं च निजं गुरुम् ।
भाषायां लिखितो ह्यर्थो मुण्डकभाष्यटीकयोः ॥

---

१. ऐसा मुद्रितादि होने पर भी अनुभूतिस्वरूपाचार्यविरचितत्व प्रतीत होता है यह तत्र तत्र दिखाया जा चुका है ।

इति श्रीमन्महेशाख्यसद्गुरोश्चरणाब्जयोः ।
अर्प्यते भावमालेयं भाष्यटीकासुधाभिधा ॥
यच्चरणामृतपानादपरकाशोऽप्यपरकाशो जातः ।
तस्य भवेन्मम हृदये वासः श्रीदेशिकेन्द्रस्य ॥

श्रीविद्यारण्यस्वामिविरचित

चतुर्वेदविद्याप्रकाश में

मुण्डकोपनिषद्-विवरण

दक्षिणास्यं च भगवत्पादं विद्यामुनिं गुरुम् ।
नत्वा विद्याप्रकाशीयो मुण्डकार्थो वितन्यते ॥

अथर्ववेद की मुण्डकोपनिषत् में अंगिरा मुनि ने शौनक को जो ब्रह्मविद्या समझाई, उसे विस्तार से स्पष्ट कर इस छठे अध्याय में बताया जायेगा ॥ १ ॥ ब्रह्मा जी से प्रारम्भ होने वाले सम्प्रदाय के अंगिरा मुनि के पास शास्त्रविहित ढंग से जाकर शौनक ने उनसे पूछा—॥ २ ॥ 'वेदों में प्रसिद्ध है कि एक के जान लिये जाने पर सब जान लिया जाता है। वह वस्तु क्या है (जिसे जानने से सब ज्ञात हो जाता है), यह निश्चित कर[1] मुझे बताइये' ॥ ३ ॥ [अंगिरा मुनि ने उत्तर दिया-] सुनो—परा और अपरा, दोनों विद्याओं को समझ तो लेना चाहिये (किन्तु) जो तुम्हारे द्वारा पूछी गयी वस्तु है वह पराविद्या से समझ आती है ॥ ४ ॥ जिस बुद्धि द्वारा[2] छहों अंगों[3] सहित वेद समझे जाते हैं वह बुद्धि अपराविद्या है। उससे विलक्षण, ब्रह्माकार बुद्धि पराविद्या मानी गयी है ॥ ५ ॥ जिसका उपनयन हो चुका हो, उसके द्वारा सभी वेद[4] समझ[5] लिये जाने चाहिये, किन्तु उतने मात्र से ब्रह्मज्ञान नहीं होता। (अपने में) वैराग्य होने पर आचार्य के उपदेश से ब्रह्मज्ञान होता है ॥ ६ ॥ इस प्रकार दोनों विद्याओं की सफल प्राप्ति की[6] योग्यता भिन्न-भिन्न होने से पराविद्या वैदिक होती हुई भी (अपराविद्यान्तर्गत) वेद से अलग कर कह दी

---

१. अर्थात् विविक्त कर, असंकीर्णरूप से ।

२. बुद्धि के उत्पादक ग्रंथ भी समझ लेने चाहिए ।

३. शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द, ज्योतिष ।

४. कम से कम स्वशाखा ।

५. अक्षरावाप्ति के अनन्तर अर्थबोध करना चाहिये ।

६. ऐसी प्राप्ति जो उसके असाधारण फल को उत्पन्न कर सके। अयोग्य को प्राप्ति होकर भी फललाभ नहीं होता ।

गयी है। जैसे कहा जाता है 'ब्राह्मण और परिव्राजक खड़े हैं' (जबकि परिव्राजक भी होते ब्राह्मण ही हैं)[1] वैसे यहाँ भी कहा है ॥ ७ ॥ जिस अपराविद्या के उत्पादक ग्रंथों में कहे कर्मों को साधक करते हैं, कर्मों से चित्तशुद्धि पाते हैं, जो चित्तशुद्धि पराविद्या को उत्पन्न करने में कारण बनती है (वह अपराविद्या से पृथक् कही जाये यह संगत ही है) ॥ ८ ॥ पराविद्या से तो अक्षरपुरुष जाना जाता है जिसे जान लेने पर सारा जगत् जान लिया जाता है क्योंकि वह अक्षरपुरुष सर्वरूप[2] है ॥ ९ ॥ कर्म का ज्ञान उसके अनुसार किये बिना फलदायक नहीं होता जबकि ब्रह्मज्ञान कुछ किया जाये इसकी अपेक्षा किये बिना फल देता है। इसलिये ब्रह्मज्ञान को परा—श्रेष्ठ विद्या माना गया है[3] ॥ १० ॥

पराविद्या से जो जाना जाता है वह अक्षर है कैसा ? यदि यह प्रश्न करो तो (उत्तर है कि उसे यों) बताया जाता है—उसे ज्ञानेन्द्रियों से जाना नहीं जा सकता और न ही कर्मेन्द्रियों से विषय किया जा सकता है ॥ ११ ॥ न उसका काश्यप आदि कोई गोत्र है और न शुक्ल आदि कोई वर्ण। न उसकी कोई ज्ञानेन्द्रिय है और कर्मेन्द्रिय भी वैसे ही नहीं है (जैसे ज्ञानेन्द्रियादि नहीं है) ॥ १२ ॥ यह अक्षर पदार्थ[4] नित्य—सनातन—है क्योंकि उसके विनाश को बताया नहीं जा सकता[5]। वह विभु है क्योंकि सर्वस्वरूप होने से वह

१. 'एष वोऽभिहितो धर्मो ब्राह्मणस्य चतुर्विधः' (मनु० ७.९७) इत्यादि स्मृति-वचनों से स्मार्तसंन्यास में ब्राह्मण का ही अधिकार होने से 'ब्राह्मण खड़े हैं' कहने से परिव्राजक संन्यासी भी ब्राह्मणत्वेन कह ही दिये गये किंतु उनकी आश्रमश्रेष्ठता विशिष्ट होने से उन्हें आश्रमित्वेन पृथक् भी कहा जाता है। ऐसे ही परविद्या वेदान्तरूप होने से अपरविद्यान्तर्गत वेद के कह देने पर कह दी गयी किंतु वेदान्तेतर वेद के अधिकारी से विशिष्ट अधिकारी चाहने वाली होने से इसे पृथक् कहा। तात्पर्य है कि यह अवैदिक ज्ञान नहीं। दृष्टान्त 'ब्राह्मणपरिव्राजकन्याय' नाम से प्रसिद्ध है।

२. सबका स्वरूप।

३. यह स्वयं समर्थ है जब कि अपर स्वयं असमर्थ है।

४. शुद्ध तत्पदार्थ।

५. आत्मनाश निःसाक्षिक होने से अप्रामाणिक है।

नाना प्रकारों का (—'वि') हो जाता है (—'भु')॥ १३ ॥ वह आकाश की तरह सर्वव्यापक है अतः उसकी कोई देशकृत सीमा नहीं। नित्य होने से कालकृत और विभु होने से वस्तुकृत कोई सीमा उसकी नहीं ॥ १४ ॥ सर्वत्र विद्यमान अक्षर को भी जो इन्द्रियों से विषय न किया जा सकने वाला कहा वह उसकी सूक्ष्मता के कारण। माप में छोटा होना यहाँ सूक्ष्मता नहीं[1] किंतु आराम से[2] विषय न होना सूक्ष्मता है ॥ १५ ॥ हाथ से पकड़ा जा सकने वाला घड़ा स्थूल कहा जाता है व हाथ से न पकड़ी जाने वाली ध्वनि सूक्ष्म कहाती है। यदि कहो कि हाथ से न पकड़ा जाना तो ध्वनि का स्वरूप है (इसमें सूक्ष्मता क्या)? तो अक्षरपुरुष का भी यह स्वरूप ही है (कि वह अतीन्द्रिय है। यही उसकी भी सूक्ष्मता है, कोई धर्मविशेष नहीं) ॥ १६ ॥ जैसे धन खर्च हो जाता है (—समाप्त हो जाता है) वैसे यह अक्षर खर्च-कम-नहीं होता क्योंकि इसमें किसी तरह का परिणाम होना संभव नहीं। स्थावर-जंगम सभी प्राणियों का इसे जानकार लोग कारण मानते हैं ॥ १७ ॥ इस प्रकार बताये स्वरूप वाला जो है वह कूटस्थ[3] होने से अक्षर[4] है। वह जिस विद्या से जाना जाता है वह पराविद्या कही गयी है ॥ १८ ॥

(प्रश्न होता है कि) अक्षरपुरुष का संसारकारण होना युक्तियुक्त नहीं क्योंकि एक तो उसके सहायक अन्य साधन नहीं थे[5]; दूसरा, एक से अनेक का उत्पन्न होना असंभव है[6]; और तीसरा, चेतन से जड़ उत्पन्न हो यह संभव नहीं ॥ १९ ॥

(उत्तर है कि) जैसे मकड़ी किसी अन्य साधन की सहायता के बिना जाला उत्पन्न करती है और लीन भी कर लेती है, वैसे अक्षर की भी अन्य साधन की सहायता के बिना ही संसारकारणता है ॥२०॥

---

१. क्योंकि उसका माप तो अनन्त है।

२. शास्त्राचार्योपदेशसंस्कृतमन की अखण्ड वृत्ति से विषय होता है। शुद्ध की वृत्तिव्याप्यता सिद्धान्तप्रसिद्ध है।

३. निर्विकार।

४. जिसका क्षरण न हो वह व्यापक तत्त्व।

५. आत्मातिरिक्त साधन संसारान्तःपाती होने से तज्जन्य ही हैं।

६. भेद में निमित्त न होने से।

जैसे एक पृथ्वी से अनेक वृक्ष उत्पन्न होते हैं तथा जैसे जड केश चेतन शरीर से[1] उत्पन्न होते हैं वैसे अक्षर से अनेकाकार[2] व जड जगत् उत्पन्न हुआ ॥ २१ ॥

ब्रह्म से जगत् उत्पन्न होने में यह क्रम समझना चाहिये – आगे (श्लोक २३) बताये जाने वाले तप से ब्रह्म पहले फूल जाता है ॥ २२ ॥ जैसे अंकुर उत्पन्न करने वाला बीज जल से फूल जाता है वैसे जिसे उत्पन्न करना है उसके ज्ञान[3] वाला हुआ ब्रह्म (मानो) फूल जाता है ॥ २३ ॥

फिर उससे वह अन्न होता है जिसे भोग्यकोटि की वस्तुओं का अंकुर कहा जाता है। वह अव्यक्त जो व्यक्त होने की इच्छा[4] वाली स्थिति में है, यहाँ 'अन्न' कहा गया है ॥ २४ ॥ तदनन्तर अन्नावस्थ ब्रह्म से क्रियाशक्तिरूप प्राण और ज्ञान का साधन मन[5] एवं सत्य-नामक[6] स्थूल[7] पांचों महाभूत उत्पन्न हुए ॥ २५ ॥ उसके बाद भूमि आदि लोक, (उनमें होने वाले कर्म तथा) ज्योतिष्टोम आदि कर्मों के होने पर प्राप्य अमृतनामक[8] स्वर्गरूप फल; इस प्रकार सभी कुछ उत्पन्न हुआ ॥ २६ ॥

शंका होती है कि यदि अक्षर ब्रह्म ही जगत् के आकार का हो जाये तो विकार (परिणाम, बदलने) वाला हो जायेगा और यदि

---

१. शरीर काटने से दूखता है, यही उसकी चेतनता है; बाल काटने से दूखते नहीं, यही उनकी जडता है।
२. जैसे वृक्षों के बीज भेद के निमित्त हैं वैसे प्राणिकर्म निमित्त हैं।
३. ज्ञान ही तप है।
४. जड होने पर भी 'किनारा गिरा चाहता है' (कूलं पिपतिषति) की तरह अव्यक्त को इच्छा वाला कहा। वस्तुतः ईश्वरेच्छा अव्यक्त की ही अवस्था विशेष है जैसे मन की ही अवस्था विशेष (वृत्तिविशेष) हमारी इच्छा होती है।
५. समष्टि प्राण व मन से हिरण्यगर्भ कहा दिया।
६. सत् से तीनों मूर्त और त्यत् से दोनों अमूर्त संग्रहीत हो जाते हैं।
७. इंद्रियव्यवहार्य, पंचीकृत।
८. 'नामक' से सूचित किया कि वह नाम को ही अमृत है, वस्तुतः नहीं।

वह जगत् के आकार का न हो तो जगत् उत्पन्न ही न हो। (अतः वास्तविकता क्या है) ?

इस शंका के होने पर उत्तर दिया जाता है—॥२७॥ उपाधिरहित अक्षर ब्रह्मरूप सत्यतत्त्व जगत् के आकार का नहीं होता। यही ब्रह्म माया उपाधि वाला होकर सर्वज्ञ हुआ जगत् उत्पन्न करता है[1] ॥ २८ ॥ वह सामान्यतः (सब जानने वाला होने से) सर्वज्ञ और विशेषतः (सब जानने वाला होने से) सर्ववित् है। ज्ञान ही इस मायोपाधिक अक्षर का तप है। इसी से[2] वेदादि जगत् उत्पन्न हुआ ॥ २९ ॥ इस अद्वैत रूप[3] जगत्कारण को पराविद्या से जान लेना चाहिये। इसे जान लेने पर सारे जगत् की जो वास्तविकता[4] है वह समझ आ जाती है ॥ ३० ॥

[अथ प्रथममुण्डक के द्वितीय खण्ड का व्याख्यान]

अपरा विद्या, जो कि वेद का सांग ज्ञान है, कर्म करने के द्वारा

---

१. अतः शुद्धतत्व अपरिणामी अविकृत ही है। विकार तो अतात्त्विक उपाधि में है। अविकृत का ही विवर्तरूप परिणाम वेदवादियों को अभिप्रेत है। इसे न समझ अद्वैत को शुद्ध रखने का दंभ रखने वाले नास्तिकप्राय कुछ विचारकों ने अविकृत का वास्तव परिणाम मनाने की मूर्खता की है जिससे समस्त शास्त्रतात्पर्य ही विकृत हो जाता है। यौक्तिक संगति के लिये भी शुद्धि व अशुद्धि दोनों को वास्तव नहीं मान सकते। अतः वास्तव शुद्धि और अवास्तव परिणाम—यही औपनिषद उद्घोष आस्तिकों को स्वीकारना चाहिये। 'एवाय'मित्यत्र अयमेवेत्यन्वयः। यथाश्रुतेऽपि माया-तिरिक्तोपाधिसम्बन्धशंकानिवृत्तय एवपदमिति बोध्यम्। अयोगव्यवच्छेदे पूर्वार्धेन पुनरुक्तिप्रसंगात्।

२. मायोपाधिक से। तप से।

३. मायाख्योपाधि होने से एक नहीं कहा। माया की स्वतंत्र सत्ता न होने से दो नहीं कहा। यह शंका न हो कि सोपाधिक को जगत्कारण कहने पर 'जन्माद्यस्य' (१.१.१) सूत्र का विरोध होगा इसके लिये भी अद्वैतपद रखा। क्योंकि माया शुद्ध ही में है अतः शुद्ध की जगत्कारणता अक्षुण्ण है। माया शुद्ध में होने से उसकी अशुद्धतापत्ति-वारणार्थ 'द्वैत जहाँ नहीं है वह' इस अर्थ वाला अद्वैत शब्द रखा। द्वैत से माया समझी जाती है।

४. अर्थात् अवास्तविकता।

पराविद्या का साधन है। कर्म का वह—[अपराविद्याहेतुभूत शोधित-चेतस्त्व] फल होता अवश्य है[1] ॥३१॥ कामना से प्रेरित हो अभीष्ट अवाप्ति के लिये किये कर्मों का (चरम) फल स्वर्ग है। जिन्हें करने की इच्छा होने न होने का प्रश्न नहीं व किसी फलसद्भाव के लिये जो नहीं किये जाते ऐसे जो अवश्य करणीय कर्म है उन्हें करने से चित्त-शुद्धि[2] होती है। कर्म कर ये दोनों फल अवश्य मिलते हैं। [यही कर्मों की सत्यता है] ॥३२॥ हे यथार्थ फल चाहने वालो ! हे मन्त्रों व ब्राह्मणवाक्यों के जानने वालो ! कर्मों को करो। तुम्हें भोग व मोक्ष प्राप्त हो इसके लिये यह रास्ता है॥ ३३ ॥ प्रथमतः अग्निहोत्र करे। फिर (यथाकाल) दर्श आदि कर्म करे। यह सब न करने पर सात जन्मों तक कर्मी की (अग्निहोत्री की) दुर्गति होती है॥३४॥ जिसने काली आदि नाम वाली अग्नि-ज्वालाओं में विधि का अतिक्रमण न कर होम किया है उसे वे आहुति नामक देवताएँ इन्द्रलोक ले जाती हैं॥३५॥ 'आइये' ऐसा प्रिय वचन बोलती हुई सूर्यरश्मियों द्वारा[3] ले जाती हुई, 'यह आपका पुण्य से आर्जित लोक है' ऐसा कहकर उस कर्मकर्त्ता को स्वर्ग पहुँचा देती हैं॥३६॥ यह तो कामनाप्रयुक्त कर्म का फल बताया।

जो कर्म ईश्वर को अर्पित होता है उसका फल है 'संसार छोड़ने योग्य है' ऐसा निश्चय। उस निश्चय का अब विवेचन किया जाता है ॥ ३७ ॥ छोटी नदी हो तो कमजोर नावों से उसे पार किया जाना संभव है, (उनसे) समुद्र पार करना संभव नहीं। और कमज़ोर नावों की तरह यज्ञ तो कमज़ोर साधन हैं (जबकि संसार समुद्र अथाह है)

---

१. यद्यपि काम्य तथा ईश्वर-अनर्पित कर्म शुद्धि देने में असमर्थ हैं, जो शुद्धि वे दे सकते हैं वह भोगसिद्ध्यर्थ ही है मोक्षसिद्ध्यर्थ नहीं, तथापि सन्मार्गस्थ रखने से पुण्यपाकवशात् सद्बुद्धि अवश्य होगी यह भाव है। यह अर्थ 'कर्मणः तत् फलं सत्यम्' इस अन्वय में है। यदि तत्-शब्दित कर्मफल सत्य है यह अर्थ करना हो तो 'तत्' यह श्रौतपद समझना चाहिये—'तदेतत् सत्यम्'।

२. काम्य में अधिकार न चाहकर मुमुक्षार्थं किये नित्यकर्मों का यह फल समझना चाहिये।

३. सूर्यरश्मियाँ बन कर— ऐसा अर्थ समझना चाहिये।

॥ ३८ ॥ यज्ञों से केवल स्वर्ग मिलता है, मोक्ष तो मिलता नहीं। ऐसा होने पर (निश्चित है कि) जो केवल कर्म में ही लगे रहते हैं वे बार बार बुढ़ापे और मृत्यु को पाते हैं ॥३९॥ यह शंका न करना कि वेदप्रतिपादित होने से ज्ञान की तरह कर्म भी मुक्ति के हेतु हो जायें, क्योंकि उनसे संसार के मूलकारण[1] अज्ञान की निवृत्ति नहीं होती ॥४०॥ संसरण का मूलकारण अज्ञान है। कर्म करने वाले अज्ञान के अन्तर्गत ही रहते हैं। सत्[2] अद्वितीय, प्रत्यगभिन्न ब्रह्म को वे नहीं जानते ॥ ४१ ॥ कर्मकाण्डोक्त अर्थ जानने से वे अपने को पण्डित मान बैठते हैं और ऐसे ही उनके गुरु (कर्मकाण्डार्थ के जानकार) होते हैं, एवं च अन्धे द्वारा रास्ता दिखाये गये अन्धे की तरह उनकी स्थिति होती है ॥ ४२ ॥ फल में राग वाले होने से 'वाजपेय, राजसूय आदि[3] यज्ञ करने वाला मैं कृत्यकृत्य हूँ' ऐसा मानकर (स्वर्ग गये वे वहाँ) उपभोगयोग्य पुण्य समाप्त होने पर (मानवादि लोकों में) आ पड़ते हैं ॥ ४३ ॥ कर्म को ही प्रधान मानकर यह कर्मी इससे भिन्न किसी को भी कल्याण-साधन नहीं स्वीकारता। स्वर्ग से आकर ब्राह्मण (आदि) योनियाँ पाता है या कुत्ता[4] आदि योनियों में जन्म लेता है ॥ ४४ ॥ स्वर्ग में उपभुक्त से शेष कर्म[5] यदि उत्तम हैं तो ब्राह्मण (आदि उत्तम) योनि मिलती है, यदि ऐसा नहीं तो कुत्ता आदि जन्म लेना पड़ता है। जिसकी बुद्धि (भगवदर्पण किये) नित्य कर्म करने से[6] शुद्ध हो चुकी है वह संसार की इस[7] असारता का

---

१. आचार्य ने भी कहा है—'अज्ञानं तस्य मूलं स्यादिति तद्धानमिष्यते··· विद्यैवाज्ञानहानाय न कर्माऽप्रतिकूलतः' ॥ उप० सा० उपो० ५-६ ॥

२. असद्विलक्षण।

३. कारीरी आदि का समूह समझना चाहिये।

४. रमणीयचरणों को उत्तम व कपूयचरणों को अधम योनि मिलना छांदोग्यादि श्रुति-प्रसिद्ध है।

५. द्र० ब्र० सू० ३.१.८।

६. इस जन्म में या पूर्व जन्म में।

७. वही असारता वैराग्य के लिये पर्याप्त है कि जो कुछ कोशिश कर मिलेगा वह निकल जायेगा।

निश्चय कर लेता है ॥ ४५ ॥ यद्यपि जो (कर्म सहित) उपासना करता है वह उस ब्रह्मलोक को पाता है जहाँ से (जल्दी) लौटना नहीं पड़ता[1], तथापि उसकी प्राप्ति के लिये अत्यधिक प्रयत्न करना पड़ता है और बहुत विलम्ब से मोक्ष होता है ॥ ४६ ॥

इस तरह कर्म से मिलने वाले ब्रह्मलोक पर्यन्त सब लोकों की असारता समझ कर क्योंकि कर्म से मोक्ष मिलना असंभव है इसलिये वैराग्यवान् होकर ब्रह्म को जानने के लिये शास्त्रोक्त मर्यादा-अनुसार गुरु के पास जाना चाहिये ॥ ४७ ॥ उपनिषदों के वचन नाना प्रकार के होने से[2], बहुत तरह के संशय होने से, ज्ञेय वस्तु अत्यधिक सूक्ष्म[3] होने से गुरु के बिना ब्रह्मतत्व कोई[4] नहीं जान पाता ॥ ४८ ॥ गुरु द्वारा बताये श्रवण, मनन और ध्यानरूप उपायों से अज्ञान, संशय और विपरीत भावना को हटा देना चाहिये ॥ ४९ ॥ गुरु को भी चाहिये कि ज्ञान का सम्प्रदाय चलता रहे इसके लिये योग्य शिष्य को अक्षर ब्रह्म का बोध कराने वाली पराविद्या का उपदेश देवे ॥ ५० ॥

[अथ द्वितीयमुण्डक के प्रथम खण्ड का व्याख्यान]

पूर्व में सूत्ररूप से उक्त व इस मुण्डक में विस्तार से बताया जाने वाला अक्षर पुरुष पारमार्थिक सत्य है। (वही) माया नामक शक्ति

---

१. अविरक्तादि को लौटना पड़ता है। विरक्तादि तो ब्रह्मा से ज्ञान पाकर मुक्त हो जाते हैं।

२. अध्यारोप व अपवाद दोनों प्रतिपादित हैं। गलत समझें तो अध्यारोप को ही सत्य मान लेंगे।

३. अभिधा से तो बतायी ही नहीं जा सकती।

४. कहीं ऐसा हो कि पूर्वजन्म का गुरूपदेश स्मृत रह जाये तो वर्तमान जन्म में गुरु के बिना भी ज्ञान हो जाता है, पर कभी न कभी तो गुरुपूर्वक श्रवण आवश्यक है ही।

से समन्वित है[1]। उससे सब[2] वैसे ही उत्पन्न हुए हैं जैसे आग से चिनगारियाँ ॥ ५१ ॥ अक्षर पुरुष आत्ममात्ररूप होने स्वयं ज्ञान-प्रकाशरूप है तथा मायारूप अक्षर से[3] उत्कृष्ट[4] है। (उसकी) अचिन्त्य[5] शक्ति माया है जो स्वयं असत्य[6] होती हुई ही इस अक्षर पुरुष में[7] समस्त जगत् की कल्पना[8] करती है ॥ ५२ ॥ माया वाले इस[9] परमपुरुष से प्राण आदि व आकाशादि उत्पन्न होते हैं। तदनन्तर उसी से समष्टि स्थूलात्मक विराट हुआ[10] और उसमें बाकी जगत्

---

१. समन्वितमस्तीति शेषः। अतो मायाया मिथ्यात्त्वेपि न सत्यत्वमक्षरस्य विरुद्धयते, वाक्यद्वयस्वीकारात् : अक्षरं सत्यमित्येकं वाक्यं तन्माया-शक्तिसमन्वितमित्यपरमिति भावः। ननु कुत्रचिदविद्याऽन्यत्र मायेति कदाचिच्छक्तिरित्येवमन्यथान्यथैकस्यैव वस्तुनो नामभेदः कथम् ? अत्राह प्रत्यक्स्वरूपाचार्यः —'इत्येषा सदसत्प्रकारविधुरा माया दुरुन्नीततो, मूल-त्वात्प्रकृतिः, प्रबोधभयतोऽविद्या सहायोदिता। शक्तिर्विश्वमयस्य यस्य विशदानन्दप्रबोधोदधेर्निर्धूताखिलभेदगन्धममलं वन्दे भवानीपतिम् ॥' शक्तिवादोपसंहारे ॥ अत्र च मायायाः शक्तित्वाभिधानं स्वातन्त्र्यवारणा-येति दिक्।

२. नात्माऽश्रुतेरिति न्यायविरोधो मा शंकि, उपाधिजन्मनोपहित जन्म-व्यवहारात्।

३. 'कूटस्थोऽक्षर उच्यत' इत्यादिस्मृतावक्षरपदं मायापरं प्रसिद्धमापेक्षिताक्ष-रत्वस्य तत्रापि संगतेः। वस्तुतस्तु साभासमायाया अक्षरत्वमुच्यत इति भाष्यादिविवरणे व्यक्तम्।

४. 'अत्यतिष्ठदि'त्यादि श्रुतेः 'न चाहं तेष्वि'त्यादि स्मृतेश्च।

५. सत्त्वेनासत्त्वेन चिन्तयितुमयोग्येत्यर्थः। तथात्वे नसत्तन्नासदिति ब्रह्मैवोक्तं स्यादित्याशंक्याह—शक्तिरिति। सा हि पारतन्त्र्यं भजत इति परस्माद्भेदः

६. सद्विविक्तत्वस्य मिथ्यात्वात्।

७. एवं च यतो वेत्यादिश्रुतिः, जन्मादिसूत्रं च संगच्छेते।

८. नन्वेवं विज्ञानवाद आश्रितस्तन्मतेपि जगतो विज्ञाने कल्पितत्वांगीकारा-दिति चेन्न विज्ञानस्य क्षणिकतयाऽऽत्मनश्च नित्यतया महतो भेदस्य विद्यमानत्वात्।

९. परापरब्रह्मभेदनिवृत्तिरेवं क्रियते।

१०. कहीं वर्तमान व कहीं भूतकाल के प्रयोग से काल्पनिकता स्पष्ट की जा रही है।

उत्पन्न व स्थित हुआ ।। ५३ ।। अक्षर पुरुष ही मांयां द्वारा सारे जगत् के रूप में प्रतीत हो रहा है । अतः वास्तविकता देखने पर सभी कुछ पुरुषमात्र ही[1] है ।। ५४ ।। स्थूल, सूक्ष्म और कारण नामक तीन देह जिस गुफा के[2] स्वरूप हैं, उसमें जो चेतन सब कुछ का साक्षिमात्र हुए विद्यमान है वही उक्त सर्वरूप ब्रह्म है ऐसा जानकर अज्ञान का नाश करना चाहिये[3] ।। ५५ ।। 'मैं अज्ञानी हूँ'—इस अनुभव में जो भ्रमसिद्ध अभेदग्रह के कारण अज्ञान की अपने से अभिन्नता[4] है, यही अविद्या की गाँठ (अविद्याग्रन्थि) है और यह आत्मयाथात्म्य ज्ञान से खुल जाती है ।। ५६ ।।

[अथ द्वितीयमुण्डक के द्वितीय खण्ड का व्याख्यान]

[5]"परप्रकाश-अनधीन अपने अपरोक्ष व्यवहार के योग्य होने से जो सदा सर्वत्र भासमान है और हमारा स्वरूप होने से हमसे निरवच्छिन्न निकटता वाला है, वही ब्रह्म है, इसी में सारा भेदप्रपंच कल्पित है'—यह प्रमाणजन्य निःसंशय निश्चय '(आत्मयाथात्म्य-ज्ञान) कहा जाता है ।। ५७ ।। यदि यह निश्चय स्थिर न हो पाये तो प्रणव (ॐ) के सहारे विचार (व ध्यान) करना चाहिये । जैसे वाण से लक्ष्य बींधा जाता है ऐसे निश्चय से आत्मा बींधना चाहिये । (बींधना =एकमेक होना) ।। ५८ ।। निश्चय बाण, ओङ्कार धनुष और ब्रह्म उसका लक्ष्य कहा जाता है । प्रमादशून्य साधक द्वारा लक्ष्य यों बींधना चाहिये कि निश्चय ब्रह्म में लग जाये ।। ५९ ।। बाण की नोक लक्ष्य में पक्की लगी हो तो वाण खींचने पर भी (नोक) निकल नहीं आती, नोक छोड़कर बेकार हो चुका बाण जिस तरह वाहर आता

१. बाधायामत्र सामानाधिकरण्यं भवेदिति नोच्यतेऽस्ति जगद्ब्रह्म जगन्नास्त्यस्ति पूरुषः ।। जगद्ब्रह्मेति नोच्यते चेत् किमुच्यतइत्यत आह—जगन्नेत्यादिना ।

२. 'गुहायां हृदि' भाष्योक्तं विशेषेणोपलब्धितः ! अत्र त्रिदेहसाक्षित्वं दृष्ट्वा व्याख्येति नो भिदा ।।

३. अहमित्युच्यते साक्षि-मनो-ऽहंकार एव च । मनोऽहंकारयोस्त्यागे शिष्टो ब्रह्माहमुच्यते ।।

४. अज्ञानी से भिन्न मैं कोई हूँ यह न जानना ही अज्ञान को अपने से अभिन्न जानना है ।

५. वह ज्ञान क्या है जिससे गाँठ खुलती है, यह बताते है—।

है ।। ६० ।। इसी तरह ब्रह्म में अच्छी तरह लगा निश्चय (अपनी नोक रूप जीव को लेकर) खुद बाहर कहीं नहीं आता किन्तु तुच्छ चक्षुरादि वृत्तियाँ ही[1] ब्रह्म से वहिर्भूत विषयों में व्यवहार करने को आती हैं ।। ६१ ।। जो आत्मनिश्चय होने से पहले की ही तरह इन्द्रियों से दर्शन आदि क्रियाएँ करते हुए क्रियाजन्य लाभ व अलाभ को अपने से सम्बद्ध नहीं समझता, वह जीवन्मुक्त कहा जाता है ।। ६२ ।। 'पञ्चीकरण' ग्रन्थ में बताये ढंग से प्रणव का ध्यान करना चाहिये। उस ध्यान से जगत् का अधिष्ठान जो निर्भेद अद्वितीय सद्ब्रह्म है, उसका पता चल जाता है ।।६३।। अन्यत्व सम्बन्धी लौकिक व वैदिक सब बातें (व आचरण) छोड़ देनी चाहिये और ब्रह्म का ध्यान करना चाहिये । जो ऐसा करता है उसकी जो गलत निश्चयरूप अविद्याग्रंथि है वह तथा उसके कारण होने वाला संसार[2]—ये सब जीवित रहते ही समाप्त हो जाते है ।।६४।।

जगत् में सबसे व्यापक अव्याकृत (माया) भी जिससे व्याप्त ही है, उसके दीख जाने पर हृदय की गाँठ खुल जाती है, आत्मविषयक सब संशय नष्ट हो जाते हैं और उसे देखने वाले के सब अभुक्त कर्म समाप्त हो जाते हैं ।। ६५ ।। जगत् में सबसे परम (व्यापक) अव्याकृत (माया) जिस ज्ञानरूप आत्मा से अवर (अव्यापक) हैं, उसके दीख जाने पर अहंकार और ज्ञानरूप आत्मा की आपसी गाँठ खुल

---

१. उनमें आत्मनिश्चय नहीं किया जाता ।

२. धीर्मिथ्यानिश्चयः स एव ग्रन्थिरिति धीग्रन्थिः । आदिना तन्निमित्तः संसारः । यद्वा धीग्रन्थिरेव यस्य आदिः कारणं तत्संसरणं धीग्रन्थ्यादि तद्विनश्यतीति व्याख्येयम् । ननु ध्यानफलमिदं कुतः ? मैवम्, ध्यानमिह दर्शनोपायउच्यते दर्शनाद्धि ग्रन्थिभेद उत्तरस्मिन् वदिष्यति दर्शनं च प्रमाणतएवेति प्रसिद्धमत्रापि मानजन्याया धियोऽस्थैर्ये ध्यानं विहितं ततश्च फलमिदं दर्शनस्यैव परं तस्यास्थैर्ये फलासम्भवात्स्थैर्याय ध्यानमावश्यकमिति ध्यानसंनिधावुच्यते । यथा सूर्यकान्तस्य दाहं प्रति न कारणत्वं तथैव ध्यानस्येति व्यक्तमाकरेषु । प्रस्थानान्तरे तु ध्यानफलमविरुद्धमिति न सिद्धान्तहानिः । एवं च—मानजायाधियोऽस्थैर्ये फललाभो न संभवेद् । इति तत्स्थिरतार्थं हि ध्यानमत्र विधीयते ।। सुरेशोक्तौ विवरणे वा न ध्यानमसाधनम् । तथा चेत्पंचीकरणादीनां संग्रथनं कुतः ।।

जाती है ॥ ६६ ॥[1] अहंकार के कर्तापन को ज्ञानरूप आत्मा पर अध्यस्त कर तथा आत्मा के ज्ञान को अहंकार पर अध्यस्त कर माया (आत्मतत्त्व को न जानना) इन दोनों की पक्की गाँठ लगा देती है ॥ ६७ ॥ अहंकार और आत्मा को अलग-अलग यथायथ समझ लेने पर ब्रह्मतत्त्व को विषय करने वाले सभी संशय निवृत्त हो जाते हैं तथा भविष्य के जन्मों के प्रति हेतुभूत सब कर्मों की समाप्ति हो जाती है ॥ ६८ ॥ प्राणियों के हृदयरूप म्यान में जो आनन्दस्वरूप सदा अपरोक्ष होता है वह शुद्ध है, लौकिक प्रकाशों का अलौकिक प्रकाशक है; मुमुक्षुओं को चाहिये कि उसे जानें ॥ ६९ ॥ अन्य वस्तुओं को प्रकाशित करने वाले सूर्यादि उसे प्रकाशित करने में असमर्थ हैं। इन सबसे निरपेक्ष ही, पहले उसके प्रकाशने पर उसके प्रकाश से सभी कुछ प्रकाशित होता है ॥ ७० ॥ सभी दिशाओं में यह आत्मा ही प्रकाशता है। वह (जो इसके प्रकाश के व्यवधान से प्रकाशित होता है वह) जगत् इसमें अधिष्ठित (अध्यस्त) है। जैसे लहर आदि जल से अलग कुछ नहीं वैसे जगत् उस आत्मा से पृथक् कुछ नहीं है ॥ ७१ ॥ जैसे लहरादि में तात्त्विक वस्तु जल ही है वैसे समस्त संसार में तात्त्विक वस्तु ब्रह्म ही है। इसलिये ब्रह्म को जान लेने पर सभी जान लिया जाता है ॥ ७२ ॥

[अथ तृतीयमुण्डक के प्रथम खण्ड का व्याख्यान]

समाधि की अवस्था में ब्रह्म निर्विशेष, असम्बद्ध और अभिन्न ही भासता है।[2] समाधि से उठने पर (व्यवहार दशा में) पक्षियों की तरह भोक्ता और अभोक्ता—इन दो रूपों में प्रतीत होता है ॥ ७३ ॥ जैसे वृक्ष पर भूखा पक्षी फल खाता है और दूसरा (जिसे भूख नहीं वह)

---

१. अथाविवेकोऽकारण एव जगत्कारणमिति स्वीकर्तॄणां सांख्यानामाधुनिकानां च केषांचिद्वेदान्तिनां मतमपाकरिष्णुराह—अहमिति । कर्तृत्वमिति कृतिरेवोच्यते ।

२. अखण्डैकरसमेव भासतइत्येवकारस्य भिन्नक्रमः संबंधः अखण्डत्वं चाऽविशिष्टत्वं संसर्गासंगित्वच । एकरसत्वमभिन्नत्त्वम् ।

केवल देखता है, ऐसे चेतन की छाया वाली अहंकारवृत्ति[1] भोग करती है, साक्षी-चेतन तब भी केवल देखता है ॥ ७४ ॥ आत्मतत्त्वसाक्षात्कार के पूर्व चेतन भ्रम से भोक्ता अहंकार से तादात्म्य कर शोक करता है। वह भ्रान्ति उसी में है जो अपने को भोक्ता समझता है और यह विवेक भी उसे ही करना है जो अपने को भोक्ता समझता है ॥ ७५ ॥ भ्रम और उसका बाधक तत्त्वज्ञान—ये दोनों भोग के ही अपर भेद हैं। जैसे (रसगुल्ले का भोग आदि) अन्य भोग आत्मा पर आरोपित होते हैं वैसे ये भी—भ्रम व बाध भी—आरोपित ही हैं, वास्तविक नहीं ॥ ७६ ॥ जब आत्मा के असंकीर्ण स्वरूप को जान लेता है तब उस जानकार के पुण्य-पाप नहीं रह जाते। जैसे मूर्ख लोग सदा जुआ आदि में खेलते हैं, वैसे यह सदा ध्यान से[2] आत्मा में खेलता है ॥७७॥ जैसे कर्मठ को नित्यकर्मों में प्रेम[3] होता है ऐसे यह सदा आत्मा में ही प्रेम करता है। क्योंकि इसका एक भी क्षण व्यर्थ नहीं जाता (ब्रह्ममयी वृत्ति से रहित नहीं होता) इसलिये यह ब्रह्मवेत्ताओं में सर्वश्रेष्ठ होता है ॥ ७८ ॥

मोक्ष प्राप्त कराने वाली[4] विद्या की प्राप्ति में सत्य, तप व ब्रह्मचर्य कारण बनते हैं। विद्या में जिसका मुख्य अधिकार रहा हो

---

१. वृत्ति जड होने से भोग नहीं कर सकती पर चेतन की छाया ग्रहण कर वह मानो चेतन की तरह हो जाती है और भोग कर लेती है। छाया ग्रहण करने का तात्पर्य चेतन से अन्योन्याध्यास वाला होना ही है।

२. अपनी आत्ममात्ररूपता के सचेत अनुभव से—यह अर्थ है। ऐसे ध्यान-निष्ठ होना चाहिये यह उपदेश समझना चाहिये तभी ज्ञानी के स्वभाव का कीर्तन सार्थक होगा। सरस्वती जी ने भी कहा है 'आत्मानात्माकारं स्वभावतोऽवस्थितं सदा चित्तम्। आत्मैकाकारतया तिरस्कृताऽनात्मदृष्टि विदधीत' ॥

३. तात्पर्य है कि वह उन्हें किया बिने रह नहीं पाता।

४. अर्थात् सत्यादि के बिना मिली विद्या मोक्ष नहीं देगी। तात्पर्य है कि वास्तविक विद्या इनके बिना मिलेगी ही नहीं। कहीं अपवाद हो तो इतने मात्र से उत्सर्ग का बाध नहीं होता।

वह ब्रह्मवेत्ता (ब्रह्मवेत्ताओं में) सर्वश्रेष्ठ होता है[1] ॥ ७९ ॥ आत्मा का ग्रहण न चक्षु से, न ही वाणी से और न अन्य इंद्रियों से होता है। इसे न कर्म से और न तप से पाया जाता है। अन्तर्मुखता के[2] विना यह किसी भी निमित्त से नहीं मिलता ॥ ८० ॥ ध्यान से अंतर्मुख हुआ साधक महावाक्य से ब्रह्मरूप अपने को जान लेता है। आत्मज्ञानी, जिसकी बुद्धि में रागादिमल का लवलेश नहीं, जैसा बोलता है वैसा हो (घट) जाता है ॥ ८१ ॥ वैभव चाहने वाला वैभव-प्राप्ति के लिये सर्वदा आत्मज्ञानी की अर्चना करे। उसकी उपासना करता निष्काम (आत्मकाम) व्यक्ति अपनी ब्रह्मरूपता समझ पाता है ॥८२॥

[अथ तृतीयमुण्डक के द्वितीय खण्ड का व्याख्यान]

बहुत अधिक वेदपाठ करने से या बहुत कुछ सुन या जान लेने से आत्मा प्राप्त नहीं किया जा सकता। किंतु परमात्मा जिसे चुन लेता है उसके द्वारा प्राप्त किया जाता है ॥ ८४ ॥ ईश्वर की कृपा से ही अद्वैतनिश्चय दृढ होता है। इसलिये ब्रह्मार्पण[3] कर ईश्वरप्रसन्नता के लिये कर्म[4] करना चाहिये ॥ ८५ ॥ ईश्वर की जिस पर कृपा है उसके लिये ही परमात्मा अपने सच्चिदानन्दरूप शरीर को पूरा उघाड़ देता है[5] ॥ ८६ ॥ जिस साधक का श्रवण, मनन और ध्यान प्रबल नहीं होता या जिसमें विषयों में आसक्तिरूप प्रमाद होता है वह आत्मयाथार्थ्यं नहीं समझ पाता ॥ ८७ ॥ जिसका तप[6] संन्यासाश्रमयुक्त नहीं

---

१. सत्यादि सब साधनों से सम्पन्न होना ही मुख्यता है। पूर्वं विद्यायां मुख्याधिकारी पश्चाद् ब्रह्मविद्यः स ब्रह्मवित्सु वरिष्ठो भवेदिति अध्याहारेण योजनम्।

२. सभी इन्द्रियों को विषयों से विमुख कर आत्मज्ञानार्थ हर संभव प्रयास करना अंतर्मुखता है। 'आवृत्तचक्षुः' (कठ. २.१.१) श्रुति इसमें प्रमाण है।

२. यहाँ ब्रह्म, ईश्वर, परमात्मा आदि समानार्थक हैं। गीतोक्त 'ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविः' आदि भाव के स्मारणार्थ ऐसा कहा है।

४. श्रवणादि भी कर्म ही हैं।

५. भाष्यव्याख्यान से अन्यथा ही यहाँ श्रुत्यर्थ बताया है। अपने कर्तृत्व को शिथिल करना चाहिये, 'हम ही यत्न कर प्राप्त करेंगे' ऐसे उसे दृढ नहीं करना चाहिये, यह तात्पर्य है।

६. शमादियुक्त श्रवणादि इसके आश्रमधर्म होने से यहाँ तपः शब्दार्थ हैं।

होता (जो सर्वकर्मत्यागपूर्वक तप नहीं करता) उसकी बुद्धि शुद्ध[1] नहीं हो पाती। श्रवणादि के सम्पन्न होने से उत्पन्न ज्ञान से वह तृप्ति का अनुभव नहीं करता[2] ॥ ८८ ॥ उपनिषत्-श्रवण से उत्पन्न अखण्ड-वृत्ति के विषय ब्रह्मात्मैक्य के बारे में निःसंशय अपरोक्ष अनुभूति वाले, सर्वत्याग और ब्रह्मनिष्ठा से जिनके सब मनोदोष निवृत्त हो चुके हैं, वे जीवनकाल में ब्रह्मदृष्टि में स्थिर रहते हैं[3] और प्रारब्ध समाप्त होने पर संसार के मूल कारण अज्ञान की विक्षेपशक्ति से भी परे हो जाते है ॥ ८९ ॥ (आत्मानुभव के कारण) जो संसरण करने वाले हैं उनका देहान्त चरम अन्त नहीं क्योंकि वे पुनः उत्पन्न होते हैं (और फिर मरते हैं)। ब्रह्मज्ञों का देहान्त परम (अर्थात् चरम) अन्त है क्योंकि वे पुनः उत्पन्न नहीं[4] होते। जो परम अन्त काल में अविद्या से सर्वथा परे हो जाते हैं वे क्योंकि ब्रह्म ही हैं इसलिये परम अमृत (कहे जाते) हैं ॥ ९० ॥ इनकी पन्द्रहों कलाएँ अपने-अपने कारणों में लीन हो जाती हैं ॥ ९१ ॥ प्राण, श्रद्धा, आकाशादि पाँच महाभूत, इन्द्रियाँ, मन, अन्न, वीर्य, तप, मन्त्र, कर्म और लोक[5]—(ये) वे कलाएँ हैं ॥ ९२ ॥ वाणी आदि (इन्द्रियों)

---

१. रागादिरहित।

२. क्योंकि रागादिवशात् निर्गुणतत्त्व नीरस प्रतीत होता है। श्रवणादिसम्पन्न होने से उत्पन्न ज्ञान अफल इसलिये है क्योंकि इसने त्वमर्थ का शोधन नहीं किया और परोक्षवत् ही इसे ब्रह्म उपस्थित हुआ है।

३. अब्रह्मदृष्टि को उठते ही काट (बाधित) देते हैं। 'आदौ ब्रह्माहमस्मीत्यनुभव उदिते खल्विदं ब्रह्म पश्चात्' (शतश्लोकी ३)।

४. ब्र० सू० ३.३.३२ में यह निर्णीत है। जो तो कार्यविशेष सम्पादन करने के लिये जन्म लेते हैं वे अपवादरूप हैं। उनका भी अधिकारसमाप्तिमात्र से ब्रह्मभाव होना है, अतः अधिकार प्रारब्धस्थानीय ही समझ लेना चाहिये। 'विद्याकर्मस्वनुष्ठानतोपितेश्वरचोदिताः। अधिकारं समाप्यैते प्रविशन्ति परं पदम्' ॥ भामती ॥

५. प्र० ६.४ में 'नाम' एक कला और बताई है। क्योंकि वामदेवादि नाम आज तक मौजूद है इसलिये वह लीन नहीं होता यह मानकर उसे यहाँ छोड़ा समझना चाहिये। आत्मपुराण में ऐसा बताया है: 'प्राणाद्या नामरहिताः कलाः पंचदशास्य याः। स्वकारणं प्रयान्त्येता देवा

पर वह्नि आदि देवताओं की शक्तियों की कृपा पहले (जीवन-काल में) रहा करती है। वे कृपा करने वाली शक्तियाँ भी देवताओं के पास लौट जाती हैं क्योंकि वह कुछ रह नहीं जाता जिस पर वे कृपा करें ।। ९३ ।। जिनका अभी तक फलभोग नहीं हुआ वे कर्म और विज्ञानमय नामक कर्ता—ये सब आत्मज्ञान से आत्मस्वरूप में वैसे ही लीन हो जाते हैं जैसे कड़ापन (गर्मी से) घी में लीन हो जाता है[1] ।।९४।। जैसे नदियाँ समुद्र में पहुँच अपने-अपने नामों व रूपों को छोड़ (समुद्र से व आपस में) अभिन्न हो जाती हैं वैसे ब्रह्मवित् नाम-रूप से छूट कर परम पद को जाता[2] है ।।९५।। जो कोई भी ब्रह्म को अपना स्वरूप जान लेता है वह स्वयं ब्रह्म ही होता[3] है। इस ज्ञान के फलस्वरूप[4] उसके कुल में कोई ऐसा नहीं होता जो ब्रह्म को न जाने ।।९६।। ब्रह्मात्म-अनुभव से यह शोक और पापशब्दित धर्माधर्म से परे हो जाता है। अविद्या की समस्त वासना से[5] वह रहित हो जाता है। वह अमृत और सर्वरूप हो जाता है ।। ९७ ।।

जो सगुणब्रह्म के उपासक (अग्निपरिचर्या, शिरोव्रत आदि) क्रियाएँ नियमतः करते हों उन्हें ही जानकार आचार्य इस ग्रंथ द्वारा ब्रह्मविद्या बताये ।। ९८ ।। अंगिरा ने शौनक को इस सत्य ब्रह्म का

वह्न्यादयोपि च ।।२३३।। वामदेवादिवन्नाग सर्वलोकवचःस्थितं विलीन-मुक्तस्य लयशून्यमिवास्ति तत्' ।।२३६।। [षोडश अध्याय]। यच्च मूल-मपि टिप्पणे नामसंग्रहः कर्तव्य इत्युक्तं तदिह विलीनमपीत्युक्त्वाऽऽचार्यः स्वयं सूचयामास। वाचस्पत्यादयोऽपि मनसः पार्थिवत्वादि समाश्रित्य सर्वकलासंग्रहमिच्छन्तीति दिक्।

१. कड़ापन घी से भिन्न कोई 'चीज़' नहीं, केवल नाम-रूप ही है।

२. क्रियारूप गमन नहीं समझना चाहिये।

३. अब्रह्म नहीं रहता, यह तात्पर्य है।

४. अर्थवाद जानना चाहिये।

५. 'हृदयग्रन्थिरविद्यावासनाप्रचय' इति (मुं० २.२.८) भाष्यम्। विवेक-मात्राद् ग्रन्थिविशेषाणां विप्रमोक्षः संभवेत्परं ग्रन्थिमात्रस्य निवृत्तिरात्मै-क्यानुभवादेवेति सांख्यादिवैलक्षण्यमस्मद्राद्धान्ते विजयतेतराम्।

उपदेश दिया। ब्रह्मवेत्ताओं को प्रणाम करके ब्रह्मज्ञान पाना चाहिये[1] ॥ ९९ ॥

शौनक को प्राप्त ब्रह्मविद्या का स्पष्ट वर्णन कर दिया है। संन्यासियों के महान् आचार्य श्री विद्यातीर्थ[2] इस व्याख्यान से सन्तुष्ट हो हम पर कृपा करें ॥ १०० ॥

॥ इति श्रीविद्यारण्यमुनिकृत चतुर्वेदविद्याप्रकाश में
मुण्डकोपनिषद्विवरण नामक छठा अध्याय ॥

तमहं दक्षिणवक्त्रं बोधसुधापूर्णकलशं वहन्तम्।
गुरुरूपेण पुरःस्थं नित्यं नौमि परमात्मानम् ॥

---

१. 'तद्विद्धि प्रणिपातेन' आदि स्मृति इसमें प्रमाण है।

२. विद्यारण्य स्वामी के ये गुरु थे। विद्यारण्य स्वामी ने वीस अध्यायों का एक ग्रंथ लिखा है जिसमें ऐतरेयक, तैत्तिरीय, छान्दोग्य, मुण्डक, प्रश्न, कौशीतकी, मैत्रायणीय, कठ, श्वेताश्वतर, वृहदारण्यक, केन और नृसिंहतापनीय—इन वारह उपनिषदों का श्लोकमय विवरण है। उस ग्रंथ के प्रथम सात अध्याय 'चतुर्वेदविद्याप्रकाश' नामक खण्ड के अंग हैं व वाकी अध्यायों का सम्मिलित नाम है 'अनुभूतिप्रकाश'। यह तथ्य अष्टमाध्याय के प्रारम्भ में स्वयं उन्होंने वताया है। एवमपि समग्र ग्रंथ अनुभूतिप्रकाश नाम से ही विख्यात है।

आनन्दगिरिटीकाधारित

प्रश्नोपनिषद्भाष्यानुवाद

ॐ

आनन्दगिरिटीकाघटित

प्रश्नशाङ्करभाष्यानुवाद

दक्षिणवक्त्रं भगवत्पादमानन्दगिरिं निजगुरुं च ।
नत्वा हिन्द्यनुवादः प्रश्नभाष्यटीकयोः क्रियते ॥

अथ प्रथम प्रश्न

अथर्ववेद की मन्त्रोपनिषत् में 'इन्द्रादि देवों में प्रधान ब्रह्मा जी' (मुं० १.१.१) इन शब्दों से प्रारम्भ हुए मन्त्रों द्वारा ही आत्मा की तात्त्विकता का[1] निर्णय हो चुकने से अथर्ववेद में ही ब्राह्मणग्रन्थ द्वारा (भी) आत्मा की तात्त्विकता बताना, (एक ही ग्रंथ में) एक ही बात बार-बार बताना रूप दोष होगा; यह शङ्का कर प्राण की उपासना आदि साधनों सहित विस्तार से[2] आत्मा की तात्त्विकता को (ब्राह्मण ग्रन्थ में) बताया होने से एक ही बात को बार-बार कहना रूप दोष नहीं है[3]; यह बताते हुए (भगवान् भाष्यकार प्रश्नोपनिषद् रूप) ब्राह्मण ग्रन्थ का ससन्दर्भ परिचय कराते हैं—(मुण्डकोपनिषत् के) मन्त्रों द्वारा बताये आत्मपदार्थ को पुनः[4] विस्तार से समझाने वाली यह ब्राह्मणोपनिषत् प्रारम्भ की जाती है।[5] मन्त्र भाग में 'दो विद्यायें जाननी चाहिये—पराविद्या और अपराविद्या' (मुं० १.१.४)

नत्वा निजगुरुं कुर्वे निजबोधयुयुत्सया ।
टिप्पणीं प्रश्नमालम्ब्य भाष्यटीकासुधाभिधाम् ॥

१. आत्मा की जो तात्त्विकता है उसका ।

२. नाना साधन बताना ही मुख्य विस्तार है ।

३. वस्तुतस्तु अभ्यासरूप लिंग से उपनिषदों के तात्पर्य का निर्णय होने से बार-बार कहना गुण ही है ।

४. मन्त्र का व्याख्यान ब्राह्मण होता है (द्र० आनन्दगिरीय छान्दोग्य भाष्य टीका पृ० ३०५) ।

५. श्रुति ही वात्सल्यवशात् पुनरपि उपदेश देती है यह तात्पर्य है ।

यह कहकर उनमें अपराविद्या वह है जो ऋग्वेद आदि शब्दों से[1] कही जाती है, यह बताया। वह अपराविद्या[2] कर्मरूप और उपासना रूप है। इनमें दूसरी (उपासनारूप अपराविद्या) का विवरण द्वितीय व तृतीय प्रश्नों द्वारा किया गया है। प्रथम (कर्मरूप अपराविद्या) कर्मप्रधान वेद भाग में समझा दी गयी है अतः यहाँ (उपनिषत् में) उसे नहीं समझाया है। दोनों का (कर्म व उपासना का) फल तो[3] प्रथम प्रश्न में स्पष्ट किया है जिससे उस फल से विरक्ति[4] हो जाये। 'और यह पराविद्या है जिसके द्वारा वह अक्षर परमात्मा समझा जाता है' (मुं० १.१.५) से प्रारम्भ कर समस्त[5] मुण्डकोपनिषद् द्वारा पराविद्या का प्रतिपादन किया। उस मुण्डकोपनिषत् में भी 'जैसे अच्छी तरह जलाई' (२.१.१) इत्यादि दो मन्त्रों से बताये विषय का विस्तार करने के लिये (इस उपनिषत् का) चतुर्थ प्रश्न है। 'प्रणव धनुष है' (२.२.४)—इस प्रसंग में कही प्रणव की उपासना का विवरण करने के लिये पाँचवाँ प्रश्न है। 'प्राण (आदि) इस परम अक्षर पुरुष से उत्पन्न होते हैं' (२.१.३) से प्रारम्भ कर बाकी[6] मुण्डक ग्रंथ से सूचित विषय के स्पष्टीकरण के लिये छठा प्रश्न है। इस प्रकार यह ब्राह्मण ग्रन्थ उस मन्त्र ग्रन्थ के प्रतिपाद्य को विस्तार से पुनः समझाने वाला है, यह (भाष्य का) तात्पर्य है। इसीलिये ग्रन्थ का विषय, प्रयोजन आदि[7] मन्त्रग्रंथप्रस्तावना में ही बता दिये

---

१. अथवा, ऋग्वेदादि जो बताते हैं, वह है।

२. अर्थात् उसका विषय। पूर्ववाक्य के अथवापक्ष में यथाश्रुत संगत है।

३. तो=विविक्त कर। १.९ में पितृयाण व १.१० में उत्तरमार्ग बताये हैं।

४. 'आब्रह्मणोऽस्मात्संसाराच्छुद्धधीर्न विरज्यते।
यवात्तावन्न विद्याया अधिकारी भवेन्नरः' ॥ वृ० वा० २.४.७१।

५. अथवा वहाँ से प्रारंभ कर समस्त मुण्डक के प्रथम खण्ड द्वारा—यह भी समझ सकते हैं। तब उत्तरवाक्यस्थ 'तत्रापि' से 'पराविद्यायामपि' समझना पड़ेगा।

६. पूर्व प्रश्नों द्वारा व्याख्यात से बचा हुआ।

७. अधिकारी व सम्बन्ध।

गये[1] होने से इस व्याख्या के प्रारंभ में पुनः नहीं बताये जा रहे हैं, यह ध्यान[2] रखना चाहिये। (सुकेशा आदि) ऋषियों द्वारा प्रश्न किये गये जिनका (पिप्लाद द्वारा) उत्तर दिया गया—इस प्रकार का कथानक प्रतिपाद्य विद्या की स्तुति के लिये है। ग्रन्थोक्ति के अनुसार—ऐसे तपस्वियों द्वारा यह विद्या ग्रहण की जा सकती है जिन्होंने ब्रह्मचर्य, गुरुसेवा आदि पूर्वक (कम से कम) साल भर गुरु के समीप निवास किया हो और ऐसे आचार्यों द्वारा इस विद्या का उपदेश दिया जा सकता है जो पिप्पलाद आदि की तरह प्रायः[3] सर्वज्ञ हैं; (जो ऐसा नहीं, उस) जिस किसी के द्वारा यह न (बतायी जा सकती है, न समझी जा सकती है); इस प्रकार (श्रुति) विद्या की स्तुति करती है। पुराकल्प[4]रूप होने से ब्रह्मचर्य, तप आदि साधनों को विद्याप्राप्ति के लिये कर्तव्य बताना, यह स्तुति से अन्य प्रयोजन[5] भी कथानक का है, यह कहते हैं– ब्रह्मचर्य आदि साधनों की सूचना होने से वे साधन (सब विद्यार्थियों के) कर्तव्य हो जाते हैं।

"ॐ। सुकेशा भारद्वाज, शैब्य सत्यकाम, सौर्यायणी गार्ग्य, कौसल्य आश्वलायन, भार्गव वैदर्भी, और कबन्धी कात्यायन—प्रसिद्ध ये ऋषि

---

१. तत्र 'ब्रह्मविद्यामाहे'ति (पृ० १२८ पं० ५ MRI) विषयः। 'प्रयोजनं··· ब्रह्मैव भवतीति।' 'संन्यासनिष्ठैव ब्राह्मविद्ये'ति यतिरधिकारी। सम्बन्धः 'प्रयोजनेन विद्यायाः साध्यसाधनलक्षणः' (पं० १)—इत्येवं प्रपंचितम्।

२. यह नहीं समझना चाहिये कि इस ग्रंथ के विषयादि नहीं हैं।

३. सर्वज्ञ केवल ईश्वर है ऐसा मानकर प्रायोवचन है।

४. वह कथानक जिसमें अनेक कर्त्ता हों पुराकल्प कहता है। 'देवा ह वै सत्रं निषेदुः' (   ) आदि पूर्वतंत्र प्रसिद्ध आख्यायिकाओं का और उनके प्रयोजनों का स्मरण दिलाने के लिये पुराकल्परूपता कण्ठतः कही है।

५. 'तथा चैकवाक्यतोपबन्धाद्' (३.४.२४) सूत्र में पारिप्लवाधिकरण के अन्तर्गत निर्णीत है कि औपनिषद कथानक विद्या-प्रतिपादन में उपयोगी ढंग से ही प्रसंगिक होने युक्त हैं। शिवार्कमणिदीपिका में (३.४.२४) स्पष्ट कहा है 'आर्थवादिकलिंगदर्शनैश्च बहवो विध्यर्थाः पूर्वतन्त्रे निर्णीयन्ते। इहापि 'सर्वान्नानुमतिश्च प्राणात्यये तद्दर्शनाद्' (ब्र० सू० ३.४.२८) इत्यादौ। आर्थवादिकानि च फलादीनि विध्य-पेक्षितानि शास्त्रद्वयेपि गृह्यन्ते।'

अपर ब्रह्म को[1] ही परम तत्त्व मानकर[2] उसकी उपासना में रत थे व परम ब्रह्म के जिज्ञासु थे। 'ये ही निश्चित रूप से हमें उसका पूरा उपदेश देंगे' ऐसा निश्चय कर वे समिधा हाथ में ले प्रसिद्ध पूज्य पिप्पलादनामक आचार्य के पास गये॥ १॥"

नाम से सुकेशा और भरद्वाज का पुत्र (होने से) भारद्वाज। 'शैब्यः' शिबि का पुत्र (होने से) शैब्य और नाम से सत्यकाम। 'सौर्यायणी' सूर्य का पुत्र सौर्य, उसका पुत्र सौर्यायणि,[3] सौर्यायणी ऐसी दीर्घान्तता[4] वैदिक प्रयोग होने से साधु है। अर्थात् 'सौर्यायणिः' कहना ठीक होने पर (अन्त्य स्वर की) दीर्घता वैदिक स्वतन्त्र्य से है। (सौर्यायणि ही) गार्ग्य (है, अर्थात्) गर्ग गोत्र में उत्पन्न हुआ (है)[5]। नाम से कौसल्य[6] और अश्वल के गोत्र का (होने से) आश्वलायन[7]। 'भार्गवः' भृगु के गोत्र में उत्पन्न (होने से) भार्गव (जो) विदर्भ देश का होने से[8] वैदर्भि (था)। नाम से कबन्धी (और) कत्य के[9] जीवित रहते उसके पौत्र का

---

१. शंकरानन्दचरणस्तु 'ब्रह्मपरा वेदपरा वेदैकशरणा इत्यर्थः। ब्रह्मनिष्ठा वेदार्थतात्पर्यवन्त' इत्याह।

२. भ्रान्त नहीं थे, ऐसी दृष्टि करते थे।

३. 'अणो द्वयचः' (४.१.१५६) इति फिञ्।

४. 'इयाडियाजीकाराणामुपसंख्यानम्' इति वार्तिकात् (५४१४ खेम०) ईकारादेशः।

५. 'गर्गादिभ्यो यण्' (४.१.१०५)। एवं च सौर्यायणि गार्ग्य का वैयक्तिक नाम नहीं बताया है।

६. शैब्यस्तु 'वृद्धेत्कोसल्लाजादाञ् ञ्यङ्' (४.१.१७१) इति सिद्धयति। एवं कौसल्यः।

७. 'नडादिभ्यः फक्' (४.१.९९) गोत्रइत्येव।

८. केचित्तु विदर्भस्यापत्यत्वाद् 'अतइञि'ति (४.१.९५) वदन्ति।

९. 'गोत्राद्यून्यस्त्रियाम्' (४.१.९४) सूत्रानुसार गोत्रप्रत्यय के अनन्तर युवप्रत्यय लगता है अतः 'कत के जीवत रहते'—ऐसा कहना चाहिये : कत गर्गादिगण में है अतः 'गर्गादिभ्यो यञ्' (४.१.१०५) से कात्य बनकर 'यञिञोश्च' (४.१.१०५) से फक् और 'आयनेयीनीयियः फढखछघां प्रत्ययादीनम्' (७.१.२) से फक् के स्थानपर आयन होकर कात्यायन बनेगा 'कात्यस्यापत्यम्' पाठ हो तो कात्य का वह पौत्र जो कात्य के पिता के जीवित रहते उत्पन्न हुआ, यह अर्थ होगा।

पुत्र होने से कात्यायन; जिसका प्रपितामह (पड़दादा) जीवित हो उसे सूचित करने के लिये युवप्रत्यय[1] (लगकर कात्यायन शब्द बना) है। कत्य की चौथी पीढ़ी है यह बताने की इच्छा होने पर फक् प्रत्यय हुआ और उसे आयन-आदेश हो जाने पर 'कात्यायन' यह शब्द सिद्ध होता है, यह अर्थ है। निश्चय ही प्रसिद्ध ये ऋषि ब्रह्मपरायण थे; जो ब्रह्मपरायण हों वे फिर ब्रह्म को खोजने का प्रयास करें (अत एव पिप्पलाद के पास आवें) यह असंगत है, अतः कहते हैं—(अर्थात्) अपर ब्रह्म को[2] 'यह परम तत्त्व है' ऐसा मानकर उसकी उपासना के अनुष्ठान में निरन्तर लगे रहते थे (अतः) ब्रह्मनिष्ठ थे और परमब्रह्म का अन्वेषण करते हुए, अपरब्रह्म के ही (सफल) अन्वेषण से[3] परम-पुरुषार्थ प्राप्त हो जाने के कारण परम ब्रह्म के अन्वेषण से क्या प्रयोजन ?—यह शंका उठाते हैं—वह (परब्रह्म) क्या है ? अर्थात् (अपर ब्रह्म से उसमें) क्या विशेषता है ? अपर ब्रह्म अनित्य[4] होने से उसकी प्राप्ति भी क्योंकि अनित्य होगी इसलिये वह परम पुरुषार्थ रूप नहीं हो सकती। परम ब्रह्म ही नित्य होने से वही अन्वेषण के योग्य है तथा उसकी प्राप्ति भी उसके नित्य होने से नित्य है व केवल ब्रह्मज्ञान से हो जाने के कारण[5] नित्य है इस[6] लिये भी परब्रह्म ही अन्वेषण के योग्य है; यह सब परब्रह्म के स्वरूप को कहने से सूचित

---

१. 'जीवति तु वंश्ये युवा' (४.१.१६३)। युवानं प्रत्याययतीति युवप्रत्ययः। प्रपितामह के रहते उत्पन्न प्रपौत्र मांगलिक होने से उसकी यह विशेषता बताना संगत है।

२. सविशेष ब्रह्म अपर कहा जाता है। 'स्यात्परमेश्वरस्यापीच्छावशान्माया-मयं रूपं साधकानुग्रहार्थम्। ···विकारधर्मैरपि कैश्चिद्विशिष्टः परमेश्वर उपास्यत्वेन निर्दिश्यते—सर्वकर्मा सर्वकामः सर्वगन्धः सर्वरस इत्यादिना' (१.१.२०) सूत्रभाष्य।

३. उपासना से।

४. उपाधि की अनित्यता से उपहित भी अनित्य होता है।

५. ज्ञानमात्र से प्राप्त की प्राप्ति ही संभव है जो जिस अप्राप्ति के सापेक्ष है वह मिथ्या ही संभव होने से नित्य प्राप्ति अर्थसिद्ध है।

६. परब्रह्म की नित्यता और उसकी प्राप्ति की नित्यता—दोनों को 'इसलिये' से कहा। प्राप्ति की नित्यता में पुनः दो हेतु कहे थे।

करते हैं—जो नित्य है (और 'द्रष्टव्य' आदि शास्त्र द्वारा) जानने योग्य[1] (बताया गया) है, (वह पर ब्रह्म है)। परमब्रह्म का अन्वेषण करते हुए उनकी क्या विशेषता थी? यह प्रश्न होने पर उत्तर देने के लिये कहते हैं—'उसकी प्राप्ति के लिये अर्थात् उसे समझने के लिये उसका अन्वेषण करते हुए जितना चाहें उतना यत्न करेंगे[2]' इस तात्पर्य से, 'ये ही निश्चित रूप से उसका पूरा उपदेश देंगे' ऐसा निश्चय कर आचार्य के पास गये। कैसे (गये)? वे निश्चय ही 'समित्पाणयः' समिधा के भार को हाथ में लिये हुए यहाँ[3] जो समिधा कही है वह जैसा योग्य हो वैसे[4] दातुन आदि उपहार को भी बताने के लिये है। 'भगवन्तम्' पूज्य पिप्पलादनामक आचार्य के 'उपसन्नाः' पास गये ॥ १ ॥

"उन पिप्पलाद ऋषि ने[5] उन छहों से कहा—'चाहे आप तपस्वी हैं फिर भी श्रद्धा से तप[6] करते हुए ब्रह्मचर्य रखते हुए एक वर्ष तक ठीक तरह गुरुशुश्रूषा करते हुए रहिये। तदनन्तर यथेच्छ प्रश्न पूछियेगा। यदि हम जानते होंगे तो अवश्य आपको सारी बात बता देंगे ॥ २ ॥"

इस प्रकार[7] समीप आये छह ऋषियों से उन (पिप्पलाद) ऋषि ने 'ह' निश्चितरूप से[8] कहा—" 'एव' यद्यपि आप लोग पहले ही तपस्वी हैं

---

१. 'वि'र्यदि विपर्यये तर्हि अज्ञेयमित्यर्थः। परस्य विषयतयाऽज्ञेयत्वात्। शुद्धं न वृत्तिविषय इति टीकापक्षेऽज्ञेयत्वं व्यक्तमेव।

२. केवल ब्रह्मप्राप्त्यर्थं अनन्त यत्न करने का धैर्य उनकी विशेषता थी। साधक के लिये फलान्तर व उपायान्तर छोड़ इसी के लिये असीम यत्न करने का धैर्य रखना विहित है।

३. परब्रह्मवेत्ता प्रायः अग्निरहित होते हैं अतः उनके लिये समिधा ले जाना व्यर्थ है। अतः समिधा से उपहारमात्र समझना चाहिये यह कहते हैं—यहाँ इत्यादि से।

४. गुरु व शिष्य दोनों की योग्यता समझनी चाहिये।

५. 'अतीन्द्रियार्थस्य द्रष्टा' इति शंकरानन्दः।

६. शरीरशोषणादिनेति शंकरानन्दः।

७. समित्पाणि होकर पास आया देख पिप्पलाद समझ गये कि ये कुछ जानने आये हैं।

८. उपेक्षादि कर हतोत्साह नहीं किया।

तथापि 'भूयः' पुनः (विशेषतः) 'तपसा' [1]इन्द्रियनिरोध करते हुए, विशेषतः[2]—इस शब्द का पहले ('तपसा' से) भी सम्बन्ध है—ब्रह्मचर्य रखते हुए और 'श्रद्धया' 'ये ब्रह्मचर्यादि आवश्यक हैं' ऐसे निश्चय से इनमें आदर रखते हुए[3] एक वर्ष के काल तक 'संवत्स्यथ' ठीक तरह गुरुसेवा[4]-परायण हुए रहिये। तदनन्तर 'यथाकामम्' जो जिसकी इच्छा हो उसे छोड़े बिना यथेच्छ इसीका निचोड़भूत अर्थ बताते हैं—(अर्थात्) जिसको जिस विषय को[5] जानने की इच्छा हो उस विषय में प्रश्नों को पूछियेगा। आपके द्वारा पूछे उस विषय को यदि हम जानते होंगे (तो) निश्चय ही 'वः' आपके द्वारा पूछी सारी बात बता देंगे।" यहाँ प्रयुक्त 'यदि' शब्द सुशीलता[6] व्यक्त करने के लिये है, 'मैं शायद न

---

१. 'विशेपतः' को स्पष्ट करते हैं—इन्द्रिय इत्यादि से। शमादि का अभ्यास विधित्सित है। सामान्य तप व्रतोपवासादि प्रसिद्ध हैं।

२. सामान्य ब्रह्मचर्य उपस्थनिग्राहादिरूप है तथा इन्द्रियसंयम में आ ही चुका है। अतः यह ब्रह्मपद वेदपरक है। शास्त्रचिन्तन करते हुए रहिये—यह तात्पर्य है।

३. 'अनादरे लयविक्षेपकषायादयः प्रसज्जेरन् तस्मादादरेण सेवितव्य' इति सदाशिवेन्द्रो योगसुधाकरे (१.१४)।

४. गुरु जो बताये उसे सुनने में तत्पर होते हुए—यह भी अर्थ है।

५. यद्यपि परमब्रह्म का अन्वेषण करने ये आये हैं तथापि इनके प्रश्नों से स्पष्ट होता है कि ये भृगु की तरह 'अधीहि भगवो ब्रह्मेति (तै० २.१) या 'योयं वरो गूढमनुप्रविष्टो नान्यं तस्मान्नचिकेता वृणीते' (कठ. १.१.२९) या श्वेताश्वतर महर्षि के पास गये ब्रह्मवादियों की तरह 'किं कारणम् ब्रह्म' केवल ब्रह्म के विषय में नहीं जानना चाहते, और भी कुछ जानना चाहते हैं। एवमपि परब्रह्म की प्राप्ति के उपायरूप से ही जानना चाहते हैं अतः ब्रह्मान्वेषणतत्पर हैं।

६. कहने के ढंग में अपनी बड़ाई प्रकट न करना यहाँ सुशीलता है।

जानता होऊँ' यह बताने के लिये नहीं, यह बात प्रश्नों के उत्तर दे दिये जाने से निश्चित होती है।[1] सभी प्रश्नों का समुचित उत्तर देने से (उनमें) उन विषयों का अज्ञान आदि[2] हो यह असंभव होने से ('यदि' शब्द खुशीलता व्यक्त करने के लिये है यह निश्चित है) यह तात्पर्य है।। २ ।।

"एक वर्ष बाद कबन्धी कात्यायन ने पिप्पलाद के समीप जाकर पूछा—'हे भगवन् ! ये ब्राह्मण आदि प्रजायें किस प्रसिद्ध कारण से[3] उपजती हैं ?' ।। ३ ।।"

'अथ' एक वर्ष बाद कबन्धी कात्यायन ने (पिप्पलाद के) 'उपेत्य' पास जाकर 'पप्रच्छ' पूछा—हे भगवन् ! निश्चय ही प्रसिद्ध 'कुतः' किस कारण से ये ब्राह्मण आदि प्रजायें 'प्रजायन्ते' उपजती हैं ? 'परम ब्रह्म का अन्वेषण करते हुए' इस प्रकार प्रारम्भ किये इस ब्रह्मसन्दर्भ में प्रजापति द्वारा की प्रजाओं की सृष्टि के विषय में प्रश्न-उत्तर संगत नहीं-यह (मन में) शंका कर प्रश्नोत्तररूप श्रुति का तात्पर्य बताते हैं – अपर ब्रह्म की उपासना और कर्म–इन दोनों का साथ-साथ अनुष्ठान करने से जो फल मिलता है और जिस मार्ग से मिलता है, वह बताना चाहिए, यह (सोचकर) उसे बताने के लिये यह प्रथम प्रश्न (श्रुति ने उठाया) है। 'तपआदिनिरत, अकुटिल, सत्यवान्, समुच्चयकारियों को वह जल्दी क्षीण न होने वाला ब्रह्मलोक मिलता है' (१.१६) इस प्रकार उपासना व कर्म को साथ करने से होने वाला ब्रह्मलोक (रूप फल) एवं 'प्रजा न चाहने वालों द्वारा प्राप्य अर्चिरादि मार्ग से' (१.१०) इत्यादि वाक्य से उस ब्रह्मलोक की गति अर्थात् देवयान मार्ग इस प्रश्न में बताया जाने वाला होने से (श्रुति का) उक्त तात्पर्य

---

१. उनके जिज्ञास्य को पूछे बिना रहने की आज्ञा से भी आत्मविश्वास स्पष्ट है कि इनके प्रश्नों का उत्तर दे ही दूँगा।

२. भ्रम।

३. उपादान व निमित्त दोनों कारणों का प्रश्न है। 'प्रसिद्ध' से प्रामाणिक उत्तर की माँग है; केवल स्वमनीषा-सिद्ध न हो, शास्त्रप्रसिद्ध हो वह कारण बताइये। अन्नादि उपादान व प्रजापति निमित्त कारण का वर्णन पिप्पलाद ने किया है।

(निश्चित होता) है। 'दोनों का साथ-साथ अनुष्ठान करने से' यह जो कहा है वह इससे अतिरिक्त भी किसी के संग्रह के लिए है; 'और केवल कर्मों को करने से'–यह भी समझ लेना चाहिये, क्योंकि केवल कर्म करने से होने वाला चन्द्रलोक (रूप फल) और पितृयाणरूप उसका मार्ग भी 'उन्हें ही यह (चन्द्रमारूप) ब्रह्मा का लोक मिलता है' (१.१५) (तथा) 'प्रजा चाहने वाले दक्षिणायन (पितृयाण) को प्राप्त होते हैं' (१.९) इस प्रकार बताया जाने वाला है। यद्यपि कर्म, तथा उपासना-युक्त कर्म से प्राप्य फल व मार्ग पूछना उस समय असंगत ही है जब परब्रह्म जो जानने की इच्छा हो, तथापि क्योंकि केवल कर्म से प्राप्य फल से एवं उपासना के साथ किये कर्म के फल से जिसका राग निवृत्त हो चुका है उसका ही परब्रह्म की जिज्ञासा में[१] अधिकार है इसलिये उन फलों से राग हटाने के लिये उन्हें बताया जा रहा है। यद्यपि ऊपर-ऊपर से देखें तो (यहाँ) सृष्टि बतायी जा रही है ऐसा प्रतीत होता है, तथापि उसे बताने में कोई प्रयोजन न होने से सृष्टि बताने के बहाने अपराविद्या (उपासना व कर्म) का फल ही[३] यहाँ बताया जा रहा है, यह तात्पर्य है। (भाष्य में) 'प्रश्न उठाया है' के साथ 'और उत्तर दिया है'– यह भी समझ लेना चाहिये[४] क्योंकि प्रश्न-उत्तर दोनों से ही उक्त विषय बताया गया है॥ ३॥

"पिप्पलाद महर्षि ने कात्यायन से कहा—श्रुति आदि में प्रसिद्ध हिरण्यगर्भरूप प्रजापति ने प्रजा उत्पन्न करने की इच्छा वाला होकर

---

१. 'विवेकिनो विरक्तस्य शमादिगुणशालिनः। मुमुक्षोरेव हि ब्रह्मजिज्ञासा-योग्यता मता'॥ वि० चू० १७॥

२. ईश्वर वेदाधिकारी नहीं कि उसे यह बताना कि 'यों प्रजायें उत्पन्न करो' प्रयोजन हो व मनुष्यादि को इस ढंग की सृष्टि करने का प्रसंग ही नहीं कि उन्हें समझाया जाये। शास्त्र का उपदेश निष्प्रयोजन हो तो स्वाध्यायविधि से उसे पढ़ना ही असंभव हो जाये। अतः सप्रयोजनता आवश्यक होने से यही प्रयोजन संभव है, यह तात्पर्य है।

३. फल भी समुच्चयादि में प्रेरित करने के लिये है।

४. वस्तुतः भाष्य में षोडशवाक्यात्मक इस खण्ड को ही प्रश्न कहा होने से कुछ अधिक जोड़ने की आवश्यकता नहीं।

(इस विषय में) श्रुतिप्रोक्त बातों का विचार कर उसी ने 'ये दोनों मेरी बहुत तरह की प्रजायें उत्पन्न करेंगे' ऐसा सोचकर रयि और प्राण—इनके जोड़े को उत्पन्न किया ॥ ४ ॥"

इस प्रकार पूछ चुके उस कात्यायन से उन पिप्पलाद महर्षि ने कहा, 'उन्होंने उससे कहा' इस प्रकार सूचित तथ्य को कहने की विशेषता[1] सहित वताते हैं—(अर्थात्) शंका निवृत्त करने के लिये (यों) समझाया—जैसा शास्त्र में बताया है (पूर्वजन्म में) वैसा अनुष्ठान करने वाला अर्थात् उपासना व कर्म को साथ-साथ करने वाला, पूर्वकल्प में 'मैं सर्वात्मा प्रजापति हूँ' ऐसी उपासना करते समय अपनी प्रजापति रूपता की जो भावना थी उससे युक्त (आधिकारिक व्यक्ति) इस कल्प के प्रारंभ में हिरण्यगर्भ रूप से सर्वात्मा[2] प्रजापति—उत्पन्न की जाती स्थावर-जंगम प्रजाओं का शासक—उत्पन्न हुआ, तदनन्तर प्रजाकाम हुआ अर्थात् अपनी प्रजाओं को उत्पन्न करने की इच्छा वाला हुआ तथा 'जगत् को उत्पन्न करूंगा' ऐसा उसने निश्चय किया (और) तप (किया) अर्थात् पूर्व जन्म में जिसका अर्जन किया था, श्रुति द्वारा बतायी बात के विषय में उस ज्ञान का 'अतप्यत' आलोचन किया अर्थात् विचार आदि कर उसके संस्कार को जगाकर स्मृत्यात्मक ज्ञान उत्पन्न किया। 'सृष्टि में पहले आदित्य और चन्द्र को उत्पन्न करने से आदित्य व चन्द्ररूप को प्राप्त होकर तदनन्तर चन्द्र और आदित्य से निर्वर्त्य संवत्सररूप को प्राप्त हो, इसी प्रकार संवत्सर के अवयव–दोनों अयन, मास पक्ष, दिन व रात–इन रूपों को प्राप्त हो, तत्पश्चात् संवत्सरादि काल से होने वाले चावल आदि अन्नरूप को प्राप्त हो और शुक्ररूप को प्राप्त हो उस शुक्र से प्रजाओं को उत्पन्न करूँ'—इस प्रकार निश्चित कर पहले रयि और प्राण शब्दों से कहे जाने वाले चन्द्र और सूर्य के जोड़े को (प्रजापति ने) उत्पन्न किया, यह बताते हैं—इस प्रकार 'तपः' श्रुतिजन्य ज्ञान को 'तप्त्वा' याद कर तदनन्तर तो[3] सृष्टि के विस्तर के[4]

१. विशेपता यह थी कि शंका निवारणार्थ कहा गया था, टालने आदि के लिये नहीं।

२. समष्टि जीव होने से सर्वात्मा है।

३. आलोचनातिरिक्त किसी क्रिया आदि की व्यावृत्ति के लिये 'तो' है।

४. हिरण्यगर्भ के कार्यों में सबसे व्यापक यही मिथुन है अतः इसी से सब

उपायरूप 'मिथुनम्' मिथुन अर्थात् जोड़े को 'उत्पादयते' उत्पन्न किया। धन वाचक 'रयि' शब्द से भोज्यसमूह की लक्षणा कर क्योंकि (अन्नादि) भोज्य चन्द्रमा की किरणें रूप अमृत से युक्त होता है इसलिये भोज्य द्वारा चन्द्रमा की लक्षणा की जाती है[1], यह कहते हैं— 'रयिम्' अन्नरूप चन्द्रमा को और— रयि शब्द की तरह प्राणशब्द के द्वारा भी 'मैं पेट की अग्नि होकर प्राणियों के शरीरों में रहता हूँ और प्राण व अपान से फूँका जाकर[2] चारों प्रकार के[3] भोजनों को पचाता हूँ' (गी. १५.१४) इस स्मृतिवचन के आधार पर अग्नि का प्राण से सम्बन्ध होने से (प्राण शब्द से) अग्निरूपं भोक्ता लक्षित होता है यह कहते हैं— 'प्राणम्' अत्तारूप (खाने वाला) अग्नि को (उत्पन्न किया)। ये दोनों अत्ता और अन्नरूप अग्नि और सोम[4] (आदित्य और चन्द्र) 'मे' मेरी 'बहुधा' अनेक प्रकार की प्रजाओं को उत्पन्न करेंगे' ऐसा सोचकर, क्योंकि अग्नि और सोम ब्रह्माण्ड के अन्तर्गत हैं इसलिये ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति के बाद उनकी उत्पत्ति हुई इस आशय से कहते हैं—ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति के व्यवधान से, 'निश्चय ही अग्नि उगते सूर्य पर चढ़ जाती है'[5] (तै० ब्रा० २.१.१३) इस श्रुतिवचन के अनुसार

कार्यों का विस्तार होता है। समष्टि रूप से उत्पन्न कर व्याष्टिरूपों में विभाजन ही विस्तार है।

१. एवं च लक्षितलक्षणा का स्थल है।

२. समायुक्तत्वं संधुक्षितत्त्वम्।

३. चबा के खाये जाने वाले मालपुआ आदि भक्ष्य, निगला जाने वाला खीर आदि भोज्य, चाटा जाने वाला गुड़ आदि लेह्य और जिसका रस रस चूस लिया जाये व बाकी फेंक दिया जाये वह चोष्य; ये चार प्रकार के भोजन होते हैं।

४. 'ईदग्नेः सोमवरुणयोः' (६.३.२७), 'अग्नेः स्तुत्स्तोमसोमाः' (८.३.८२) से क्रमशः अग्नि के इकार के स्थान पर ईकार और सोम के सकार के स्थान पर षकार होता है।

५. अग्निलिंगक मंत्र सायं और सूर्यलिंगक मंत्र प्रातः उच्चारित किया जाये यह समझाते हुए रात को सूर्य आग में व दिन में आग सूर्य में प्रविष्ट होती है, जब जो देवता स्वयं हैं तब उसके लिंग वाले मंत्रों का उच्चारण करना चाहिये यह ब्राह्मणतात्पर्य है।

सूर्य व अग्नि को एक मानकर सूर्यशब्द से अग्नि को कहते हैं— सूर्य और चन्द्रमा को उत्पन्न किया ॥ ४ ॥

"आदित्य[1] ही निश्चित रूप से प्राण (अत्ता) है। चन्द्रमा रयि (अन्न) ही है। मूर्त (अन्न) व अमूर्त (अत्ता)-सभी[2] (क्योंकि परस्पर आश्रित हैं इसलिये) रयि ही हैं। (किन्तु उनमें भी अन्न सर्वथा अन्यार्थ होने से) अमूर्त (प्राण, अत्ता) से भिन्न मूर्ति (अन्न) ही रयि है ॥ ५ ॥"

रयि और प्राण की व्याख्या स्वयं श्रुति ही करती है इसलिये (श्रुत्यर्थ) बताते हैं—उन दोनों में आदित्य अर्थात् अग्नि ही निश्चित रूप से प्राण अर्थात् अत्ता है[3]। 'रयिरेव चन्द्रमाः' रयि ही अर्थात् अन्न ही चन्द्रमा (सोम) है। संवत्सर से प्रजा तक सभी की सृष्टि करने वाला प्रजापति ही है यह बताने के लिये संवत्सर की सृष्टि करने वाले रयि और प्राण (चन्द्र व सूर्य) का उपादान क्योंकि प्रजापति है इसलिये वे दोनों भी प्रजापतिस्वरूप ही हैं[4], यह कहते हैं— वह यह एक है[5], अर्थात् अत्ता (भोक्ता) और अन्न (भोग्य) एक ही जोड़ा है जो है प्रजापतिस्वरूप। एक (प्रजापति) के अत्ता और अन्न ये (दोनों) भेद कैसे ? यह शंका कर, उसी (प्रजापति) की गुणरूपता[6] बताने की

---

१. पूर्वोक्त अग्नि।

२. शंकरानन्द स्वामी के अनुसार मूर्त से पृथ्वी जल व तेज और अमूर्त से वायु और आकाश—ये पाँचों महाभूत सभी रयि हैं। क्योंकि मूर्त अधिक हैं इसलिये मूर्ति ही रयि है। यह भी एक वैकल्पिक व्याख्या है। विद्यारण्यस्वामी तो चावल और ओषधियों को मूर्त और शब्द आदि को अमूर्त समझते हैं। 'मूर्तमोषध्यादिभोग्यं शब्दगन्धरसादिकम्। अमूर्तम्' (अनु० प्र० ७.८)।

३. भोक्ता का स्वरूप प्रथम मिथुन में आदित्य (अग्नि) है और भोग्य का चंद्र (सोम)।

४. जैसे मृदुपादानक घटादि मृत्स्वरूप ही हैं।

५. यह सूत्रवाक्य है जिसे स्वयं समझाया है अत्ता इत्यादि से। भाष्य में स्वपद वर्णन भी होना चाहिये।

६. जो किसी दूसरे के लिये हो वह गौण कहाता है। प्रजापति ने यही जोड़ा बनाया—एक वह जिसके लिये है (प्रधान) और दूसरा वह जो

इच्छा से अन्नरूपता और (उसी की) प्रधानरूपता बताने की इच्छा से अत्ता-रूपता—यह भेद (किया) है यह कहते हैं—(एक प्रजापति में ही अन्न और अत्ता यह) भेद तो[1] (किसी हिस्से के) गौण और (अन्य हिस्से के) प्रधान होने से किया गया है। रयि और प्राण की प्रजापतिस्वरूपता कैसे ?— यह शंका उठाते हैं— (यह जोड़ा प्रजापतिस्वरूप) कैसे (है) ? उस जोड़े में रयि की प्रजापतिस्वरूपता इसलिये है कि वह सर्वस्वरूप है, यह बताते हैं—यह सब 'रयिर्वै' अन्न ही है। वह (सब) क्या (है जो अन्न ही है) ? 'यन्मूर्तम्' स्थूल और 'अमूर्तम्' सूक्ष्म (वह सब है जो अन्न ही है)। रूपरहित[2] वायु आदि भी किसी के द्वारा खाये (भोगे, जाते हैं इसलिये उनकी भी रयि (अन्न) रूपता है (इसलिये स्थूलमात्र[3] अन्न के अन्तर्गत ले लिया) यह तात्पर्य है। अत्ता और अन्नरूप (क्रमशः) सूक्ष्म व स्थूल (अमूर्त व मूर्त), दोनों रयि ही हैं। यदि अत्ता और अन्नरूप अमूर्त व मूर्त दोनों ही रयि हैं तो 'अन्न ही रयि है' यह कैसे कहा था ?—यह शंका कर, मूर्तता व अमूर्तता—इस विभाजन को न कर सभी (अत्ता और अन्न) गौण हैं[4]—बस इतना बताने की इच्छा से 'सभी रयि है' यह कहा गया है। जब (अत्ता और अन्न) दोनों को अलग-अलग कर (एक की) गौणता और (दूसरे की) प्रधानता[5]

(गौण) उसके लिये है। क्यों कि प्रजापति ही इन रूपों में अवस्थित हुआ अतः इसी के इन गुणों को मान कर उसे खाने वाला और खाया जाने वाला दोनों कहते हैं।

१. भेदस्तु—इति पूर्वेण सम्बन्धः। ऐक्याऽविरोधस्तुकारार्थः। ऐक्येऽपि भेदो वर्तत इति भावः।

२. मूर्तामूर्त ब्राह्मण (बृ० २.३.१) के अनुसार यही सरल अमूर्तता है। वायु में क्रिया होने से उसका न होना यहाँ विवक्षित नहीं।

३. यहाँ (प्रश्नवाक्य में) मूर्तपद से समस्त भूत विवक्षित हैं जिन्हें भाष्य में स्थूल शब्द से कहा है। बृहदारण्यक के मूर्त-अमूर्त दोनों यहाँ मूर्त के अंतर्गत हैं। पंचीकृत की दृष्टि से स्थूलता स्पष्ट ही है। भोगविषय होने से भी स्थूलता है।

४. परस्पर आश्रित होने से दोनों की एक दूसरे के प्रति गौणता इष्ट है।

५. भोक्तृत्वेन प्रधानता और भोग्याश्रित होने से गौणता है अतः विरोध नहीं।

पुरस्कृत कर उन्हें बताने की इच्छा हो तब क्योंकि अमूर्त (सूक्ष्म) प्राण द्वारा मूर्त (स्थूल) खाया (भोगा) जाता है इसलिये मूर्त (स्थूल, अन्न) की ही रयिरूपता (कही जाती) है, यह बताते हैं— 'तस्मात्' जिसे (अन्न से) अलग किया जा चुका है उस अमूर्त (सूक्ष्म, अत्ता) से भिन्न जो 'मूर्तिः' मूर्तरूप (अन्न) है वही रयि है क्योंकि अमूर्त (अत्ता) द्वारा वह (मूर्तरूप–अन्न) खाया जाता है ॥ ५ ॥

रयि-शब्द से कथित अन्न की प्रजापतिरूपता स्पष्ट करने के लिये उसकी (रयि की) सर्वरूपता बता कर उसी प्रयोजन से प्राण की भी सर्वरूपता 'क्योंकि आदित्य' इस वाक्य से बतायी जा रही है, यह कहते हैं—(जिस प्रकार रयि सर्वरूप है) उसी प्रकार क्योंकि जो अन्न है वह भी प्राण है इसलिये अमूर्त (सूक्ष्म) अत्तारूप प्राण भी सभी कुछ है अर्थात् सर्वरूप है। क्यों ?—

"क्योंकि आदित्य उगते हुए जो पूर्व दिशा में प्रवेश करता है उससे वह पूर्व दिशा में स्थित प्राणियों को[1] अपनी किरणों में आत्मसात् कर लेता है। जो वह दक्षिण, पश्चिम व उत्तर दिशाओं में तथा नीचे, ऊपर और अवान्तर दिशाओं में प्रवेश करता है, जो वह सबको प्रकाशित करता है, उससे सभी प्राणियों को अपनी किरणों में आत्मसात् कर लेता है। (इसलिये आदित्यशब्दित प्राण भी सर्वरूप है) ॥ ६ ॥"

क्योंकि[2] आदित्य 'उदयन्' उगते हुए अर्थात् लोगों की आँखों का विषय बनते हुए जो पूर्व दिशा में अपने प्रकाश से—अपने प्रकाश से अर्थात् अपनी प्रभा से—प्रवेश करता है (अर्थात् उसे अपने प्रकाश से) व्याप्त कर देता है, उससे अर्थात् अपने स्वरूपभूत प्रकाश द्वारा उसे व्याप्त कर देने से पूर्वदिशा के अन्तर्गत उसमें स्थित सब 'प्राणान्' प्राणियों को[3]; [4]यद्यपि प्राण की अत्तारूपता बतायी गयी है तथापि

---

१. सब प्राणियों के प्राणों को। प्राण से अन्न भी समझ लेने चाहिये।

२. अथ हेताविति शंकरानन्दाः।

३. प्राणानिति प्रतीकस्य प्राणिन इति व्यवहितेन व्याख्यानम्। अत्तारोऽत्र प्राणिन उच्यन्ते।

४. 'प्राणियों को' यह कहा, इससे अन्न की आदित्यरूपता क्यों कर समझी जाये ? इस शंका का समाधान करते हैं—यद्यपि इत्यादि से।

'यह सभी रयि ही है' (१.५) इस वाक्य में अमूर्त (सूक्ष्म) प्राण की भी गौणता (आश्रितता) बताने की इच्छा से (प्राण की) अन्नरूपता कही थी, इसलिये (जैसे वहाँ प्राण को अन्न कहा था) वैसे[1] [यहाँ 'प्राणियों को' (भोक्ताओं को) कहकर 'अन्नों को' भी] कह दिया है। अपने प्रकाशरूप अर्थात् अपनी प्रभारूप किरणों में 'सन्निधत्ते' प्रवेशित कर लेता है अर्थात् उन्हें अपना स्वरूप बना लेता है[2] क्यों कि व्यापक किरणों में वे व्याप्त अर्थात् संवद्ध होते हैं[3]। उसी प्रकार जो वह दक्षिण दिशा में प्रवेश करता है; जो पश्चिम में, जो उत्तर में, जो नीचे, ऊपर करता है, और जो 'अन्तरा दिशः' कोने की दिशाओं में अर्थात् (आग्नेयादि[4]) अवान्तर दिशाओं में प्रवेश करता है तथा जो वह अन्य सब को प्रकाशित करता है, उससे—अपने प्रकाश से व्याप्त करने से 'सर्वान्' सब दिशाओं में स्थित प्राणियों को अपनी किरणों में आत्मसात् कर लेता है; (इसलिये आदित्यशब्द से कहा गया प्राण भी सर्वरूप है[5]) ॥ ६ ॥

"प्रसिद्ध यह प्रत्यक्ष सर्वजीवरूप और सर्वप्रपंचरूप अग्न्यात्मक (आदित्यात्मक) प्राण (सब दिशाओं को आत्मसात् करते हुए रोज़) उगता है। आदित्य की यह महिमा इस ऋचा द्वारा स्पष्ट की गयी है—॥ ७ ॥"

प्राण की प्रत्यक्षसिद्धरूपता वताते हैं—प्रसिद्ध यह प्रत्यक्ष अत्तारूप

---

१. गौणीवृत्ति के प्रयोग में ही दृष्टान्त है, अन्न के प्राधान्य की विवक्षा नहीं है। वहाँ गौणतारूप गुणसंबंध से प्राण को अन्न कहा था। यहाँ प्राण शब्द से कहा जा चुका होना रूप गुण सम्बन्ध से अन्न को प्राण कहा है।

२. सब अत्ता और अन्न आदित्य रूप हैं यह भाव है।

३. जैसे व्यापक मनुष्यत्व से व्याप्त ब्राह्मण मनुष्य स्वरूप होता है।

४. पूर्व-दक्षिण के बीच आग्नेय, दक्षिण-पश्चिम के बीच नैर्ऋत्य, पश्चिम-उत्तर के बीच वायव्य और उत्तर-पूर्व के बीच ईशान अवान्तर दिशायें प्रसिद्ध हैं।

५. इस प्रकार रयि और प्राण दोनों की सर्वरूपता अर्थात् प्रजापतिरूपता सिद्ध कर दी।

प्राण वैश्वानर नर अर्थात् जीव, सभी वे जीव विश्वानर हैं,[१] जो विश्वानर है वही वैश्वानर है सर्वरूप अर्थात् सर्वजीवस्वरूप है और सारे संसार (अन्न) का स्वरूप होने से विश्वरूप अर्थात् सर्वप्रपंचरूप है। (सर्वात्मा और विश्वरूप के अर्थों में) यह भेद है (कि एक सर्वजीव-रूपता–अत्तृरूपता–को और दूसरा सर्वप्रपंचरूपता–अन्नरूपता को बताता है)। वही (वैश्वानर) अत्ता अग्निरूप (आदित्यरूप) भी है। (वह) रोज सब दिशाओं को आत्मसात्[२] करते हुए उगता है। 'तदेतत्' पूर्वोक्त विषय अर्थात् आदित्य की पूर्वोक्त महिमा 'ऋचा' मन्त्र द्वारा भी स्पष्ट किया गया है ॥ ७ ॥

"ब्रह्मवेत्ताओं ने उस सर्वरूप, किरणों वाले[३], उत्पन्न हो चुके ज्ञान वाले,[४] सब प्राणों के (अत्ताओं के) आश्रय, सब प्राणियों का चक्षु बने हुए, अद्वितीय, तपते हुए सूर्य को जाना जो यह सूर्य उगता है, अनेक किरणों वाला है, अनेक प्रकार से विद्यमान है व प्रजाओं का प्राण[५] है ॥ ८ ॥"

'विश्वरूपम्' सर्वरूप, 'हरिणम्' किरणों वाले,[६] 'जातवेदसम्' उत्पन्न हो चुके ज्ञान वाले, 'परायणम्' सब प्राणों के आश्रय,[७] 'ज्योतिः' सब प्राणियों के चक्षु बने हुए,[८] 'एकम्' अद्वितीय, 'तपन्तम्'[९] तपने की

---

१. 'नरे संज्ञायाम्' (६.३.१२९) इत्यस्य विषयत्वेपि निपातात्पूर्वपदस्य दीर्घता ततः राक्षसवायसवत्स्वार्थेऽण्। टीकायां विश्वानरा इति संज्ञेतर-निर्देशाद्विषयत्वपर्यन्तमनुधावनम्।

२. 'विभाषा साति कार्त्स्न्ये' (५.४.५२)। सर्वथा अपना स्वरूप बना लेना आत्मसात् करना कहलाता है।

३. हरणशीलमिति शंकरानन्दीयदीपिका।

४. हिरण्यगर्भस्य जीवकोटित्वात्। दीपिकायान्तु जातानि वेदांसि विज्ञानानि सर्वविषयाणि यस्मादिति विग्रहः।

५. व्यष्टावादित्यो हिरण्यगर्भः प्राण एव। 'सर्वव्यवहारनिर्वाहकारणमि'ति दीपिका।

६. यहाँ वह रश्मियों वाला है यह कहा, 'सहस्ररश्मि' से उसकी रश्मियाँ है यह कहेंगे अतः पुनरुक्ति नहीं।

७. जैसे अवयव का अश्रय अवयवी होता है ऐसे व्यष्टि का आश्रय समष्टि है।

८. 'आदित्यश्चक्षुर्भूत्वाऽक्षिणी प्राविशत्' (ऐ० २.४)।

९. इससे एक जीववाद जानना चाहिये।

क्रिया करते हुए,[१] क्योंकि 'विश्वरूपम्' ('सर्वरूप को') इत्यादि द्वितीया विभक्ति में स्थित शब्दों की व 'सहस्ररश्मिः' ('अनेक किरणों वाला है') इत्यादि प्रथमाविभक्ति में स्थित शब्दों की बोध्य वस्तु एक ही हो यह संगत नहीं[२] इसलिये ऋक् में न कहे शब्दों को अपनी ओर से जोड़कर दो वाक्य[३] बना कर व्याख्या करते हैं—अपने स्वरूपभूत[४] सूर्य को विद्वान् ब्रह्मवेत्ताओं ने[५] जाना। यह कौन है जिसे उन्होंने जाना ? 'सहस्ररश्मिः' अनेक किरणों वाला, प्राणियों के बहुविध भेद होने से (प्रत्येक का स्वरूप होने के कारण) 'बहुधा' अनेक प्रकार से विद्यमान, प्रजाओं का प्राण, (जो) यह[६] सूर्य उदय होता है (उसे उन्होंने जाना) ॥ ८ ॥

'प्रजापति ने रयि और प्राण—इनके जोड़े को उत्पन्न किया' (१.४) यहाँ से जिसे बताना प्रारम्भ किया उस आदित्य और चन्द्र के जोड़े का विषय समाप्त करते हैं[७]—जो यह चन्द्रमा, स्थूल, अन्न है और जो सूक्ष्म, प्राण, अत्ता, आदित्य है, वह यह एक जोड़ा है (जो) सब अर्थात् सर्वस्वरूप है। 'ये दोनों मेरी बहुत तरह की प्रजायें उत्पन्न करेंगे' (१.४) यह कहा था; वह किस प्रकार (करते हैं) यह पूछते हैं—(ये दोनों) प्रजायें किस प्रकार करेंगे ? रयि (चन्द्र) और प्राण (आदित्य) की प्रजोत्पादकता संवत्सर आदि के द्वारा है[८] यह कहते हैं - (यह श्रुति द्वारा) बताया जाता है—

"प्रसिद्ध है कि संवत्सर ही[९] प्रजापति है। संवत्सर जिसका स्वरूप

---

१. भोग के कर्ता व कर्म बनते हुए।

२. समान वाक्य में एक वस्तु के बोधक शब्द एक विभक्ति में होने चाहिये।

३. द्वितीयान्त पदों को 'विज्ञातवन्तः' पद देकर निराकांक्ष कर एक वाक्य समाप्त किया। दूसरा वाक्य तो श्रुति में स्वयं ही है। यत् तत् का भी अध्याहार करने से दोनों वाक्यों का मिलकर अभिप्राय स्पष्ट हो जाता है।

४. सब अत्ताओं का स्वरूप वही है।

५. अपरब्रह्मवेत्ता समझने चाहिये।

६. दृश्यमान सूर्य समष्टि प्राणात्मक सूर्य का प्रतीक समझना चाहिये।

७. क्योंकि संवत्सररूप अगली सृष्टि बतानी है।

८. चन्द्र-सूर्य संवत्सर को, वह मास को; इस प्रकार क्रम से वे उत्पादक हैं।

९. अर्थात् संवत्सर प्रजापति ही है।

है उस प्रजापति के दो मार्ग हैं—दक्षिण और उत्तर। ब्राह्मण आदि अधिकारियों में जो तो इष्ट, पूर्त आदि किये जाने वाले कर्मों का ही सविधि अनुष्ठान करते हैं वे चन्द्रमा में होने वाले लोक को[1] जीतते हैं। वे ही पुनः लौटते हैं। क्योंकि स्वर्ग देखने वाले और प्रजायें चाहने वाले गृहस्थ कर्मों द्वारा अपने प्राप्य के रूप में चन्द्रमा को ही तैयार करते हैं इसलिये वे दक्षिणमार्ग से प्राप्य चन्द्रमा को ही पहुँचते हैं। यह निश्चय ही अन्न ही है जो पितृयाण और उससे (दक्षिणमार्ग से) प्राप्य चन्द्रमा है॥ ९॥"

वह मिथुन (जोड़ा) ही संवत्सररूप[2] काल है और वही प्रजापति है; (प्रजापति इसलिये है) क्योंकि प्रजापतिरूप जोड़े से वह (संवत्सर) बनता है, यह बताते हैं—क्योंकि प्रजापति से संवत्सर का स्वरूपलाभ होता है। इस बात का उपपादन करते हैं—चन्द्र और आदित्य से बनने वाले तिथियों का व दिन-रातों का[3] समूह ही—चन्द्रमा से

१. अर्थात् अनुभवों को पाते हैं।

२. महाकल से व्यावृत्ति समझनी चाहिये।

३. मीन, मेप, वृप, मिथुन, कर्क, सिंह, कन्या, तुला, वृश्चिक, धन, मकर और कुम्भ—ये वारह राशियाँ हैं। प्रत्येक राशि का क्षेत्र तीस अंश है। जितने समय में सूर्य इन सब राशियों से (मेप से मीन तक) गुज़र जाये वह एक (सौर) संवत्सर कहा जाता है। एवं च एक माह में एक राशि पार होगी। तथा पलक झपकने में लगने वाला समय निमेप कहाता है। १८ निमेप की एक काष्ठा व ३० काष्ठा की एक कला होती है। ३० कला का एक क्षण, १२ क्षणों का एक मुहूर्त और ३० मुहूर्त के समय को अहोरात्र कहते हैं। एवमपि दिन-रात को अहोरात्र कहा जाता है जो एक सूर्योदय से अगले सूर्योदय तक का काल होता है। इस प्रकार अहोरात्र सूर्य से निष्पाद्य हैं। आदित्य और चन्द्रमा की आपसी दूरी १२ अंश हो तब एक तिथि होती हैं। अमावस्या को दोनों एक सीध में रहते हैं अतः आपसी दूरी शून्य अंश होती है। तब से जब तक वह दूरी १२ अंश होगी तब तक प्रतिपदा रहेगी। तदनन्तर २४ अंश तक द्वितीया। इस प्रकार ३६० अंशों में ३० तिथियाँ बँटी हैं। पुरुषार्थ चिन्तामणि में कहा है—'आदित्याद्विप्रकृष्टस्तु भागद्वादशकं यदा। चन्द्रमा

तिथियाँ बनती हैं और आदित्य से दिन-रात बनते हैं—यह (चन्द्र और आदित्य से बनने वालों का) विभाजन है—संवत्सर है; चन्द्र-आदित्य से बनने वाला होने पर भी संवत्सररूप काल का स्वरूप चन्द्र-आदित्य (अर्थात् प्रजापति) ही है, यह कैसे ?—यह शंका कर, कार्य और कारण का अभेद[1] होने से (कार्यभूत संवत्सर का स्वरूप कारणभूत प्रजापति ही है)—यह उत्तर देते हैं—चन्द्र-आदित्यात्मक प्रजापतिरूप कारण से अभिन्न होने से कार्यरूप संवत्सर का स्वरूप रयि-प्राण का जोड़ा ही है, यह कहा जाता है। संवत्सर चन्द्र-आदित्य से केवल तिथि आदि द्वारा ही नहीं बनता किन्तु अयनों (मार्गों) द्वारा[2] भी (उनसे) बनता है, यह बताने के लिये 'उस प्रजापति के दो मार्ग हैं' इत्यादि वाक्य है। पहले प्रश्न उठाकर फिर उसकी व्याख्या करते हैं—वह

स्यात्तदा राम तिथिरित्यभिधीयते' ॥ इस प्रकार चन्द्रमा जितने समय में १२ राशियों से गुज़र जाये वह एक चान्द्रमास होता है। इसे अमावास्या से अमावास्या तक मानें या पूर्णिमा से पूर्णिमा तक, इसमें मतभेद है। पुरुषार्थचिंतामणि में तो 'संनिकर्षादिथारभ्य संनिकर्षमथापरम् । चन्द्रार्कयोर्बुधैर्मासश्चान्द्र इत्यभिधीयते' ॥ से अमान्तमास को मान्यता दी है। शुक्ला प्रतिपदा के समय सूर्य मीन राशि में हो तो चान्द्रमास का नाम चैत्र होता है, शुक्ला प्रतिपदा के समय सूर्य मेष में हो तो चान्द्रमास का नाम वैशाख होता है, ऐसे ही वृष में हो तो ज्येष्ठ, मिथुन में हो तो आषाढ, कर्क में हो तो श्रावण, सिंह में हो तो भाद्रपद, कन्या में हो तो आश्विन, तुला में हो तो कार्तिक, वृश्चिक में हो तो मार्गशीर्ष, धनुष में हो तो पौष, मकर में हो तो माघ और कुम्भ में हो तो फाल्गुन—यह व्यवस्था है। चैत्र शुक्ल प्रतिपदा से फाल्गुन की अमावस्या तक का काल एक संवत्सर होता है (अमान्त मास पक्ष में)। पूर्णिमा मासारम्भ मानने वाले पक्ष में चैत्र शुक्ल प्रतिपदा से चैत्र अमावस्या तक का काल एक संवत्सर होता है। इस प्रकार स्पष्ट है कि संवत्सर सूर्य-चन्द्र से ही बनता है।

१. भेद सहिष्णु अभेद समझना चाहिये, अत्यन्त अभेद नहीं। घट और मिट्टी का अभेद दृष्टान्त है।

२. सूर्य कर्क से मकर तक छह महीनों में दक्षिण की ओर और मकर से कर्क तक छह महीनों में उत्तर की ओर चलता है। ये उसके दो मार्ग हैं।

बात कैसे ? अर्थात् (संवत्सर) चन्द्र-आदित्य से बनता है इस बात में और क्या हेतु है ? उस संवत्सररूप प्रजापति के 'अयने' दो मार्ग हैं—दक्षिण (मार्ग) और उत्तर (मार्ग)। छह-छह महीनों की लम्बाई वाले दो मार्ग (अयन) प्रसिद्ध ही हैं जिनसे सूर्य—यहाँ जो 'सूर्य' कहा है उससे चन्द्रमा को भी समझ लेना चाहिये क्योंकि 'दक्षिणायन ज्येष्ठ मास से प्रारम्भ होने वाला है, उत्तरायण मार्गशीर्ष से प्रारम्भ होने वाला है' ऐसा श्रुतियों में प्रसिद्ध है[1]। केवल कर्म करने वालों को लोक-प्रदान करते हुए दक्षिणमार्ग से और उपासना सहित कर्म करने वालों को लोक-प्रदान करते हुए उत्तर मार्ग से चलता है[2]। इससे (यह बताया कि) (केवल तथा समुच्चित) कर्म करने वालों को लोक[3] प्रदान करने के लिये चन्द व सूर्य का दक्षिण व उत्तर मार्गों से गमन होता है और इसलिये यह प्रसिद्ध है कि दो मार्ग (अयन) हैं जिससे कि उस गमन से ही वे दोनों मार्ग (अयन) बनते हैं और इसके द्वारा (गमन से अयन बनाने के द्वारा) संवत्सर भी उन्हीं से (चन्द्र-आदित्य से) बनता है। चन्द्र और आदित्य लोक प्रदान करते हैं यह कैसे ? यह पूछते हैं—कैसे (चन्द्र-आदित्य लोक प्रदान करते हैं) ? चन्द्र और आदित्य से बनने वाले दक्षिण व उत्तर मार्गों द्वारा लोक प्राप्ति होने के कारण तथा प्राप्त होने वाला लोक भी चन्द्रस्वरूप व आदित्यस्वरूप होने के कारण चन्द्र व आदित्य फल प्रदान करने वाले हैं। इस बात को 'ब्राह्मण आदि अधिकारियों में जो तो' इत्यादि वाक्य से बताकर उत्तर देते हैं—'तत्' उनमें अर्थात् ब्राह्मण आदि (अधिकारियों) में जो तो निश्चितरूप से सविधि अनुष्ठान करते हैं—इस प्रकार श्रुति में आया दूसरा[4] तत्-शब्द (उपासते) क्रिया की विशेषता (सविधि आदि) बताता है—(काहे का अनुष्ठान करते हैं ?—) 'इष्टापूर्ते' इष्ट तथा पूर्त 'अग्निहोत्र, तप, सत्यवदन तथा वेदाङ्गओं

---

१. अर्थात् चान्द्रमास का अयनों से सम्बन्ध बोधित है।

२. दोनों मार्गों से चलते हुए दोनों को ही यथायोग्य फल देता है, अयनादिवचन देवतापरक हैं कालपरक नहीं इत्यादि विस्तार आकारों में (ब्र० सू० ४.२.२०) देखना चाहिये।

३. केवल कर्मियों को स्वर्गलोक और समुच्चयानुष्ठायियों को ब्रह्मलोक।

४. 'तद्ये'—यहाँ प्रथम तत् शब्द है, 'तदिष्टापूर्ते' यह दूसरा है।

का अनुपालन, अतिथि सेवा, और वैश्वदेवकर्म[१]—इन्हें इष्ट कहते हैं। वावड़ी, कूप, तालव, देवमन्दिर, बगीचे बनाना व अन्नप्रदान करना —इन्हें पूर्त कहते हैं।'—यह दोनों का अन्तर है। 'कृतम् इति उपासते' इस स्थल पर 'कृतम्' शब्द के बाद जो 'इति' शब्द है उसे 'इष्टापूर्ते' इस जगह पूर्तशब्द के बाद लाकर उसकी 'आदि' शब्द के समानार्थक रूप में व्याख्या करते हैं— 'इति' आदि—आदिशब्द का अर्थ दत्त[२]

---

१. गृहस्थ को पाँच पाप रोज प्राप्त होते हैं जिसके दोष परिहारार्थ वैश्वदेव-नामक पाँच महायज्ञ गृहस्थ का नित्य कर्तव्य है। ब्रह्मा, प्रजापति, गृह्य, कश्यप और अनुमति इन पाँच देवताओं को एक एक आहुति देनी चाहिये। फिर विश्वेदेवों को और अग्निस्विष्टकृत् को एक एक आहुति देनी चाहिये। जिस आग में भोजन पकाया हो उसमें आहुति दी जाती है। हुतशेष अन्न से पर्जन्य, जल और पृथिवी को बलि देनी चाहिये। तदनन्तर द्वारशाखाओं पर धाता व विधाता को एक एक बलि दी जाये। चारों दिशाओं में वायु के लिये भी बलित्याग करना चाहिये। फिर दिशाओं के लिये, ब्रह्म के लिये, अंतरिक्ष के लिये, विश्वेदेवों के लिये, सब भूतों के लिये, उषा के लिये, भूतपति के लिये बलियाँ देनी चाहिये। इस प्रकार द्वितीय भूतयज्ञ हुआ। फिर पितरों के लिये एक बलि देनी चाहिए। तदनन्तर काक बलि, दो कुत्तों के लिये बलि, देवता आदियों के लिये बलि, चीटियों के लिये बलि और गोग्रास देना चाहिये। तदुत्तर अतिथि-पूजा कर उसे भोजन करावे। अतिथि न हो तो सोलह कौर (न हो सके तो चार कौर) अन्न ब्राह्मण को दे देना चाहिये। ये कर्म मंत्र सहित करने चाहिये किंतु यदि पुरुषादि अधिकारी न कर सकें तो बिना मंत्र बोले गृहस्थ स्त्रियों को ही इन्हें कर लेना चाहिये। इस प्रकार देव, पितृ, भूत और नृ-यज्ञ हो जाते हैं। ब्रह्मयज्ञ तो वेदादिका अध्ययन-अध्यापन है जो अधिकारी ही कर सकता है 'अध्यापनं ब्रह्मयज्ञः पितृयज्ञस्तु तर्पणम्। होमो दैवो बलिर्भौतो नृयज्ञोऽतिथिपूजनम्' ॥ मनु० द्र० मुण्ड० १.२.१०।

२. 'पण्यमूल्यं भृतिस्तुष्ट्या स्नेहात्प्रत्युपकारतः। स्त्रीशुल्काऽनुग्रहार्थं च दत्तं दानविदो विदुः'—(मिताक्षरा) यह सात तरह का 'दत्त' दान है। मूल्य चुकाना, तनखा देना, किसी से संतुष्ट होकर देना, स्नेह से देना, पूर्व में किसी ने अपने ऊपर उपकार कर दिया हो उसे ध्यान में रख प्रत्युपकारार्थ देना, स्त्रीशुल्क देना और किसी पर कृपा कर देना—ये दत्त कहलाते हैं।

है। किये जाने वाले कर्मों का ही अनुष्ठान करते हैं, अर्थात् जो किया जाता है उसे ही करते हैं[१]। 'कृतम्' ('किये जाने वाले') यह कर्म का विशेषण स्वर्ग से लौटने के प्रति कारण रूप से दिया है। जो किया (बनाया) नहीं जाता उस नित्य (ब्रह्म की उपासना या उसका ज्ञान) नहीं (करते), वे 'चान्द्रमसम्' चन्द्रमा में होने वाले 'लोकम्' जोड़ारूप प्रजापति के अंश अन्नरूप रयि को 'अभिजयन्ते' जीतते (प्राप्त करते) हैं। किया गया होना जिसका स्वरूप है उस इष्टि (यज्ञ) आदि से उत्पाद्य[२] होने के कारण चन्द्र भी किया गया है अतः वह अनित्य है जिससे कि वहाँ से पुनः लौटना पड़ता है, यह बताते हैं—क्योंकि चन्द्रमा में होने वाला लोक (अन्न) किया गया है इसलिये (वहाँ उपभोग्य) किये गये कर्म का वहीं समापन होने से वे (इष्टादिकारी) पुनः लौट आते हैं, पुनः लौटते हैं इस बात में मन्त्रभाग के वाक्य को प्रमाणरूप से बताते हैं—जैसा कि कहा है 'इस मनुष्य लोक या इससे निकृष्ट लोक को जाते हैं' (मुं. १.२.१०)। इस प्रकार क्योंकि ये 'ऋषयः' स्वर्ग देखने वाले, 'प्रजा-कामाः' प्रजायें चाहने वाले गृहस्थ इष्ट, पूर्त (आदि) कर्म से अन्नस्वरूप प्रजापति चन्द्र को फलस्वरूप से निष्पन्न (तैयार) करते हैं इसलिये ये अपने द्वारा ही निष्पादित 'दक्षिणम्' दक्षिणमार्ग से उपलक्षित[३] चन्द्र को पहुँचते हैं। यह निश्चय ही 'रयिः' अन्न[४] है जो 'पितृयाणः' दक्षिणमार्ग से उपलक्षित चन्द्र है॥ ९॥[५]

---

१. क्रिया स्वयं अनित्य होती है अतः की जाती है और उसका फल भी अनित्य होता है। ऐसे अनित्य फल वाली अनित्यक्रियायें ही इनके लिये एकमात्र हितसाधन रह गया है यह भाव है। अनित्यफलकता से ही विशेषणसाफल्य टीका में बताया है।

२. स्वरूपतः इष्टि-उत्पाद्य न होने पर भी भोग्यतया इष्टि-उत्पाद्य है ही।

३. दक्षिण मार्ग और उससे प्राप्य चन्द्र दोनों ही समझे जायें इसलिये 'उपलक्षित' कहा।

४. 'तद्देवानामन्नं तं देवा भक्षयन्ति' (छा० ५.१०.४); 'ताँस्तत्र देवा यथा सोमँ राजानमाप्यायस्वापक्षीयस्वेत्येवमेनाँस्तत्र भक्षयन्ति' (बृ० ६.२.१६); आदि श्रुतियों का परामर्श करना चाहिये।

५. प्रकृतवाक्य-भाष्य का अन्य प्रकार से भी व्याख्यान टीकाकार दशम वाक्य-व्याख्यान के अनंतर करेंगे और उस प्रसंग में दशमवाक्य का भी अर्थ करेंगे।

"अब दूसरा मार्ग बताया जाता है : (अन्य अधिकारी) इन्द्रिय-निरोध से, ब्रह्मचर्य से, श्रद्धा से और उपासना से अपने को प्राणरूप सूर्य समझने (वैसी ही दृढभावना करने) से आदित्य को प्राप्त करते हैं। निश्चय ही यह (आदित्य) सब प्राणों का समष्टिरूप आश्रय है। यह अविनाशी है (इसलिये) निर्भय है। उपासनासमुच्चित कर्म के अनुष्ठाताओं का यह परम गन्तव्य है। (इस मन्वन्तर में वे) इससे पुनः लौटते नहीं। क्योंकि यह उपासना-रहितों के लिये अप्राप्य है (इसलिये वे आदित्य को पहुँचते हैं इसकी तो शंका भी नहीं है)। इस विषय में यह मन्त्र है—॥ १० ॥"

अब दूसरे मार्ग को बताना प्रारंभ किया जाता है यह बताने के लिये' 'अथ' (अब) शब्द है : (अन्य अधिकारी) उत्तरमार्ग से प्रजापति के टुकड़े अत्ता प्राणरूप आदित्य को प्राप्त करते हैं। किस साधन से? 'तपसा' इन्द्रियनिरोध से, (उसमें भी) खासकर ब्रह्मचर्य से, श्रद्धा से और प्रजापति से अपने अभेद[1] को विषय करने वाली उपासना से जंगम और स्थावर के प्राणभूत 'आत्मानम्' सूर्य को 'अन्विष्य' "(यह) मैं ही हूँ" ऐसा समझ कर (दृढ भावना कर) आदित्य को 'अभिजयन्ते' भली प्रकार प्राप्त करते हैं; पहले वाक्यसम्बन्ध बताने के लिये 'आदित्य को प्राप्त करते हैं' कहा था, अब उसे समझाने के लिये कहा है, यह समझ लेना चाहिये। यह ही सभी प्राणों का (अत्ताओं का) सामान्य अर्थात् समष्टि-रूप[2] 'आयतनम्' स्थान अर्थात् आश्रय है। यह 'अमृतम्' अविनाशी है इसीलिये 'अभयम्' भय रहित है, चन्द्रमा की तरह घटने-बढ़ने[3] के भय वाला नहीं है। उपासकों का कर्म में अधिकार वाले न होने से जो केवल उपसाना करने वाले हैं उनका और उपासना करने वाले कर्मानुष्ठताओं का अर्थात् (उपासना व कर्म का) समुच्चय (सह-अनुष्ठान) करने वालों का यह परम गन्तव्य है। जैसे केवल कर्म करने वाले अन्य लोग (स्वर्ग से लौट आते हैं, वैसे इस प्रकार आदित्य को गये ये लोग इस

१. 'मैं आदित्य से अभिन्न हूँ' ऐसी उपसना से तात्पर्य है।

२. समष्टिरूप होने से आश्रय है।

३. सब बढ़ोतरी क्षयिष्णु होती है अतः बढ़ने से भी भय रहता है। 'सर्वे क्षयान्ता निचयाः पतनान्ताः समुच्छ्रयाः' ऐसा आदिकवि ने कहा है।

मन्वन्तर में[1]) इससे पुनः लौटते नहीं। केवल कर्म करने वालों को भी आदित्य पर पहुँच जाने पर पुनः नहीं लौटना पड़ेगा ? —यह शंका कर, उनका आदित्य पर पहुँचना ही नहीं होता यह बताने के लिये 'क्योंकि यह' इत्यादि वाक्य की व्याख्या करते हैं—'इति' क्यों कि अनुपासकों के लिये यह (आदित्य) प्रतिबन्धित है[2], अनुपासक आदित्य प्राप्ति से रोक दिये गये हैं, ये (अनुपासक) संवत्सर को[3] (अतः) आदित्य-को—अपने समष्टि स्वरूप प्राण को—प्राप्त नहीं करते, इसलिये[4] काल-स्वरूप संवत्सर (भी) अनुपासकों के लिये प्रतिबन्धित है अत: वे आदित्य को प्राप्त होंगे—यह शंका भी नहीं की जा सकती—इतना जोड़ लेना चाहिये। 'तत्' यहाँ अर्थात् इस विषय में यह 'श्लोक' मन्त्र है—॥१०॥

अथवा 'उस प्रजापति के दो मार्ग हैं' (१.९) से 'यह उपासना रहितों के लिये अप्राप्य है' (१०) तक का श्रुतिवाक्य (तथा उसका भाष्य) दोनों अयनों (मार्गों) की रयि व प्राण स्वरूपता बताने के लिये है, इस ढंग से उसकी व्याख्या करनी चाहिये। (जैसे कि वैसी व्याख्या हो) वैसा (यह ढंग) स्पष्ट है—

"संवत्सर के रयि-प्राण के जोड़े से बना होने पर उसकी (संवत्सर-की) भी रयि-प्राणरूपता कही जा सकती है (किन्तु) उसका उनसे बना होना कैसे ? यह पूछते हैं—वह बात कैसे ? संवत्सर के अवयव दोनों अयनों की रयि-प्राणरूपता[6] बताने के लिये पहले वे (अयन, मार्ग) प्रसिद्ध हैं यह बताते हैं—उस संवत्सररूप प्रजापति के 'अयने' (अवयव-भूत) दो मार्ग हैं—दक्षिण (मार्ग) व उत्तर (मार्ग)। छह-छह महीनों

---

१. 'इमं मानवमावर्तं नावर्तन्ते' (४.१५.५) इस छान्दोग्यवचन से प्रकृत श्रुति कीं एकवाक्यता जाननी चाहिये।

२. 'निरोधोऽविदुषाम्' (छां० ८.६.५)।

३. 'नैते संवत्सरमाभिप्राप्नुवन्ति' (छां० ५.१०.३)।

४. क्यों कि इन्हें आदित्य को नहीं जाना इसलिये उसके मार्गभूत संवत्सर को जाना भी व्यर्थ है।

५. 'वह' से 'कहा जाता है' तक का भाष्य इस व्याख्या में भी यथापूर्व समझना चाहिये।

६. तद्रूपमिति भावप्रधानो निर्देशः। रयिप्राणरूपत्वमित्यर्थः। अवयवयोस्त-थात्वेऽवयविनस्तथात्वध्रौव्यादिति भावः।

की लम्बाई वाले दो मार्ग (अयन) प्रसिद्ध ही हैं, प्रसिद्धि को ही बताते हैं— जिनसे सूर्य[1] केवल कर्म करने वालों को लोक प्रदान करते हुए दक्षिण मार्ग से, और उपासनासहित कर्म करने वालों को लोक प्रदान करते हुए उत्तर मार्ग से चलता है। ऐसा (प्रसिद्ध आदि) होने पर भी उन दोनों मार्गों की रयि-प्राणरूपता कैसे ? यह प्रश्न उठाते हैं— (अयनों की रयि-प्राणरूपता) कैसे ? दक्षिण मार्ग की रयिरूपता बताने के लिये कर्म करने वालों द्वारा रयिरूप चन्द्र बनाया जाता है, यह सूचित करते हैं—'तद्' उनमें अर्थात् ब्राह्मण आदि अधिकारियों में जो निश्चितरूप से सविधि अनुष्ठान करते हैं—इस प्रकार श्रुति में आया दूसरा 'तद्'-शब्द (उपासते) क्रिया की विशेषता (सविधित्वादि) बताता है— (काहे का अनुष्ठान करते हैं ? —) 'इष्टापूर्ते' इष्ट तथा पूर्त 'इति' आदि किये जाने वाले कर्मो का ही अनुष्ठान करते हैं, जो किया (बनाया) नहीं जाता उस नित्य (ब्रह्म की उपासना या उसका ज्ञान) नहीं (करते) वे 'चन्द्रमसम्' चन्द्रमा में होने वाले, जोड़ा रूप प्रजापति के अंश अन्नरूप रयि को अर्थात् 'लोकम्' सोमरूप शरीर को[2] प्राप्त करते हैं। उससे पुनः लौटा जाता है इस बात से सिद्ध होता है कि वह कर्म से किया (बनाया, प्राप्त) गया है, यह बताते हैं— क्योंकि चन्द्रमा में होने वाला सोमरूप शरीर किये गये (तथा वहाँ उपभोग्य) कर्म का वहीं समापन होने से वे (इष्टादिकारी) पुनः लौटते हैं[3], जैसा कहा है 'इस मनुष्यलोक या इससे निकृष्ट लोक जाते हैं' (मुं० १.२.१०)। रयिरूप चन्द्र दक्षिण-मार्ग से प्राप्य होने के कारण वह मार्ग (दक्षिणमार्ग) रयिरूप चन्द्र के अन्तर्गत आ जाता है यह बताने के लिये वह (मार्ग और चंद्र) कर्मियों द्वारा प्राप्य है यह कहते हैं— इस प्रकार क्योंकि ये 'ऋषयः' स्वर्ग देखने

---

१. पूर्ववत् चंद्र भी।

२. 'सोमो राजा संभवति' (छां० ५.४.२) 'चान्द्रं कार्यमारभन्ते' (भाष्य) 'चन्द्रसमीपस्थं तत्सदृशं शरीरमित्यर्थः' (आनन्दगिरिटीका द्र० पृ० १७६ M. R. I) 'ताः सूक्ष्मा आपः'''सोमलोके कर्तुः शरीरान्तरमारभन्ते'— बृहद्भाष्य (पृ० ४२७ पं० ६ M.R.I.)।

३. लौटने का कारण कर्मांतर है यह 'आमुष्मिकफले कर्मजाते उपभुक्ते, अवशिष्टमैहिकफलं कर्मान्तरजातमनुशयस्तद्वन्तोवरोहन्ति' इस कृतात्यया-धिकरण के (३.१.२-८) अनुशयार्थनिर्णायक भाष्य से सिद्ध है।

वाले, 'प्रजाकामाः' प्रजायें चाहने वाले गृहस्थ इष्ट, पूर्त्त (आदि) कर्म से अन्नस्वरूप प्रजापति चन्द्र को फलरूप से निष्पन्न करते हैं इसलिये ये अपने द्वारा ही निष्पादित 'दक्षिणम्' दक्षिणमार्ग (से होते हुए उस) से उपलक्षित चन्द्र को पहुँचते हैं। तथा इस प्रकार दक्षिणमार्ग की रयि-रूपता सिद्ध हो जाती है यह कहते हैं– यह निश्चय ही 'रयिः' अन्न है जो 'पितृयाणः' दक्षिणमार्ग से उपलक्षित अर्थात् उससे प्राप्य चन्द्र है। अतः चन्द्र के विशेषण[1] दक्षिणमार्ग की भी रयिरूपता है, यह अभिप्राय है ॥ ९ ॥

अब उत्तरमार्ग की प्राणरूपता (श्रुति) बताती है—'अब' इत्यादि द्वारा। [वाक्य की व्याख्या यथावत् समझनी चाहिये]। प्राणरूप आदित्य तक पहुँचाने वाला होने से (दक्षिणमार्ग की रयिरूपता की तरह) उत्तरमार्ग भी प्राणरूप है जिससे संवत्सर रयि (दक्षिणमार्ग) और प्राण (उत्तरमार्ग) का जोड़ारूप है अतः उसका (संवत्सर का) उनसे (रयि-प्राण से) बना होना[2] संगत है, यह तात्पर्य है। केवल कर्म से होने वाले चन्द्र की अपेक्षा आदित्य की विलक्षणता (श्रुति) बताती है—'निश्चय ही यह' आदि द्वारा। बाकी अर्थ (दोनों व्याख्याओं में) समान है। 'इस विषय में' का अर्थ है संवत्सर के स्वरूप के विषय में ॥ १० ॥

"अन्य[3] कालवेत्ता (कालात्मक प्रजापति के उपासक) संवत्सर जिसका स्वरूप है उस आदित्य को पाँच ऋतुरूप पैरों वाला[4] सबका

---

१. 'पितृयाणरूप मार्ग वाला' इस प्रकार श्रुति में 'पितृयाण' शब्द से चन्द्र कहा होने से पितृयाण का विशेषण है जैसे धनवाला कहने से धन विशेषण होता है। पितृयाण दक्षिणमार्ग का ही नाम है। विशेषण कह कर उसका चन्द्र से घनिष्ट सम्बन्ध बताया जिससे दोनों समान स्वभाव (रयि स्वभाव) वाले सिद्ध होते हैं। अतएव उपाधि आदि नहीं कहा।

२. द्रष्टव्य वैकल्पिक व्याख्या का प्रारम्भ।

३. ऋ० १.१६४.१२ तत्र 'उपरे' इत्येकं पदम्। अथर्व० ९.९.१२; तत्र 'विचक्षणे' इति पाठः।

४. 'संवत्सर-परिवत्सरे-दावत्सराऽनुवत्सर-वत्सराः कालाऽन्या-ऽऽदित्य-चन्द्रमो-वायुरूपाः पंच पादा यस्य स पंचपादः' इति शंकरानन्ददीपिका। द्र० वाज० सं० २७.४५।

जनक, बारह महीने रूप टुकड़ों वाला, द्युलोक से ऊँचे स्थान में स्थित व जल[1] वाला बताते हैं। दूसरे कालवेत्ता तो उसे सर्वज्ञ तथा सूर्यरूप[2] उस सतत् गति वाला चक्र बताते हैं जिसमें ये ऋतुयें अरे (ताड़ियाँ) हैं और सारा जगत् आधारित है॥ ११॥"

'पञ्चपादम्' पाँचों ऋतुयें मानों इस संवत्सरस्वरूप आदित्य के पैर हैं, जैसे पैरों द्वारा (चला जाता है) वैसे यह उन ऋतुओं द्वारा बार बार आता है। हेमन्त और शिशिर को एक करके यह (पाँच की) कल्पना है। '[3]यह कल्पना' का अर्थ है: कर्म से प्राप्य चन्द्र से विलक्षणता (बताने के लिये की गयी) पाँच प्रकार के (पैरों की) कल्पना। 'पितरम्' सबका जनक होने से अर्थात् संवत्सररूप काल क्योंकि सबका जनक है इसलिये उसकी (प्रजापति की, संवत्सरस्वरूप आदित्य की) पितारूपता है; 'द्वादशाकृतिम्' बारह महीने आकृतियाँ अर्थात् अवयव हैं इसके (इससे यह द्वादशाकृति है)। (द्वादशाकृति शब्द की) ऐसी व्याख्या कर जिसमें द्वादश और आकृति दोनों शब्द महीनों को[4] ही विषय करते थे अब ऐसी व्याख्या करते हैं जिसमें वे विभिन्न वस्तुओं को[5]

---

१. 'पॄपालनपूरणयोः' धातु से 'शॄपॄभ्यां किच्च' (उण० ४.२८) से ईषन् हो 'यत् पिपर्ति तद् पुरीषम्' बनता है अतः पालन करने वाले जल को पुरीष कहा है। 'परुषिणम्' यह उपनिषद्ब्रह्मयोगी का पाठ है। दीपिका में तो 'पुरीषशब्दं सुवर्णभूमिसंनिहितं ब्रह्माण्डगोलकावरणं यस्य सः' कहा है।

२. 'हरिदश्वः सप्ताश्वः' (हलायुधः १.३६) आदि कोश से सप्तहय सूर्य को कहा जाता है। ऋग्भाष्य में सायणाचार्य ने 'सप्तचक्रे' का अर्थ किया है: चक्रस्थानीय सात (रंगों की) रश्मियाँ जिसकी हैं उसमें। एक वैकल्पिक व्याख्या भी बतायी है: अयन, ऋतु, मास, पक्ष, दिन, रात व मुहूर्त— ये सात चक्र जिसके हैं वह सप्तचक्र, उसमें। शंकरानन्दस्वामी तो गायत्री, त्रिष्टुब्, जगती, अनुष्टुब्, पंक्ति, बृहती और ककुब्—जिस परम चक्र से सम्बद्ध हैं—उसका ज्ञान कराते हैं—वह सप्तचक्र है ऐसी व्याख्या करते हैं और वर्णव्यत्यास से 'सर्पचक्र' ऐसा शब्द मानकर गतिशील चक्र— यह अर्थ करते हैं।

३. ऋतु छह हैं अतः दो को मिलाने से ही पाँच की संख्या संगत है।

४. जो बारह हैं वे ही अवयव हैं जिसके—ऐसी व्याख्या की।

५. द्वादश शब्द तो महीनों को ही बतायेगा। आकृतिशब्द अवयवी को बतायेगा।

बतायेंगे—अथवा बारह महीनों द्वारा इसका आकरण अर्थात् अवय-विकरण होता है अवयवीरूप से बनाया जाता है (इससे यह द्वादशाकृति[1] है, दोनों व्याख्याओं में तात्पर्य एक है। अन्य कालवेत्ता (कालोपसक) उस (पाँच ऋतुरूप पैरों वाले, पिता, द्वादशाकृति को) 'दिवः'[2] द्युलोक से अर्थात् अकाशरूप अन्तरिक्ष लोक से। अन्यथा (यदि द्युलोक से स्वर्गलोक समझें तो) स्वर्ग से परे चौथा (भूः, भुवः, स्वर् इस प्रकार स्वर्ग तीसरा है) होने से 'तीसरे आसमान में' यह व्याख्यान असंगत होगा। 'परे' ऊँचे 'अर्धे' स्थान पर, अर्थात् तीसरे आसमान में (बताते हैं और) उसे 'पुरीषिणम्' पुरीषवाला अर्थाद् जलवाला बताते हैं। 'आदित्य से वृष्टि उत्पन्न होती है' (मनु० ३.७६) इस स्मृति के अधार पर (उसे जलवाला बताते हैं) यह तात्पर्य है। और ये दूसरे कालवेत्ता (कालोपासक) तो—'उ' यह तुशब्द का समानार्थक अव्यय है—उसी 'विचक्षणम्' निपुण अर्थात् सर्वज्ञ के बारे में कहते हैं[2]; क्या कहते हैं? यह प्रश्न होने पर बताते हैं—'सप्तचक्रे' सर्पचक्रमें[3] अर्थात् सूर्यरूप से निरन्तर चलने वाले कालरूप (चक्र) में (जो कि) 'षडरे' छह ऋतुओं वाला है[4], यह सारा जगत् पहिये की नाभि में ताड़ियों की तरह 'अर्पितम्' आधारित है—यह कहते हैं। तात्पर्य है कि उस सर्वज्ञ सर्पचक्रादिरूप (प्रजापति) में सारा जगत् आधारित बताते हैं। (कालवेत्ताओं के) दोनों मतों में अर्थान्तर किस प्रकार का[5] है? यह शंका होने पर कहते हैं—चाहे पाँच पैरों वाला द्वादशाकृति हो, और चाहे सर्पचक, छह ऋतुओं वाला हो, हर हालत में कालरूप संवत्सर प्रजापति है, चन्द्र और आदित्य (रयि-प्राण) स्वरूप है और जगत् का कारण भी है। पहले मत में ऋतुओं की पैररूपता की कल्पना से और महीनों की अवयवरूपता की कल्पना से संवत्सर काल

---

१. द्वितीयान्त पदों का 'आहुः' से अन्वय है। सुविधार्थ प्रथमान्त अनुवाद है।
२. 'आहुः' का आवृत्त्या अन्वय है।
३. M.R.I. पाठानुसारी अनुवाद है। आनन्दाश्रम में तो 'सप्तचक्रे सप्तहय-रूपेण चक्रे सततं गतिमति कालात्मनि' यह पाठ है। तब 'सप्तहयरूपेण यच्चक्रं तस्मिन् चक्रे' ऐसे व्याख्या करनी होगी।
४. चक्र की ताड़ियाँ छहों ऋतु हैं।
५. क्या तात्पर्य में अन्तर है या केवल समझाने के ढंग में, यह प्रश्नार्थ है।

ही आदित्यरूप से बताया गया है। दूसरे में तो हेमन्त व शिशिर को अलग कर छहों ऋतुओं की ताड़ीरूपता की कल्पना से, और चक्कर खाना रूप गुण के[१] सम्बन्ध से संवत्सर की चक्ररूपता की कल्पना से[२] तथा काल की प्रधानता होने के कारण सबके आश्रयरूप से वही (संवत्सरस्वरूप प्रजापति) बताया गया है। दोनों ही मतों में गुणों के[३] भेद से व कल्पना के (रूपक के) भेद से भेद है, जिसे बताया जा रहा है उसमें भेद नहीं ॥ ११ ॥

"महीना ही प्रजापति है; उसका कृष्णपक्ष[४] ही रयि है, शुक्लपक्ष प्राण है। (क्यों कि) ये ऋषि (प्राणोपासक हैं) इसलिये शुक्लपक्ष में (ही) याग करते हैं। अन्य लोग (जो प्राणोपासक नहीं वे) कृष्णपक्ष में (ही) करते हैं ॥ १२ ॥"

(पूर्वोक्त) मन्त्र में बताया कि (प्रजापति) जगत् का आश्रय है, यह इसमें हेतु है कि (प्रजापति महीने का) कारण है[५]—यह सूचित करते हैं—जिसमें यह संसार आश्रित है, महीना, दिन-रात (आदि) रूपों के विना संवत्सर भी चावल आदि ओषधियों का जनक नहीं[६] अतः उसकी (संवत्सर की) महीना आदिरूपता बताते हैं—वही संवत्सरनामक प्रजापति अपने अवयवभूत महीने में पूरा ही समाप्त हो जाता है (अर्थात् महीना-समूह से अतिरिक्त संवत्सर नहीं है)। महीना 'वै' ही जैसा बताया वैसे स्वरूप वाला अर्थात् संवत्सर स्वरूप जोड़ारूप अर्थात् रयि-प्राण का जोड़ारूप प्रजापति है। 'तस्य' महीनारूप

---

१. जैसे पहिया चक्कर खाता है—उसके सब हिस्से क्रम से ऊपर नीचे आते जाते रहते हैं—वैसे संवत्सर भी—उसके सब महीने क्रम से बार बार आते जाते रहते हैं। इस प्रकार गौणीवृत्ति से संवत्सर को चक्र कहा है।

२. चक्ररूपता की कल्पना में दो हेतु दिये—ताड़ियों की कल्पना और गुण-सम्बन्ध। ताड़ियाँ चक्र में—पहिये में—होती हैं।

३. एक में मासादि गुण बताये हैं दूसरे में चक्ररूपतादि गुण बताये हैं।

४. जिन पन्द्रह दिन चन्द्र घटता है उन्हें कृष्णपक्ष कहते हैं। जिन पन्द्रह दिन वह बढ़ता है उन्हें शुक्लपक्ष कहते हैं।

५. कारण ही आश्रय होता है जैसे मिट्टी घड़े का आश्रय है।

६. किसी महीने किसी दिन ही अन्न उत्पन्न होगा अतः उस रूप में ही संवत्सर को जनक बताना चाहिये।

प्रजापति का कृष्णपक्षरूप एक हिस्सा 'रयिः' अन्न, चन्द्रमा है[1]; 'शुक्लः' शुक्लपक्षरूप दूसरा भाग प्राण, अग्नि अर्थात्[2] आदित्य, अत्ता है। शुक्ल व कृष्ण दोनों पक्षों में दर्श, पूर्णमास आदि कर्मों का[3] अनुष्ठान दीखने से 'ये ऋषि इसलिये' आदि वाक्य संगत नहीं—यह शंका कर, (वाक्य का) तात्पर्य शुक्लपक्ष की प्राणरूपता की उपासना की स्तुति में है इस प्रकार (उक्त शंका न उठ पाये ऐसी) व्याख्या करते हैं— क्योंकि शुक्लपक्षात्मक प्राण को सर्वरूप समझते हैं और क्योंकि उनके द्वारा प्राण से अतिरिक्त कृष्णपक्ष नहीं समझा जाता, इसलिये प्राणोपासक ये ऋषि कृष्णपक्ष में भी 'इष्टम्' याग करते हुए शुक्ल पक्ष में ही करते हैं। कृष्णपक्ष आदि सारा जगत् प्राणरूप होने के कारण और प्राण शुक्लपक्षरूप होने के कारण प्राण द्वारा कृष्णपक्ष भी शुक्लपक्ष है, ऐसा होने पर कृष्णपक्ष में करते हुए भी प्रकाशरूप[4] शुक्लपक्ष में ही करते हैं इस प्रकार शुक्लपक्ष में प्राणरूपता की उपासना की स्तुति[5] है, यह अर्थ है। उपासना की स्तुति के लिये ही (श्रुति) अनुपासकों की निन्दा करती है– दूसरे (अनुपासक) तो प्राण को सर्वरूप[6] नहीं समझते अतः (शुक्लपक्ष को भी) वे कृष्णपक्षरूप ही समझते हैं[7] जिसका स्वरूप (रात्रि में बहुलतः) न दीखना है[8]। जो

१. रयि-प्राण, अन्न-अत्ता, सोम-आदित्य—ये जोड़े बताये थे अतः यहाँ कृष्णपक्ष की रयिरूपता, अन्नरूपता व चन्द्ररूपता बतायी।
२. स्वपदवर्णन समझना चाहिये।
३. अग्निहोत्र नित्य कर्म है। अग्निहोत्री के लिये अमावास्या को दर्शनामक याग और पूर्णिमा को पौर्णमासनामक याग भी करने चाहिये (द्र० मुं० १.२.३)।
४. शुक्लपक्ष की रात्रियों में नित्य प्रकाश बढ़ता है।
५. प्राणोपासक का कृष्णपक्ष में किया कर्म भी शुक्लपक्ष में किया हुआ हो जाता है—इस प्रकार स्तुति है। शुक्लपक्ष प्रकाशरूप होने से प्रशस्त है। उत्तर मार्ग में आने से भी प्रशस्त है।
६. अथवा शुक्लपक्षरूप।
७. शुक्लपक्ष को प्राणरूप न समझा तो उसे कृष्णपक्ष के समान ही समझा अतः विलक्षणता न होने से कृष्णपक्ष ही समझा, यह अर्थ है।
८. क्योंकि उसकी प्रत्येक रात्रि में चंद्र क्षीण होता जाता है।

तो प्राणको सर्वरूप नहीं समझते, क्योंकि वे प्राणोपासक नहीं हैं, उन्हें शुक्लपक्ष प्राणरूप से ज्ञेय न होने से (शुक्लपक्ष अपने प्राणरूप से) अज्ञानरूप हुआ उनके लिये कृष्णपक्षरूप हो जाता है। अतः वे शुक्लपक्ष में कर्म करते हुए भी, जिसकी रात्रियों में कम दीखता है ऐसा होने से जो प्रकाश रहित है, उस कृष्णपक्ष में ही करते हैं। इस प्रकार उन अनुपासकों की निंदा[1] की जाती है, यह तात्पर्य है। उक्त बात को श्रुति के शब्दों से समझते हैं—दूसरे (अनुपासक) लोग शुक्लपक्ष में करते हुए भी 'इतरस्मिन्' कृष्णपक्ष में ही करते हैं[2] ॥ १२ ॥

"अहोरात्र (दिन-रात) ही प्रजापति है। उसका दिनरूप भाग ही प्राण है, रात्रिरूप भाग ही रयि है। जो दिन में स्त्री से संभोग करते हैं वे निश्चय ही प्राण सुखाते हैं। वह ब्रह्मचर्य ही है जो रात में स्त्री से संभोग करते हैं ॥ १३ ॥"

वह महीनारूप प्रजापति भी अपने अवयव अहोरात्र में (दिन-रात में) समाप्त हो जाता है, (यह) पूर्ववाक्य की तरह (समझ लेना चाहिये)। उस (अहोरात्र) का भी दिन ही प्राण, अत्ता, अग्नि है, रात्रि ही रयि है (यह भी) पहले की तरह (जानना चाहिये) अर्थात् (रात्रि) रयि, अन्न, चन्द्रमा है। दिन को प्राणरूप बताने का प्रसंग होने से[3] दिन में मैथुन का (श्रुति) निषेध करती है—दिनरूप प्राण को ये निश्चित रूप से 'प्रस्कन्दन्ति' निकाल देते या सुखा देते हैं अर्थात् अपने से अलग कर हटा देते हैं। कौन? जो मूर्ख[4] 'दिवा' दिन में 'रत्या' रति की कारणभूत स्त्री के साथ 'संयुज्यन्ते' जोड़ा बनते अर्थात् मैथुन करते हैं। क्योंकि ऐसा है (दिवा मैथुन प्राणनाशक है) इसलिये वह (दिवा मैथुन) नहीं करना चाहिये—यह प्रसंगतः निषेध किया गया है। जो ऋतुकाल

---

१. अप्रकाशरूप और दक्षिमार्ग में होने से कृष्णपक्ष का अप्राशस्त्य समझना चाहिये।

२. इस समग्र वाक्य में रयि-प्राणात्मक होने से महीने की प्रजापतिरूपता बतायी है और प्राणोपासना करने के लिये प्रेरित किया है।

३. दिन और प्राण की बात होने पर दिन में जो करने से प्राण सूखता है वह बुद्धिस्थ हो गया अतः अनुपेक्ष्य है।

४. अपनी हानि करने के कारण।

में[1] रात को स्त्री से संभोग करते हैं वह ब्रह्मचर्य ही है अतः (गृहस्थों के लिये) उचित होने से ऋतुकाल में (रात को) भार्या से संभोग करना चाहिये—यह भी प्रसंगतः विधि की गयी है ॥ १३ ॥[2]

जिसका प्रकरण चला है अर्थात् 'ये ब्राह्मणादि प्रजायें किस प्रसिद्ध कारण से उपजती हैं' (१.३) इस प्रकार जो पूछा गया है वह तो भाव यह है कि पूर्व में कहा सब इस प्रकृत को समझने में उपयोगी होने से कहा है, वह स्वयं प्रकृत नहीं हैं। (अब) बताया जाता है :

"अन्न ही प्रजापति है। प्रसिद्ध है[3] कि उससे ही शुक्र-शोणित[4] बनता है। उससे (शुक्र-शोणित से) ये ब्रह्मणादि प्रजायें उपजती हैं ॥ १४ ॥"

इस प्रकार क्रम से–रयि-प्राण संवत्सर आदि क्रम से परिवर्तित होकर वह अहोरात्ररूप (दिन-रात-आत्मक) प्रजापति चावल, जौ आदि अन्नों के रूप में अवस्थित होता है, वह अन्न ही प्रजापति है[5] अर्थात् प्रजापति अन्नरूप हो जाता है। कैसे ? अर्थात् अन्नरूप होने पर भी वह (अन्नावस्थ प्रजापति) प्रजाओं का जनक कैसे है ? प्रसिद्ध है कि 'ततः' उससे अर्थात् खाये हुए अन्न से ही 'तद्' प्रजाओं का कारण-भूत 'रेतः' मनुष्यों का बीजरूप शुक्र–इससे शोणित भी समझना चाहिये क्योंकि (अन्नकार्यता व प्रजाकारणता उसमें भी शुक्र के) समान है।

---

१. 'षोडशर्तुर्निशाः स्त्रीणां तस्मिन् युग्मासु संविशेत्। ब्रह्मचार्येव पर्वाण्याद्याश्चतस्रश्च वर्जयेत्' ॥याज्ञ० स्मृ० ३.७८॥ रजोदर्शन से सोलह रात्रि तक का काल ऋतुकाल कहाता है। प्रथम चार रात्रियाँ और अमावास्या आदि पर्व काल छोड़कर छठी, आठवी आदि युग्म रात्रियों में निज पत्नी से मैथुन करे तो गृहस्थ को भी ब्रह्मचर्य का फल प्राप्त होता है।

२. 'प्रकृतम्'—आदि वाक्य औचित्यतः उत्तर-श्रुति-सम्बद्ध है। टीका में भी 'व्रीह्याद्यात्मना व्यवस्थितः' का वहीं अन्वय बताया गया है।

३. 'अन्नं जुह्वति तस्या आहुते रेतः संभवति' (छां० ५.७.२ बृ० ६.२.१२) आदि श्रौत प्रसिद्धि तथा लोक प्रसिद्धि समझनी चाहिये।

४. 'रेतः स्त्रीपुंसयोर्वीर्यम्'-दीपिका। हारीतस्मृति है : 'स्त्रीणां रजोमयं रेतो बीजाढ्यमिन्द्रियं नरे। तस्मात्संयोगतः पुत्रो जायते गर्भसम्भवः' ॥

५. अन्नातिरिक्त मासादि की प्रजाप्रतिरूपता का निषेध न समझा जाये अतः स्पष्ट करते हैं—अर्थात् आदि से।

(तैयार होता है और) स्त्री में डाले[1] उससे (शुक्र से) मनुष्यादिरूप ये प्रजायें उत्पन्न होती हैं। (इस प्रकार) 'ये प्रजायें किस प्रसिद्ध कारण से उपजती हैं' ऐसा जो पूछा था (१.३) उसका यह निर्णीत उत्तर दिया कि चन्द्र-आदित्य से दिन रात तक क्रमशः जोड़े बनते हुए अन्न, शोणित और शुक्र द्वारा ये प्रजायें (प्रजापति से) उपजती हैं॥ १४॥

"(मैथुन की) ऐसी (प्रजोत्पादक व प्राणशोषक[2]) स्थिति होने पर (नियमित मैथुनका फल बताया जाता है :) जो प्रसिद्ध गृहस्थ ऋतुकाल में अनिषिद्ध रात्रियों में ही भार्या से संभोग करना रूप उस प्रसिद्ध प्रजापतिव्रत का[3] आचरण करते हैं वे पुत्र-पुत्री के जोड़े को उत्पन्न करते हैं[4] तथा वे ही, यदि उनमें तप और ब्रह्मचर्य हो व सत्य का ही आचरण करते हों तो चन्द्रसम्बन्धी ब्रह्मलोक (अर्थात् स्वर्ग) प्राप्त करते हैं॥१५॥"

'तत्' मैथुन के विषय में ऐसी (प्रजोत्पादक व प्राणशोषक) स्थिति होनेपर (उत्तर वाक्य प्रवृत्त होता है)। 'ह' और 'वै'—ये प्रसिद्ध बात की याद दिलाने के लिये अव्यय हैं। जो प्रसिद्ध[5] गृहस्थ प्रजापति के[6]

---

१. शोणित पक्ष में शुक्रसम्बन्ध भी उपलक्षणया समझना चाहिये।

२. मैथुन आवश्यक भी है और दिन आदि में किया जाये तो हानिकारक भी। अतः जैसे वह हानिकारक न हो लाभदायक बने वैसे उसका अनुष्ठान किया जाये इसके लिये नियमित अनुष्ठान का फल बताया जा रहा है।

३. ऋतुकाल में भर्याभिगमन का नियम माना गया है। एवमपि सम्प्रदाय-सिद्ध निष्कर्ष यही है कि पुत्र उत्पन्न न हुआ हो तभी यक ऋतुकाल की अनिषिद्ध रात्रियों में एक वार (प्रति ऋतु में) अभिगमन करना चाहिये। पुत्र उत्पन्न हो चुकने पर अभिगमन आवश्यक नहीं। जैसा कि विश्वरूपाचार्य ने याज्ञवल्क्य-स्मृति की वाल-क्रीडा व्याख्या में (आचार-विवाह-७९) कहा है : 'ऋतावजातपुत्रःसकृदगच्छन् प्रत्यवैति, जातपुत्रस्य त्वगमनेऽप्यदोषः'। पति-पत्नी दोनों के लिये नियम जानना चाहिये। भार्यातिरिक्त अभिगमन सर्वथा निषिद्ध समझना चाहिये। एवं च इस व्रत में प्रमुखता निरोध की है यह स्पष्ट है।

४. अर्थात् न हिजड़े आदि उत्पन्न करते हैं और न मोघमैथुन होते हैं।

५. 'प्रवृत्तिरेषा भूतानाम्' (मनु० ५.५६) स्मृति अनुसार गृहस्थ प्रसिद्ध हैं। अगृहस्थ अप्रसिद्ध हैं।

६. 'तां समभवत्' (बृ० १.४.३) आदि श्रुतियों के अनुसार प्रजापति ने ही सर्वप्रथम मैथुनाचार किया अतः वह उसका व्रत कहलाता है।

उस प्रसिद्ध व्रत का, (जिसका स्वरूप है) ऋतुकाल में भार्या से संभोग, 'चरन्ति' अनुष्ठान करते हैं, उन्हें यह दृष्ट (इस लोक में ही दीख जाने वाला फल मिलता है। क्या (फल मिलता है) ? वे जोड़े को अर्थात् पुत्र को और पुत्रीको उत्पन्न करते हैं। (इस व्रत का) अदृष्ट (परलोक में मिलने वाला) फल भी है: केवल प्रजापति व्रत के अनुष्ठान से चन्द्र-लोकरूप अदृष्टफल नहीं मिलता अन्यथा (शास्त्रानुकूल नित्यादि कर्म न करने वाले अत एव) मूर्खों को भी मिल जाये, अतः (इसके साथ और क्या करना चाहिये वह) बताते हैं—इष्ट, पूर्त व दत्त कर्म करने वाले उन्हीं प्रजापतिव्रतानुष्ठाताओं को यह ब्रह्मलोक मिलता है जो दक्षिणमार्ग का (चरम) लक्ष्य है और चन्द्रसम्बन्धी है; अपरब्रह्मरूप प्रजापति का अंश होने से रयिरूप चन्द्र की ब्रह्मलोकता है यह 'चन्द्र-सम्बन्धी ब्रह्मलोक' का तात्पर्य है (अर्थात् चन्द्रलोक को ही यहाँ ब्रह्मलोक कहा है)। इष्ट आदि करने वालों को चन्द्रलोक की प्राप्ति के लिये तप आदि की भी अपेक्षा है. अतः कहते हैं—जो स्नातकव्रत आदि[1] तप (करते हैं), 'ब्रह्मचर्यम्' ऋतु से अतिरिक्त काल में[2] मैथुन न करना रूप ब्रह्मचर्य रखते हैं और जिनमें 'सत्यम्' झूठ का व्यवहार न करना 'प्रतिष्ठितम्' बिना व्यभिचार के अर्थात् सदा ही रहता है॥ १५॥

"जिनमें कुटिलता, झूठ और माया नहीं उन उपासना-युक्त-कर्म करने वालों को वह शुद्ध ब्रह्मलोक मिलता है॥ १६॥"

'उन उपासना युक्त कर्म करने वालों को वह शुद्ध' आदि वाक्य का व्याख्यान करते हैं—और जो तो आदित्य से उपलक्षित[3], उत्तरायण अर्थात् उत्तरमार्ग से प्राप्य प्राणात्मभाव अर्थात् अपरब्रह्मरूप[4] से अवस्थिति रूप (ब्रह्मलोक है वह) 'विरजः' शुद्ध है, चन्द्रलोकरूप (गौण) ब्रह्मलोक की तरह दोष वाला अर्थात् बढ़ने-घटने वाला नहीं है।

---

१. 'राजतो धनमन्विच्छेद्' (४.३३) इत्यादि प्रसंग में मनुस्मृति में स्नातकों के नियम बताये हैं। आदि से अन्य उपवासादि तप जानने चाहिये।
२. दिन, भार्याभिन्न स्त्री आदि का उपलक्षण है।
३. ब्रह्मलोक आदित्यमात्ररूप नहीं यह भाव है।
४. कार्यब्रह्म समझना चाहिये।

वह किन उनको मिलता है ? 'उन्हें वह[1] शुद्ध' इस प्रकार कहने पर 'उन्हें'—इसके द्वारा किन्हें बताया जा रहा है, यह प्रश्न का तात्पर्य है। 'जिनमें कुटिलता नहीं' इत्यादि कहा, उसमें कुटिलता आदि शब्दों की व्याख्या करते हैं (किन्तु 'जिनमें कुटिलता आदि नहीं' उनका स्वरूप समझाने के लिये) उनसे (कुटिलतारहितों से) जो विपरीत हैं उनका स्वरूप दिखाते हुए (व्याख्या करते हैं)—अनेक विरुद्ध[2] आपसी व्यवहारों के लिये गृहस्थों में जैसे कुटिलता—टेढ़ापन अवश्यंभावी है वैसे[3] कुटिलता जिनमें नहीं। तथा जैसे जो बहलाना[4] विनोद आदि के लिये गृहस्थों द्वारा झूठ का परित्याग नहीं किया जा सकता वैसे झूठ जिनमें नहीं है। ऐसे हो जैसे गृहस्थों में होती है वैसे जिनमें माया नहीं है। माया नाम (किसका है) ? बाहर अन्य तरह से अपने आपको दिखाकर कार्य अन्य प्रकार का करता[5] है वह माया है जिसका कि स्वरूप मिथ्याचार है[6]। माया को कहना उस प्रकार के

---

१. 'उपासना युक्त' इत्यादि तो भाष्यादिनिष्पन्न अर्थ है। श्रुति में केवल 'तेषाम्' ऐसा सर्वनाम दिया है।

२. एक ही विषय में विभिन्न लोगों से विभिन्न प्रकार की विरुद्ध बातें करना, एक कार्य के लिये परिस्थित भेद से नियमभेद (विभिन्न मापदण्ड) मानना आदि अनेक विरुद्ध व्यवहार करने पड़ते हैं जिनके लिये थोड़ी या अधिक कुटिलता व्यवहारनिष्ठ व्यक्ति को रखनी पड़ती है।

३. दृष्टान्त मात्र में तात्पर्य है, किसी अन्य प्रकार की कुटिलता का रहना नहीं बताया।

४. कम से कम इन निमित्तों से तो वे झूठ का आश्रयण अवश्य लेंगे।

५. यत्पदमध्याहार्यं क्रियाविशेषणं च यत्करोति सा मायेत्यन्वयो विधेय-प्राधान्याच्च स्त्रीत्वम्।

६. गीतोक्तमिथ्याचार भी मूलतः समझ लेना चाहिये। कुटिलता में कुछ प्रकट किये बिना चालाकी की जाती है। माया में प्रकट करने और अनुष्ठान में अन्तर रखा जाता है।

सभी दोषों को[1] भी बता देने के लिये है, यह कहते हुए वाक्य के अर्थ का संग्रह कर बताते हैं—माया तथा इस प्रकार के अन्य दोष जिन अधिकारियों में अर्थात् ब्रह्मचारियों में, वानप्रस्थियों में व भिक्षुओं में—'भिक्षु' से परमहंस से भिन्न कुटीचक आदि ही कहे हैं क्योंकि परमहंस तो ब्रह्मलोक से भी विरक्त होने से उसके प्रार्थी नहीं—इसलिये नहीं हैं क्योंकि इन दोषों का निमित्त[3] उनमें उपस्थित नहीं, उन्हें उन साधनों के अनुरूप[4] ही वह शुद्ध ब्रह्मलोक मिलता है। (श्रुतिवाक्यस्थ) 'इति' शब्द का अर्थ बताते हैं—इस प्रकार यह उपासना सहित कर्म[5] करने वालों का फल है। पूर्व (१.१५) वाक्य में कहा ब्रह्मलोक तो[6] केवल कर्म करने वालों का चन्द्रलोकरूप फल है॥ १६॥

॥ इति प्रथम प्रश्न ॥

अथ द्वितीय प्रश्न

द्वितीय प्रश्न का प्रथम प्रश्न से सम्बन्ध[7] बताते हैं—अत्तारूप प्राण प्रजापति है, यह बताया। उसकी प्रजापतिरूपता और अत्तारूपता

---

१. द्र० मुं० भा० ३.१.६—'कुहकमायाशाठ्याहंकारदंभानृतवर्जिताः।' तथा उप० सा० गद्य० १—'दम्भ(दर्प)कुहकशाठ्यमायामात्सर्यानृताहंकारममत्वादिदोपवर्जितः'। 'आचारहीनं न पुनन्ति वेदाः' आदि से असदाचार आदि दोप भी समझने चाहिये।

२. तथा आवश्यक समुच्चय के अधिकारी नहीं। प्रार्थी न होने से भी अधिकार समाप्त हो जाता है, अर्थी, समर्थ, अपर्युदस्त का ही अधिकार होता है।

३. परिवार के पोपणार्थ अकार्य करना पड़ता है, इनकी पारिवारिक आदि जिम्मेदारियाँ न होने से ये अकार्य नहीं ही करें यह संभव है।

४. साधन कठिन होने से दुष्प्राप्य लोक मिलता है।

५. भिक्षु आदि के स्वाश्रमविहित कर्म समझने चाहिये।

६. मुख्यब्रह्मलोक की व्यावृत्ति के लिये।
विरागिमनऐकाग्र्यं प्राणोपास्त्याऽन्य वेत्ति यत्।
प्रणवाख्यं परं ब्रह्म न भवेयं कथं नु तत्॥

७. यद्यपि आख्यायिकामात्र के लाभ से सम्बन्धापेक्षा नहीं तथापि क्योंकि परब्रह्म के अन्वेपक हैं इसलिये इनके प्रश्नों में संगित स्वाभाविक है। वस्तुतः श्रुति को संगत उपदेश करना है, आख्यायिका तो सुखबोधार्थ है।

(भोक्ता-रूपता) इस शरीर में कैसे है—यह समझाना चाहिये'[1], 'तुम ही सब हवियों के अत्ता और विद्यमान जगत् के पति हो' (२.११) इस प्रकार अत्तारूपता तथा 'यह प्राण आग हुआ हुआ जलता है' (२.५) से प्रारम्भ कर 'जैसे पहिये की नाभि में ताड़ियाँ आश्रित रहती हैं ऐसे प्राण में सब आश्रित है' (२.६), 'तुम ही विराट्-रूप प्रजापति हो। तुम ही शुक्र और पुत्ररूप में पिता व माता के गर्भ में विचरते हो और माता-पिता के सदृश हो पैदा होते हो' (२.७) इत्यादि द्वारा (प्राण की) प्रजापतिरूपता आगे (इसी प्रश्न में) बतायी जाने वाली होने से (पता चलता है कि इन्हें बताने के लिये प्रश्नप्रवृत्ति है)। 'प्रजापतिरूपता और अत्तारूपता समझाने के लिये'—यह जो कहा उससे यह भी समझना चाहिए कि अन्य भी प्रयोजन है। इससे पहले (प्रथम प्रश्न में कर्मी व समुच्चयानुष्ठायी की कष्टप्राप्य व आवृत्तिलांछित) गति सुन लेने से जिसे (इहलोक परलोक दोनों से) वैराग्य हो भी गया है वह चित्त की एकाग्रता के बिना[2] आगे बताये जाने वाले आत्मज्ञान को दृढ नहीं समझ सकता अतः चित्त-एकाग्रता के उपाय-प्रदर्शन के लिये एवं जो मन्द बुद्धि हैं (अतएव परलोक में राग रखते हैं) उन्हें विशेष फल मिले इसके लिये प्राण की उपासना बताने के प्रयोजन से अगले दो प्रश्नों का (द्वितीय व तृतीय का) प्रारंभ है। उन दोनों में भी श्रेष्ठता, अत्ता-रूपता, प्रजापतिरूपता आदि (उपास्य) गुणों का निश्चय करने के लिये द्वितीय प्रश्न है। प्राण की उत्पत्ति (कहाँ से होती है) आदि का पहले निश्चय कर उसकी उपसना का विधान करने के लिये तीसरा प्रश्न है—यह भी समझ लेना चाहिये। इसके लिये यह (द्वितीय) प्रश्न प्रारम्भ किया जाता है।

"प्रथम प्रश्न का निर्णय हो चुकने के बाद पिप्पलाद महर्षि से भार्गव वैदर्भि ने पूछा—हे भगवन्! कितने देव शरीर का[3] (उत्पादन व

---

१. क्यों कि उपासना के आलंवन रूप से शरीर में ही प्राण उपलब्ध है।

२. 'समाहितो भूत्त्वा पश्यति (पश्येत्)' (वृ० ४.४.२३; माध्यं० ४.२.२८) यह विधान होने से।

३. 'स्थावरजंगमभूतरूपामि'ति दीपिका।

प्रेरणरूप) धारण करते हैं ? उनमें[1] कौन अपनी महत्ता दिखाते हैं ? और इनमें प्रधान कौन है ? ॥ १ ॥"

'अथ' प्रथम प्रश्न का निर्णय होने के बाद निश्चय ही[2] इन पिप्पलाद से भार्गव वैदर्भि ने पूछा—हे भगवन् ! प्रजा का प्रजा शब्द से शरीर (स्थूल देह) ही कहा जा रहा है जीव नहीं, क्योंकि जीव प्राण का धारण करने वाला होने से प्राण द्वारा उसका धारण किया जाये यह संभव नहीं। इसे बताते हैं—अर्थात् शरीररूप (प्रजा) का कितने देव 'विधारयन्ते' विशेषतः[3] धारण[4] करते हैं ? ज्ञानेन्द्रिय व कर्मेन्द्रिय-रूपों में बँटे उन देवों में—(भाष्य में) 'विभक्तानाम्' शब्द की षष्ठी विभक्ति निर्धारण-अर्थ में[5] है—कौन से (देव) 'एतत्' प्रकाशन 'प्रकाशयन्ते' (करते हैं) अर्थात् अपनी[6] महत्ता दिखाते हैं; जगह देना आदि आकाशादि की महत्ता है, उसे दिखाना अर्थात् लोगों के प्रति

१. 'एतेषु देवेष्वदेवेषु वा कतर' इति दीपिका। 'एतच्छरीरं संसारयात्रा-निर्वाहकं प्रकाशयन्ते प्रकाशं कुर्वन्ति' इति च तत्र।
२. संवत्सर के व्यवधान व पहले पूछने का मौका न पाने पर भी—यह अर्थ है। जिज्ञासु को धैर्यवान् होना चाहिये।
३. सामान्यतः तो शरीर अपना ही धारण करता प्रतीत होता है। या ईश्वर, काल आदि सामान्यतः धारण करते हैं।
४. '......धारणम्। द्विविधं जननं तस्य प्रेरणं चेति तद् द्वयम्' ॥अनु० प्र० ७.२३॥
५. 'यतश्च निर्धारणम्' (२.३.४१) सूत्र से निर्धारणार्थ में षष्ठी होती है। समुदाय से एकदेश को पृथक् कर बताना निर्धारण कहाता है। जैसे 'मनुष्यों में ब्राह्मण श्रेष्ठ है' कहने पर मनुष्यों के समुदाय से ब्राह्मण रूप एकदेश पृथक् कर बताया है अतः यह निर्धारण किया है। जिसे पृथक् किया हो वह उस समुदाय का अंग हो तभी निर्धारण है। अतः 'मनुष्यों में देवता श्रेष्ठ हैं' नहीं कह सकते, 'मनुष्यों से' ऐसा ही कहना होगा। अतः स्वघटित समुदाय के स्वेतर घटकों की अपेक्षा स्वको विलक्षण बताना निर्धारण है।
६. 'वा बहूनां जातिपरिप्रश्ने डतमच्' (५.३.९३) पर 'किमोऽस्मिन्विषये डतरजपि' वार्तिक से नानाघटकघटित समुदाय से निर्धारण के लिये भी डतरच् का प्रयोग होता है।

उसे प्रकट करना, उसे 'प्रकाशयन्ते' अर्थात् करते हैं, यह अर्थ है। जैसे 'पाक[1] पका रहा है' कहा जाता है वैसे ('प्रकाशन प्रकाशित करते हैं' ऐसा कहा)। जगह देना आदि अपना अपना कार्य सब लोगों के प्रति जैसे प्रकट हो वैसे (चेष्टादि व्यापार) कौन से देव करते हैं ?—यह वाक्यार्थ है। और वह कौन है (जो) कार्य व करण स्वरूप[2] इन देवों में 'वरिष्ठः' प्रधान है ? ॥ १ ॥

"पिप्पलाद ने वैदर्भि को उत्तर[3] दिया—निश्चय ही यह प्रसिद्ध अकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथिवी, वाणी, मन, चक्षु श्रोत्र आदि[4] (—ये सभी शरीर का धारण करने वाले) देव[5] हैं। वे देव अपनी महत्ता दिखाकर आपसी स्पर्धा से कहते हैं, 'हम[6] इस शरीर का विशेषतः धारण करते हैं।' ॥ २ ॥"

इस प्रकार पूछने वाले वैदर्भि को पिप्पलाद ने उत्तर दिया—निश्चित-रूप से यह प्रसिद्ध आकाश (शरीर का धारण करने वाला) देव है। आगे जिसे बताने की इच्छा है वह बोलना आदि व्यवहार हो सके इसलिये (आकाशादि में) चेतनता संभव है यह बताने के लिये "'मिट्टी बोली' (शत.ब्रा.६.१.३.२.४) आदि स्थलों में मिट्टी आदि के अधिष्ठाता देवताओं की चेतना दृष्टि में रख बोलाना आदि बताया है क्यों कि महाभूतादि चेतन-भोक्ताओं से विलक्षण (जड) हैं तथा कहीं कहीं श्रुति में ऐसे ही प्रसंगों में 'देवता'-शब्द से बोलने वालों की

१. जो पकाया जाता है वह पाक कहाता है।
२. आकाशादि कार्यरूप व वागादि करणरूप देव हैं।
३. प्रथम शंका का उत्तर है—प्राण ही शरीर का विशेषतः धारण करता है। दूसरी का उत्तर है—प्राण ही अग्नि आदि होकर महत्ता दिखाता है। तीसरी का उत्तर है—प्राण ही प्रधान है। इन्हीं उत्तरों को सरलता से समझाने के लिये आख्यायिका का सहारा लेकर कहते हैं—निश्चय आदि द्वारा। (शंकरानन्ददीपिका)।
४. अन्य ज्ञानेन्द्रियों को, कर्मेन्द्रियों को व बुद्ध्यादि को भी समझ लेना चाहिए अतः ('च' =) आदि कहा।
५. वायुर्देवोऽग्निर्देव इत्यादिरन्वयः। एष इत्याकाशेनैव सम्बद्ध्यते। अथवा एष देव इति सम्बन्धः। एष इति प्रकृतस्मारणार्थम्।
६. प्रत्येक कहता है 'मैं अकेला ही विशेषतः धारण करता हूँ' यह अर्थ है।

(मिट्टी आदि की) विशेषता बतायी है, साथ ही देवता मिट्टी आदि में अनुगत हैं यह निश्चित है" (ब्र.सू. २.१.५)—इस नीति से आकाशादि के अधिष्ठाता देवताओं का बोध कराने के लिये 'देव' यह (धारण-कर्त्ताओं का) विशेषण है तथा यह विशेषण सर्वत्र अर्थात् वायु आदि से भी सम्बद्ध होता है। वायु, अग्नि, जल, पृथिवी—शरीर उत्पन्न करने वाले ये पाँचों (आकाश सहित) महाभूत; वाणी, मन, चक्षु, श्रोत्र इत्यादि सब कर्मेन्द्रियों को ही समझ लेना चाहिये इसलिये वाणी को गिन लिया तथा सब ज्ञानेन्द्रियों को ही समझ लेना चाहिये इसलिये चक्षु आदि (=श्रोत्र) को गिना यह विचार कर कहते हैं—कर्मेन्द्रियाँ व ज्ञानेन्द्रियाँ; ये कार्यरूप अर्थात् शरीररूप से बने आकाशादि और करणरूप अर्थात् (कर्म व ज्ञान के साधनरूप) इन्द्रियाँ (सब, शरीर का धारण करने वाले) देव हैं।[1] वे देव अपनी महत्ता दिखाकर—शरीर का धारण करने में एक-एक अंश है जगह देना आदि, वे (जगह देना आदि) ही आकाश आदि द्वारा (शरीरधारणार्थ) किये उनके कार्य हैं, वे कार्य ही उनकी महत्ता है, उस महत्ता को दिखाकर अर्थात् वह महत्ता सब लोगों को जिस प्रकार स्पष्ट हो उस प्रकार उसे प्रकट कर अपनी अपनी श्रेष्ठता[2] जतलाने के लिए (प्राण से या[3] आपसी) स्पर्धा वाले हुए अभिवदन करते हैं अर्थात् 'अभितः' हर तरह से शरीर का समग्र धारण हम एक एक ही करते हैं—ऐसा बोलते हैं।

---

१. सर्वत्रसम्बद्ध्यत इति टीकया, करणलक्षणाश्चेति भाष्यस्थचकारेण वा देव इत्यत्राप्यन्वेति, वचनव्यत्ययो वा 'छागस्य वपाया मेदस' इत्यत्र 'छागानामि'तिवद् वचनोहन्यायेन, अथवा 'एकधेत्येकसंयोगादभ्यासेनाभि-धानम्' इति (९.३.२८) न्यायेन देवपदस्याभ्यासो भवेत्प्रत्येकस्याकाश-वाय्वादेर्देवत्वस्य विवक्षितत्वात्। आकाशोदेवो वायुर्देवोग्निर्देव-इत्यादि योज्यम्।

२. क्वचिद् 'अहंश्रेष्ठतायै' क्वचिच्च 'श्रेष्ठतायै' इति पाठोपलब्धिः।

३. प्रकृत प्रसंग में प्राण से ही स्पर्धा रख 'हम ही मिलकर धारण करते हैं' ऐसी योजना संभव होने पर भी छान्दोग्य (५.१), बृहदारण्यक (६.१७–१४) आदि तुल्य प्रसंगों के अनुसार आपसी स्पर्धा और प्रत्येक का अभिमान कि वह अकेला ही धारण कर्ता है—ये ही यहाँ भी विवक्षित माने गये हैं।

किस प्रकार (की बात) बोलते हैं ? जैसे महल का धारण खम्भे आदि करते हैं वैसे इस बाण का—'वाति'[1] (जो चला जाता है, टिकता नहीं उसे वाण कहते हैं), अथवा जो खराब गन्ध ढोता है उसे वाण कहते हैं तथा बकार और वकार का भेद न मानकर[2] वाण को ही बाण कहते हैं। अथवा जो विनाश को प्राप्त होता है उसे या एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाता है उसे (वण तथा बकार वकार का भेद न कर) वण कहते हैं, बण ही बाण है[3] अर्थात् स्थूल देह व इन्द्रियों के मिलकर कार्य करने वाले समूह का तात्पर्य है कि शरीर का[4]—'अवष्टभ्य' इसके अवयवों को अलग-अलग न होने देकर स्पष्ट ही[5] हम 'विधारयामः' धारण करते हैं; मुझ अकेले द्वारा ही इस शरीर का धारण किया जाता है—यह प्रत्येक देव के बोलने का अभिप्राय है ॥ २ ॥

"उन देवों से मुख्य प्राण ने कहा—'तुम लोग (इस) भ्रम में मत पड़ो (कि तुम शरीर का धारण करते हो)। मैं ही स्वयं को पाँच तरह से बाँट कर इस शरीर के अवयवों को बिखरने न देकर इसका धारण करता हूँ।' (किन्तु) वे देव (उसकी बात में) श्रद्धा वाले न हुए ॥ ३ ॥"

---

१. 'वा गतिगन्धनयोः (अदा० पर० अनिट्); गन्धनं तु सूचनमतो वाति गच्छतीत्यर्थः ।

२. 'रलयोर्डलयोश्चैव शसयोर्बवयोस्तथा ।
वदन्त्येषां च सावर्ण्यमलंकारविदो जनाः ॥' इति सारस्वतप्रक्रियायाम् ।

३. 'वणति शब्दं करोति' यह व्युत्पत्ति भी दीपिका में है। जैसे वाण (तीर) आ गिरता है ऐसे कर्मवशात् शरीर भी संसार में आ गिरता है अतः बाण है ऐसा भी दीपिका में बताया है।

४. 'चेष्टेन्द्रियार्थाश्रयः शरीरम्' (न्या.सू.१.१.११) के अनुसार चेष्टा, इन्द्रियों व अर्थशब्दित सुखदुःख का आश्रय शरीर शब्द का अर्थ है। अतः वात्स्यायनभाष्य में (न्या.भा.१.१.९) 'आत्मनो भोगायतनम्' शरीर को कहा है। भाष्यकार ने भी कहा है 'शरीरं सुखदुःखानां भोगायतनमुच्यते' (आत्मबोध प्र.श्लो.११)।

५. इन देवों के मिले रहकर स्व-स्वकार्य करने से शरीर का धारण होता है यह स्पष्ट सार्वजनीन अनुभवसिद्ध है, इसके प्रति इनमें से कोई एक ही कारण है ऐसा इन्हें भ्रम है।

अपने अपने बारे में इस प्रकार गलत मान्यता रखने वाले उन देवों से 'वरिष्ठः' मुख्य प्राण ने[1] 'उवाच' कहा—"इस प्रकार भ्रम में 'मा' मत पड़ो, अविवेकता (वाले गलत निश्चय) के कारण जैसे तुम नहीं हो वैसा अपने को न मानो। ('हम ही शरीर का धारण करते हैं' यह तुम्हारी मान्यता गलत इसलिये है) क्योंकि मैं (मुख्य प्राण) ही अपने को पाँच तरह से बाँट कर अर्थात् अपने को प्राण आदि (पाँच) विभिन्न कार्यों में[2] लगाकर शरीर के अवयवों को बिखरने न देकर इस शरीर का 'विधारयामि' धारण करता हूँ।" इस प्रकार कह चुके उस मुख्य प्राण पर वे देव 'अश्रद्दधानाः' विश्वास वाले न हुए। "यह बात जो प्राण ने कही 'मैं ही इस शरीर को धारण करता हूँ' ऐसी अर्थात् वास्तविक कैसे (हो सकती है ?"–ऐसा सोच उन्होंने उसकी बात नहीं मानी) ॥ ३ ॥

"वह प्राण अपनी वास्तविक सामर्थ्य में अहंकार वाला होने से[3] (देवों द्वारा किये तिरस्कार को न सहन कर) मानो शरीर से ऊपर उठने को हुआ। उसके यों उठने को होने पर सभी देव शरीर से निकलने को होने लगे। पुनः उसके यथावस्थित हो जाने पर वे भी यथावस्थित हो गये। जैसे (छत्ते से) निकलते भ्रमरराज (या रानी-मक्खी) के पीछे सभी भ्रमर निकल जाते हैं और उसके कहीं स्थित हो जाने पर सभी (वहाँ) स्थित हो जाते हैं, ऐसे वाणी, मन, चक्षु, श्रोत्र (आदि देव प्राण के निकलने पर शरीर से निकल जाते हैं और जिस शरीर में प्राण स्थित हो जाता है उसमें स्थित हो जाते हैं। यह बात

---

१. 'शरीरेन्द्रियस्थिति-जीवोत्क्रान्तिप्रतिष्ठानिमित्तम् पञ्चव्यूहो वायुकार्यविशेषो मुख्यः प्राणः'। द्र० मुं.२.१.८.टिप्पणी।

२. 'अन इत्येतत्सर्वं प्राण एव' (बृ.१.५.३)। 'यथोक्तं प्राणादिवृत्तिजातमेतत्सर्वं प्राण एव, प्राण इति वृत्तिमान् आध्यात्मिकोऽन उक्तः, कर्म चास्य वृत्तिभेदप्रदर्शनेनैव व्याख्यातम्' (भाष्य.पृ.१२५MRI)। 'वृत्तिभेदश्चायं कार्यभेदापेक्षः' (सूत्रभाष्य २.४.१२)। एवं च विभिन्न कार्य करते हुए मुख्य प्राण ही तत्तन्नाम वाला होता है। इससे नाग, कृकर आदि की भी व्यवस्था संगत हो जाती है। श्रुतिस्थ प्रथम 'एतत्' क्रियाविशेषण है—'एतत्प्रविभज्य' इत्थं प्रविभज्येत्यर्थः।

३. 'सर्वंकारित्वलक्षणाद्यथावस्तुविषयादहंकारात्' दीपका।

समझ कर अपना भ्रम दूर होने से) वे देव प्रसन्न हुए और प्राण की स्तुति करने लगे ॥ ४ ॥"

उनके अविश्वास को देखकर वह प्राण भी अपनी शक्ति में अहंकार वाला होने से[1] सक्रोध, किसी की परवाह किये विना स्वयं ही[2] मानो (शरीर से) ऊपर उठने को हुआ अर्थात् मानो यह शरीर छोड़ने को हुआ। क्योंकि वह शरीर से सर्वथा ऊपर (बाहर) नहीं निकल गया इसलिये 'मानो' कहा। उसके यों उठने को होने पर जो हुआ उसे 'तद्यथा' (जैसे छत्ते से) इत्यादि द्वारा बताये जाने वाले उदाहरण से (श्रुति) अनुभवारूढ[3] करती है : उसके (यों) उठने को होने के 'अथ' तुरन्त बाद चक्षु आदि अन्य सभी (गौण) प्राण 'उत्क्रामन्ते'[4] (देह से मानो) उत्क्रमण करने लगे। पुनः उस प्राण के 'प्रतिष्ठमाने' चुप हो जाने पर अर्थात् (शरीर से ऊपर को) उठना छोड़ देने पर सब

---

१. अन्यथा उपेक्षादि कर देता।

२. अन्यत्र–प्रजापति द्वारा रास्ता सुझाने पर पहले देव निकले पर लौटने पर उन्होंने पाया कि शरीर में कोई विघटन नहीं आया था, अन्त में प्राण निकलने को हुआ और सभी देव शरीर में रह पाने में असमर्थ हो उसी के साथ खिंचे चले जाने लगे—इस प्रकार वर्णित है। उससे यहाँ की कथा का वैलक्षण्य 'निरपेक्ष' शब्द से बताया है। कथाभाग का गुणोपसंहरण व्यर्थ होने से यहाँ अलग ढंग अपनाया मानना उचित है।

३. अनुभव में आता है कि अन्धा, गूँगा होने पर शरीर बना रहता पर प्राण निकलने पर शरीर और आँखादि कोई बने नहीं रहते। यह शंका नहीं करनी चाहिये कि मृत की आँख निकाल अन्य को लगाते हैं और वह देख लेता है अतः आँख बच गयी; क्यों कि वह केवल गोलक बची है, आँख (इन्द्रिय) नहीं। यद्यपि 'एवं वाङ्मनः' इत्यादि कहकर आकाशादि का प्राण सहित न जाना प्रत्यक्ष से अविरोध के लिये स्वीकारा है तथापि पुर्यष्टकान्तर्गत महाभूतों का गमाऽऽगम स्वीकार्य समझना चाहिये। यदि तो महाभूत व्यापक होने से उनका गमाऽऽगम व्यर्थ हो तो प्रकृत श्रुति में उन्हें न गिनना विवक्षित मान सकते हैं। तब इन्द्रियादि के उपादानरूप से उनका गमाऽऽगम स्पष्ट समझना चाहिये।

४. 'क्रमः परस्मैपदेषु' (७.३.७६) से 'उत्क्रमन्ते' होना चाहिये किन्तु छान्दस होने से प्रयोग साधु है।

ही 'प्रातिष्ठन्ते' चुप-चाप अपने स्थानों में स्थित हो गये। जैसे 'तत्' वहाँ (जंगलादि में)[1] संसार में (देखा जाता है कि छत्ते से) निकलते भ्रमरराज की ओर—अपने राजा की[2] ओर—सब ही 'मक्षिकाः' भ्रमर उड़ने लगते हैं और उसके (किसी छत्ते में) स्थित हो जाने पर सब ही (भ्रमर) 'प्रातिष्ठन्ते' स्थित हो जाते हैं; जैसे यह दृष्टान्त है, वैसे वाणी, मन, चक्षु, श्रोत्र 'च' आदि (देव प्राण के निकलने पर निकल जाते हैं और प्रतिष्ठित होने पर प्रतिष्ठित हो जाते हैं। इस प्रकार) प्राण की महत्ता समझ कर वे देव अविश्वास छोड़ प्रसन्न हुए (और) प्राण की 'स्तुन्वन्ति' स्तुति करने लगे ॥ ४ ॥

किस प्रकार (स्तुति करने लगे)?—

"यह प्राण आग हुआ जलता है, यही सूर्य है, यही बादल है, यही इन्द्र है, यही वायु है, यही पृथिवी है, यही चन्द्र है, यही देव है, जो मूर्त अमूर्त व[3] अमृत है (वह सब यही है) ॥ ५ ॥"[4]

यह प्राण अग्नि हुआ 'तपति' जलता है। (जैसे यह अग्नि हुआ जलता है) वैसे यह सूर्य हुआ प्रकाशित होता है (और) तपाता है (गर्मी देता है), यह (भी) समझना चाहिये (क्योंकि) 'तपति' शब्द का यहाँ भी सम्बन्ध है। इसी प्रकार बादल हुआ यह बरसता है। और भी, 'मघवान्' इन्द्र हुआ प्रजाओं का पालन करता है व असुरों तथा राक्षसों को मार डालना चाहता है। यह आवह, प्रवह आदि भेदों वाला वायु है। आवह आदि भेद से वायु के सात गण (समूह) हैं,[5] इस प्रकार का हुआ वायु मेघों को और चक्र की तरह दीखने वाले ज्योतिरूप सूर्यादि को ढोता[6] है—इतना अधिक समझ लेना चाहिये।

---

१. अथवा तत्र तस्मिन्विषय इत्यर्थः।

२. स्वराजमिति वक्तव्ये स्वराजानमिति समासान्तविधेरनित्यत्वादुक्तम्।

३. प्रथमचकारात् सदसद्विलक्षणमज्ञानमपि प्राणो, द्वितीयाच्चकारादनुपचरिताऽसत्स्वभावं नरविषाणादिकमपीति शंकरानन्दाः।

४. इस प्रश्न के अन्त तक स्तुति ही चलेगी।

५. तत्तत् समय के आवह मिलकर आवहगण, ऐसे ही प्रवहगण आदि समझने चाहिये। आवह, प्रवह, संवह, उद्वह, विवह, प्रवह और परीवाह—ये सात हैं।

६. अर्थात् मेघ, सूर्यादि की गति का कारण वायु है।

और भी, यह (प्राण) पृथिवी हुआ सारे संसार का धारण करने वाला है, रयि अर्थात् चन्द्र हुआ सबको पुष्ट[1] करता है, समस्त जगत्का (प्रकाशक) देव है, (जो कुछ भी) 'सत्' मूर्त[2] है (वह यही है), (जो कुछ) 'असत्' अमूर्त[3] है (वह भी यही है) और देवताओं का जीवन-निमित्त जो अमृत है (वह भी यही है) ॥ ५ ॥

अधिक कहने से क्या (लाभ) ? (संक्षेप में भी उसकी महत्ता बतायी जा सकती है)—

"जैसे रथ के पहिये की नाभि में ताड़ियाँ आधारित रहती हैं ऐसे श्रद्धा आदि सब अपने स्थिति काल में प्राण में[4] ही आधारित है। ऋचायें, यजुर्वाक्य, साम (गीत), यज्ञ, क्षत्रिय और[5] ब्राह्मण (सब प्राणरूप[6] हैं) ॥ ६ ॥"

जैसे रथ के पहिये की नाभि में ताड़ियाँ आधारित रहती हैं ऐसे श्रद्धा से नाम पर्यन्त 'प्राण के अनन्तर श्रद्धा, आकाश, वायु तेज, जल' (६.४) इत्यादि वाक्य से बताया जाने वाला सोलह कलाओं[7] (टुकड़ों) वाला सभी जब स्थित रहता है तब प्राण में ही आधारित

---

१. ओषधिपोषण द्वारा सर्वपोषक प्रसिद्ध है।

२. मूर्त से सक्रिय या सरूप समझना चाहिये।

३. अमूर्त से निष्क्रिय या नीरूप समझना चाहिये।

४. प्राणरूप ब्रह्म में—ऐसा समझना चाहिये। या प्राण स्वयं ब्रह्म में स्थित है—ऐसा ऊपर से समझना चाहिये।

५. वैश्यादि का संग्रह है। अन्य भी अनुक्त वस्तुओं का संग्रह है।

६. भाष्यानुसारी यही अर्थ है। उपनिषद्योगी तु 'प्राण एव प्रतिष्ठितमित्यर्थं' इति ब्रूते। दीपिकायामप्येवम्। उपक्रमानुरोधेनाप्ययमर्थः। भाष्याशयस्तु माऽत्राधिष्ठानाधिष्ठेययोर्भेदात्प्राणपरिच्छिन्नत्वं ग्रहीपुरिति तस्य सर्वरूपत्वमपि वक्तव्यमिति।

७. अन्य सब प्राण और तद्द्वारा ब्रह्म में आधारित हैं, प्राण (प्रजापति) केवल ब्रह्म में आधारित है अतः और किसी में आधारित न होने से स्वयं अपने में आधारित है ऐसा मान कर प्राण समेत सोलहों कलाओं का आधार प्राण को बताया। क्योंकि कलाओं वाले को आधारित बताया है अतः कलारूप प्राण से अत्यन्त अभेद न होने से अधिष्ठान-अधिष्ठेय-भाव संभव है।

रहता है। (जैसे श्रद्धादि सब प्राण में आधारित है) [1]ऐसे ऋचायें, यजुर्वाक्य (और) साम (गीत)—ये तीनों प्रकार के मंत्र, उनसे होने वाले [2]यज्ञ, सबका पालन करने वाली क्षत्रियजाति[3], ब्रह्म अर्थात् ब्राह्मण-जाति और श्रुतिस्थ 'च' शब्द का अर्थ बताते हैं— यज्ञादि कर्म करने का अधिकार रखने वाले सब[4] यह प्राण ही हैं ॥ ६ ॥

और भी—

"हे प्राण ! तुम ही प्रजापति हो। तुम ही माता-पिता के गर्भों में विचरते हो और उनके (माता-पिता के) जैसे होकर पैदा होते हो। जो तुम चक्षु आदि गौण प्राणों सहित सब शरीरों में स्थित रहते हो उस तुम्हारे लिये ये प्रजायें उपहार लाती हैं ॥ ७ ॥"

---

१. प्राणस्थता कहने पर अर्थसिद्ध प्राणेतरत्त्व के निषेधार्थ कहते हैं—ऐसे इत्यादि से। अर्थात् प्राणस्थता व प्राणरूपता दोनों हैं। छन्दोबद्ध मंत्र ऋचा व अविवक्षितछन्दस्क मंत्र यजुः कहाते हैं। 'अहे बुध्निय मन्त्रं मे गोपाय यमृषयस्त्रैविदा विदुः, ऋचः सामानि यजूंषि, सा हि श्रीरमृता सताम्' (तै० ब्रा० १.२.१.२६) आदि श्रुति के आधार पर ऋग्यजुः सामा-ऽन्यतमत्त्व—यही मन्त्र लक्षण नवीनों ने (द्र० कुतूहलवृत्ति-२.१.८.२९) माना है। सूत्रकार तो 'तच्चोदकेषु मंत्राख्या' लक्षण करते हैं जिसका अर्थ है अनुष्ठेय अर्थ के प्रकाशन के प्रयोजक वाक्य मंत्र होते हैं। इसका परिष्कार करते हुए वासुदेवदीक्षित ने 'वाचः-स्तोमाङ्गशब्दत्वावच्छेदकधर्मवत्त्व' को ही लक्षण बताया है (कुतूहल-वृत्ति पृ० १७३)। मन्त्रत्वेन प्रसिद्ध वेदभाग मंत्र है यही सरल लक्षण समझना चाहिये।

२. श्रुतौ यज्ञ इति जातावेकवचनम्। एवं क्षत्रमित्यादौ।

३. अर्थात् तज्जातीय व्यक्ति। ऐसे ही ब्राह्मण व्यक्तियों को समझना चाहिये।

४. वैश्यादि का संग्रह है। यज्ञादि के 'आदि' से स्मार्त जपादि कर्म भी विवक्षित होने से स्त्री-शूद्र आदि सभी का संग्रह है। कुछ टिप्पणकार 'अधिकृतं ब्रह्म' ऐसा भाष्य वाक्य का अन्वय मानते हैं किंतु वह 'अधिकृतं सर्वम्' इस टीकोक्त अन्वय से विरुद्ध होने से हेय है। अत एव 'कर्तृत्वे' से 'कारयितृत्वे' की लक्षणाकर आर्त्विज्य में अधिकारी ब्राह्मण जाति को बताया गया मानने का गौरव भी व्यर्थ सिद्ध होता है।

जो प्रजापति अर्थात् विराट् है, वह भी तुम ही हो। पिता के गर्भ में शुक्ररूप से और माता के गर्भ में पुत्ररूप से जो विचरता है (वह) तुम ही विचरते हो (और) बाद में उनके प्रतिरूप हुए अर्थात् उनके सदृश[1] हुए जो पैदा होता है वह तुम ही पैदा होते हो। (श्रुतिस्थ 'प्रतिजायसे' में) 'प्रति' उपसर्ग का अर्थ बताया—'प्रतिरूप[2] हुए'। (पुत्ररूप से पैदा होने के) पहले ही तुम्हारी माता-रूपता व पितारूपता निश्चित है, शंका होती है कि (प्रकृत श्रुति में) प्राण की केवल पुत्र-रूपता बतायी है, पितारूपता व मातारूपता तो (बतायी) नहीं, तब वह (प्राण का पितृमातृरूपत्त्व) कैसे ? इसके निवारणार्थ कहते हैं— क्योंकि तुम प्रजापति हो। अर्थात् (प्राणरूप) प्रजापति की सर्वरूपता होने से (वह मातारूप व पितारूप भी निश्चित ही है) । (इसका) निचोड़रूप अर्थ बताते हैं—सब शरीरों के स्वरूप के बहाने[3] व सब शरीरधारियों के स्वरूप के बहाने[4] सर्वरूप तुम एक प्राण (ही) विद्यमान हो। हे प्राण ! जो ये मनुष्यादि प्रजाये हैं वे तो[5] 'तुभ्यम्' तुम्हारे लिये—जो तुम चक्षु आदि (गौण) प्राणों सहित सब शरीरों में प्रतिष्ठित रहते हो—चक्षु आदि द्वारा उपहार लाती हैं। यहाँ भी (उपहार लाने के विषय में भी) निचोड़भूत अर्थ बताते हैं— क्योंकि तुम ही भोक्ता हो इसलिये अन्य सब तुम्हारा ही भोज्य (खाद्य,[6] अन्न, भोग्य) है अतः तुम्हारे लिये उपहार लाती हैं यह ठीक ही[7] है[8] ॥ ७ ॥

१. मनुष्यादि माता पिता से उनके सदृश मनुष्यादि उत्पन्न होता है।

२. प्रतिकृति, प्रतिमा आदि शब्दों में सादृश्यार्थक प्रति प्रसिद्ध है। 'प्रधान-सदृशोः प्रति' (हतायुध ५·८८१)।

३. अन्न होने से। ४. अत्ता होने से।

५. प्राणभिन्न की व्यावृत्ति है।

६. 'भोज्यं भक्ष्ये' (७.३.६९)।

७. क्योंकि अन्य कोई भोक्ता है नहीं जिसके लिये उपहार लाये जायें।

८. सर्वशरीरेषु यस्त्वं प्राणैः सह प्रतितिष्ठसि (तस्मै) तुभ्यं बलिं हरन्ति— इत्येकं वाक्यम्। यतस्त्वं हि भोक्ता अन्यत् (च) सर्वं तवैव भोज्यम् अतः तुभ्यं बलिं हरन्तीति युक्तम्—इत्यपरम्। एवं च टीकोक्तोध्या-हारोऽकिंचित्करः। सर्वस्य भोज्यत्त्वेऽपि तस्यैव भोक्तृत्वं हेतुरिति बोधनाद्वा सोपि सार्थक इति ध्येयम्।

और भी—

"(हे प्राण !) देवताओं को हवि के श्रेष्ठ पहुंचाने वाले हो। (देवाराधन से) पहले पितरों को जो अन्न दिया जाता है (उसे भी तुम ही उन तक पहुंचाते हो। शरीर के रसभूत तथा अथर्व-नामक चक्षु आदि ऋषि (शरीर का धारणादि) जो वास्तविक चेष्टा करते हैं, वह भी तुम ही हो ॥ ८ ॥"

इन्द्रादि देवताओं को तुम 'वह्नितमः' हवि के श्रेष्ठ पहुंचाने वाले 'असि' हो। तात्पर्य है कि (यहाँ) वह्नि शब्द अपने अवयवों से लभ्य अर्थ को (मुख्यतः) बताता है : वहन करने के कारण[1] उसे वह्नि कहते हैं। नान्दीमुख[2] श्राद्ध में जो 'स्वधा[3]' अन्न 'पितॄणाम' पितरों को दिया जाता है वह देवताओं को (हवि) देने की अपेक्षा पहले दिया जाता है। उसे भी पितरों को पहुंचाने वाले तुम ही हो, यह अर्थ है। और भी, 'अङ्गिरसाम्[4]' अंगवाले शरीर के रसरूप (साररूप) (चक्षु आदि गौण) प्राणों के न रहने पर देहावयवों का सूखना (निरर्थक होना) देखा जाता है जिससे वे (गौण प्राण) अंगी (देह) के रसरूप हैं यह निश्चित हो जाता है, 'ऋषीणाम्' चक्षु आदि (गौण) प्राण, 'ऋष[5] गतौ' (गति-अर्थक ऋष) धातु के ज्ञानार्थक (भी) होने

१. वहतीति वह्निः 'वहिश्रिः' (उणा० ४.५२) इति निः। एवं च वह्निशब्द के अवयव हैं 'वह' और 'निः'। वह का अर्थ है पहुँचाना और 'निः' कर्त्रर्थक है। 'अतिशायने तमबिष्ठनौ' (५.३.५५) से 'तम' का अर्थ अतिशय (श्रेष्ठता है)। अतः (वह्) पहुँचाने (निः) वाला (तम) सर्वश्रेष्ठ—यह अवयवलब्ध अर्थ है।

२. जिसके किये जाने पर देवता आनन्दित हों वह यज्ञादि कर्म नान्दी कहाता है उसके मुख अर्थात् प्रारम्भ में किया जाने वाला श्राद्ध नान्दी-मुख श्राद्ध कहलाता है।

३. 'स्वान् यजमानस्य पितॄन् हविष्यदानेन धावति गच्छति इति स्वधा'। दीपिकायाम्। अन्ये तु स्वद्यतेऽनेनेति ष्वद आस्वादने (भ्व. आ. सं.) इत्यतो बाहुलकाद् 'आः समिण्निकषिभ्याम्' (उण. ४.१७६) आप्रत्यये पृषोदरादित्वाच्च दस्य धत्वे स्वधेत्यव्ययमिच्छन्ति।

४. अङ्गिरसानमिति वक्तव्येंऽगिरसामित्यकारलोपश्छान्दसः।

५. 'ऋषी गतौ' तु. प. से.।

से[1] ऋषिशब्द[2] का अर्थ ज्ञान उत्पन्न करने वाले चक्षु आदि (गौण प्राण) हैं, यह अर्थ है; (जिनका) ही 'प्राण ही अथर्वा है' (   ) इस श्रुतिवचनानुसार अथर्व-नाम है, यद्यपि मुख्य प्राण की अथर्वता श्रुति द्वारा बतायी गयी है तथापि चक्षु आदि उस मुख्य प्राण के अंश[3] होने से अथर्वशब्द के अर्थ (वाच्य) हैं, यह तात्पर्य है। उनकी जो शरीर का धारण आदि[4] करने में सहायता देना रूप 'सत्यम्' वास्तविक 'चरितम्' क्रिया है, (वह भी) तुम ही हो ॥ ८ ॥

और भी,

"हे प्राण! तुम परमेश्वर हो। अपनी संहारशक्ति से तुम रुद्र हो (और तुम ही अपने अघोर रूप में) हर तरह से जगत्का पालन करने वाले हो। (सब) प्रकाशों के अधिपति रूप सूर्य (हुए) तुम अन्तरिक्ष में विचरते हो ॥ ९ ॥"

हे प्राण! तुम (यहाँ) इन्द्रशब्द से परमेश्वररूपता[5] कही जा रही है (क्योंकि) इन्द्र (प्रसिद्ध देवराज) तो 'मघवान्' शब्द से कहा जा चुका है (२.५) इस (इन्द्रशब्दार्थ के) भेदको (दृष्टि में रख) व्याख्या करते हैं—'इन्द्रः' परमेश्वर हो। 'तेजसा' वीर्य से अर्थात् संहार

---

१. गमन, ज्ञान, मोक्ष, प्राप्ति—ये चारों 'गति' शब्द से बोध्य होते हैं।

२. ऋषतीति ऋषिः। 'सर्वधातुभ्य इन्' (उण० ४.११९) 'इगुपधात् कित्' (४.१२१)। पश्यत्यादयो ज्ञानविशेषा इति चक्षुः पश्यतीत्याद्यनुभवात्तस्यर्षिता।

३. अन्नान्नरूप प्रजापति के अंश ही प्राणादि हैं।

४. आदि से उत्क्रमण समझना चाहिये। प्राण जो धारणादि करता है उसमें गौण प्राण सहायक होते हैं।

५. 'इन्द्रः शक्रेऽन्तरात्मनि' (हैम. अनेकार्थसंग्रह) 'इन्द्र आत्मनि वासवे' (त्रिकाण्ड०) 'इन्द्रः शक्रादित्यभेदे योगभेदान्तरात्मनि' (मेदि) आदि कोशसे, इदि परमैश्वर्ये (भ्वा. प. सं.) से रन्प्रत्यय लगने पर ('ऋजेन्द्राग्र०' उणा. २.३१) सिद्ध होने के कारण योग से, 'तमिन्द्रं सन्तमिन्द्र इत्याचक्षते' (ऐ. उ. १.३.१४) आदि श्रौत निरुक्त से, 'स ब्रह्मा स शिवः सेन्द्रः' (महाना. ११.१३) आदि श्रौत बोधन से तथा 'इन्द्रो मायाभिः' (बृ० २.५.१९) आदि श्रौत प्रयोग से इन्द्र पद परमेश्वरार्थक है।

करने की शक्ति से जगत् का संहार करते हुए रुद्र तुम हो। और स्थितिकाल में (अपने) विष्णु आदि[1] सौम्य (अघोर, शान्त) रूप में तुम ही जगत् का 'परिरक्षिता'— 'परि' हर तरह से 'रक्षिता' पालन करने वाले हो। तथा सब प्रकाशों के अधिपतिरूप[2] सूर्य 'त्वम्' तुम ही उदय होने व अस्त होने से निरन्तर अन्तरिक्ष में विचरते हो ॥ ९ ॥

"हे प्राण ! जब तुम (मेघ बनकर) बरसते हो तब तुम्हारी ये प्रजायें, '(हमारे लिये) यथेच्छ अन्न होगा' यह निश्चयकर सुखी हो विराजती हैं ॥ १० ॥"

जब मेघ बनकर तुम बरसते हो 'अथ' तब[3] अन्न पाकर ये प्रजायें 'प्राणते' (चैन की) साँस लेती हैं, यह अर्थ है। अथवा[4], हे प्राण ! 'ते' तुम्हारी ये प्रजायें—जिनका स्व-रूप तुम ही हो और जो उस अन्न से

१. एक महादेव के ही विष्णु, रुद्र आदि स्वरूप हैं यह श्रुति, स्मृति, पुराणादि सर्वत्र प्रसिद्ध है। 'बहलरजसे विश्वोत्पत्तौ' आदि महिम्न श्लोक में 'एकैवमूर्तिर्बिभिधे त्रिधा सा' इत्यादि कालिदास श्लोक में तथा अन्यत्र इसका मनोरम वर्णन मिलता है। 'अघोरेभ्योऽथ घोरेभ्यः' (महाना. १७.३) 'शिवा तनूरघोरा' (शु० युजु० सं० १६.२) आदि श्रौत प्रमाण भी समझ लेने चाहिये। 'द्वे तनू तस्य देवस्य वेदज्ञा ब्राह्मणा विदुः। घोरामन्यां शिवामन्यां ते तनू बहुधा पुनः'। अनु० दानधर्म० १६१.३ ॥ आदि श्रीकृष्णवचन भी प्रमाण है। 'शब्दादेव प्रमितः' (१.३.२४) सूत्र में ईशान-शब्द से ईश्वरोक्ति स्वीकारी है जिससे यही सिद्धान्त बादरायणसम्मत निश्चित होता है। इसे ही स्पष्ट करने के लिये टीकाकार ने विष्णु आदि रूपों का उल्लेख किया है अतः अध्याहार अनावश्यक नहीं, यह समझ लेना चाहिये।

२. स्वप्रकाश होते हुए दूसरों के प्रकाश का कारण होने से प्रकाश का अधिपति सूर्य है।

३. बरसने के बाद खेती पकने परा अथवा बरसने से अन्न मिलना निश्चित हो जाता है अतः मानो अन्न पाकर—यह अर्थ है।

४. पूर्व अर्थ में 'प्राणते' एक पद माना था। 'अन प्राणने' (अदा० प० से०) धातु से 'प्राणन्ति'रूप बनता है जिसकी जगह 'प्राणते' यह छान्दस रूप मानना पड़ता है। अतः 'प्राण' यह सम्बोधन और 'ते' यह षष्ठ्यन्त इस प्रकार दो पद मान कर व्याख्या करते हैं—अथवा आदि से।

बढ़ी हैं जिसका (अन्न का) स्व-रूप तुम ही हो[1], (वे)—तुम्हारे बरसने को देखने मात्र से 'आनन्दरूपाः' मानो सुख पायी हुई रहती हैं। '(हमारी) 'कामाय' इच्छा के लिये (पर्याप्त) अन्न होगा' ऐसा (निश्चय कर सुख पायी हुई रहती हैं, यह) अभिप्राय है ॥ १० ॥

और भी,

"हे प्राण! तुम स्वभाव से ही शुद्ध हो। (तुम ही) एकर्षि-नामक अग्नि हो (और सब हवियों को) खाने वाले हो। संसार के (तुम ही) पूज्य अधिपति हो। तुम्हारा भोज्य देने वाले हम हैं। तुम वायु के भी पिता हो ॥ ११ ॥"

हे प्राण! क्योंकि तुम सर्वप्रथम उत्पन्न हुए अतः तुमसे अन्य कोई (आचार्यादि) है ही नहीं जो तुम्हारा (उपनयनादि) संस्कार करे, फलतः तुम 'व्रात्यः' संस्कार-रहित हो, 'जिसका (यथाकाल उपनयनादि) संस्कार न किया जाये वह व्रात्य होता है' ( ) इस स्मृति[2]वचन से (व्रात्य शब्द का अर्थ संस्कार रहित है) यह तात्पर्य है। इससे (व्रात्य कहने से उसकी) अपने से[3] ही शुद्धरूपता बताना इष्ट है यह कहते हैं—अभिप्राय है कि (तुम) स्वभाव से ही शुद्ध हो। तुम अथर्ववेदियों की प्रसिद्ध 'एक ऋषिः'[4] एकर्षि नामक अग्नि हुए सब हवियों को खाने वाले हो। 'सतः' विद्यमान 'विश्वस्य' सब के तुम ही अधिपति हो (अतः) सत्पति हो। या, अच्छे अधिपति हो (अतः) सत्पति[5] हो। हम तो तुम्हारे 'आद्यस्य' भोज्य के—अर्थात् हवि के—देने वाले हैं। 'मातरिश्व' हे मातरिश्वन्! तुम 'नः' हमारे पिता हो। (इस व्याख्या में तात्पर्य है कि) 'मतरिश्व नः' (ये दो पद हैं और)

---

१. त्वद्रूपान्नमित्यर्थः। यद्वा तव निमित्ताद्भवमन्नं त्वदन्नम्। यद्वा तवात्तुरन्नभूतं यत्तेन संवर्धिता इत्यर्थः।

२. 'अतउर्ध्वं त्रयोप्येते यथाकालमसंस्कृताः। सावित्रीपतिता व्रात्या भवन्त्यार्यविगर्हिताः' ॥ मनु० २.३९ ॥ 'व्रात्यः संस्कारहीनः स्याद्' (अमर० २.७.५३; हलायुध० २.४०४)।

३. किसी अन्य कारण के विना ही।

४. द्र० मुं० ३.२.१०।

५. 'सन्महत्परमोत्तमोत्कृष्टाः पूज्यमानैः' (२.१.६१) इति सतः पूर्वनिपातः।

इनके मध्य छान्दसस्वातंत्र्यसे नकार का (मातरिश्वन् के अन्त्य नकार का) लोप हुआ है। अथवा[1], तुम 'मातरिश्वनः'[2] वायु के पिता हो— इस प्रकार (पूर्व से) सम्बन्ध है। इस ('अथवा' आदि) व्याख्या में (प्राण की) केवल वायु-जनकता (बतायी) होने से हम (चक्षु आदि देव व मनुष्यादि) सब का वही पिता है यह बिना बताया रह जायेगा[3]—ऐसी शंका का निराकरण करने के लिये कहते हैं—और इससे (वायुपिता होने से) सारे संसार की पितारूपता (प्राण की है यह) सिद्ध हो जाता है। तात्पर्य है कि क्योंकि हम सभी का जनक वायु है इसलिये उसके भी जनक आकाशरूप[4] प्राण की सर्वजनकता (अर्थात्) सिद्ध है ॥ ११ ॥

अधिक कहने से क्या (लाभ ? अब जिस प्रयोजन से प्रार्थना की उसे बताया जाता है)—

"(हे प्राण !) जो तुम्हारा अपानरूप शरीर[5] वाणी में प्रतिष्ठित है, जो (व्यानरूप शरीर) श्रोत्र में (प्रतिष्ठित है) और जो (प्राणरूप शरीर) चक्षु में (प्रतिष्ठित है) तथा जो (समानरूप शरीर) मन में

---

१. उक्त लोपकल्पना में गौरव देख 'मातरिश्वनः' इस एक षष्ठ्यन्त को मानकर व्याख्या करते है—अथवा आदि से।

२. मातरि आकाशे श्वसितीति मातरिश्वा वायुस्वरूपः (त्वम्) इत्यर्थं इति दीपिकायाम्। 'श्वन्नुक्षन्०' (उण० १.१४६) आदि से कनिन् प्रत्यय लग 'टुओश्वि गतिवृद्धयोः' (भ्वा० प० से०) धातु से यह शब्द निपातित है।

३. सर्वपिता को केवल वायुपिता कहने से स्तुति नहीं हो पायेगी।

४. सृष्टि प्रक्रिया में आकाश के अनन्तर वायु की उत्पत्ति कही है। हमारी उत्पत्ति के प्रति तो वायु भी कारण है ही। उसकी उत्पत्ति में आकाश की कारणता है और प्राण सर्वरूप होने से आकाशरूप भी है अतः वायु का पिता है एवं सभी का पिता है। वायु की श्रेष्ठता प्रसिद्ध होने से स्तुति है। यद्यपि आकाशकार्य श्रोत्रादि की दृष्टि से वायुपितृत्व होने पर भी स्वपितृत्व असिद्ध है तथापि स्तुति में तात्पर्य होने से कोई दोष नहीं।

५. तत्तद् वृत्ति से तत्तद् इन्द्रिय से प्राण सम्बद्ध हो तब इन्द्रिय व्यापार करती है ऐसा समझना चाहिये। क्रिया करने के लिये (वृत्ति बनाने के लिये) क्रियाशक्तिरूप प्राण की अपेक्षा रहती ही है।

(उसकी वृत्तियों के रूप से) अनुगत है, उन सभी शरीरों को[1] अपने अपने स्थानों पर (पूर्ववत्) स्थित करो[2], तुम (शरीर से) उत्क्रमण मत करो ॥ १२ ॥"

'ते' तुम्हारा जो शरीर बोलने की क्रिया करते हुए वक्ता रूप से वाणी में प्रतिष्ठित है, जो (शरीर) श्रोत्र में (प्रतिष्ठित है) और जो (शरीर) चक्षु में (प्रतिष्ठित है) तथा जो संकल्प आदि वृत्तिरूप से मन में 'सन्तता' भली प्रकार से[3] अनुस्यूत शरीर है; 'वह प्राण है वह चक्षु है; ···वह व्यान है वह श्रोत्र है; ·· वह अपान है वह वाणी है, ···वह समान है वह मन है' (छां० ३.१३.१—४) इस श्रुति के अनुसार वाणी में अपानरूप शरीर प्रतिष्ठित है श्रोत्र में व्यानरूप, चक्षु में प्राणरूप और मन में समानरूप (शरीर प्रतिष्ठित है) यह अर्थ है। उसे (प्रत्येक शरीर को) 'शिवाम्' शान्त (स्वस्थानस्थित) करो अर्थात् 'मोत्क्रमीः' (स्वयं) उत्क्रमण करने से (उन्हें भी) अशान्त (स्वस्थानप्रच्युत) मत करो। प्राण का उत्क्रमण होने पर अपानादि जिनका स्वरूप है वे वाणी आदिरूप शरीर 'अशिव' (अशान्त) अपने कार्य करने में असमर्थ हो जायेंगे, (उन्हें ऐसा न करो, अर्थात् तुम शरीर छोड़कर मत जाओ) यह अर्थ है ॥ १२ ॥

अधिक कहने से क्या (प्रयोजन ? प्रार्थनापूर्वक स्तुति समाप्त करते हैं)—

"यह सब (इस लोक में जो कुछ है) और स्वर्लोक में[4] जो कुछ प्रतिष्ठित है, सब प्राण के (ही) वश में है। (हे प्राण!) माता की

---

१. पूर्वस्थ अनेक यद् आदि सर्वनामों को परस्थ एक तद् आदि सर्वनाम विषय कर लेता है जैसे 'यत्र यत्र धूमः तत्र वह्निः' आदि स्थलों में— ऐसा न्यायलीलावती आदि में स्थापित है। उसी के अनुसार यहाँ समझना चाहिये।

२. 'स्वस्थानादचलितामित्यर्थः' दीपिका।

३. चक्षु आदि तो जाग्रद् अवस्था में भी कदाचित् व्यावृत्त होते हैं जबकि मन जाग्रत् व स्वप्न दो अवस्थाओं में निरन्तर व्यापृत रहता है अतः उसमें प्रतिष्ठित शरीर निरन्तर क्रियाशील है यह 'भला प्रकार' है।

४. शंकरानन्दीये तु 'त्रिदिवोपलक्षितत्रिलोक्यां ब्रह्माण्डजठरे इत्यर्थः'।

तरह हमारी–अपने पुत्रों की–रक्षा करो और सम्पत्ति तथा[1] ज्ञान हमें दो–यह (स्तुति वाक्[2] आदि ने की) ॥ १३ ॥"

इस लोक में जो कुछ उपभोग्यसमूह है, यह सब प्राण के ही वश में है और देवता आदि द्वारा उपभोग किया जाना जिसका स्वरूप है ऐसा जो (कुछ) 'त्रिदिवे' तीसरे आसमान में (अर्थात् स्वर्लोक में) प्रतिष्ठित है उसका भी ईशन अर्थात् रक्षण करने वाला प्राण ही है। अतः (हे प्राण !) माता की तरह हम पुत्रों का 'रक्षस्व' पालन करो। ब्राह्मणों की[3] संपत्तियाँ ब्राह्मणों की सम्पत्तियां ऋचा आदि मंत्ररूप होती हैं क्योंकि वेद में कहा है, 'ऋचायें, साम, यजु—वे ही सत्पुरुषों की अमृत सम्पत्ति है' ( ) और क्षत्रियों की[4] सम्पत्तियाँ धन आदि ऐश्वर्यरूप क्षत्रियों की (सम्पत्तियाँ) प्रसिद्ध हैं तुम्हारे कारण ही (होती) हैं, तुम उन 'श्रीः' सम्पत्तियों को और (उस) ज्ञान को[5] (जो) तुम्हारी (प्रजापतिरूप उत्तम) स्थिति का कारण है, हमें 'विधेहि' दो, यह अर्थ है। इस (द्वितीय) प्रश्न में (प्राण का जो) गुण निश्चित किया गया है उसे संक्षेप से कहते हैं—'इति' इस प्रकार वाणी आदि (गौण-) प्राणों द्वारा सर्वात्मता (प्रकट करने) से[6] की

---

१. 'चकारौ तयोः (श्रीप्रज्ञयोः) स्थिरत्वोपयोज्यत्वेआहतुः' दीपिकायाम्।

२. 'वाङ्मनश्चक्षुःश्रोत्रं च ते प्रीताः प्राणं स्तुवन्ती' (२.४) त्युक्तत्वाद्वागादिभिरिति प्रकृतवाक्यभाष्येप्युक्तम्। दीपिकायान्तु 'नोऽस्मभ्यमाकाशादिभ्यो विगताभिमानेभ्य' इति व्याख्यातम्। तैः पुनः पूर्वत्र (२.४) 'श्रोत्रंचे'ति 'चकारोऽनुक्तानामाकाशादीनां संग्रहार्थं' इति स्वीकृतमिति व्याख्याद्वयमपि संगतमेव।

३. ब्राह्मोऽजातौ (६.४.१७१) इति ब्रह्मसम्बन्धिन्यः श्रियः ब्राह्मयइहोक्ताः।

४. क्षात्र्यइति पाठेन भाव्यं, टीकायामप्येवम्। 'क्षत्राद्घः' (४.१.१३८)। क्षात्रियाइत्येव पाठश्चेत् पूर्वं क्षत्रात्स्वार्थे णिच्प्रत्ययः कार्यः, ततः क्षत्राद्घ इति घः। न च घः क्षत्रादेव न णिजन्तादिति वाच्यम्, एकदेशविकृतमनन्यवदिति न्यायेन सांगत्यादिति गोविन्दप्रसादटिप्पणे व्यक्तम्।

५. जिस ज्ञान से (उपासना से) तुम्हें प्रजापतिरूपता मिली है उसका हमें उपदेश दो।

६. प्राण की सर्वात्मता बताने से।

स्तुति से महिमा को प्राप्त हुआ प्राण प्रजपाति अत्ता है यह निश्चित हुआ। यह (जो सर्वात्मता कही है उससे) वरिष्ठता (मुख्यता) आदि भी[1] (निश्चित हुए) समझ लेने चाहिये ॥ १३ ॥

॥ इति द्वितीय प्रश्न ॥

अथ तृतीय प्रश्न

"वैदर्भि के प्रश्न का निर्णय हो जाने के बाद इन प्रसिद्ध पिप्पलाद से कौसल्य आश्वलायन ने भी पूछा : हे भगवन् ! यह (प्रकृत) प्राण किससे उत्पन्न होता है ? इस (हमारे आदि) शरीर में किस कारण आता है ? अपने को बाँट कर किस प्रकार रहता है ? किससे उत्क्रमण करता है ? बाह्य प्रपंच का धारण कैसे करता है ? अध्यात्मका (शरीर का) धारण कैसे करता है ? ॥ १ ॥"

इस प्रकार (पूर्व प्रश्नों में) प्राण के प्रजापतित्व, अत्तृत्व आदि गुणगणों का निर्धारण कर (उसकी) उत्पत्ति आदि का निर्धारण करते हुए उसकी उपासना का विधान करने के लिये (श्रुति) अगले प्रश्न की भूमिका रचती है—इसके बाद अर्थात् वैदर्भि का प्रश्न (पूरी तरह उत्तरित हो जाने) के वाद इन प्रसिद्ध पिप्पलाद से कौसल्य आश्वलायन ने भी पूछा : (प्राण की) वास्तविकता समझ चुके (गौण-) प्राणों द्वारा अनुभव की जा चुकी महत्ता वाला होने पर भी प्राण—जिन वाणी आदि (गौण-) प्राणों द्वारा और आकाश आदि द्वारा प्राण की वास्तविकता समझी जा चुकी है उनके द्वारा (जिसकी महत्ता का अनुभव किया जा चुका है ऐसा होने पर भी) यह अर्थ है। क्योंकि प्राण पहले बतायी महत्ता वाला है इसलिये उसकी उत्पत्ति की शंका नहीं हो सकती जिससे 'किससे (उत्पन्न होता है) ?' यह प्रश्न

---

१. शरीर का धारण आकाशादि भूतों व वाणी आदि करणों सहित प्राण करता है। ये ही अपनी महत्ता का प्रकाशन करते है। इनमें प्राण ही वरिष्ठ है। इस प्रकार भार्गव के प्रश्नों का निर्णय किया गया। जो विशेषतायें प्राण की बतायी हैं वे उपास्य हैं।

प्राणो मृषाऽजायत, कर्मणा स लेभे शरीरं, न्ययुनक् च वृत्तीः । प्रयात्युदानेन, रविर्बहिस्थोऽध्यात्मं कृपाया असुपु प्रपत्ते ॥ इति प्रश्नार्थसंक्षेपदर्शकाय महात्मने । मनसाचिन्त्यमाहात्म्यवते ते गुरवे नमः ॥

असंगत है—यह शंका कर (इसके निवारणार्थ) कहते हैं—क्योंकि संहत[1] है अनेक स्वरूप वाला अर्थात् टुकड़ों वाला है इसलिये इसकी कार्यरूपता (निश्चित) है, अतः मैं पूछता हूँ कि हे भगवन् (१) जैसा (पूर्व प्रश्नों द्वारा) समझा है (वैसे स्वरूप वाला) यह प्राण 'कुतः' किस (अपने) कारण से उत्पन्न होता है और (२) उत्पन्न होकर 'कथम्' किस विशेष व्यापार रूप[2] कारण से इस शरीर में आता है अर्थात् यह जो शरीर ग्रहण करता है—शरीर में प्रवेश करता है – उसमें कारण क्या है ? तथा (३) शरीर में प्रवेश कर अपने को 'प्रविभज्य' बाँट कर 'कथम्' किस प्रकार 'प्रातिष्ठते' रहता है ? (श्रुतिस्थ) 'प्रातिष्ठते' शब्द में ('प्र' के अनन्तर व 'तिष्ठते' के पूर्व) 'आ'कार का सम्बन्ध होने से (प्र्-इस संयोग के बाद) दीर्घ स्वर (आ) है। और (४) किस अपने विशिष्ट कार्य करने वाले स्वरूप से (वह) इस शरीर से 'उत्क्रमते' उत्क्रमण करता है (शरीर से बहिर्गमन करता है) ? (५) 'बाह्यम्' आधिभौतिक व आधिदैविक[3] (प्रपंच) का 'अभिधत्ते' धारण कैसे करता है ? (६) अध्यात्म का[4] (धारण) कैसे करता है ? ॥ १ ॥

"उन पिप्पलाद ने उस आश्वलायन से कहा : तुम सूक्ष्म[5] विषयों के

---

१. 'दृढसन्धिस्तु संहतः' (अमर. ३.१.७३) आदि कोश से नाना टुकड़ों के जुड़ने से जिसका स्वरूपलाभ हो उसे संहत या संघात कहते हैं। घटादि दृष्टान्तों से सभी संघात कार्य होते हैं यह अनुभवसिद्ध है।

२. यागादिजन्य सुखादिफलजनक होने से धर्माऽधर्म व्यापारात्मक कारण हैं।

३. भूत (महाभूत) सम्बन्धी को अधिभूत या आधिभौतिक कहते हैं। देवसम्बन्धी अधिदेव या आधिदैविक है। जलादि भूतों का धारण उनके अभिमानी देवतारूप से करता है यह उत्तर अभिप्रेत होने से 'बाह्य' शब्द का ऐसा ही व्याख्यान किया है।

४. आत्मा-शब्द शरीरार्थक होने से अध्यात्म से देहप्रपंच समझना चाहिये।

५. बहिर्मुख व्यक्ति द्वारा न ये विषय जिज्ञासित हो सकते हैं, न उसे समझ आ सकते हैं और अतएव न उसे बताये जाने चाहिये। सूत्रात्मा को भी अनुमान से सिद्ध कैसे किया जाये ?—यह पूछे जाने पर याज्ञवल्क्य ने भी गार्गी को कहा है 'तर्क से प्रष्टव्यता लाँघ कर विद्यमान तत्त्व के बारे

बारे में पूछ रहे हो। क्योंकि तुम परमात्मा के[1] जानकार हो इसलिये तुम्हें (इन विषयों को) समझाता हूँ ॥ २ ॥"

इस प्रकार जिनसे पूछा गया वे आचार्य पिप्पलाद उस आश्वलायन से बोले : पहले तो प्राण ही क्योंकि आराम से समझ नहीं आ सकता इसलिये (वह) ऐसे प्रश्नों के योग्य है जिनका उत्तर देना कठिन[2] हो,– जिस तरह के प्रश्नों का (उत्तर देना) कठिन हो उस तरह के प्रश्नों के योग्य[3] है. यह अर्थ है– (और तुम तो) उसका (प्राण का) भी जन्म आदि पूछ रहे हो, अतः अतिप्रश्नों को तुमसे अन्य लोगों के प्रश्नों को लाँघकर (–उनका अतिक्रमण कर–तुम प्रश्न पूछ रहे हो) अर्थात् अन्य

में तर्क से प्रश्न मत करो'—'मातिप्राक्षीः,'''अतिपृच्छसि' (बृ० ३.६.१)। वहाँ परीक्षाभाव से प्रश्न होने से मना मात्र किया था। यहाँ शिष्यभाव से प्रश्न होने के कारण उत्तर दिया है। उत्तर में तर्कमूलकता नहीं यह ध्यान रखना चाहिये।

१. यद्यपि परमात्मा की जानकारी पाने ये छहों आये हैं, 'परं ब्रह्मान्वेषमाणाः', तथापि प्रोत्साहनार्थं ऐसा कहा है—यह टीकाकार ने व्यक्त किया है। अथवा अपरब्रह्म के उत्तम उपासक होने से ही उसे 'ब्रह्मिष्ठ' कहा है, यह समझना चाहिये। 'अतिशयेन ब्रह्मवान्' इस अर्थ में 'अतिशायने तमबिष्ठनौ' (५.३.५५) से इष्ठन् प्रत्यय हो 'विन्मतोर्लुक्' (५.३.६५) से मतुप् का लुक् (लोप) हो 'यस्येति च' (६.४.१४८) लगकर ब्रह्मिष्ठ-शब्द बनता है। ब्रह्मवान् का अर्थ है ब्रह्म वाला। जैसे धनी स्वामित्व-सम्बन्ध से धन वाला होता है ऐसे किस सम्बन्ध से यह ब्रह्म वाला है? ज्ञातृत्व या उपासकत्व सम्बन्ध समझना चाहिये। अर्थात् ब्रह्म और कोसल्यका ज्ञेयज्ञातृभाव या उपास्योपासकभाव सम्बन्ध है। ज्ञातृत्व-पक्ष में यदि परब्रह्म को विषय मानना हो तो औपचारिक सम्बन्ध समझना चाहिये।

२. युक्ति से अतीत होने से काठिन्य है।

३. अर्थात् उसके बारे में वस्तुतः वे ही प्रश्न उठने चाहिये जिनका उत्तर तर्क से न मिल सके। उस तक तर्क की गति न होने से तन्मूलक प्रश्न उसके बारे में उठना संगत नहीं। जब प्राण की ही यह स्थिति है तब उसके अधिष्ठानभूत आत्मतत्त्व की विषमप्रश्नार्हता का क्या कहना? —इस कैमुतिकन्याय से अक्षरमाहात्म्य को भी ध्वनित समझना चाहिये।

लोगों के प्रश्न जिन बातों को विषय नहीं करते उन सूक्ष्म प्रश्नों को अर्थात् पूछने योग्य बातों को पूछ रहे हो। क्योंकि तुम अपर ब्रह्म की अपेक्षा आधिकाच[1] वाले मुख्य ब्रह्म के जानकार हो—(मुख्य ब्रह्म का जानकार कहकर) प्रोत्साहन देने के लिये प्रशंसा की है, यह तात्पर्य है—इसलिये मुझे सन्तोष है (कि मैं सत्पात्र को विद्या दे रहा हूँ) अतः जो पूछा है (वह विषय) 'ते' तुम्हें बताता हूँ, सुनो ॥ २ ॥

"[2]परमात्मा से यह प्राण उत्पन्न होता है। जैसे पुरुषदेहरूप निमित्त रहते (मिथ्या ही) परछायी पड़ती है ऐसे[3] इस परमात्मा में यह आश्रित है। [4]मन के संकल्पादिपूर्वक किये कर्म के कारण (प्राण) इस शरीर में आता है ॥ ३ ॥"

(पहले) समझाया जा चुका यह (प्रकृत) प्राण 'आत्मनः' 'स्वप्रकाश, सब नाम-रूपों से असम्बद्ध, तथा पूर्ण है।…(कार्य से सापेक्ष परता वाले अक्षर से परे है' (मु० २.१.२) व 'प्राण (आदि) इस परम अक्षर से उत्पन्न होते हैं' (२.१.३)—इन मन्त्रों को प्रकृत वाक्य के समान तात्पर्य वाला सूचित करने के लिये उन मन्त्रों में आये विशेषणों को (आत्मा-शब्द के अर्थरूप से) बताते हैं—सत्य[5], अक्षर, परम, पुरुष[6]

१. निरुपाधिकत्व ही आधिक्य है।

२. प्रथम प्रश्न का उत्तर देते हैं।

३. परछायी की तरह प्राण मिथ्या है और मिथ्या ही आश्रित है। व्यावहारिकत्त्व द्योतनार्थं दृष्टान्त है। जैसे सर्प का बाध होता है ऐसे परछायी का बाध होता नहीं। पुरुष, प्रकाश आदि की सत्ता के अधीन ही परछायी की सत्ता होती है अतः मिथ्यात्व निःसन्दिग्ध है। अतएव इन विषयों को 'अतिप्रश्न' कहा था। उत्पत्ति यों समझनी है कि उत्पत्ति हुई नहीं, यह तात्पर्य है।

४. द्वितीय प्रश्न का उत्तर देते हैं।

५. सत्य व अक्षर—ये दो शब्द मुं० २.१.१ में हैं। 'टीका' के 'मन्त्रौ' में द्वित्त्व अविवक्षित जनना चाहिये।

६. पुरुषशब्द मुं० २.१.२ में है। वहीं 'परः' भी है जिसे 'परम' से अनूदित किया है। निरपेक्ष परमता समझनी चाहिये। पुरुषशब्द विशेष्य समर्पक है अथवा आत्मा शब्द ही विशेष्य समर्पक व ये चारों विशेषण हैं ऐसा जानना चाहिये। तब 'सत्य, अक्षर, परम, पुरुष आत्मा से'—इस प्रकार अनुवाद होगा।

से उत्पन्न होता है। कैसा (प्राण उत्पन्न होता है), इस बारे में अर्थात् प्राण का मिथ्यात्त्व बताने के लिये दृष्टान्त बताया जा रहा है— जैसे संसार में सिर, पैर आदि स्वरूप वाले[1] पुरुषरूप निमित्त रहते (उस) निमित्त के कारण होने वाली (और उस निमित्त के आश्रित) यह (प्रत्यक्षसिद्ध मिथ्या) प्रतिबिम्ब आदिरूप छाया (परछायी) उत्पन्न होती है, वैसे जिसका प्रकरण[2] चला है, (प्रपंच के) उत्पादक (उस) 'एतस्मिन्' (इस) सत्य, पुरुष, ब्रह्मरूप अर्थात् परमात्मारूप निमित्त रहते प्राणनामक यह मिथ्या वस्तु, जिसका (दार्ष्टान्त में) वही स्थान है जो (दृष्टान्त में) छाया का, (उत्पन्न होती है और)[3] जैसे देह पर छाया (आश्रित होती है) वैसे (परमात्मा पर यह प्राण) 'आततम्' आश्रित होता है; यह (प्रथम प्रश्न का उत्तर है)।

'किस कारण (शरीर में) आता है ?' इस (द्वितीय प्रश्न) का उत्तर देते हैं—'मनोकृतेन' ('मन:' और 'कृतेन' शब्दों को इस प्रकार[4]) जोड़ना ऋषि प्रयोग (के लिये मान्य छूट के अनुसार) है;

---

१. पुरुषशब्द शरीरपरक है यह तात्पर्य है।

२. 'परं ब्रह्मान्वेपमाणा:' (१.१) से परमात्मा का ही प्रसंग है जिसका 'पुरुषं वेद' (६.६) 'परं ब्रह्म वेद' (६.७) आदि में उपसंहार होगा। मध्य में जो कुछ प्रश्नोत्तर के माध्यम से बताया है वह सब उसे ही समझने के लिये है।

३. निमित्तमात्र परमात्मा नहीं है यह बताने के लिये कहते हैं—जैसे आदि से। देह को प्रकाश की जरूरत रहती है पर परमात्मा स्वप्रकाश होने से उसकी जरूरत नहीं रखता। दीवार आदि की जगह दर्ष्टान्त में अज्ञान समझना चाहिये। क्योंकि दीवार की उपाधिरूपता में दृष्टान्त है इसलिये उसके पुरुषस्वातन्त्र्य का विरोध नहीं। 'दृष्टदार्ष्टान्ततुल्यत्वं न तु सर्वात्मना क्वचित्' (उपा० स० १८.८६)। 'छायेव देहे'—इन तीन पदों को प्रथम प्रश्न के उत्तर में ही समझना चाहिये अर्थात् वाक्य समाप्ति 'एतत्' के अनन्तर न हो 'देहे' के अनन्तर समझनी चाहिये।

४. 'मनसा कृतेन' इस तात्पर्य से समास करने पर 'कृत्तद्धितसमासाश्च' (१.२.४६) से प्रातिपदिक संज्ञा होगी और 'सुपो धातुप्रातिपदिकयो:' (२.४.७१) से सुप् का लोप हो 'मन:कृत' बनेगा; यहाँ 'कुप्वो≍क≍पौ च' (८.३.३७) से या जिह्वामूलीय आदेश होगा या विसर्ग ही रहेगा; 'मन:कृतेन' यही तृतीयान्तरूप होगा।

मन में होने वाले संकल्प, इच्छा आदि पूर्वक किये गये कर्मों के निमित्त से इस शरीर में 'आयाति' आता है। इस (बात) को 'पुण्यकर्म से शुभलोक को' (३.७) आदि वाक्य से बतयेंगे ही, इस कर्म करने वाले का मन जिस फल की 'निषक्तम्' दृढ अभिलाषा वाला होता है, (यह कर्मी भी) उसी में आसक्ति वाला हुआ कर्मों सहित जाता है' (बृ० ४.४.६) इस अन्य श्रुतिवचन से भी शरीर में प्रवेश कर्म का फल बताया है (अतः) यही अर्थ है ।। ३ ।।

"जैसे सम्राट् ही 'इन गाँवों में (तुम रहो), इन गाँवों में (तुम) रहो' इस प्रकार अधिकारियों को नियुक्त करता है, ऐसे ही यह प्राण चक्षु आदि[3] व अपान आदि अन्य (गौण-) प्राणों को अलग-अलग (उनके अपने-अपने स्थानों पर) नियुक्त करता है ।। ४ ।।"

'अपने को बाँटकर (किस प्रकार रहता है) ?' इस (प्रश्न) का उत्तर श्रुति सोदाहरण देती है—'यथा' जिस प्रकार लोक में 'सम्राट्' राजा ही गाँव आदि में अधिकारियों को नियुक्त करता है; कैसे (नियुक्त करता है) ? 'इन गाँवों में (तुम रहो), इन गाँवों में (तुम) रहो' ऐसे (नियुक्त करता है)। जैसा दृष्टान्त है उसी प्रकार यह मुख्य प्राण अन्य चक्षु आदि प्राणों को और अपने विभिन्न वृत्तिरूप अपानादि को अलग अलग उनके अपने-अपने स्थानों पर 'संनियत्ते' नियुक्त करता है। अन्य प्राणों को अर्थात् चक्षु आदि को उनके अपने-अपने स्थानों पर अर्थात् आंख आदि गोलकरूप स्थानों पर नियुक्त अर्थात् (कार्य करने के लिये) स्थापित कर देता है। 'अपने विभिन्न वृत्तिरूप प्राणों को'

---

१. यहाँ, 'अपने को कर्ता मानना'—इसे कर्म का फल देने के प्रति कारण समझना चाहिये। अतः अज्ञानावस्था में संकल्पादि के बिना भी कथंचित् हो गये कर्म सफल ही हो जायेंगे।

२. तीसरे प्रश्न का उत्तर दिया जा रहा है।

३. 'अपने को बाँटकर' ऐसा पूछा था अतः वही बताना मुख्य है किंतु अपानदि को कहाँ नियुक्त करता है यह बताने के लिये चक्षु आदि को बताया है यह समझना चाहिये। प्राण से ज्ञान-क्रिया-उभयात्मा को समझें तब कोई शंका नहीं उठती।

अर्थात् मुख्य प्राण की प्राण[1], अपान आदि विभिन्न वृत्तियों को पायु आदि स्थानों पर नियुक्त कर देता है। नेत्र आदि (इन्द्रियों के गोलक रूप) चक्षु आदि स्थान क्योंकि स्पष्ट (प्रसिद्ध) हैं इसलिये वे यहाँ श्रुति द्वारा नहीं बताये गये, यह ध्यान रखना चाहिए ॥ ४ ॥

"गुदा व उपस्थ में अपान को नियुक्त करता है। मुँह और नाक से चलता प्राण स्वयं चक्षु और श्रोत्र में प्रतिष्ठित होता है। नाभि में समान प्रतिष्ठित होता है। यह ही इस (जठराग्नि में) होम किये अन्न को शरीर में बराबर फैला देता है। उससे (समान द्वारा लायी पुष्टि से) ये सात विषयप्रकाशक दीप्तियाँ (कार्यक्षम) होती हैं ॥ ५ ॥"

प्राण का अपने आपको बाँटना इस प्रकार है—'पायूपस्थे' पायु (गुदा) और उपस्थ (मूत्रेन्द्रियस्थान) को मिलाकर पायूपस्थ[2] (कहते हैं) उसमें (उनके समाहार में) अपना (मुख्य प्राण का) जो अपानरूप विशिष्ट प्रकार (या वृत्ति) मूत्र विष्ठा आदि निकालते हुए रहता है उसे संनिहित अर्थात् नियुक्त करता है। इसी तरह 'मुखनासिकाभ्याम्' मुँह और नाक उन दोनों से अर्थात् मुँह से और नाक से[3] निकलता (=चलता) सम्राट्-स्थानीय[4] खुद[5] प्राण 'चक्षुःश्रोत्रे'— चक्षु

१. मुख्य प्राण की वृत्तिविशेष का नाम भी प्राण ही है। इसी दृष्टि से मुख्य प्राण को कहीं अनशब्द से कहा है (बृ० १.५.३)। उत्तर वाक्य में जो उसे स्वयं प्राण ही बतायेंगे वह उस वृत्ति की प्रधानता से है।

२. 'द्वन्द्वश्च प्राणितूर्यसेनांगानाम्' (२.४.२) इत्येकवद्भावः।

३. विभक्त्यर्थ का मुख और नाक दोनों से सम्बन्ध बताने के लिये यों व्याख्यान किया। समाहार की अविवक्षा से एकवद्भाव नहीं।

४. अधिकारियों को तत्तद् गाँवों में नियुक्त कर सम्राट् स्वयं राजधानी का अधिकार ले लेता है, ऐसे प्राण भी स्वयं मुँह व नाक से चलते हुए चक्षु व श्रोत्र पर नियुक्त होता है। अतः मुख से चलने वाली प्राणवृत्ति मुख्य प्राण भी कही जाती है। स्मर्तव्य है कि अपानादि की तरह ही मुखनासिका में चलने वाली भी प्राणवृत्ति वृत्तिविशेष है, पर अन्य वृत्तियों की अपेक्षा वह वृत्ति प्रधान है। अन्य वृत्तियाँ रुकें भी तो भी जीवन समाप्त नहीं होता। वह वृत्ति रुक जाये तो समाप्त हो जाता है। अतः उसे सम्राट् स्थानीय कहा।

५. प्राणवृत्ति में जैसे खुद प्रतिष्ठित होता है अपानादि वृत्तियों के रूप में भी

और श्रोत्र को मिलाकर चक्षुःश्रोत्र (कहते हैं) उसमें (उनके समाहार में) अर्थात्—चक्षुःश्रोत्र के समूह में 'प्रातिष्ठते' प्रतिष्ठित होता है। प्राण-वृत्ति और अपानवृत्ति के (प्रतिष्ठित होने के) स्थानों के बीच जो नाभि है उस नाभी में तो[1] समान (प्रतिष्ठित होता है)। खाये व पिये को (शरीर में) बराबर पहुँचाती है अतः[2] (उस प्राणवृत्तिविशेष को समान (कहते हैं)। 'समान' शब्द का उक्त अर्थ श्रुतिशब्दों की व्याख्या द्वारा[3] (भी समझाते हैं—'हि' क्योंकि यह (प्राणवृत्ति) आत्माग्नि में—आत्मा अर्थात् शरीर, उसमें (होने वाली) अग्नि अर्थात् पेट में होने वाली अग्नि, उस (अग्नि) में—जो यह 'हुतम्' डाला (होम किया) अर्थात् खाया व पिया अन्न है उसे बराबर[4] ले जाती है (अतः समान कहाती है)। 'इस प्रकार 'हुतम्' (होम किये) शब्द के आधार पर अन्न की हवि[5]-रूपता, पेट में होने वाली आग[6] की आहवनीय[7]रूपता और उसमें डालने की (खाने-पीने की) होमरूपता बताकर सिर (गले से ऊपर) में होने वाले (आँख, नाक

वैसे ही खुद ही प्रतिष्ठित होता है, इस प्रकार वृत्तियों का प्राण से अभेद बताने के लिये भाष्य में 'तथा (इसी तरह)' और 'स्वयम् (खुद)' शब्द हैं।

१. मुखनासिका से चलने वाली की अपेक्षा कम प्रधानता है यह बताने के लिये 'तो' कहा।

२. ण्यन्तादानयतेरचिरूपं न तु अनितेर्घञीत्यर्थः।

३. अभी भाष्यकार ने श्रुतिशब्दों को छोड़कर ही अर्थ बताया। यह अर्थ स्वयं श्रुति ने बताया है। श्रुति के आधार पर अर्थ अब बतायेंगे। अर्थ वही है।

४. 'हाथी को मन और चीटी को कण' इस न्याय से अंगों में बराबर फैलाना समझना चाहिये।

५. जिस वस्तु का होम किया जाये उसे हवि कहते हैं।

६. छां० ३.१३.७ में इसकी स्पष्टता है। शरीर गर्म होने से उसमें आग होना निश्चित है। वह कोयला आदि की तो असंभव है अतः अन्न आदि के जलने (पचने) से वह जलती है और गर्मी (ऊर्जा) देती है यह तात्पर्य है। पेट काटने पर कोई धक-धक करती आग दीखेगी यह भ्रम नहीं करना चाहिये।

७. गार्हपत्य से होमार्थ संस्कृत यज्ञाग्निविशेष आहवनीय कहाती है।

आदि) सात दरवाजों से निकले ज्ञानों की लपटरूपता[1] बताने के लिये 'उससे ये' इत्यादि वाक्य की व्याख्या करते हैं—'तस्मात्' खाया पिया (अन्न) जिसका ईंधन है उस पेट में होने वाली अग्नि के[2] कारण परिपाक पा चुका (अर्थात् पच चुका) अन्न का रस जो अन्न (से प्राप्त सामर्थ्य) को ले जाने वाली नाडी द्वारा हृदयस्थान में—देह में स्थित नाडियों का आधार हृदय (कहा जाता है), पहुँच चुका (उस) अन्न-रस से, सिर में होने वाली, गिनती में सात ये 'अर्चिषः' (विषय-प्रकाशक) दीप्तियाँ निकलति हुई (कार्य-क्षम[3]) होती हैं। दो आखें, दो कान, दो नासिकाछिद्र, एक मुँह अर्थात् जीभ—ये सात दीप्तियाँ हैं। पेट में होने वाली अग्नि द्वारा पकाये (पचाये) जाने से उत्पन्न (एवं) अन्न के सारभाग से निष्पन्न बल से चक्षु आदि की प्रवृति होने से उनमें उसकी (पेट की आग की) लपटरूपता (दीप्तिरूपता) का आरोप[4] है, यह तात्पर्य है। अभिप्राय है कि देखना, सुनना आदि स्वरूप वाला जो रूप आदि विषयों का प्रकाश (ज्ञान, भान) होता है (वह भी) प्राण द्वारा[5] होता है॥ ५॥

"लिङ्गशरीररूप आत्मा हृदयाकाश में रहता है। इस हृदयाकाश में एक सौ एक नाडियाँ[6] हैं। उनमें एक-एक नाडी की सौ सौ शाखा नाडियाँ

---

१. द्र० मुण्ड० २.१.८।

२. 'कारण हृदयस्थान में पहुँच चुके अन्नरस से सिर में···' ऐसा भाष्यवाक्य-सम्बन्ध है।

३. इन्द्रियाँ तो मोक्ष पर्यन्त नित्य हैं अतः वे उत्पन्न होती हैं ऐसा अर्थ असंभव है।

४. आरोप का एक प्रयोजन तो उपासना है ही अन्य प्रयोजन उत्तरवाक्य में भाष्यकर बता रहे हैं।

५. चक्षु आदि को सीधे ही प्राणवृत्ति गति देती है यह इसी वाक्य के प्रारंभ में कहा। समान द्वारा सामर्थ्य प्रदान में भी प्राण ही व्यापृत है। अतः दर्शनादि में प्राण की कारणता निष्प्रपंच है।

६. नाडी सम्बन्धी विचार छां० ८.६.१–६; बृ० २.१.१९; कठ० २.३.१६ आदि में दर्शनीय है। सुषुप्ति में द्वारता 'तदभावाधिकरण' में (३.२.२.७) स्थापित है।

हैं और हर शाखानाडी की बहत्तर बहत्तर हजार प्रतिशाखानाडियाँ हैं।[1] इन (मुख्य, शाखा व प्रतिशाखा) नाडियों में व्यान-नामक प्राणवृत्ति विचरती है ॥ ६ ॥"

व्यानवृत्ति का (रहने व काम करने का) स्थान नाडियाँ हैं, उन्हें समझाने के प्रयोजन से नाडियों की उत्पत्ति का स्थान बताने के लिये कहते हैं—'हृदि' कमल के आकार के माँसपिण्ड से सीमित (घिरे हुए) हृदयाकाश में 'एषः' यह आत्मा से सम्बन्धित लिङ्गशरीर रूप आत्मा[2] (रहता है) । हृदयाकाश[3] को लिंगदेह रूप आत्मा का (वास) स्थान बताने का प्रयोजन तो उसका निराकरण करना है[4] जो कुछ योगी कहते हैं कि नाभिरूप गाँठ नाडियों का उत्पत्ति स्थान है। लिंगदेह रूप (व तदवच्छिन्न) आत्मा के संचरण के लिये वहीं (हृदयाकाश में ही) नाडियाँ (उत्पन्न-प्रारम्भ-होती) हैं। 'नाडियों द्वारा जाकर' (बृ. २.१.१९; 'ताभिः' यह श्रौत पद है जिसका अर्थ 'नाडीभिः' कहा है) इत्यादि श्रुति से (लिंगोपाधि का नाडियों में संचरण निश्चित है) और इसीलिये लिंगदेहरूप आत्मा का स्थान हृदय होने पर उसके (=लिंगात्मा के) संचरण के लिये मार्गरूप नाडियों की उत्पत्ति का भी वही स्थान (निश्चित स्वीकार्य है), यदि ऐसा न हो तो (जिस स्थान पर लिंगात्मा है उससे) अन्य स्थान पर स्थित नाडियाँ लिंगात्मा के

---

१. इस प्रकार—मूलनाडियाँ १०१; शाखानाडियाँ (१०१ × १००)= १०१००; प्रतिशाखानाडियाँ (१०१०० × ७२०००)=७२७२००००००; अतः कुल योग—७२,७२,१०,२०१। जिस प्रकार नाडियों के वर्णविशेष के बारे में आचार्य ने 'वैद्यकाद्वा वर्णविशेषा अन्वेष्टव्याः' (छां०भा० पृ० ३७७ M.R.I.) कहा है उसी प्रकार संख्या के विषय में भी श्रौत अनाग्रह समझना चाहिये 'आनन्त्याद् देहनाडीनाम्' (छा० भा० पृ० ३८१ M.R.I.)।

२. 'हृत्पुण्डरीके जीवात्मा' (७.४४) इति विद्याप्रकाशे। 'आत्मा लिंगशरीरावच्छिन्नः सन् वर्तते' इत्युपनिषद्योगी।

३. नाभि से दश अंगुल ऊपर उक्त मांसपिण्ड है। रक्त फैलाने वाला 'दिल' यहाँ विवक्षित नहीं।

४. श्रौतप्रयोजन तो प्रकृत-संगति में आवश्यक बोध कराना ही है।

(संचरण का) मार्ग हों यह असंगत (बात माननी होगी) इसलिये (उक्त संगत व्याख्या ही स्वीकारनी चाहिये)। 'बहत्तर हजार नाडियाँ हृदय से सारे शरीर में व्याप्त हैं' (बृ० २.१.१९)—इस श्रुति से भी (नाडियों की हृदयस्थता निश्चित होती है)। लिङ्गदेह की आत्मरूपता आत्मा की उपाधि[1] होने से आत्मा से सम्बन्ध के कारण[2] (गौण) है, यह बताया—'आत्मा से सम्बन्धित' कह कर। क्योंकि लिंगदेह रूप आत्मा हृदयाकाश में रहता है इसलिये उसके संचरण की मार्गरूप नाडियों का भी वही (उत्पत्ति) स्थान है, यह कहते हैं—('हि' अतः) 'अत्र' इस हृदय में ये गिनती में 'एक शतम्' एक सौ एक नाडियाँ हैं। शरीर का धारण करने वालों के रूप में नाडियों की प्रसिद्धता बताने के लिये 'ये' यह (नाडियों का[3]) विशेषण है। यह बात स्पष्ट होने से भाष्य में इसका ('एतत्' पद का) व्याख्यान नहीं किया है। (उक्त) प्रत्येक नाडी की सौ सौ शाखा नाडियाँ होती हैं यह बताते हैं—उनमें प्रत्येक प्रधान नाडी की सौ-सौ शाखा नाडियाँ होती हैं। और इसलिये दस हज़ार एक सौ शाखा नाडियाँ हैं, यह अर्थ है। शाखा नाडियों में प्रत्येक की बहत्तर हज़ार प्रतिशाखा[4] नाडियाँ होती हैं, यह बताते हैं—और फिर 'द्वासप्तति-द्वासप्ततिः' सत्तर हजार और दो-दो हजार अधिक; 'सत्तर' यह पद संख्या-परक होने पर 'हज़ार (ों)' इस शब्द का उससे सामानाधिक-रण्य (अर्थात् 'सत्तर' और 'हज़ार' एक संख्या विशेष को विषय करें)

---

१. 'अविद्याकामकर्मविशिष्टकार्यकरणोपाधिरात्मा संसारी जीवउच्यते' (बृ० भा० पृ० २७२ M.R.I.), 'मनउपाधिकश्च जीवः' (ब्र० सू० भा० १.३.१४) आदि आचार्यवचन अनुसन्धेय हैं। बन्धप्रयोजक उपाधि लिंगदेह न मानने पर भी उपाधिता मानना तो संगत ही है।

२. जैसे आकाशसम्बद्ध होने से घट में विधारकता है।

३. 'नाडियों का एक सैकड़ा है'—यह संस्कृत के ढंग से कहा गया है अतः 'एकशतम्' का विशेषण है किन्तु क्योंकि नाडियों की धारकता प्रसिद्ध है, उनकी गिनती नहीं अतः नाडियों का विशेषण टीकाकार समझते हैं। 'एकशतम्' का विशेषण हो तो संनिकटता विवक्षित है।

४. उपशाखा—शाखा की शाखा—इस अर्थ में प्रतिशाखा शब्द समझना चाहिये।

असंगत होने से (क्योंकि जो सत्तर होगा वह हज़ार नहीं हो सकता) 'सहस्राणि' पद का वह अर्थ बताते हैं जो सहस्र शब्द के षष्ठी विभक्ति में स्थित होने पर होता है—हजारों के (सत्तर समूह[1] और दो हजार अधिक)। बहत्तर हजार प्रति शाखा नाडियाँ (होती हैं)। हर शाखा से निकली छोटी शाखायें प्रति-शाखायें (कहाती हैं)। 'बहत्तर बहत्तर (हज़ार)' इस प्रकार दो बार (बहत्तर) कहने का तात्पर्य बताते हैं– प्रधान नाडियों की हर एक सौ शाखा नाडियों में प्रत्येक शाखानाडी की गिनती में हज़ारों (बहत्तर हजार) प्रतिशाखा नाडियाँ होती है।[2] इस प्रकार मूल, शाखा व प्रतिशाखा नाडियाँ कुल बहत्तर करोड़ बहत्तर लाख दस हजार दो सौ एक होती हैं—यह समझ लेना चाहिये। इस प्रकार नाडियों को बताकर व्यान के संचरण का वे स्थान हैं यह बताते हैं—इन नाडियों में व्यान नामक वायु[3] विचरती है। व्यापक होने से (यह)[4] व्यान (कहाती है)। सूक्ष्म (छोटी) नाडियों में विद्यमान व्यानवायु की व्यापकता कैसे ?—यह शंका कर, क्योंकि नाडियाँ सारे देह में फैली हुई हैं (सारे देह में व्यापक हैं) इसलिये उनके द्वारा उनमें स्थित व्यान की भी (सारे शरीर में) व्यापकता है, यह समाधान देते हैं—जैसे सूर्य से निकल कर किरणें हर ओर फैली हुई हैं वैसे हृदयाकाश से (निकलकर) हर ओर जाने वाली (जो) नाडियाँ हैं, उनके द्वारा सारे शरीर को पूरी तरह व्याप्त कर व्यानवायु रहती है। सामान्यत: सारे शरीर में व्यापक होने पर भी उसका खास स्थान बताते हैं—"जोड़ों में, कन्धे में और (अन्य)

---

१. हज़ार हज़ार के सत्तर समूहों को मिलाकर सत्तर हज़ार कहते हैं।

२. प्रधाननाडीनां प्रतिप्रति-नाडीशतम् (एकैकस्याः शाखानाड्यः) संख्यया सहस्राणि (प्रतिशाखानाड्यो) भवन्तीति टीकोक्ताध्याहारेण भाष्यवाक्य-स्यान्वयः।

३. वायु के कार्यविशेष प्राण की वृत्ति होने से व्यान भी वायु कही जाती है।

४. यह सारे शरीर को व्याप्त कर लेती है, 'व्यानः सर्वशरीरगः'।

५. छान्दोग्य के ऋजुविवरण में भाष्यकार ने कहा है 'यः सांख्यादिशास्त्र-प्रसिद्धः'''नासौ व्यान इत्यभिप्रायः' (पृ० २४ M. R. I.); 'सन्धि-स्कन्धमर्मदेशवृत्तिर्व्यान इति सांख्यादिशास्त्रप्रसिद्धो न ग्राह्यः' (नरेन्द्र-पुरीय टिप्पण)। प्रकृत वाक्य से एकवाक्यता करें तो समझना होगा

मर्मस्थलों में[1] खासकर (व्यान रहती है) और प्राण-अपान के बीच अर्थात् साँस लेना रूप प्राणवृत्ति और साँस छोड़ना रूप अपानवृत्ति-- दोनों के न होने पर (साँस रोक लेने पर) व्यानवृत्ति प्रकट व्यापार वाली होती है तथा ताकत वाले कामों को करने वाली होती है। 'और जो वृत्तिविशेष प्राण-अपान के रुकने पर होती है वह व्यान है' ऐसा कहकर (छा० १.३.३) बलवान् व्यक्ति द्वारा किये जा सकने वाले जो ताकत वाले कार्य होते हैं, (जैसे) धनुष खींचना आदि, उन्हें 'साँस न लेते हुए व न छोड़ते हुए करती है' (छा० १.३.३) इस अन्यत्र श्रुत वेदवचन से (व्यान की उक्त विशेषतायें ज्ञात होती हैं यह तात्पर्य है) ॥ ६ ॥

[2]"देह में स्थिति के अनन्तर (यथासमय) ऊर्ध्वगतिशील उदान[3] (लिंगात्मा को) उन एक सौ एक नाडियों में सुषुम्ना नामक एक नाडी द्वारा पुण्यकर्म के हेतु से शुभ लोक को, पापकर्म के हेतु से अशुभ लोक को और पुण्य व पाप बराबर हों तो उनके हेतु से मनुष्यलोक को ही ले जाता है ॥ ७ ॥"

देह में रह चुकने पर अब उदानवृत्ति का स्थान (कार्यक्षेत्र) बताते हुए 'किससे उत्क्रमण करता है ?' इस (चतुर्थ) प्रश्न का श्रुति उत्तर देती है- उन एक सौ एक नाडियों के बीच जो तो ऊपर की ओर जाने वाली सुषुम्ना[4] नामक नाडी है उस एक (नाडी) के द्वारा ऊँचा हुआ

कि केवल सन्धि आदि में मानने का निषेध है, सर्वत्र मानते हुए सन्धि आदि में विशेषतः उपलब्धि का अनुमोदन है।

१. 'म्रियतेऽनेन' व्युत्पत्ति से जिन देह स्थलों पर वार करने से मृत्यु निश्चित हो वे मर्म प्रसिद्ध हैं। 'मर्माणि तेषु तिष्ठन्ति प्राणाः खलु विशेषतः' ऐसा भावप्रकाश में वर्णित है।

२. चतुर्थ प्रश्न का उत्तर है।

३. 'उदानउत्कर्षोर्ध्वगमनादिहेतुरापादतलमस्तकस्थानऊर्ध्ववृत्तिः' (बृ. भा. पृ. १२४ M. R. I.)। उत्कर्षो देहे पुष्टिः, आदिपदेन उत्क्रान्तिरुक्ता (आ. गि.)। 'उदान ऊर्ध्ववृत्तिरुत्क्रान्त्यादिहेतुः' (ब्र. सू. भा. २.४.१२)। 'अग्नीषोममयो भूत्वा सुषुम्नारन्ध्रमास्थितः। आब्रह्मरन्ध्रमुद्गच्छन्नुदानो वर्धते स्वयम्' ॥ (मानसोल्लास ९.१५)

४. 'ऊर्ध्वगा नाडी सुषुम्नाख्या' (मैत्र्युप. ६.२१)। पुण्यलोक जाने के लिये इससे जाता है, अशुभ व मनुष्य लोक जाने के लिये अन्य नाडियों

(ऊर्ध्वंगमन स्वभाव वाला या उत्क्रमण करता हुआ) उदान वायु, जो कि पैर के तले से मस्तक तक विद्यमान रहता है, संचरण करते हुए (जीव द्वारा अनुष्ठित) शास्त्र में विहित पुण्य कर्म के हेतु से (लिंगात्मा को) देवता आदि के रहने के स्थान रूप शुभ लोक 'नयति' पहुँचा देता है। पुण्यों से विपरीत (अनुष्ठित) पाप कर्मों के हेतु से जानवर आदि योनिरूप अशुभ नरक (पहुँचा देता है)। दोनों पुण्य व पाप एक से प्रधान हों[1] तो उनके हेतु से मनुष्यलोक को ही 'पहुँचा देता है' इतना पूर्व से आ जाता है। 'दोनों एक से प्रधान हों' कहकर पुण्य अधिक होने पर देवलोक व पाप अधिक होने पर नरकलोक पहुँचा देता है इस प्रकार पूर्वोक्त (दोनों गतियों) का व्याख्यान हो जाता है ॥ ७ ॥

[2]"यह प्रसिद्ध सूर्य ही, जो उगता है, (हमारे शरीर से) बाहर होने वाला प्राण है (जो बाह्य प्रपंच का धारण करता है)। शरीर में चक्षु में प्रतिष्ठित प्राण पर यह सूर्य ही प्रकाश देकर[3] अनुग्रह करते हुए (अध्यात्म का धारण करता है)। पृथ्वी में अभिमान वाली जो प्रसिद्ध

से जाता है 'तयोर्ध्वमायन्नमृतत्त्वमेति विष्वङ्ङन्या उत्क्रमणे भवन्ति' (छां. ८.६.६; कठ. २.३.१६)। नाडियों व सूर्यरश्मियों के सम्बन्ध से (द्र. छां. ८.६) नाडी द्वारा इतरत्र जाना संगत है।

१. अर्थात् न उत्तम लोक देने वाले पुण्य हों व न निकृष्ट लोक देने वाले पाप। 'कर्म हैव तदूचतुः' (बृ. ३.२.१३) आदि में कर्म की हेतुता निर्धारित है। तीन गतियाँ छान्दोग्य में वर्णित हैं—'ये चेमेऽरण्ये श्रद्धा तप इत्युपासते…एनान् ब्रह्म गमयति। अथ य इमे ग्राम इष्टापूर्ते दत्त-मित्युपासते ते…चन्द्रमसम्…।…अथैतयोः पथोर्न कतरेणचन तानीमानि क्षुद्राणि असकृदावर्तीनि भूतानि भवन्ति जायस्व म्रियस्वेति' (५.१०.१-८)। अधिक पुण्य पाप वाले भी उनका फल भोग कर तो मनुष्य लोक आते ही हैं। तब भी उत्तम अधम योनि की प्राप्ति में कर्म ही कारण बनता है यह कृतात्ययाधिकरण (३.१.२.८) में निश्चित है। प्रकृत में समप्राधान्य या बराबरी मनुष्येतर लोक प्रदान करने की असमर्थता से समझनी चाहिये। अतः गिनती, मात्रा आदि का प्रश्न नहीं।
२. पाँचवे व छठे प्रश्नों का उत्तर इस तथा अग्रिम वाक्य से दिया जा रहा है।
३. यह उपलक्षण है। 'ज्योतिराद्यधिष्ठानं तु तदामननात्' (२.४.७.१४) अधिकरण में देवताओं से लब्धानुग्रह इन्द्रियों की प्रवृत्ति स्थापित है।

अग्नि देवता है (वह बाह्य प्रपंच का धारण करती है ही), वही पुरुष की अपानवृत्ति को नीचे की ओर खींचकर रखने से (जिससे पुरुषदेह गिरे नहीं, अध्यात्म का धारण करती है)। द्युलोक व पृथ्वी के बीच आकाश में स्थित जो वायु है (वह बाह्य प्रपंच का धारण करती है साथ ही) वही समानवृत्ति पर अनुग्रह कर[1] (अध्यात्म का भी धारण करती है)। जो सामान्य बाह्य वायु[2] है (वह बाह्य प्रपंच का धारण करती है तथा) व्यान पर अनुग्रह करते हुए रहती है (जिससे अध्यात्म का भी धारण करती है)॥ ८॥"

'बाह्य प्रपंच का धारण कैसे करता है? अध्यात्म का धारण कैसे करता है?' इस प्रश्नद्वय का उत्तर (श्रुति के अनुसार) बताते हैं—देवताओं में (यह) 'वै' प्रसिद्ध सूर्य ही निश्चित रूप से (हमारे शरीर से) बाहर स्थित (बाह्य प्रपंच का धारण करने वाला) प्राण है।[3] (उक्त विशेषता वाला) वह (सूर्य) यह (प्रत्यक्ष ही नित्य) 'उदयति' उगता है। यह ही इस शारीरिक (तथा) 'चाक्षुषम्' चक्षु में होने वाले प्राण पर प्रकाश द्वारा अनुग्रह करते हुए, अर्थात् चक्षु के (कार्य के) लिये रूपज्ञान में निमित्तभूत प्रकाश करते हुए (अध्यात्म का धारण करता है)। (जैसे आदित्य बाह्य व अध्यात्म का धारण करता है) उसी तरह पृथिवी में अभिमान[4] करने वाली जो प्रसिद्ध अग्नि देवता है—'पृथिवी ही जिसका शरीर है, अग्नि देखने का साधन (आँख) है' (बृ. ३.९.१०)

---

१. समानवृत्ति भी आखिर आकाश (जगह) में ही कार्य करती है अतः आकाश में विद्यमान का अनुग्रह चाहती ही है।

२. सामान्य वायु सर्वत्र फैलती रहती है अतः उसी के अनुग्रह से व्यान वायु शरीर में फैल जाती है। दीपिका में तो आँधी-तूफान का व्यान पर अनुग्रह माना है क्योंकि दोनों ताकत वाले काम करती हैं 'वायुः प्रसिद्धः प्रभंजनो वीर्यवत्कर्मा व्यानो व्यानवृत्तिभेदो बाह्यः'।

३. धारण करने को प्रत्यक्ष साधित करते हैं—(उक्त) इत्यादि से।

४. पृथ्वी आदि की गति आदि चेतन-अनधिष्ठित असम्भव होने से सामान्यतः अधिष्ठाता प्रसिद्ध है व शास्त्र से तत्तद् देवता अधिष्ठातृतया अवगत हैं। जैसे हमें अभिमान है कि यह (देवदत्तादि नामक गौर आदि वर्णक स्थूलादि रूप) शरीर हमारा है ऐसे जिसे पृथ्वी के विषय में अभिमान है वह उसकी अधिष्ठात्री देवता कही जाती है।

इस श्रुति से[1] अग्नि का (पृथ्वी से) सम्बन्ध समझा होने से (पृथिवी में अभिमानी देवता अग्नि है, समझनी चाहिये) यह तात्पर्य है।— वह यह (प्रसिद्ध देवता) पुरुष की 'अपानम्' अपानवृत्ति को 'अवष्टभ्य' खींच कर-वश में कर-अर्थात् नीचे की ओर ही खींचे रखने के द्वारा (अपान पर) शरीर का धारण करना रूप अनुग्रह करती हुई रहती है (बाह्य व अध्यात्म का धारण करती है) यह अर्थ है। यदि ऐसा न हो अर्थात् यदि पृथिवी देवता (अग्नि देवता) भली प्रकार शरीर का धारण न करे तो भारी होने से और अपानद्वारा नीचे की ओर खींचे जाने से शरीर जहाँ गिरना रोकने वाली भूमि आदि न हो उस (गड्ढा आदि) खाली जगह में गिर जाये या खाली जगह में ऊपर उड़ जाये; (क्योंकि दोनों नहीं होते इसलिये कोई धारणकर्ता अवश्य है, वही अपान पर अनुग्रह करने वाली अग्नि देवता है)। '(द्युलोक व पृथ्वी लोक के) बीच आकाश में स्थित जो'— इस वाक्य को समझाते हैं— द्युलोक व पृथ्वी के 'अन्तरा' बीच 'यत्'-'यत्' यह नपुंसकलिंग का प्रयोग वैदिक स्वातन्त्र्य से है यह सूचित करते हैं—(यः) जो यह आकाश है, उसमें स्थित वायु (यहाँ) आकाश कही जा रही है जैसे 'मंच कह रहा है' इस प्रयोग में मंच शब्द से मंच पर स्थित लोग लक्षित किये जाते हैं वैसे आकाश-शब्द से आकाश में स्थित वायु लक्षित होती है, यह तात्पर्य है। वह (आकाशशब्दित वायु) समान है, अनुग्रह के विषय (समान) और अनुग्रहकर्ता (वायु) में भेद नहीं है ऐसा मानकर[2] ('वह' और 'समान' इन शब्दों का) एकार्थबोधकत्त्वेन प्रयोग है यह बताते हैं— अर्थात् (आकाशशब्दित वायु) समानवृत्ति पर अनुग्रह करती हुई रहती है। इसी प्रकार आगे के प्रयोगों में भी (अभेद को मानकर 'वायु-

---

१. 'पृथिव्यग्निरन्नमादित्यः' (छां. ४.११.१), 'अपाने तृप्यति वाक् तृप्यति वाचि तृप्यन्त्यामग्निस्तृप्यत्यग्नौ तृप्यति पृथिवी तृप्यति' (छां. ५ २१.२), 'अग्नि पृथिव्या' (रसम्) (छां. ४.१७.१), 'तस्यै वाचः पृथिवी शरीरं ज्योतीरूपमयमग्निः' (बृ. १.५.११) आदि श्रुतियाँ भी समझ लेनी चाहिये।

२. जैसे राजा की शक्ति से राज्यकर्मचारी द्वारा किये काम को जव राजा द्वारा किया कहा जाता है तव राजा और उसके कर्मचारी को अभिन्न मानकर ही वैसा कहा जाता है।

व्यान:' 'तेज उदान:' इस प्रकार सामानाधिकरण्य[1] प्रयोग है)। वायु समानवृत्ति पर अनुग्रह करती है इसमें कारण बताते हैं—समान-वृत्ति (शरीर के) अन्दर विद्यमान आकाश में स्थित है, इस समानता के कारण (आकाशस्थित वायु उस पर अनुग्रह करती है)। समानवृत्ति शरीर के अन्दर विद्यमान आकाश में स्थित है, बाहर होने वाली (आकाशशब्दित) वायु द्युलोक व पृथ्वी के मध्य में विद्यमान आकाश में स्थित हैं, अत: अन्दर (या बीच) के आकाश में स्थित होना दोनों का समान है[2], यह अर्थ है। 'वायु व्यान है' इस प्रयोग में तो बीच में होने वाले आकाश में स्थित होना रूप विशेषतारहित वायुमात्र का[3] संग्रह किया जा रहा है अत: पूर्वोक्त (आकाशशब्दित वायु) से अभिन्न (वायु) को नहीं कहा जा रहा (सामान्य-विशेषभाव से भेद है) यह बताते हैं— सामान्यत:[4] जो बाहर स्थित वायु है वह व्याप्त कर लेने

---

१. समानविभक्तिक अनेक पद एक वस्तु के बोधनार्थ हों तो उनका सामानाधिकरण्य कहा जाता है।

२. शरीरसीमाओं के अंदर समान है और दो लोकों की सीमाओं के अंदर आकाशशब्दित वायु है अत: दोनों में 'अंदर होना' एक सा है। शरीर जिस वायु में रहता है वह आकाशशाब्दित ही है अत: शरीरान्तर्गत वायु आकाशशब्दित वायु का ही एकदेश है, उसमें समानवृत्ति कार्यरत है, अत: 'अपने एक देश में कार्य करने देना' रूप अनुग्रह समझना चाहिये।

३. 'अन्तराकाशस्थत्वविशेपरहितं वायुसामान्यं समुच्चीयत' इति पाठ आदृत:। 'स्थत्वविशेपे'ति समस्तपाठ आनन्दाश्रमीये सूचित:। सामान्यमिति च गोविन्दप्रसादटिप्पण इति ज्ञेयम्। यथामुद्रिते अन्तराकाशस्थत्वमेव समुच्चीयते किंतु विशेपरहितं, किन्तर्हि ? वायुसामान्येनेत्यर्थ:। आकाशशाब्दितस्यैव विशेपविवक्षया 'यदाकाश: स समान' इत्युक्ति:, सामान्यविवक्षया च 'वायुर्व्यान' इत्युक्तिर्यथा 'सपिण्डोयमिति नानेन विवाह: सवर्ण इति भोजनं भवेदेवे'त्यादावेकपुरुपस्य विशेपविक्षयाद्योक्ति: सामान्यविवक्षया चानन्तरोक्ति:, एवमिति भाव:। परन्तु व्याप्ते: सामान्यता भाष्ये, व्याप्तिश्च वायुमात्रस्य सर्ववायुविशेपु निरंकुशा, आकाशशब्दितस्य तु सर्वत्र न व्याप्तिरिति मुद्रितेऽरुचिमूलम्।

४. द्युलोकादि सीमाओं रहित जो वायु है, जिसे इन सीमाओं से सीमित भी किया जाता है, वह; यह तात्पर्य है। 'बाह्य' इतनी शरीरनिरूपित

को (व्यापक होने की) समानता से[1] व्यान है—व्यान पर अनुग्रह[2] करती हुई रहती है, यह अभिप्राय है ॥ ८ ॥

"शरीर से बाहर उपस्थित प्रसिद्ध सामान्य तेजस्तत्त्व ही (बाह्य प्रपंच का धारण करता है और) उदान पर अनुग्रह कर (अध्यात्म का धारण करता है)। (क्योंकि उदान तेज से उपकृत रहता है) इसलिये जब व्यक्ति का शारीरिक तेज-गर्मी-शान्त हो जाता है तब मन के रहते जिनकी वृत्तियों का लय हो रहा हो[3] उन इन्द्रियों सहित वह (व्यक्ति) शरीरान्तर ग्रहण करने चला जाता है ॥ ९ ॥"

'प्रसिद्ध तेजस्तत्त्व ही'-इस वाक्य की व्याख्या करते हैं-(शरीर से) बाहर उपस्थित जो प्रसिद्ध पहले (३.८) आदित्यरूप तेजोविशेष बताया था, यहाँ तेज:सामान्य कहा जा रहा है अतः पुनरुक्ति नहीं यह बताते हैं—सामान्य[4] तेजस्तत्त्व है, वह ही शरीर में (स्थित) 'उदानः'[5] उदानवायु पर अपने (उष्णतारूप) प्रकाश द्वारा अनुग्रह करता है, यह तात्पर्य है। इस प्रकार, मुख्य प्राण आदित्य आदिरूप से प्राण, अपान, समान, उदान और व्यान पर अनुग्रह करता है यह बताने से शरीर में स्थित प्राण आदि वृत्तियों पर अनुग्रह करने वाला (शरीर में स्थित

सीमा व्यान पर अनुग्रहार्थं आवश्यक है। अत्यन्त अभेद में उपकार्य-उपकारकभाव संभव नहीं।

१. 'व्यानः सर्वशरीरगः' आदि अभिधान से व्यान की सर्वशरीरव्यापकता अवगत है।

२. वायुमात्र प्राणादिवृत्ति वाले प्राण का उपादान है अतः वृत्तियाँ भी तदाश्रित ही हैं जैसे जेब आदि कपड़े द्वारा धागे पर आश्रित है। उपादान का उपादेय पर अनुग्रह प्रसिद्ध ही है।

३. 'वाङ्मनसि दर्शनाच्छब्दाच्च' (४.२.१) अधिकरण में निश्चित किया है कि वाग् आदि की वृत्तियों का ही मन में लय विवक्षित है और इसका भी अर्थ है वाग्वृत्तिः पूर्वमुपसंह्रियते 'मनोवृत्तावस्थितायाम्' (भाष्य) वाक् आदि के मनःप्रकृतिक न होने से मन में उनका लय असंभव है।

४. आदित्य, वह्नि, विद्युत् आदि जिसकी विशेष अभिव्यक्तियाँ हैं, उन सब-रूपों में अभिव्यक्त होने वाला जो वह सामान्य तेजस्तत्व है।

५. 'तेज उदानः' इस सामानाधिकरण्य की पूर्ववाक्यटीका में व्यवस्था कही जा चुकी है।

मुख्यप्राण) है– यह समझा दिया गया। आदित्य, अग्नि, आकाश-शब्दित वायु, वायुसामान्य और तेजःसामान्य रूप वाला हुआ (मुख्य प्राण) बाहर स्थित देवों में आदित्य आदि का धारण करता है यह कहा। उस (आदित्य आदि) रूप से अवस्थित होना ही उसका (आदित्यादि का) धारण करना है। प्राण, अपान आदि के अनुग्रह से (प्राणादि का) चक्षु आदि पर अनुग्रह होता है यह बताने से (३ ५) चक्षु आदि द्वारा चक्षु आदि के विषयरूप महाभूतों का[1] धारण करने वाला (भी मुख्य प्राण है यह) बता दिया। 'वह प्राण है वह चक्षु है' (छां० ३.१३.१), 'वह अपान है वह वाक् है' (३.१३.३), 'वह व्यान है वह श्रोत्र है' (३.१३.२), 'वह समान है वह मन है' (३.१३.४) 'वह उदान है वह वायु है' (३.१३.५) इस अन्यत्र स्थित श्रुति वचन में चक्षु आदि की प्राण आदि रूपता[2] बतायी होने से (सिद्ध, प्राणादि द्वारा) चक्षु आदि पर अनुग्रह करना बताने से चक्षु आदिरूप शरीर सम्बन्धी धारण करना भी बताया। इस प्रकार[3] 'बाह्य प्रपंच का धारण कैसे करता है ? अध्यात्म का धारण कैसे करता है ?' (३.१) इस प्रश्नद्वय का उत्तर हो गया. यह समझ लेना चाहिये। तेजस्तत्त्व उदानवायु पर अनुग्रह करने वाला है यह तथ्य तेजस्तत्त्व न रहने पर उदान का कार्यकारी न रहना बताने के द्वारा सिद्ध करते हैं[4]— (लिङ्गात्मा का शरीर से) उत्क्रमण कराने वाला (उदान) क्योंकि बाह्य तेजस्तत्त्व से अनुगृहीत[5] (अतएव) तेजःस्वभाव वाला[6] है इसलिये जब

१. भूतान्यधिकृत्य यद्विधारकत्वं तदित्यर्थः।
२. अनुग्राह्य-अनुग्राहक का अभेदोपचार समझना चाहिये। 'तेनैव (प्राणेनैव) सम्बद्धमव्यतिरिक्तं तच्चक्षुः' (भाष्यम्) 'तदव्यतिरिक्तत्वं = स्वातन्त्र्येण चक्षुषोऽकिंचिकरत्वम्' (आ० गि० पृ० १०५ M.R.I.)।
३. देवों में (अधिदैव), भूतों का (अधिभूत) और शरीर का (अध्यात्म) धारण बताया है।
४. यदि उदानको तेजस्तत्त्व का अनुग्रह न चाहिये हो तो नियमतः तेज-अभाव में निश्चेष्ट न होता यह तात्पर्य है।
५. उदान कार्य कर पाये यह संभव करना ही अनुग्रह समझना चाहिये।
६. समान स्वभाव वालों में ही अनुग्राह्य अनुग्राहक भाव होता है जैसे रूप प्रकाशक आदित्य का रूप प्रकाशक चक्षु पर। स्वभाव से तैजस होने पर भी तेजोऽनुग्रह चाहिये ही जैसे चक्षु को, यह समझ लेना चाहिये।

सांसारिक[१] पुरुष उपशान्ततेजा हो जाता है अर्थात् ऐसा हो जाता है जिसका स्वाभाविक तेज (शारीरिक गर्मी) उपशान्त हो चुका हो (ठण्डा पड़ चुका हो) तब समझना चाहिये कि उसकी आयु समाप्त हो चुकी है व वह मरा ही चाहता है। क्योंकि तेज:स्वभाव वाला (और) उत्क्रमण कराने वाला होने पर भी उदान वायु वाह्य तेजस्तत्त्व से अनुगृहीत हुआ ही शरीर में (कार्यकारी) रहता है इसलिये जीव के जीवन के हेतुभूत (प्रारब्ध) कर्म समाप्त होने पर बाह्य तेजस्तत्त्व का अनुग्रह समाप्त हो जाने से[२] (शरीर) ठण्डा पड़ जाता है (और व्यक्ति) मरा ही चाहता है—यह योजना (योजितार्थ) है। 'स्वाभाविक तेज' से तात्पर्य उस गर्मी से है जो पेट की 'आग' से[३] उत्पन्न होती है तथा हाथ आदि से अपना (या किसी का भी) शरीर छूने पर गर्मरूप से प्रतीत होती है। वह (व्यक्ति) 'पुनर्भवम्' 'भवति' उत्पन्न होता है इसलिये शरीर 'भव' है—यह अर्थ है, (इसे बताते हैं)—अन्य शरीर को जाता है। निष्क्रिय आत्मा का अन्य शरीर को जाना नहीं होता (तब 'जाता है' यह कैसे कहा ?) यह शंका उठती है—कैसे ? इन्द्रिय (आदि) उपाधि के[४] वश में होने से (औपाधिक हो जाना सम्भव है,

---

१. वक्ष्यमाण 'परिद्रष्टा' (६.५) की व्यावृत्ति के लिये सांसारिक विशेषण है। जिसे आत्मज्ञान नहीं हो चुका वह, यह अर्थ है।

२. प्रारब्धवश ही देवता आदि का अनुग्रह बना रहता है। प्रारब्धसमाप्ति पर देवता आदि बने रहते हैं, देहादि भी रहता है पर अनुग्रह नहीं रहता—यह जानना चाहिये।

३. शरीर गर्म होने से आग का रूपक है यह पहले कहा जा चुका है।

४. 'ज्ञानेन्द्रियाणि खलु पंच तथा पराणि कर्मेन्द्रियाणि मनआदि चतुष्टयं च। प्राणादिपंचकमथो वियदादिकं च कामश्च कर्म च तमः पुनरष्टमी पूः'॥ इस सर्वज्ञ वचन में बताया पुर्यष्टक जीव के शरीरान्तरगमन की उपाधि है। जैसे घट के जाने आने से आकाश का जाना आना औपाधिक संभव होता है वैसे ही यहाँ होता है यह तात्पर्य है। 'अविवेकात्पराभावं यथा बुद्धिरवैत्तथा। विवेकात्तु परादन्यः स्वयं चापि न विद्यते ॥ ७.६ ॥ बुद्धेर्भ्रान्तिरिष्यते। बन्धो मोक्षश्च' ॥ १६.५९ ॥ आदि उपदेशसाहस्री के आधार पर बुद्धितादात्म्य वाले आत्मा में भ्रम रहने से व बुद्धि नाना होने से नाना जीवों की व्यवस्था समझनी चाहिये।

यह) समाधान देते हैं—मन के रहते 'सम्पद्यमानैः' लीन होती हुई वाग् आदि इन्द्रियों सहित अन्य शरीर को जाता है ॥ ९ ॥

"मरते समय चित्त में जिस योनि का दृढ संस्कारवश संकल्प हो[1] उस संकल्प (व इन्द्रियादि) सहित जीव प्राणवृत्ति की शरण आ जाता है।[2] प्राणवृत्ति उदान से सम्बद्ध हो जीवात्मा सहित (पुर्यष्टक को) वैसी योनि में ले जाती है जैसी का मरते समय जीवन संकल्प किया हो ॥१०॥"

बताया गया जो अन्य शरीर को प्राप्त होना, उसे ही उत्क्रमण का क्रम बतने से स्पष्ट करने के लिये '(मरते समय) चित्त में जिस…' आदि श्रौत वाक्य है। उसे समझने के लिये जिन शब्दों को जोड़ना आवश्यक है उन्हें जोड़ते हुए उसकी व्याख्या करते हैं—मरते समय चित्त में जिस किसी देव, पशु आदि शरीर को 'यह अच्छा है' ऐसा धार लेता है, उसी चित्त अर्थात् संकल्प के (और) इन्द्रियों के साथ 'प्राणम्' मुख्यप्राणवृत्ति[3] को प्राप्त होता है अर्थात् मरते समय समाप्त हो चुकी इन्द्रियवृत्तियों[4] वाला हुआ मुख्य प्राणवृत्ति के साथ ही (जीव)

---

१. यं यं वापि स्मरन् भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्। तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः ॥ ८.६॥ आदि भगवद्वचन में इस श्रुति का व्याख्यान है।

२. मन भी कार्य करना समाप्त कर चुकता है केवल साँस चलने से पता चलता है कि जीव है और साँस निकलने पर उसके साथ जीव भी चला जाता है। जो तो 'तमुत्क्रामन्तं प्राणोनुत्क्रामति' (बृ. ४.४.२) कहा है वह जीव के प्राधान्य की विवक्षा से है। 'कस्मिन्न्वहमुत्क्रान्ते' (प्र. ६.३) से जो प्राण की उत्क्रान्ति बतानी है वह गति की उपाधिप्रधानता की विवक्षा से है। उत्क्रमण में किसी क्रम की विवक्षा नहीं यह विद्यारण्य स्वामी ने बृहद्दीपिका में (४.२.३ पृ. १०७ M.R.I.) स्पष्ट किया है 'लिंगावभास्यानां लिंगस्य च उत्क्रमणदेशकालभेदाभावात् न क्रमार्थोऽनुशब्दः'। अत एव 'देहाज्जिगमिषुः प्राणसहितो निर्गतः' (१८.२१७) ऐसा अनुभूतिप्रकाश में वर्णन है। तथा 'उपाध्यारोहमन्वात्मारूढवत्प्रतिभासते' (१९३) 'प्राणोपाधिक एवात्मा गच्छति' (२०३) आदि द्वारा विवक्षितार्थं स्पष्ट किया है।

३. मुँह में होने वाला—इस अर्थ में या 'स्वयं प्रातिष्ठते' (३.५) के अनुसार समझना चाहिये।

४. वृत्ति अर्थात् कार्य। इन्द्रियाँ व मन कार्य करना छोड़ चुकें व केवल प्राण कार्य करता रहता है।

रह जाता है। (जीव के) प्राण में सिमट कर आ जाने को लौकिक व्यवहार से प्रसिद्ध बताते हैं–तब बान्धव कहते हैं, 'साँस ले रहा है (अतः अभी) जी रहा है'।[1] और वह प्राण तेजस्तत्त्व से अनुगृहीत उदानवृत्ति से सम्बद्ध होता है (और) भोक्तारूप अपने मालिक जीवात्मा से सम्बद्ध होता है।[2]—इस प्रकार भोक्ता और उदान से जुड़ा हुआ प्राण किसे ले जाता है? यह प्रश्न होने पर, 'उसी भोक्ता को ले जाता है' यह कहते हुए वाक्य का अर्थ बताते हैं—इस प्रकार (भोक्ता और) उदानवृत्ति से जुड़ा प्राण उस ही भोक्ता को (उसी के) पुण्यकर्मों के व पापकर्मों के फलस्वरूप (उसके) किये संकल्प का अतिक्रमण न कर (उसके) लक्ष्यभूत[3] लोक को—कर्म उपासना आदि का अनुष्ठान करते समय जिसका संकल्प किया हो और मरते समय जो (उद्‌बुद्ध-) वासनारूप से अभिव्यक्त हुआ लोक अर्थात् देव आदि शरीर है उस तक 'नयति' पहुँचा देता है ॥ १० ॥

"प्राण को उक्त विशेषताओं वाला जानने वाला जो इसकी उपासना[4] करता है, उसका प्रजातन्तु टूटता नहीं[5] और वह स्वयं मर कर चिर काल के लिये प्राण का सायुज्य पाता है। इस विषय में यह मन्त्र है— ॥ ११ ॥"

इस प्रकार प्राण के स्वरूप को निश्चित कर उसकी उपासना का विधान (श्रुत्यनुसार) करते हैं—जैसी बतायी गयी हैं वैसी उत्पत्ति आदि विशेषताओं वाले (प्राण का) जो कोई जानकार 'परमात्मा से

१. अन्य सब चेष्टाओं से निवृत्त हो चुका है, केवल प्राण से जीवित होने का पता चल रहा है, यह अर्थ है।

२. युक्त इति तन्त्रेणान्वेति।

३. यद्यपि उसे इष्ट हो यह आवश्यक नहीं तथापि लक्ष्य निर्धारण का जो उपाय 'सदा तद्भावभावितत्त्व' बताया है उसका जिसे विषय बना कर अनुष्ठान किया होगा वह लक्ष्य बन जायेगा। अतः कह देते हैं कि यदि दिन-रात घर में पाली गाय का चिन्तन करता रहेगा तो मरते समय भी उसीका ख्याल आयेगा और 'अंत मति सो गति' के अनुसार गाय की योनि ही मिलेगी।

४. 'मैं प्राण हूँ' ऐसी अहंग्रहोपासना विवक्षित है।

५. प्रजाश्चिरं जीवन्तीत्यर्थं इत्युपनिषद्योगी।

प्राण उत्पन्न होता है; मनःसंकल्पपूर्वक किये पुण्य-पाप के वश से शरीर में प्रवेश करता है; स्वयं को पाँच तरह से बाँट कर पायु व उपस्थ में अपान को, अपनी स्वरूपभूत प्राणवृत्ति को चक्षु व श्रोत्र में, नाभि में समान को, नाडियों के समूह में व्यानको और सुषुम्ना में उदान को स्थापित करता है; उदान द्वारा उत्क्रमण करता है; प्राण, अपान, व्यान, समान और उदान वृत्तियों पर अनुग्रह करने वाले बाहर स्थित आदित्य, पृथिवी देवता (अग्नि देवता), आकाशशब्दित वायु, वायुसामान्य और सामान्य तेजस्तत्त्व रूपों में स्थित हो देवताओं का (अधिदैव प्रपंच का) धारण करता है; आदित्य आदि द्वारा जिन पर अनुग्रह किया गया है उन प्राणादि वृत्तियों द्वारा चक्षु, वाक् श्रोत्र, मन और त्वक्—इस शरीर में होने वाले (आध्यात्मिक) प्रपंच का धारण करता है; और चक्षु आदि के विषयरूप भूतसम्बन्धी (आधि-भौतिक) प्रपंच का धारण करता है; वही उदानवृत्ति और भोक्ता से जुड़कर भोक्ता को शरीरान्तर प्राप्त कराता है। वही (इन्द्रियादि की अपेक्षा प्रमुख है, प्रजापति है तथा अत्ता है'— इस प्रकार प्राण की उपासना करता है उसे मिलने वाला यह इहलौकिक व पारलौकिक फल बताया जा रहा है—'न हास्य' इस उपासक की पुत्र पौत्र आदिरूप प्रजा (का सान्तत्य) 'हीयते' विच्छिन्न नहीं ही होता।[1] इहलोक में मिलने वाला फल कहकर परलोक में मिलने वाला फल बताते हैं— और देहपात हो जाने पर, यहाँ बतायी अमरता मुख्य[2] (वास्तविक) नहीं, किंतु[3] प्राण से अभिन्न हो जाना रूप ही (सापेक्ष अमरता ही) है, यह बताते हैं - प्राण से अभिन्न हो जाने से[4] 'अमृतः' न मरने

---

१. एवं च इसे उदकादि मिलना वन्द नहीं होता—यह फल जानना चाहिये।

२. मृत से सर्वथा भिन्न हो जाये—ऐसा हो जाये जो तीनों कालों में मृत नहीं—तब अमृत शब्द मुख्यार्थ माना जा सकता है और वैसा होना कर्म व उपासना से असंभव है, इसलिये सापेक्ष अमरता ही यहाँ फल है यह तात्पर्य है।

३. तत्क्रतुन्याय से कहते हैं—'सायुज्यं सयुग्भावं समानदेहेन्द्रियाभिमानत्वम्' (बृ० भा० पृ० ५० M.R.I.); 'सायुज्यं सयुग्भावं—एकदेहदेहित्वमित्ये-तत्' (छां० भा० पृ० ७१ M.R.I.)।

४. 'देवान्देवयजो यान्ति' (७.२३) आदि स्मृति का अनुसंधान करना चाहिये।

की[1] विशेषता वाला हो जाता है। 'तद्' इस विषय में संक्षेप से (सारी बात) बताने वाला यह 'श्लोक' मन्त्र है—। उक्त द्विविध फल कामना वाले के हैं; कामनारहित व्यक्ति को तो (उपासना से) चित्त की एकाग्रता रूप फल मिलता है। अतः (मन की) शुद्धिद्वारा[2] मुख्य अमरता (ब्रह्मभाव) होता है, यह समझ लेना चाहिये ॥ ११ ॥

"प्राण की उत्पत्ति, उसका शरीर में आना, जैसे सम्राट् स्वयं शासक रहते हुए अधिकारियों को नियुक्त करता है ऐसे उसका स्वयं शासक रहना[3] और पाँच प्रकार से वृत्तियों को स्थापित करना, शरीर में चक्षु आदि रूप से तथा[4] (बाहर आदित्य आदि रूप से) रहना—(यह सब) जानकर (और तदनुसार उपासना कर उपासक प्राणसायुज्यरूप) अमरता पा जाता है। जानकर अमरता पा जाता है[5] ॥ १२ ॥"

प्राण का परमात्मा से उत्पन्न होना, मानस-संकल्प पूर्वक किये कर्मों के कारण इस शरीर में 'आयतिम्'—'आयातिम्' यह (लौकिक रूप) समझना चाहिये, यकारोत्तरवर्ति अकार को ह्रस्व रखना श्रौत-स्वातन्त्र्यवशात् है[6]—आना, और पायु, उपस्थ आदि स्थानों में 'स्थानम्' रहना, तथा सम्राट् की तरह की स्वामिता[7], विभिन्न प्राणवृत्तियों को पाँच ही प्रकार से स्थापित करना, आदित्य आदि रूप से बाहर एवं चक्षु आदि रूप से शरीर में ही रहना—(यह सब) जानकर, इस प्रकार प्राण को (उपासित कर साधक) अमरता[8] पाता है। 'जानकर अमरता

---

१. 'बहुत समय तक' इतना जोड लेना चाहिये ।

२. 'श्रीविहीनेन सत्त्वशुद्ध्यर्थं यागाद्यनुष्ठातुं न शक्यते इति श्रीकामस्य होमोपि परम्परया ब्रह्मविद्योपयोगीति महातात्पर्यं विद्यासन्निधिसमाम्नातानां सर्वत्र द्रष्टव्यम्' (तैत्तिरीयभाष्यटीका १.३. पृ० ३८५ M.R.I.) ।

३. दीपिकायान्तु 'विभुत्वं चैव—सूर्यपृथिव्याकाशवाय्वग्निभिर्व्याप्तत्वं चकाराद् उदानोत्क्रमणं च' इति व्याख्यातम् ।

४. चकारादधिदैवमधिभूतं चेति दीपिका ।

५. 'द्विर्वचनमपरविद्याविषयप्रश्नपरिसमाप्त्यर्थम्'-उपनिषद्योगी । 'इतिः प्रश्न-समाप्त्यर्थः' दीपिका ।

६. आयतिः प्रापणमिति धरणी । आयातिस्त्वन्वेषणीया ।

७. सम्राज इवेति स्यात् ।

८. अमरता सापेक्ष ही विवक्षित है क्योंकि उपासना का प्रसंग है और

पा जाता है' इसे दो बार कहना प्रश्न का समापन सूचित करने के लिये है ॥ १२ ॥

॥ इति तृतीय प्रश्न ॥

अथ चतुर्थ प्रश्न

"अपराविद्या विषयक प्रश्नों की समाप्ति के बाद इन प्रसिद्ध पिप्पलाद से सौर्यायणी गार्ग्य ने पूछा—।"

इस प्रकार (प्रथम प्रश्न में) कर्म और उपासना से प्राप्य गति सुन लेने से[1] (उससे) जिसे विराग हो गया है (और द्वितीय-तृतीय प्रश्न में उपदिष्ट) प्राणोपासना से जो चित्त की एकाग्रता वाला व चित्त की शुद्धि वाला है, इसीलिये[2] (विवेक, वैराग्य, शमादि व मुमुक्षा[3]—इन) चारों साधनों से सम्पन्न है (अतः) मुख्य[4] अधिकारी है, उसे पराविद्या का उपदेश देने के लिये (अगले) तीन प्रश्न[5] प्रारंभ करते हैं— **आश्वलायन के प्रश्न का निर्णय हो जाने के बाद इन प्रसिद्ध पिप्पलाद से सौर्यायणी गार्ग्य ने पूछा।** पूर्वोक्त विद्या से (उपासना द्वारा) ही अमरता (-प्राप्ति, बता दी गयी होने से आगे के प्रश्नों को प्रारंभ करना निष्प्रयोजन[6] है ?— इस शंका को हटाने के लिये कहते हैं—

उपासना से निरपेक्ष अमरता 'विदित्वा एवामृतत्त्वम्' (शु० य० ३१.१८; एवकारो भिन्न क्रमः) आदि श्रुतियों से विरुद्ध हो जायेगी।

जागर्त्यात्मेक्षते स्वप्नं तस्य सुप्तो भवेत्सुखम् ।
स एव जगदाधारः स्वप्रकाशः सदाशिवः ॥

१. अर्थात् जान कर वैराग्य होना चाहिये; 'जानते ही नहीं अतः राग वाले नहीं'—ऐसा वैराग्य क्षुद्र है।

२. वैराग्य व चित्त शुद्धि वाला होने से।

३. विवेक, वैराग्य व मुमुक्षा पूर्वोक्त वैराग्य के अंतर्गत और शमादि चित्तैकाग्र्य के अन्तर्गत समझना चाहिये। मुमुक्षा होने पर ही विवेक और तन्मूलक वैराग्य संभव हैं।

४. अर्थात् जिसने ससाधन कर्मत्याग कर दिया है। पराविद्याशब्दित ब्रह्मज्ञान का मुख्य अधिकारी परमहंस ही है।

५. भाष्य में जो भूमिका इस प्रश्न की है वह तीनों को विषय करती है।

६. अमरता से उत्कृष्टतर कोई प्रयोजन प्रसिद्ध नहीं।

साध्य-साधनलक्षण अर्थात साध्य व साधन के सम्बन्ध से लक्षित— अभिव्यक्त, उत्पन्न – होने वाला ('साध्यसाधनलक्षण'–) इस प्रकार (कहा जाता है); इसलिये अनित्य– इसलिये भी संसार से अविलक्षण, यह तात्पर्य है; व्याकृतविषय – व्यक्त के आश्रित, अर्थात् व्यक्त प्रपंच के अंतर्गत; सारे संसार को– जो कि अपराविद्या का विषय है, (पहले) तीन प्रश्नों से पूरी तरह (समझना) समाप्त कर; 'संसार' कहने का तात्पर्य है कि संसार होने से (अपराविद्या से प्राप्य वह) अमरता वास्तविक नहीं। उसकी संसाररूपता में व्यक्तरूपता[1] को हेतु बताया 'व्याकृतविषय' (कहकर)। (साध्यसाधनलक्षण' का) वैकल्पिक[2] अर्थ है—क्योंकि अपर ब्रह्मरूप प्राण साध्य व साधन दोनों स्वरूप वाला है इसलिये (प्राणरूपतापत्ति अमरता को साध्यसाधनलक्षण कहा)। 'अथ' अब, आगे बताया जाने वाला आत्मा तो उस प्रकार का (साध्य-साधनलक्षण आदि) नहीं है, यह बताते हैं—जो साध्यसाधनलक्षण से भिन्न इन्द्रियों की[3] विषयता से परे, अर्थात् अव्यक्त, जो कि कार्य नहीं है; इन्द्रियों का अविषय होने में हेतु है– प्राणों से असम्बद्ध, प्राणों का विषय न होने से (क्रियासाधन होने के कारण) प्राणरूप कर्मेन्द्रियों की अविषयता बतायी; मन से असम्बद्ध, मन का विषय न होने से ज्ञानेन्द्रियों की अविषयता बतायी; (विवक्षित आत्मा की) सुखरूपता बताते हैं—शिव,[4] उसमें कोई अनर्थ (दुःख) नहीं, यह कहते हैं – शान्त, अनर्थरहित होने में कारण है कि (उत्पन्न होना, उत्पन्न होकर रहना, बढना, बदलना, क्षीण होना, समाप्त होना –) भाववस्तुओं के इन स्वाभाविक परिवर्तनों से रहित है, यह बताते हैं–'अविकृत (अपरिवर्तित)' इससे (=अविकृत कहने से) उत्पन्न होना, बदलना और बढ़ना—इनका (आत्मा में) निषेध किया; क्षरित न होने वाला, 'क्षरित न होने वाला'

---

१. व्यक्त सभी कुछ घटादि की तरह विनाशी ही है। अमरता व्यक्त प्राण की उपासना से अभिव्यक्त—उत्पन्न—होने वाला फल होने से व्यक्त के ही अंतर्गत है।

२. इस टीका वाक्य में 'यद्वा' और 'वा' दोनों हैं जो कातिब की गलती का फल प्रतीत होता है; एक ही होना चाहिये।

३. मुण्डक २.१.२ का अनुसन्धान करना चाहिये।

४. 'प्रपंचोपशमं शान्तं शिवमद्वैतम्' (मां० ७) श्रुति की ओर संकेत हैं।

(कहकर) क्षीण होने और समाप्त होने का निषेध किया। उत्पन्न होने का निषेध करने से उत्पन्न होने के बाद होने वाले[1] रहने का निषेध (भी) हो गया। इस सब में (साध्यसाधनलक्षण से भिन्न होना आदि अब तक बतायी सब विशेषताओं में) हेतु है—सत्य, अर्थात् तीनों कालों में अपरिवर्तनीय स्वरूप वाला। इस विषय में 'और यह परा विद्या है—जिसके द्वारा वह अक्षर परमात्मा समझा जाता है' (मुं० १.१.५ इत्यादि मन्त्रवाक्य प्रमाण है यह सूचित करते हैं—पराविद्या का विषय, 'स्वप्रकाश, सब नामरूपों से असम्बद्ध तथा पूर्ण है' (मुं० २.१.२) इस मन्त्र को भी (प्रमाणतया) सूचित करते हैं—पुरुष[2] नाम वाला, बाहर[3] होने वाली व अन्दर होने वाली वस्तुओं में भेद होने से (शरीर में विद्यमान आत्मा की) पुरुष-शब्द से कही पूर्णता कैसे ?—इस शंका को हटाने के लिये कहते हैं—बाहर भीतर जो कुछ भी है उसका अधिष्ठान, वही बाहर की व अंदर की वस्तुओं का स्व-रूप है, उसके विना वे दोनों (बाह्य व आभ्यंतर) हैं नहीं, यह तात्पर्य है। जन्मरहित (आत्मा है, उसे) बताना चाहिये[4] इसलिये (अगले) तीन प्रश्न यद्यपि पाँचवा प्रश्न अपराविद्या के विषय का ही है क्योंकि वह प्रणव की उपासना के विषय में है, तथापि (प्रणव की उपासना) क्रम मुक्ति-रूप फल वाली होने से (उसके द्वारा) सविशेष (सगुण) ब्रह्म की प्राप्ति द्वारा निर्विशेष (निर्गुण) आत्मस्वरूप में ही स्थिति होती है अतः उस प्रश्न का परम फल (परतत्त्व की प्राप्ति का साधन बताना ही है जिससे) वह भी पराविद्याविषयक ही है, यह तात्पर्य है। प्रारम्भ किये जाते हैं।

इस प्रकार (पूर्वग्रन्थ से अगले) तीनों प्रश्नों के साधारण सम्बध को[5] बताकर चतुर्थ प्रश्न का (मन्त्रभाग से) असाधारण सम्बन्ध[6]

---

१. अर्थात् स्वरूप सत् का निषेध नहीं।

२. उद्धृत मंत्र में पुरुष शब्द है जिसका अर्थ किया है 'पूर्ण'।

३. शरीर से बाहर और भीतर कहा जा रहा है।

४. उसे बताना ही उपनिषत्का प्रयोजन है।

५. पूर्वोक्तविरक्ताधिकारिकत्त्व एवं पूर्वोक्तानुष्ठानलब्धसाधनाधिकारिकत्त्व सम्बन्ध समझना चाहिये। इससे अविरक्त व साधन-असम्पन्न का पराविद्या में अनाधिकार बताया।

६. व्याख्येयव्याख्याभाव सम्बन्ध समझना चाहिये।

बताते हैं—मन्त्रभाग में द्वितीय मुण्डक में 'अच्छी तरह जलाई आग से चिनगारियों की तरह जिस—इस 'जिस' शब्द का 'वह अक्षर किस स्वरूप वाला है' इस प्रश्न के 'वह' शब्द से सम्बन्ध है—परम अक्षर से सारे जीव उत्पन्न होते हैं और उसी में लीन हो जाते हैं' (२.१.१) कहा था, (वहाँ) वे सब जीव कौन हैं जो अक्षर से अलग हो (कर उत्पन्न होते हैं) ? और बँटे होकर उसी में कैसे लीन हो जाते हैं ? तथा वह[1] अक्षर किस स्वरूप वाला है ? इन बातों को समझाने की इच्छा से अब (चतुर्थ प्रश्न के) प्रश्नों को (श्रुति) उठाती है—; 'जैसे अच्छी तरह जलाई आग से आग की समानता वाली हजारों चिनगारियाँ निकलती हैं वैसे ही हे सोम्य ! शौनक ! अक्षर से नाना प्रकार के जीव[2] उत्पन्न होते हैं और उस अक्षर में ही लीन हो जाते हैं' (मुं० २.१.१) इस मंत्र द्वारा पूर्वोक्त विषय कहा गया है यह तात्पर्य है। क्योंकि मन्त्र में बताये विषय को विस्तार से पुनः समझाने के लिये यह ब्राह्मण है इसलिये 'इन बातों को समझाने के लिये'—ऐसा कहा।

"हे भगवन् ! १. सिर, हाथ, आदि वाले इस पुरुष में कौन से करण सोते हैं ? २. कौन इसमें जागते रहते हैं ? ३. शरीर, प्राण, मन, आदि कौन सा देव स्वप्नों को देखता है ? ४. सुषुप्ति में प्रकाशमान सुख किसे होता है ? ५. सोते समय सब करण किसमें विलीन हो जाते हैं ? ॥१॥"

प्रकृत सन्दर्भ में अक्षर पुरुष के स्वरूप को समझाना ही अभीष्ट है अतः उस स्वरूप का निर्णय करने के लिये 'कौन से करण सोते हैं ?' इत्यादि प्रश्न इसका निश्चय करने के लिये हैं कि जागरित आदि धर्म (अवस्थायें) विशेषतः किस धर्मी (अवस्थावान्) के हैं, क्योंकि यह निश्चय न करने पर 'जागरित आदि धर्म आत्मा के ही होंगे ? (आत्मा ही जगता, सोता होगा ?)' ऐसी शंका बनी रहने से आत्मा की सर्वविशेषरहितता का निश्चय नहीं हो सकेगा।[3] (जो) तो भाष्य में[4] ('वे सब जीव कौन हैं' इस प्रकार जीवोपाधियों के) स्वरूप को (तथा

---

१. जिससे उत्पन्न होते हैं वह—ऐसा सम्बन्ध है।

२. मुण्डकव्याख्यान में स्पष्ट है कि जीवपद जीवोपाधिपरक है। वही अर्थ यहाँ तथा आगे भी इस संदर्भ में समझना चाहिये।

३. एवं च पदार्थशोधन में विनियोग है, यह तात्पर्य है।

४. इस वाक्य के सम्बन्धग्रंथ में।

'बँटे होकर उसी में कैसे लीन हो जाते हैं' इस प्रकार उनके) बँटे होने आदि[1] को बताने की इच्छा (इस प्रश्न के आरम्भ होने में कारण) बतायी है, (वह) केवल इसलिये कि 'वे पुनः पुनः उदय होते (उस तेज:पुंज से ही निकल कर) दसों दिशाओं में फैल जाती हैं' (४.२) इस (वक्ष्यमाण) दृष्टान्त के आधार पर जिसमें एक होना (अर्थात् विलय) होता है उसी से बँटकर निकलना (भी) होता है अतः अक्षर में एक हुए (विलीन हुए) देह व इन्द्रियों का अक्षर से बँटना प्रतीत होता है (जिससे कि जिनका विलय आदि प्रतीत होता है वे भी बता ही दिये गये हैं ऐसा समझा जा सकता है)—यह जानना चाहिये। इन पाँच प्रश्नों में प्रथम प्रश्न से जागरित अवस्थारूप धर्म जिसका है वह धर्मी पूछा गया है। स्वप्नावस्था में जिसके कार्य करने से उपरत हो जाने पर जागरित अवस्था नहीं रहती वह जागरित अवस्था वाला हैं (जागरित अवस्था उसका धर्म है)[2], यह निश्चय किया जा सकने से ('कौन सोते हैं ?' का तात्पर्य 'कौन जगता है ?' निकलता है)। द्वितीय प्रश्न द्वारा तीनों अवस्थाओं में शरीर की रक्षा करना किसका धर्म (कार्य) है?—यह पूछा गया है। जगता हुआ—अर्थात् जो अपना कार्य करने से उपरत नहीं हुआ वह—प्राण (तीनों अवस्थाओं में) शरीर का रक्षक हो यह युक्तिसंगत[3] होने से (द्वितीय प्रश्न के उत्तर में बताया प्राण शरीर-रक्षकरूप से बताया समझना चाहिये)। तीसरे प्रश्न से स्वप्नावस्था का धर्मी (—स्वप्न किसे होता है ? यह) पूछा गया है। चौथे प्रश्न से सुषुप्ति अवस्था का धर्मी पूछा गया है। सोकर उठे व्यक्ति के इस स्मरण में कि 'मैं सुख से सो रहा था' सुख का सुषुप्ति से सम्बन्ध समझ आने से ('सुख किसे होता है ?' का तात्पर्य है 'सुषुप्ति किसे होती है ?') पाँचवे प्रश्न से तीनों अवस्थाओं से रहित चौथा[4] अक्षर पुरुष जो तीनों अवस्थाओं की

---

१. आदि से 'अपियन्ति'—लय समझना चाहिये।

२. धर्मीति भवेत्पाठ इति सम्पादकाः। मत्वर्थीयाचा यथाश्रुतं व्यवस्थाप्यते। 'तत्तस्य धर्म'इति वा पाठः कल्पनीयः। तत् = जागरितम्।

३. जगा हुआ ही रक्षक (चौकीदार) होता है।

४. माण्डूक्य में आत्मा चौथे रूप में प्रसिद्ध है।

समाप्ति का अधिष्ठानस्वरूप[1] है वह पूछा गया है। यह (इन पाँच प्रश्नों के (विषयों का) भेद है।

हे भगवन्! इस सिर, हाथ आदि वाले पुरुष में कौन से करण 'स्वपन्ति' सोने का कार्य करते हैं अर्थात् कार्य करना छोड़ देते हैं? और इसमें कौन 'जाग्रति' निद्रा से भिन्न अवस्थारूप जगने का कार्य करते है अर्थात् अपना कार्य करते रहते हैं? कार्य अर्थात् शरीर या प्राण रूप व करण अर्थात् मन आदि रूप देवों में कौन सा यह देव[2] स्वप्नों को देखता है? जाग्रदवस्था के अनुभव से निवृत्त हुए व्यक्ति को शरीर के अन्दर जो जाग्रत् की तरह अनुभव होता है—उसका नाम स्वप्न[3] है। (तृतीय प्रश्न के) शब्दों का अर्थ बताकर समूचे वाक्य का (तृतीय प्रश्न का) तात्पर्य बताते हैं—क्या वह (स्वप्नदर्शन) (शरीर या प्राण-रूप) कार्यात्मक देव द्वारा किया जाता है या क्या—'वह'-शब्द पहले (=क्या से) व बाद में (=दूसरे क्या से) उभयत्र सम्बद्ध होता है[4]—वह (मन आदि रूप) करणात्मक किसी देव द्वारा (किया जाता है) यह तात्पर्य है। और जाग्रत् व स्वप्न के कार्यों के रुक जाने पर जो प्रसन्न अर्थात् विषयसम्बन्धरूप कलुषता रहित[5] आयासरहितता से

१. जिसमें उनकी समाप्ति होती है।

२. 'देवो द्योतनात्मकः' शंकरानन्दाः।

३. 'जाग्रत् की तरह' से सौषुप्तानुभव की व्यावृत्ति है। 'करणेषूपसंहृतेषु जागरितसंस्कारजः प्रत्ययः सविषयः स्वप्नः'—पंचीकरण। 'करणोपरमे जाग्रत्संस्कारोत्थ प्रबोधवत्। ग्राह्यग्राहकरूपेण स्फुरणं स्वप्न उच्यते'। पंची० वार्ति०॥ 'जाग्रद्भोगजनककर्मक्षये स्वाप्नभोगजनककर्मोदये च सति निद्राख्यया तामस्या वृत्त्या स्थूलदेहाभिमाने दूरीकृते सर्वेन्द्रियेषु देवतानुग्रहाभावात् निर्व्यापारतया लीनेषु···स्वप्नावस्था' अन्तःकरणगतवासना-निमित्त इन्द्रियवृत्त्यभावकालीनोऽर्थोपलम्भः स्वप्नः' (सि० बि० ८)। 'यदा तु चक्षुरदीन्द्रियाणां उपरतत्त्वेन चित्तस्यापि बाह्यव्यापारोपरमः केवलं वासनामयपदार्थाकारपरिणामेनावस्थनं तदा स्वप्नावस्था' (सदा-शिवेन्द्रकृत मनीषा-पंचक टीका पृ० ५१७ प्र० द्वा० M.R.I.)।

४. अथवा 'तत्स्वप्नो नाम' ऐसा पूर्ववाक्य से भी अन्वय होता है—यह अर्थ है।

५. विषय से अजन्य यह तात्पर्य है।

अर्थात् विक्षेप न होने मात्र से लक्षित अर्थात् अभिव्यक्त होने वाला, तेज चलती हवा-रहित स्थान में रखे दीपक के प्रकाश की तरह स्थायी अर्थात् (बीच-बीच में) नष्ट न होने वाला, सत्य तथा आत्मस्वरूप[1], 'मैं सुख से सो रहा था' इस स्मृति का मूल, सुषुप्ति में प्रतीत[2] होता यह सुख (है, वह) किसे होता है ? उस समय (सुषुप्ति काल में); यद्यपि ('सब किसमें लीन होते हैं ?' इस) पाँचवे प्रश्न द्वारा (अवस्थात्रय-साक्षी) चौथा (आत्मा) पूछा जा रहा है नकि सुषुप्ति, तथापि संसार-दशा में (अविद्या के रहते) सब उपाधियों से रहित उस चौथे आत्म-तत्त्व का (सर्वोपाधि-रहित रूप से) रहना न होने के कारण उसे विवेक (अन्वय-व्यतिरेक) से ही समझाया जा सकता है[3] इसलिये सुषुप्ति में अज्ञान रहने पर भी अन्य (कार्यंकरण) उपाधियाँ न होने

१. विषयाजन्य होने से वह आत्मस्वरूप ही संभव है ।

२. स्मृति नियमतः अनुभव के बाद होती है, अननुभूत की प्रमात्मक स्मृति नहीं होती । सौपुप्तसुखस्मृति का बाध न होने से वह प्रमा है अतः अन्यथा अनुपपत्ति रूप अर्थपत्ति प्रमाण से सौपुप्त अनुभव सिद्ध होता है । यद्यपि 'न तत् स्वापे सुखानुभवसंस्कारजं स्मरणम्; किन्तर्हि ? सुखावमर्शो दुःखाभावनिमित्तः' आदि पंचपादिका में (पृ० ३२२ कल०) प्रतीत होता है कि सुपुप्ति में सुखप्रकाश का निषेध है तथापि तथ्य यह है कि वहाँ अहंकार का निषेध ही विवक्षित है (अत एव आगे) चलकर विवरण में (पृ० ३२६ कल०) कह दिया है 'परमतमाश्रित्येदमुक्तम्' । कारण कि 'अज्ञानं स्व-सुख-साक्ष्याकारेण परिणमते तत्र च परिणताज्ञाने चैतन्याभास उपजायते तस्माच्च अज्ञानादिविक्षेपानुभवः' (तत्त्वदी० पृ० ३२५ कल०) । अतएव न्याय-रत्नावली में (पृ० १८४ प्र० द्वा०) कहा है 'साक्षिस्वरूप-सुखस्वरूपा-ऽज्ञानस्वरूपाकारा निर्विकल्पकास्तिस्रोऽविद्यावृत्तयः सुपुप्तौ जायन्तइति विवरणेऽङ्गीकृतम्' । सौपुप्त सुख की आत्मस्वरूपता वेदान्ततत्त्व-विवेक में आश्रमस्वामी ने समझाई है 'सुखमहमस्वाप्समिति परामर्शा-दप्यात्मा सुखम्' पृ० ३४४ ।

३. उपाधि न हो, आत्मा हो तो वह उपाधिविलक्षण स्पष्ट हो जाये । न्यूनतम उपाधि सुपुप्ति में ही उपलब्ध है अतः उसका परिग्रह है, यह भाव है । अविद्यावैलक्षण्य उसकी विपयता आदि से व निर्विकल्प समाधि आदि से समझना चाहिये ।

से उसी अवस्था में सब उपाधियों का विवेक कर चौथे को समझाना सरल होने से चौथे आत्मा का स्वरूप स्पष्ट करने के लिये उस काल में सबका लीन होना बताया है। जाग्रत् व स्वप्न अवस्थाओं में किये जाने वाले कार्यों को छोड़े हुए वे सभी किसमें 'सम्प्रतिष्ठिताः' भली प्रकार से[१] एक हो जाते हैं अर्थात् किससे अभिन्नप्राय[२] होकर उसमें विलीन हो जाते हैं? शहद में रसों की तरह अर्थात् जैसे नाना पुष्पों के रस (उनसे बने) शहद में एक हो जाते हैं उस तरह, और[३] समुद्र में मिली नदी आदि की तरह (किस में) गये हुए (इस तरह) 'सम्प्रतिष्ठिता भवन्ति' स्थित होते हैं कि (मिलने के बाद) पृथक् न समझा जा सकने में दोनों उदाहरण दिये हैं (सर्वथा एकमेक हो जाने में नहीं), क्योंकि दार्ष्टान्त में पूरी तरह से विलय नहीं होता—यह बताते हैं—उन्हें अलग अलग समझा न जा सके?—यह (प्रश्न का) तात्पर्य है। पहले ऐसे होकर कि उन्हें अलग-अलग समझा न जा सके पीछे स्थित होते हैं[४], यह अर्थ है। यह शंका नहीं करनी चाहिये कि इस (पाँचवे) प्रश्न द्वारा भी अविद्या की वासनाओं[५] से अलग न कर लिया गया सुषुप्ति अवस्था वाला (प्राज्ञ) ही पूछा जा रहा है। (यह शंका इसलिये नहीं करनी चाहिये) क्योंकि अक्षररूप 'परमात्मा में विलीन होते हैं' यह बताया जायेगा (४.७), जबकि सुषुप्ति में अज्ञान में ही (नकि सुप्त आत्मा में) विलय होता है; (तथा) 'यही द्रष्टा' (४.९) इत्यादि से अज्ञान में पड़ा चित्प्रतिबिम्ब जिसका स्वरूप है उस भोक्ता (विश्व-

---

१. उस अवस्था में कथंचिदपि प्रतीत न होकर उठने पर प्रातिस्विकतया उपलब्ध हो सके—इस तरह एक होना ही 'भला प्रकार' जानना चाहिये।

२. अत्यन्त अभिन्न होने पर पुनः उदय असंभव होने से भेद सहिष्णु ही अभेद यहाँ बताया है।

३. पुष्परस से शहद बनने पर तो पदार्थान्तर हो गया जबकि प्रकृत में ऐसा परिवर्तन नहीं, अतः दूसरा दृष्टान्त देते हैं। मीठा पानी समुद्र में मिल कर खारा हो जाता है जबकि प्रकृत में खारापन नहीं बल्कि आराम की मिठास होती है इसलिये पहला दृष्टान्त है।

४. क्योंकि आत्मा में विलय विवक्षित है इसलिये उपाधिलय को पूर्व में समझना उचित है।

५. अर्थात् चित्त आदि की वासना वाली अविद्या से।

तैजस-प्राज्ञ) का विलय भी बताया जाने वाला होने से और अविद्या-रहित' (४.१०) इत्यादि से (विलयाधार में) अज्ञान का न होना बताया होने से चौथा आत्मा ही (प्रश्न में) पूछा[1] गया है, यह तात्पर्य है।

प्रश्न होता है कि कार्य (शरीर) व करण[2] (इन्द्रियादि) से भिन्न किसी विलय के आधार को सामान्यतः जानने पर (ही) 'किसमें विलीन होते हैं ?' ऐसा विशेष विषयक प्रश्न[3] संगत होता है, किन्तु उसका (कार्यकरण से विलक्षण विलयाधिकरण का) ज्ञान (हमें व सौर्यायणी को) है नहीं (अतः प्रश्न असंगत है)। (प्रश्नारम्भ समर्थक द्वारा) यह नहीं कहा जाना चाहिये कि क्योंकि किसी आधार में विलय होता है इसलिये (विलय के) आधार का सामायन्तः[4] ज्ञान है ही। (यह इसलिये नहीं कहा जाना चाहिये) क्योंकि उन करण आदि के अपने अपने जड उपादान कारण ही उनके विलय के आधार हों यही (सामान्य विचार से) सिद्ध होता है, उन उपादान कारणों से भिन्न किसी चेतन विलया-धार की सिद्धि नहीं होती। यह प्रश्न (अर्थात् उपादानों से विलयाधार की गतार्थता का प्रश्न) उठाते हैं—रख दिये गये दराती आदि—खेती आदि काटने के लिये (काम में आने वाले) एक विशेष प्रकार के शस्त्र का नाम दराती है—उपकरणों की तरह (अध्यात्म करणादि भी) अपने कार्यों से उपरत हो अलग-अलग ही अपने आत्मा में अर्थात् अपने उपादान कारण में स्थित हों, यह संगत है, (तब) पूछने वाले को यह सवाल कैसे उठा कि सोये पुरुषों के जो करण हैं उनका किसी (एक आधार) में विलय होता है ? अथवा 'यही द्रष्टा' (४.९) इत्यादि वाक्य के द्वारा पुरुषों (जीवों) का विलय भी बताया जाने वाला होने से

---

१. उत्तर वही दिया जाता है जो पूछा गया हो।

२. कारण इति पाठः करणस्यापि कारणविशेषत्वाद्युक्त एव।

३. यदि इतना मालूम हो कि किसी एक में इनका विलय होता है तब तो पूछा जा सकता है 'किस में विलय होता है ?', किंतु यदि इतना भी न मालूम हो तो प्रश्न यह होना चाहिये 'क्या ऐसा कुछ या कोई है जिसमें इनका विलय होता है ?', न कि 'वह कौन है' ऐसा—यह तात्पर्य है।

४. विलय की अन्यथानुपपत्ति से आधार निश्चित है, वह कौन है—इतना ही अज्ञात होने से जिज्ञासित है—यह तात्पर्य है।

'सोये पुरुषों का और करणों का' इस प्रकार (दोनों को) कहा गया (समझना चाहिये)। यह अर्थ करने पर 'और करणों का', इस प्रकार 'और' शब्द जोड़ लेना चाहिये।

जो मिले हुए होते हैं वे अपने से किसी भिन्न के लिये कार्य करते हैं अतः (करणों के) मिलकर कार्य करने वाला होने के कारण सामान्यतः पता चल जाता है कि उनसे भिन्न कोई चेतन है (जिस एक के लिये ये सब मिलकर कार्य करते हैं), यों उसका पता चल जाने पर विशेषतः वह कौन है ?—ऐसा पूछने वाले का प्रश्न उचित है; यह (उक्त प्रश्न का) उत्तर देते हैं—शंका तो ठीक ही (उठी) है। क्यों कि जाग्रत् में (किसी) स्वामी के लिये अर्थात् देह व इन्द्रियों के संमिलित स्वरूप में 'यह मैं हूँ' ऐसा मानने वाले (किसी चेतन[1]) के लिये परतन्त्र करण मिलकर रहते हैं इसलिये सोने पर भी मिले हुओं का परतन्त्ररूप से ही किसी (चेतन) आधार में विलीन होना युक्तिसंगत[2] है; अतः (प्रष्टा के) मन में विद्यमान शंका को प्रकट करने के अनुकूल ही शब्दों से घटित यह प्रश्न है। इस प्रश्न में विलयविशिष्ट[3] आत्मा नहीं पूछा गया है किन्तु विलय से उपलक्षित[4] शुद्ध आत्मा पूछा गया है; प्रकृत प्रश्नवाक्य के इस तात्पर्य को बताते हैं– और यहाँ तो[5] सुषुप्ति

---

१. असंहत स्वार्थ चेतन होता है। संघात को संहतार्थ मानने पर अन्योन्याश्रय, अनवस्था आदि दोनों की प्राप्ति होगी।

२. जिसके लिये संघात कार्य करता है, उसके लिये ही संघात कार्य से उपरत भी होता है। हमें आराम मिले, इसके लिये नींद की व्यवस्था है। उपरत होने पर संघात विलीन होता है—पृथक् पृथक् उपलब्ध नहीं होता। यदि वह किसी संघात में लीन हो तो उस द्वितीय संघात को भी किसी के लिये विलीन होना ही पड़ेगा, वह भी यदि संहत में लीन हो तो अनवस्थादि होंगे। अतः संघात का असंहत में विलय युक्तिसंगत है। असंहत स्वार्थ ही चेतन है; यह तात्पर्य है।

३. विलय से वस्तुतः सम्बद्ध।

४. विलय से वस्तुतः असम्बद्ध होते हुए भी उससे बोध्य।

५. विशिष्ट विषयक प्रश्न होने पर भी प्रश्न युक्त है–यह 'तो'–से कहा।

व प्रलय[1] काल में कार्यकरणसंघात (मिलकर कार्य करने वाला शरीर-इन्द्रियों का समुदाय) जिसमें विलीन होता है उस (विलयाधार) को विशेषतः जानने की इच्छा वाले (सौर्यायणी) द्वारा[2] 'सब किसमें विलीन होते हैं ?' अर्थात् 'वह कौन हो सकता है (जिसमें सब विलीन होते हैं) ?' यह पूछा गया है ॥ १ ॥

"पिप्पलाद ने सौर्यायणी को उत्तर दिया—[3]हे गार्ग्य ! जैसे अस्त होते आदित्य की सब किरणें इस तेजःपुञ्जरूप आदित्य में एक हो जाती हैं (और) वे पुनः पुनः उदय होते (उस तेतःपुञ्ज से ही निकल) दशों दिशाओं में फैल जाती हैं; ऐसे ही (सोते समय) वह प्रसिद्ध सारा विषय-इन्द्रिय-समूह मनरूप परमदेव[4] में मिल जाता है (और पुरुष के जगने पर मन से ही निकल कर अपने-अपने कार्य पर तैनात हो जाता है) । (क्योंकि सोते समय श्रोत्र आदि मन से[5] एक हो चुकते हैं—अपना कार्य करना छोड़ चुकते हैं) इसलिये उस समय यह (सोया) व्यक्ति न[6] सुनता है, न देखता है, न सूँघता है, न चखता है, न छूता है, न बोलता है, न पकड़ता है, न (उपस्थसाध्य) सुख लेता है, न (पायु द्वारक) त्याग करता है (और) न (कहीं) जाता है । (उसे) 'यह सो रहा है' ऐसा लोग कहते हैं ॥ २ ॥"

उस (सौर्यायणी) से प्रसिद्ध वे (पिप्पलाद) आचार्य बोले—हे गार्ग्य ! जो तुम्हारे द्वारा पूछा गया (विषय) है उसे सुनो । जैसे 'अस्तम्' (हमें)

---

१. यहाँ यद्यपि सुपुप्ति पूछी प्रतीत होती है तथापि 'यथासुदीप्तात्' (मुं.२.१.१) आदि व्याख्येय मन्त्र भाग के अनुसन्धान से प्रलय भी पूछा समझ लेना चाहिये ।

२. बुभुत्सोः प्रश्नोऽयम् इति भाष्येऽन्वयः स्पष्टोपि टीकायां पृष्टमिति शेषेण योजितस्तथेहानूदित इति ज्ञेयम् ।

३. सौर्यायपी के प्रथम प्रश्न का उत्तर है । बाह्य दसों इन्द्रियाँ सोती हैं—यह उत्तर का संक्षेप है । स्वप्न-सुपुप्ति-सामान्य उत्तर समझना चाहिये । मन का भी सोना आगे (४) बताया जायेगा ।

४. सब ज्ञानों के प्रति कारण होने से मनकी परमदेवरूपता है ।

५. मनसि सव्यापारे सति त्यक्तव्यापारतयैकीभवन्तीत्यर्थः । मनःप्रधाने लिंग एकीभवन्तीति वार्थः ।

६. दसों बाह्य इंद्रियों के कार्य नहीं होते यह बताते हैं ।

न दीखने की अवस्था को जाते हुए 'अर्कस्य' सूर्य की 'सर्वाः' समस्त 'मरीचयः' किरणें इस 'तेजोमण्डले' तेजःपुञ्जरूप (सूर्यबिम्ब) में 'एकीभवन्ति' यों इकट्ठी हो जाती हैं कि अलग-अलग समझी न जा सकें (और) बार-बार 'उदयतः' उदय होते उसी सूर्य की वे किरणें 'प्रचरन्ति' (सूर्य द्वारा) फैला दी जाती हैं अर्थात् दसों दिशाओं में भेज दी जाती हैं—जैसे यह उदाहरण है, ऐसे ही वह प्रसिद्ध सारा विषय-इन्द्रिय-समूह 'परे' विशेषता वाले (और) 'देव' प्रकाशन करने वाले मन में—क्योंकि (रूपादि का) प्रकाशन करने वाले चक्षु आदि (सब) मन के अधीन हैं इसलिये मन विशेषतावाला प्रकाशन करने वाला है, उस (मन) में—स्वप्न काल में, सूर्यबिम्ब में किरणों की तरह 'एकीभवति' इकट्ठा हो जाता है तथा जागना चाहते[1] मन से ही (निकलकर) सूर्यबिम्ब से किरणों की तरह 'प्रचरन्ति'[2] अपना कार्य करने के लिये यथावस्थित हो जाता है।[3] स्वप्न में भी चक्षु आदि का (देखना आदि) कार्य प्रतीत होने से (चक्षु आदि का कार्य न करते हुए मन में) इकट्ठा होना सिद्ध नहीं होता ?—यह शंका कर, (स्वप्न में) संस्कार-निर्मित (प्रातिभासिक) इन्द्रियों के कार्य प्रतीत होने पर भी (मन से) बाहर स्थित शब्द आदि का सुनना आदि (इन्द्रियों का) कार्य (स्वप्न में) न होने से (उनका) इकट्ठा होना सिद्ध करने के लिये 'इसलिये उस समय' इस वाक्य की व्याख्या करते हैं—क्योंकि स्वप्न काल में शब्द आदि को जानने के साधन श्रोत्र आदि मानो मन में इकट्ठे हो जाते हैं, (अपनी) करणरूपता से साध्य कार्य को छोड़ देते हैं,—श्रोत्र आदि के इकट्ठे

---

१. मन के जागने (जाग्रदवस्था में आने) और इंद्रियादि के यथावस्थित होने में पौर्वापर्य नहीं यह बताने के लिये उसके जागने से पूर्व की दशा का परामर्श किया है।

२. श्रुतिस्थ दृष्टान्त के शब्द के अनुरूप दार्ष्टान्त समझाने के लिये भाष्यकार ने बहुवचनान्त ही प्रतीक रखा है तथा प्रतीकानुकूल बहुवचनान्त व्याख्या की ही। 'सर्वम्' एक वचनान्त होने से अर्थ उसके अनुसार समझना चाहिये।

३. 'पुरत्रये क्रीडति यश्च जीवस्ततस्तु जातं सकलं विचित्रम्।···एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च । खं वायु र्ज्योतिरापः पृथिवी विश्वस्य धारिणी' ॥ कै० १४,१५ ॥ आदि श्रुतियों का अनुसन्धान करना चाहिये।

होने का इतना ही अर्थ है कि अपना-अपना कार्य छोड़कर मन के अधीन[1] हुए रह जाना, वस्तुतः (मन से) एकमेक होना तो (अर्थ) नहीं है, कारण कि श्रोत्र आदि का उपादान कारण मन नहीं है (और) उपादानकारण से भिन्न वस्तु में वस्तुतः एकमेक हो जाना (मुख्य एकत्व) युक्तिसंगय नहीं। इस अभिप्राय से 'मानो' कहा।— 'तेन' इसलिये 'तर्हि' उस स्वप्नकाल में देवदत्त आदि रूप यह (प्रत्यक्ष-सिद्ध) पुरुष न सुनता है, न देखता है, न सूँघता है, न चखता है, न छूता है, न बोलता है, न पकड़ता है, न (उपस्थसाध्य) सुख भोगता है, न (पायुसाध्य) त्याग करता है (और) न जाता है—गति-अर्थ वाले इण् (अद. प. अनि.) धातु का यङ्प्रत्ययान्त[2] यह (ईयायते) रूप है, अतः 'नेयायते' का अर्थ है—'जाता नहीं है'। (इस अवस्था में स्थित व्यक्ति को) सांसारिक[3] लोग 'यह सो रहा है' ऐसा कहते हैं॥ २॥

[4]"(करणों के सो जाने पर) इस शरीररूप पुर में प्राणरूप अग्नियाँ ही जागती रहती हैं। यह अपान ही प्रसिद्ध गार्हपत्य[5] अग्नि है क्योंकि

१. यद्यपि जाग्रत् में भी इंद्रियाँ मनोऽधीन हैं तथापि वे मन को विषयों की ओर आकृष्ट भी करती हैं 'हरन्ति प्रसभं मनः' (गी० २.६०)। स्वप्न में वे यह भी नहीं करती तथा अपना दर्शन आदि कार्य तो नहीं ही करती अतः वन्दी की तरह पूरी तरह अधीनता है।
२. यद्यपि 'धातोरेकाचो हलादेः क्रियाभिसमभिहारे यङ्' (३.१.२२) से पौनः पुन्य या अधिक अर्थ बताने के लिये एकाच् हलादि (व्यंजन से प्रारंभ होने वाले) धातु से यङ् का विधान है और इण् धातु हलादि नहीं है (स्वरादि है) तथापि छान्दस प्रयोग होने से कोई दोष नहीं है।
३. शास्त्रीय विद्वान् तो स्वप्न व सुषुप्ति में अन्तर करते हैं, यह तात्पर्य है।
४. द्वितीय प्रश्न का उत्तर है। यहाँ प्राणादि वृत्तियों की अग्निरूपता उपासनार्थ बतायी है : 'प्राणानामग्नित्वमुपपादयति प्रसंगेनोपासनार्थम्' (दीपिका); 'प्राणान् यागादिरूपेण ध्यात्वा यागफलं व्रजेत्' (अनुभूतिप्रकाश ७.५८)।
५. 'गृहपतिना संयुक्ते ञ्यः' (४.४.९०) सूत्र से गृहपति अर्थात् यजमान द्वारा सर्वदा रक्षणीय अग्निविशेष का नाम गार्हपत्य है। वृत्ताकार कुण्ड में यह अग्नि आहिताग्नियों को हमेशा सुलगायी रखनी पड़ती है। इससे रोज़ अग्नि लेकर—अर्थात् इसमें लकड़ी डाल कर बढ़ाने के बाद इससे

(जैसे अग्निहोत्र काल में) गार्हपत्य अग्नि से आहवनीय अग्नि का प्रणयन[1] किया जाता है (वैसे अपानवृत्ति से मानो प्राण का) प्रणयन किया जाने से [वही प्रणयन कहाने वाली गार्हपत्य अग्नि है]। प्राणवृत्ति ही आहवनीय अग्नि है। व्यानवृत्ति अन्वाहार्यपचन (नामक तीसरी दक्षिणाग्नि) है॥ ३ ॥"

'कौन सोते हैं ?' इस प्रश्न का यह उत्तर बताकर कि विषयों समेत बाह्य इन्द्रियाँ सोती अर्थात् अपने व्यापारों से उपरत होती हैं, अतः जगना भी उन्हीं का धर्म (अवस्था) है (आत्मा का नहीं); (अब) 'कौन जागते रहते हैं ?' इस दूसरे प्रश्न का उत्तर देते हैं—श्रोत्र आदि बाह्य इन्द्रियों के सोये होने पर नौ[2] दरवाजों वाले इस शरीर रूप पुर में 'प्राणाग्नयः' प्राण आदि पाँच वायुविकाररूप वृत्तियाँ, प्राणों की अग्निरूपता गुणसम्बन्ध[3] से है यह बताते हैं—जो अग्नियों[4] की तरह होने से अग्नियाँ हैं, जागती रहती हैं। (श्रुति) अग्नियों से समानता को ही बताती है—यह अपानवृत्ति निश्चय ही प्रसिद्ध गार्हपत्य अग्नि है। क्यों ? यह बताती है—'क्योंकि गार्हपत्य अग्नि से प्रणयन किया जाता है; प्रणयन किये जाने से' इस ('व्यानवृत्ति अन्वाहार्यपचन है' इस

जलती लकड़ी लेकर—पूर्व दिशा में स्थित वर्गाकार कुण्ड में स्थापित करते हैं जिसमें आहुतियाँ दी जाती हैं। अत एव—'आहूयते आज्यादिरस्मिन्' इस व्युत्पत्ति से—उसे आहवनीय अग्नि कहते हैं। पुनः गार्हपत्य से अन्य जलती लकड़ी लेकर अर्धवृत्ताकार कुण्ड में अग्नि स्थापित की जाती है जो दक्षिणाग्नि कहाती है। इसे ही अन्वाहार्यपचन भी कहते हैं। हल्के गर्म किये चावल, जो कि ऋत्विगों को दक्षिणारूप में दिये जाते हैं, वे इसी दक्षिणाग्नि में गर्म किये जाते हैं अतः उसे अन्वाहार्यपचन कहते हैं। अग्निहोत्री को इन तीन अग्नियों की आवश्यकता रहती है अतः उपासना में तीनों का अध्यास बताया है।

१. गार्हपत्य अग्नि से (अन्य कुण्डों में) अग्नि ले जाने का नाम प्रणयन है।
२. आँखों के दो छेद, नाक के दो छेद, कानों के दो छेद, मुँह का एक छेद, तथा उपस्थ व पायु के एक-एक छेद—ये नौ दरवाजे उपनिषदों में (श्वे. ३.१८) व स्मृतियों में (गी. ५.१३) प्रसिद्ध हैं।
३. स्वयं गुणों को श्रुति अनुपद बता रही है।
४. तीनों अग्नियाँ समझनी चाहिये।

वाक्य से) अन्तरित[1] भी वाक्य को अपानवृत्ति की गार्हपत्यरूपता में हेतु के रूप में सम्बन्धित करते हैं- क्योंकि अग्निहोत्र करते समय गार्हपत्य अग्नि से आहवनीयनामक दूसरी अग्नि ले जायी जाती है अतः 'इससे ले जाया जाता है' (इससे प्रणयन–ले जाना–किया जाता है) इस व्युत्पत्ति से; 'प्रणयन किया जाने से'—यह वाक्यखण्ड (शब्द) गार्हपत्य की विशेषता बताने वाला है[2], यह सूचित करते हैं—गार्हपत्य अग्नि 'प्रणयन' है। (अपान के गार्हपत्यसादृश्यमूलक) वाक्य की तरह 'प्राणवृत्ति ही आहवनीय अग्नि है'—यह वाक्य (प्राण के आहवनीय-सादृश्यमूलक) है; (अभिप्रेत) सादृश्य बताकर इसकी व्यख्या करते हैं—ऐसे ही सोये व्यक्ति की अपानवृत्ति से मानो प्राण ले जाया जाता है (और वह) मुंह व नासिका द्वारा चलता रहता है इसलिये प्राण आहवनीय की जगह है।[3] गार्हपत्यरूप से बताये अपान के अन्दर जाते हुए बाहर निकलता प्राण उससे निकलता हुआ सा लगता है, इसलिये प्राण आहवनीय है, यह तात्पर्य है। 'व्यानवृत्ति अन्वाहार्यपचन है' इस बचे हुए वाक्य का अब व्याख्यान करते हैं—व्यान तो हृदय से दक्षिण

---

१. श्रुतिवाक्य का अनुवाद तो भाष्यानुसारी अन्वय को मान कर है। श्रुति का पाठक्रम इस प्रकार है—'इस शरीर रूप पुर में प्राणरूप अग्नियाँ ही जागती रहती हैं। यह अपान ही प्रसिद्ध गार्हपत्य है। व्यान अन्वाहार्यपचन है। क्योंकि गार्हपत्य से....' इत्यादि। अतः अपान की गार्ह्यपत्यता बताने और 'क्योंकि' आदि से उसमें कारण बताने के मध्य में व्यान का विषय आ गया है। अर्थक्रम की प्रधानता होने से भाष्यकार ने व्यान प्रसंग को बीच में न रख पहले अपान का विषय समझाया है जिसके लिये मध्य के वाक्य को लाँघ गये हैं। बिना कारण श्रौत क्रम छोड़ना अनुचित होने से क्रम त्याग में टीकाकार ने उपपत्ति दी है। [क्रम विषयक विचार पहले (मुं० २.१.३ टिप्प.) किया जा चुका है]।

२. यथा गार्हपत्यात्प्रणीयते तथाऽपानात्प्रणीयत इत्यपानो गार्हपत्यः। यथा पुनरावहनीयः प्रणीयत एवं प्रणयनात्प्राणआहवनीय इति योजना संभवे भाष्याभिमतयोजनेह दर्शिता। वस्तुतस्तु भाष्य उभयथा प्रणयनात्पदं योजितम्।

३. भाष्यस्थ 'मानो' शब्द की व्याख्या करते हैं।

वाले छेदरूप दरवाजे से निकलने वाला होने के कारण दक्षिणदिशा के सम्बन्ध से अन्वाहार्यपचन (नामक) दक्षिणाग्नि है। छान्दोग्य उपनिषत् में गायत्री-उपासना के प्रसंग में (३.१३) 'प्रकृत इस हृदय के पाँच देवरक्षित छेद हैं' यों प्रारम्भ कर 'और जो उसका दक्षिणदिशा वाला छेद है उससे सम्बद्ध वायु व्यान है और उससे सम्बद्ध इन्द्रिय श्रोत्र है' यह कहने से व्यान का दक्षिणदिशा वाले छेद से निकलना बताया है। अतः अन्वाहार्यपचन से व्यान की (यह) समानता है (कि दोनों) दक्षिणदिशा से सम्बन्धित हैं। इसलिये व्यान अन्वाहार्यपचन है, यह अर्थ है ॥ ३ ॥

"साँस लेना व छोड़ना—ये आहुतियाँ हैं। क्योंकि इन आहुतियों को बराबर चलाता है इसलिये वह समानवायु हवन करने वाला ऋत्विक् है। प्रसिद्ध मन ही यजमान है। उदानवायु ही प्रार्थित फल है क्योंकि वह इस यजमान को प्रतिदिन अक्षर ब्रह्म में ले जाता है ॥ ४ ॥"

और इस अनुच्छेद में अग्निहोत्र का 'होता' अर्थात् होम करने वाला ऋत्विक् (आहुति-प्रतिपादक की अपेक्षा) अगले वाक्य द्वारा बताया जा रहा है;—इतना जोड़ लेना चाहिये। साँस लेने व छोड़ने की आहुतिरूपता पूर्वप्रसंग में निश्चित की हुई न होने से इस अनुच्छेद में उन्हें यों बताना मानो वे आहुतिरूप में निश्चित हैं, संगत नहीं; और 'वह समानवायु' इस प्रकार आये 'वह'-शब्द का [इसी अनुच्छेद के किसी पूर्वस्थित शब्द से] सम्बन्ध न होने से (इस अनुच्छेद के एक भाग के) तीन वाक्य बनाकर तीन ढंगों से (शब्दों को) जोड़ते हैं—[1]'साँस लेना व छोड़ना आहुतियाँ हैं क्योंकि आहवनीय अग्नि में होने वाली अग्निहोत्र की आहुतियों को तरह (इनमें) सदा ही दो की[2] संख्या की समानता होती है। यह पहला वाक्य है। 'यत्' क्योंकि ये आहुतियाँ हैं और क्योंकि शरीर की स्थिति बनाये रखने के लिये इन्हें 'समं नयति' बराबरी से जो वायु चलाता है अर्थात् प्रवृत्त करता है, 'इति' इसलिये अर्थात् आहुतियों को चलाने वाला होने से, (पूर्व में) अग्निरूप से कहा

---

१. टीकोक्त अन्वय के अनुसार भाष्यानुवाद होने से अन्वय बोधक टीका वाक्यों का पार्थक्येन अनुवाद नहीं है।

२. अग्निहोत्र में नित्य प्रातः व सायं दो दो आहुतियों का विधान है। साँस लेना व छोड़ना भी दो हैं।

होने पर भी वह वायु हवन करने वाला ऋत्विक ही है; जैसे अग्निहोत्र में होम करने वाला (ऋत्विक्) दोनों आहुतियों को आहवनीय अग्नि की ओर बराबर ले जाता अर्थात् पहुँचाता है वैसे (साँस लेना व छोड़ना—इसे चलाने वाला होने से वह वायु हवन करने वाला है)। यह दूसरा वाक्य है। वह कौन वायु है? इस प्रकार वायु के उस खास स्वरूप का प्रश्न होने पर (जो ऋत्विक रूप से विवक्षित है; यह उत्तर है—) 'सः' वह हवन-कर्ता वायु समान है। यह तीसरा वाक्य है। इस प्रकार (यजमान-बोधक भाग के पूर्व के अनुच्छेद के तीन) टुकड़े हैं। 'प्राणरूप अग्नियाँ' (प्र०४.३) इस पूर्व अनुच्छेद में सब प्राणों को अग्निरूप से कह दिया होने से वर्तमान अनुच्छेद में (प्राण-विशेष) समान को हवनकर्तारूप से कैसे कहा जा रहा है? यह शंका कर (इसके समाधानार्थ) कहा—'अग्निरूप से कहा होने पर भी'। तात्पर्य है कि (सांस लेना व छोड़नारूप) आहुतियों को चलाने वाला होने से (समानवायु की) होम-कर्तृरूपता निश्चित होने के कारण (पता चलता है कि प्राणों को) अग्नि कहना छत्रिन्याय से[1] अग्नियों व गैर-अग्नियों के समुदाय को लक्षणा से[2] कहना था। तीनों अवस्थाओं में रहने वाले साँस लेना, छोड़ना तथा प्राणों को अग्निहोत्र के (निष्पादक) अवयवों के रूप में प्रतिपादित करने का उपासना (बताना) प्रयोजन नहीं क्योंकि (यह) सब विशेषताओं से रहित आत्मा का प्रकरण है (सविशेष उपासना का सन्दर्भ नहीं), और वैसी उपासना की विधि (प्रकृत स्थल में) की भी नहीं गयी है; तो किस (प्रयोजन से ऐसा कहा है)? इन्द्रियाँ अपने व्यापार छोड़ देती हैं, प्राण

---

१. छाताधारी व गैर छाताधारी व्यक्तियों के समुदाय को सर्वथा गैर छाताधारियों के समुदाय की अपेक्षा पृथक् बताने के लिये 'छाताधारियों का समुदाय' कह देते हैं व छाताधारीशब्द छाताधारियों व उनके संनिकट-स्थित गैर छाताधारियों को उपलक्षणा से बोधित करता है। इस प्रकार छाताधारियों व गैर छाताधारियों के समुदाय को 'छाताधारियों का समुदाय' कहना छत्रिन्याय कहलाता है। 'छत्रिणो गच्छन्तीत्येकेनापि छत्रिणा बहूनां छत्रित्वोपचारदर्शनात्' (ब्र० सू० भा० १.२.११)।

२. अर्थात् उपलक्षणा से। अजहत्स्वार्थलक्षणा से अन्य का भी ग्रहण उपलक्षणा कहाता है।

अपने व्यापार करते रहते हैं—इस प्रकार (प्रत्यगात्मरूप) त्वंपदार्थ के विवेकरूप[1] ज्ञान की स्तुति ही (प्रयोजन है), यह बताते हैं—तो इसलिये आत्मज्ञ[2] का सोना भी अग्निहोत्र-हवन ही है। अतः आत्मवेत्ता कर्म न करने वाला है ऐसा नहीं मानना चाहिये, यह अभिप्राय है। 'सोते हुए के भी सर्वदा सब (वाणी आदि) भूत (अग्नि-) चयन करते हैं' ( ) ऐसा शतपथ ब्राह्मण में कहा ही है। शतपथ में 'वाणी इकट्ठी की हुई अग्नि है, प्राण इकट्ठी की हुई अग्नि है, चक्षु इकट्ठी की हुई अग्नि है' ( ) इत्यादि के द्वारा सब इन्द्रियों व प्राणों की प्रत्येक चेष्टाओं में अग्नि इकट्ठी की होने की दृष्टि (उपासना) का विधान कर ऐसी दृष्टि वाले उपासक के सब (वाणी आदि) भूत उसके सोते समय भी (अग्नि-) चयन करते हैं—इस प्रकार वह दृष्टि (प्राण व्यापारों में अग्निचितत्त्व दृष्टि) प्रशंसित की गयी ही है, उसी प्रकार यहाँ भी (आत्मवेत्ता की प्रशंसा है) यह अर्थ है। यहाँ[3] मन यजमानरूप से कल्पित किया जा रहा है। इस कल्पना में दो कारण बताते हैं—(१) यजमान की तरह शरीर व इंद्रियों में प्रधान होकर ठीक-ठीक व्यवहार करने वाला होने से (और) (२) स्वर्ग को (यजमान की) तरह, ब्रह्म को जाने वाला होने से मन यजमान है यह प्रसिद्ध ही है। दोनों हेतुओं को (मन में) सिद्ध करते हैं—यहाँ स्वप्नकाल में प्राणरूप अग्नियों के जागते हुए बाह्य कारणों को अपने अपने व्यापार से विरत कर और (न देखने के कारण) विषयों को (भी) अविद्यमानसम कर मन जागता है (अर्थात्) प्रधानता से अपनी चेष्टायें करते हुए रहता है (अतः यजमान है)। अग्निहोत्र के फलरूप स्वर्ग को जैसे यजमान जाना चाहता है वैसे सुषुप्तिकाल में स्वर्गरूप (सुखरूप) ब्रह्म को मन जाना चाहता है (इसलिये मन यजमान)। उदानवायु ही 'इष्टफलम्' याग का फल है क्योंकि चाहे जाने वाले फल की प्राप्ति उदानवायु के कारण होती है। उदानवृत्ति के कारण[4] होने वाले मरण के बाद

---

१. जगना-सोना ये अवस्थायें इन्द्रियों व प्राणों के काम करने या न करने की हैं मुक्त प्रत्यगात्मा की नहीं—यह विवेक है।

२. टीकाद्यनुरोधतः प्रसंगानुकूल्यायात्मज्ञ एव स्तूयत इति मन्तव्यम्।

३. यहाँ भी टीकानुसारी अन्वय, आवृत्ति, अध्याहार आदि कर अनुवाद है।

४. प्र. ३.७।

याग आदि का फल प्राप्त होने के कारण उदानवृत्ति फल प्राप्ति के प्रति कारण होने से कारण (उदान) में कार्य (फल) का अभेद मानकर उदान प्रार्थित फल के रूप में कल्पित किया जा रहा है, यह तात्पर्य है। केवल मरण-द्वारा याग के फल तक पहुँचाने वाला उदान हो (इतना ही) नहीं, किन्तु 'इसी आनन्द (रूप ब्रह्म) के टुकड़े का अन्य लोग उपजीवन[1] करते हैं' (बृ० ४.३.३२) इस श्रुतिवचन से सब यागफल भी ब्रह्मरूप होने के कारण उस ब्रह्म तक (सुषुप्ति में) पहुँचाने वाला होने से भी उदान प्रतिदिन प्रार्थित फल प्राप्त कराने वाला है; इसे प्रश्न उठाकर समझाते हैं-(उदान के कारण प्रार्थित फल की प्राप्ति) कैसे? वह उदान मन नामक यजमान को मन का जो स्वप्नवृत्ति-आत्मक रूप है उससे[2] भी हटाकर प्रतिदिन सुषुप्तिकाल में (जो) अक्षर ब्रह्म स्वर्ग ही है (उस तक) पहुँचा देता है। सब यागफलरूप स्वरूप ही[3] (जो) अक्षर ब्रह्म है (उस तक) पहुँचाता है, यह अर्थ है। यद्यपि हर रोज़ (सुषुप्ति में) ब्रह्म की प्राप्ति याग से होने वाला फल नहीं, क्योंकि याग न करने वालों को भी वह (ब्रह्म) प्राप्त हो जाता है, तथापि क्योंकि ब्रह्म ही सब यागफलरूप है इसलिये उस तक पहुँचाने वाला उदान प्रार्थित फल तक पहुँचाने वाला है. यह तात्पर्य है।[4] यह शंका नहीं करनी चाहिए कि उदान कैसे मन को ब्रह्म तक पहुँचाता है; क्योंकि उदान सुषुम्नानाडी में चलने वाला होने से वह मन को उस नाडी में घुसाते हुए उस नाडी में स्थित ब्रह्म तक पहुँचाता है, यह संगत है[5]। अतः उदान याग के फल की जगह है।

---

१. अर्थात् किसी भी प्राणी को जो भी कोई सुख होता है वह ब्रह्मसुख का एक टुकड़ा भर है।

२. मनसो यत्स्वप्नवृत्त्यात्मकं रूपं तस्मादिति विग्रहः।

३. यागफल सुखरूप होता है, वही है स्वरूप ब्रह्म का; यह अर्थ है। '...स्वर्गरूपमेव...' ऐसा पाठ भी सम्भावित किया जा सकता है।

४. अर्थात् 'इष्टफलमुदानः' प्रतिपाद्य है, 'अहरहर्ब्रह्म गमयति' नहीं। उदान की इष्टफलप्रापकता में हेतु है उसका मन को रोज़ ब्रह्म तक पहुँचाना।

५. हृदय बुद्धि का स्थान है। जागरित में नाडियों द्वारा वह हृदय से निकलती है व सोने के लिये पुनः नाडियों द्वारा लौट कर हृदय में आ जाती है। सब नाडियों से आने के कारण सुषुम्ना से भी आती है।

प्रश्न होता है कि 'यह अपान ही प्रसिद्ध गार्हपत्य अग्नि है' (४.३) यहाँ से प्रारंभ कर 'प्रसिद्ध मन ही यजमान है' (४.४) यहाँ तक के ग्रन्थ के द्वारा 'आत्मज्ञ कर्म न करने वाला नहीं होता' इस प्रकार (आत्मज्ञ की) स्तुति की जा रही है यह बताया; (वह ग्रन्थ-भाग) इस प्रकार के तात्पर्य वाला भले ही हो क्योंकि उस ग्रन्थभाग में अग्निहोत्र आदि कर्म की (अपानादि प्रतिनिधियों द्वारा) प्रतीति होती है; किन्तु उदान को याग के फल की जगह बताने का वह ('आत्मज्ञ कर्म न करने वाला नहीं होता' इस प्रकार आत्मज्ञ की स्तुति करना रूप) फल नहीं हो सकता, क्योंकि उदान को यागफल-स्थानीय बताने वाले ग्रन्थभाग में (अग्निहोत्रादि) कर्म की प्रतीति नहीं होती। अतः (यह ग्रंथभाग कैसे स्तुति करता है यह) बताते हैं—इस प्रकार श्रोत्रादि के अपने व्यापारों को छोड़ने के समय से लेकर जब तक (आत्मज्ञ) सो कर उठता है तब तक आत्मज्ञ को सब यागफलों का अनुभव होता ही है, आत्मा को न जानने वालों की तरह (जानकार की सुषुप्ति) बेकार नहीं जाती—यों जानकारी की प्रशंसा की जा रही है। 'जानकारी' का तात्पर्य 'श्रोत्रादि स्वप्नावस्था में अपने कार्यों से उपरत हो जाते हैं, प्राण ही जागते हैं (वह अवस्था मुझ आत्मा की नहीं)' इस प्रकार के ज्ञान से है। और क्योंकि यह ज्ञान 'जागना (जागरित अवस्था) श्रोत्र आदि बाह्य इन्द्रियों की (व्यावृत रहना रूप) विशेषता है, शरीर की रक्षा करना प्राण की विशेषता है, (ये दोनों) आत्मा की विशेषता नहीं' इस प्रकार प्रत्यगात्मा को उसके मिले जुले रूप से पृथक् कर जानना रूप है, इसलिये इसका प्रशंसायोग्य होना संगत है। इसी के द्वारा[1] 'प्राण का जागना गैर जानकार का भी समान होने से (वह बताने से) जानकारी की प्रशंसा कैसे?' यह शंका भी हटा दी; क्योंकि गैर जानकार को इस प्रकार प्रत्यगात्मा का मिले जुले रूप से पृथक् किया

सुषुम्ना में उदान का संचार है ही। 'उस नाडी में स्थित' का तात्पर्य है 'वह नाडी जिस हृदय में स्थित है उसमें स्थित'। इस विषय में बृ० २.१.१९ दर्शनीय है। वहाँ नाडियों को 'हित' शब्द से कहा है और 'पुरीतत्' शब्द से शरीर को कहा है।

१. जानकारी की प्रशंसा द्वारा जानकार की स्तुति है यह बताने के द्वारा।

ज्ञान न होने से (वह यह जानता ही नहीं कि शरीररक्षणादि आत्मा की विशेषता नहीं)।

उपासना का[1] प्रसंग होने से यह मानना चाहिये कि इस जानकार के श्रोत्र आदि का उपरम आदि[2] सब होता है यह (शास्त्र द्वारा बताया जा रहा है), स्तुति क्यों मानना ?– यह शंका कर, (क्योंकि श्रोत्रादि का उपरत होना और प्राणों का जागते रहना) स्वयं ही जानकार व गैर जानकार दोनों को समान रूप से होते हैं (इसलिये ये) इस योग्य नहीं कि शास्त्र इनका ज्ञापन कराये[3], यह समाधान देते हैं– आत्मज्ञ के ही श्रोत्रादि अपने व्यापार से उपरत होते हों या (उसी की) प्राणरूप अग्नियाँ जागती हों (और) जागरित व स्वप्न में (उसी का) मन स्वतन्त्रता का अनुभव करते हुए रोज़ सुषुप्ति को प्राप्त होता हो, ऐसा नहीं है। समान रूप से[4] सब प्राणियों को क्रम से[5] जाग्रत्, स्वप्न व सुषुप्ति को प्राप्ति होती है। अतः यह विद्या की[6] प्रशंसा ही संगत होती है। श्रोत्रादि 'मनरूप परमदेव में मिल जाते हैं', (४.२), 'प्राणरूप अग्नियाँ ही जागती रहती हैं' (४.३) इन वाक्यों में त्वम्पदार्थ का विवेकरूप ज्ञान बताना अभीष्ट है, वह ज्ञान 'यह अपान ही प्रसिद्ध गार्हपत्य अग्नि है' (४.३–४) इत्यादि वाक्यों द्वारा उक्त ढंग से[7]

१. प्रष्टा स्वमत से उपासनाप्रकरण मानकर पूछ रहा है।

२. प्राण जागरणादि आदिशब्दार्थ है।

३. 'अज्ञाते (अप्राप्ते) शास्त्रमर्थवत्' न्याय है। ज्ञातज्ञापन होने पर अनुवाद होने से अप्रामाण्य हो जायेगा यह अर्थ है। यद्वा, शास्त्रद्वारा विद्वान् को इन्हें करने की विधि की जा रही है—यह पूर्वपक्ष और स्वयं तथा विद्वान् और अविद्वान् को समान रूप से हो जाने के कारण इन्हें करने की विधि व्यर्थ है यह उत्तर समझ लेना चाहिये। ऐसा पूर्व पक्ष असंभावित होने से ज्ञापन ही विधानपदार्थ समझना उचित है।

४. आत्मा के ज्ञान आदि के किसी भेद की अपेक्षा किये बिना।

५. युगपत् अनेक अवस्थायें नहीं होती इतना ही विवक्षित है। जाग्रत् के बाद स्वप्न ही हो, सुषुप्ति नहीं इत्यादि क्रम विवक्षित नहीं।

६. विद्वत्ता = विद्या।

७. विद्वान् की सदा विद्यानिमित्तक कर्मिता व नित्य ब्रह्मप्राप्ति बताना 'उक्त ढंग' है।

प्रशंसित किया जा रहा है; यह अर्थ है ॥ ४ ॥

तीसरे प्रश्न के उत्तररूप से 'यह मनरूप'[१] से 'सब हुआ देखता है' तक के अनुच्छेद की व्याख्या करते हैं—जो पूछा था, 'शरीर, प्राण, मन आदि में कौन सा देव स्वप्नों को देखता है?' (४.१) वह[२] बताती है—

"यह मनरूप देव श्रोत्रादि के उपरत हो जाने पर स्वप्न में विषय-विषयिरूप से अपने विलास का अनुभव करता है। जो बार-बार देखा[३] है उसे (स्वप्न में) देखता है। बार-बार सुनी बात ही (स्वप्न में) पुनः सुनता है। विभिन्न देशों के कारण व विभिन्न दिशाओं के कारण विशेषतः[४] अनुभूत वस्तु का (स्वप्न में) बार-बार स्पष्ट अनुभव करता है। इस जन्म में देखे, सुने, अनुभूत को व इस जन्म में न देखे[५], न सुने, अनुभूत न हुए को, व्यावहारिक, प्रातिभासिक सबको देखता (अनुभव करता) है; सब हुआ[६] देखता है ॥ ४ ॥"

'अत्र' इस श्रुत्युक्त शब्द का ग्रहण कर समझाते हैं—श्रोत्रादि के उपरत हो जाने पर (और) देह की स्थिति बनी रहे इसलिये प्राण आदि वायुवृत्तियों के जागते रहने पर, गहरी नींद आने से पहले—इस बीच में (जाग्रत् व सुषुप्ति के बीच में) जैसे सूर्य की रश्मियाँ (सूर्य में इकट्ठी हो जाती हैं) वैसे अपने में श्रोत्रादि करणों को समेट चुका यह (मन नामक) देव स्वप्न में 'महिमानम्' विषय-विषयि रूप[७] अनेक स्वरूपता

---

१. "···उत्तरत्वेन 'अत्रैप' इत्यादि···' इति पाठेन भवितव्यम्, एवमेव मत्वानूदितम्। यद्वा, 'कतरएपइत्यादि-तृतीयप्रश्नोत्तरत्वेन सर्वः···' इति भवेत्। यथाश्रुत एव तु 'तृतीयप्रश्नोत्तरत्वेन' इत्यस्य व्याख्या 'कतर एप इत्यादि यत्तृतीयं प्रश्नं तदुत्तरत्वेन' इत्यध्याहृत्य कथंचिद्योज्यम्।

२. जो देखता है उसे श्रुति बताती है—यह अर्थ है।

३. 'पदाभ्यासो वासनाप्राबल्यमाह'—दीपिका।

४. 'प्रति प्रकर्षेण, न केवलमित्यर्थः'—दीपिका।

५. 'स्वप्नादिवद् दृष्टम्' इति दीपिकायां विकल्पितोऽर्थः।

६. सर्वविपयकवासनावत्त्वात्सर्वः सन् सर्वं पश्यतीत्यर्थः। दीपिकायान्तु 'सर्वो निखिलदेवतिर्यगादिरूपः सन्नि' त्युक्तम्। उपनिषद्योगी तु 'सर्वमनोपाधित्वेन सर्वकरणत्मा देवः स्वप्नान्पश्यति, स्वप्नोपाधिमनसोऽपाये न किंचित्पश्यतीत्यर्थं' इति व्याख्यात्।

७. स्वाप्न दृश्याकार व स्वाप्न द्रष्टाकार मन ही बनता है।

की प्राप्तिरूप—अर्थात् विषयि-विषय आदि[1] अनेक रूप होना, यह ('महिमानम्'-महत्ता को—इस प्रकार श्रुतिप्रोक्त) महत्ता का ही व्याख्यान है—वैभव को 'अनुभवति' (स्फुटतया[2]) प्राप्त होता है।

स्वप्न देखने वाले जीव की स्वतन्त्रता बताने योग्य होने पर देव-नामक मन की स्वतन्त्रता बताना यह स्पष्ट करने के लिये है कि स्वप्न मन की विशेषता (अवस्था) है, आत्मा की विशेषता (अवस्था) नहीं; आत्मा में तो लोगों को उसका केवल अध्यास होता है। इसे शंका और उसके समाधान द्वारा बताते हैं—वैभव अनुभव करने में अनुभवकर्त्ता का समाधान मन है, वह स्वतन्त्रता से अनुभव करता है यह कैसे कहा जा रहा है, स्वतन्त्रतो क्षेत्रज्ञ[3] (जीव) है ? यह [मन को अनुभव करने वाला कहना] गलत नहीं क्योंकि क्षेत्रज्ञ की स्वतन्त्रता मनरूप उपाधि के कारण[4] है, क्षेत्रज्ञ स्वयं ही[5] वस्तुतः सोता या जागता हो, ऐसा नहीं है। मनरूप उपाधि के कारण ही उसका (क्षेत्रज्ञ का) जागना व सोना है। बाह्य[6] इन्द्रियों समेत मनरूप उपाधि के कारण जागना और केवल मनरूप उपाधि के कारण सोना (स्वप्न) है, यह अर्थ है। यह बृहदारण्यक में बताया है, 'बुद्धि से एकता को

---

१. आदि से विषय वैविध्य समझना चाहिये।

२. स्वप्न में यह वैभव, यह महिमा, प्रकट होता है।

३. महाभूत, अहंकार, बुद्धि, अव्याकृत ग्यारहों इंद्रियाँ, पाँचों इंद्रियविषय, इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख, देहेन्द्रिय समूह, चेतना (वृत्तिरूप), धृत्ति—ये क्षेत्र हैं (गी० १३.५-६), इन्हें जनाने वाला क्षेत्रज्ञ है। यद्यपि क्षेत्रज्ञ परमात्मा ही है (गी० १३.२) तथायि प्रसिद्धिवशात् यहाँ जीवरूपता विवक्षित है।

४. व्यवहारमात्र उपाधिद्वारक होने से आत्मस्वातन्त्र्य अर्थात् सोने, जागने आदि में स्वतंत्रता से प्रवृत्ति करना भी उपाधि से ही होता है। सत्ता-स्फूर्ति का स्वातन्त्र्य स्वतन्त्र है। वह यहाँ विवक्षित नहीं।

५. उपाधि-परामर्श के बिना।

६. जाग्रदवस्था में बाह्येन्द्रिय पर्यन्त उपाधिता होने से 'मन रूप उपाधि के कारण ही' यह कैसे कहा ? यह शंका कर जागरण के प्रति कारण होते हुए बाह्येन्द्रिय सहित मन विवक्षित होने से कथन समंजस है यह परिहार करते हैं—बाह्येत्यादि से।

प्राप्त आत्मा स्वप्न के आकार में परिणत बुद्धिवृत्ति का अवभासक होने से तदाकार होकर···[१] मानो ध्यान करता है, मानो चंचल होता है', (माध्यंदिन[२] बृ० ४.१.७) इत्यादि। क्योंकि स्वप्न, बुद्धि शब्द से कहे जाने वाले मन का कार्य है इसलिये श्रुति में 'तदाकार होकर (–स्वप्न होकर)' इस प्रकार आत्मा व स्वप्न का अभेद[३] बता दिया है यह समझना चाहिये। अतः वैभव का अनुभव करने में मन की स्वतंत्रता बताना संगत ही है।

प्रकृत [प्र० ४.५] श्रुति वैभव का अनुभव करने में मन की स्वतन्त्रता नहीं बता सकती (क्योंकि वैसा बताने पर) अन्य श्रुतिवचन (बृ० ४.३ ९)[४] का विरोध होगा, अतः यहाँ देव-शब्द से क्षेत्रज्ञ ही कहा जा रहा है, उसकी ही स्वयं[५] स्वतंत्रता है; यह शङ्का उठाते हैं—कुछ विचारक सोचते हैं कि स्वप्नकाल में मन रूप उपाधि के सहित होने पर (उस काल में) क्षेत्रज्ञ की स्वप्रकाशता अर्थात् स्वप्रकाशता बताने वाला श्रुतिवचन; यदि भाष्यस्थ 'स्वप्रकाशता' (स्वयंज्योतिष्ट्वम्) शब्द से तद्बोधक श्रुति न समझें तो जैसे (अन्य प्रकाशों के रहते भी) दीप आदि की (वास्तविक स्वप्रकाशता समाप्त नहीं होती) वैसे (मनरूप) दूसरी वस्तु के रहने पर भी (आत्मा की) वास्तविक स्वप्रकाशता का विरोध न होने से (भाष्यवाक्य असंगत होगा)। कट जायेगी। इस विचार पर (यह विकल्प है कि) मन के रहते, अर्थात् आत्मा से भिन्न प्रकाशरूप मन के रहने से, आत्मा की

---

१. 'ध्यायतीव लेलायतीव सधीः स्वप्नो भूत्वेमं लोकमतिक्रामति' यह वहाँ श्रौतक्रम है। 'इमम्' आदि का अर्थ है 'जागरित रूप व्यवहारास्पद कार्यकरण संघात में अभिमान छोड़ देता है'। स्वप्नावस्था में स्थित व्यक्ति को स्थूलदेह व बाह्येन्द्रियों में 'यह मैं हूँ' ऐसा निश्चय नहीं रहता। 'सधीः' आदि को पूर्वान्वित भी सूचित करने के लिये यहाँ क्रम में अंतर है।

२. काण्व शाखा में 'स हि' पाठ है।

३. क्योंकि आत्मा बुद्धि से एकता को प्राप्त है इसलिये बुद्धि के कार्य से भी उसका अभेद बताया है।

४. 'अत्रायं पुरुषः स्वयंज्योतिः'।

५. उपाधि परामर्श के विना।

स्वप्रकाशता समझना सम्भव नहीं, इस प्रकार श्रुति के कार्य की—(स्वप्रकाशता-) बोधनकी—असिद्धि होगी;—क्या यह अभिप्राय है, अथवा स्वप्रकाशता समझाना रूप कार्य हो सके इसके लिये मन का न होना भी श्रुति में विवक्षित है, और इसलिये मन के रहने पर [मन का रहना मानने पर] श्रुति का (विवक्षित) अर्थ ही कटेगा (यह अभिप्राय है) ? प्रथम विकल्प (संगत) नहीं, क्योंकि मन के रहते भी 'यदि ऐसा है तो' इत्यादि से[1] बताये जाने वाले ढंग से दृश्य (=विषय) होने के कारण मन की प्रकाशरूपता असंगत होने से [अप्रकाशरूप मन के रहते भी] आत्मा की ही स्वप्रकाशता समझायी जा सकती है;—यह कहते हैं—वह सोचना गलत है। दूसरा विकल्प (भी संगत) नहीं, (कारण कि) स्वप्नावस्था में मन का न होना श्रुति का (विवक्षित) अर्थ ही नहीं है;—यह बताते हैं—श्रुति के अर्थ को पूरी तरह न समझने से उन्हें भ्रम हुआ है। आत्मा में प्रकाशरूपता है—इसे समझाना रूप व्यवहार प्रकाश्य आदि[2] के सापेक्ष[3] होने के कारण प्रकाश्य के रहते ही और उसे (आत्मप्रकाशता को) समझने के साधन मन आदि[4] के रहते ही वह (आत्मप्रकाशता) समझायी जा सकती है, प्रकाश्य व समझने के साधन न होने पर समझायी नहीं जा सकती। इसलिये श्रुति सन्दर्भ[5] मन आदि का न होना विवक्षित नहीं क्योंकि वैसा हो तो आत्मस्वप्रकाशता समझायी नहीं जा सकती। यह बताते हैं—क्योंकि स्वप्रकाशता आदि व्यवहार भी मोक्ष के पहले तक ही

---

१. पृ० १८५ पं० ६ M. R. I.

२. 'आदि' से प्रकाश्यसम्बन्ध समझना चाहिये।

३. कुछ प्रकाशित करने से ही प्रकाश अपने को जतलाता है अतः प्रकाशित हो सकने वाली वस्तु की उसे अपेक्षा रहती है। अत एव तैत्तिरीय वार्तिकटीका में आनन्दगिरि स्वामी ने कहा है 'साक्षिणः साक्षित्वमपि वस्तुभूतं नास्ति' (२.९. ७२; पृ० ५८८ पं० २७ M. R. I.)। प्रकृत में इस सूचना के लिये व्यवहार पद है। चित्सुखीय स्वप्रकाशतालक्षण में 'योग्यस्य' पद का भी यह प्रयोजन समझना चाहिये।

४. तदाकार वृत्ति व उसकी उत्पत्ति के कारण आदि पदार्थ हैं।

५. वृ० ४.३.९ आदि स्वप्रकाशताबोधक स्थल।

रहने के स्वरूप वाला[1] है (और वह) सारा (व्यवहार) अविद्या के क्षेत्र में ही है (अतः) मन आदि उपाधियों के कारण होता है (स्वभावतः आत्मा में नहीं, इसलिये क्षेत्रज्ञ की स्वाभाविक प्रकाश-रूपता[2] समझना उनका भ्रम है)। इस विषय में प्रमाण देते हैं—'निश्चय ही, जहाँ मानो कुछ अन्य हो वहाँ कोई अन्य किसी अन्य को देखे' (बृ० ४.३.३१), किसी दूसरे के न होने पर व्यवहार नहीं होता इसमें भी प्रमाण देते हैं—'इसका तो मात्रा से—दृश्य से—सम्बन्ध नहीं होता'[3] (माध्यन्दिन बृ० ४.३.१५) सुषुप्ति में दृश्य का असम्बन्ध होने पर विशेषविषयक अनुभव न होना बताने से दूसरे के न होने पर व्यवहार नहीं होता यह तात्पर्य है। 'जहाँ[4] तो सब इसका आत्मा ही हो गया वहाँ किस साधन से[5] किस विषय को देखे' (बृ० ४.५.१५) इत्यादि श्रुतिवचनों से (प्रकाशन करना आदि द्वैतनिष्ठ अतः मिथ्या सिद्ध होता है)। इसलिये (पूर्वोक्त) दूसरा विकल्प सम्भव नहीं, इसका निगमन करते हैं—अतः कम समझदार ब्रह्मविचारकों की ही यह शंका है, न कि अद्वैत आत्मतत्त्व के जानकारों की।

---

१. आमोक्षमन्तो यस्य स इति विग्रहः। मर्यादायामाङ्। अन्तः स्वरूपम्, 'अन्तः स्वरूपे निकटे प्रान्ते निश्चयनाशयोः' इति हैमः।

२. इसका विपरीत अर्थ, कि आत्मा स्वभाव से अप्रकाश है, नहीं समझ लेना चाहिये। प्रकाशता का व्यवहार पारमार्थिक नहीं, इतना अभिप्रेत है।

३. विद्यारण्य स्वामी ने तो मात्रा का अर्थ इंद्रिय किया है और इन्द्रियसम्वन्ध से आत्मा का संसरण है स्वतः नहीं यह वाक्यार्थ वताया है : '…अस्य प्रकृतस्यात्मनः मात्रासंसर्गः चक्षुरादिकरणसम्वन्धो भवति। मीयन्ते विषया आभिस्ता मात्रा इति विषयप्रकाशहेतुभूतानि चक्षुरादिकरणानि मात्राः, ताभिः संसर्गः सम्वन्धः' (पृ० १२२ M.R.I.)। गीताभाष्य में (२.१४) भी मात्रा शब्द इसी अर्थ में है। प्रकृत टीकाकार ने 'न तु तद्द्वितीय-मस्ति ततोन्यद्विभक्तं यत्पश्येत्' (४.३.१६ आदि) आदि उत्तर वाक्यों को दृष्टि में रख तथा वर्तमान प्रसंग की अनुकूलता का विचार कर यहाँ 'असंसर्गः' ऐसा छेद माना और मात्रपद से विषयों को समझा है। श्रौत तात्पर्य में कोई विशेष अन्तर नहीं।

४. मुक्त आत्मरूप में।

५. साधन विषय व कर्ता से भिन्न होना चाहिये।

अगर (आत्मा की) स्वप्रकाशता समझाने के लिये मन आदि के न होने की जरूरत नहीं तो जागने की अवस्था में भी उसे समझाना सम्भव होने से स्वप्न बोधक 'इस अवस्था में'—यह विशेषण[1] व्यर्थ पड़ता है—यह शंका करते हैं—इस प्रकार (मन न होना अनावश्यक) होने पर 'इस अवस्था में यह आत्मा स्वप्रकाश होता है' (बृ० ४.३.९) इस वाक्य में ('इस अवस्था में' यह) विशेषण क्या व्यर्थ है ? क्या विशेषण के कारण (स्वप्न में) मन का न होना सिद्ध करना इष्ट है या केवल विशेषण का प्रयोजन पूछा जा रहा है ? प्रथम कल्प ठीक नहीं क्योंकि (स्वप्न में) मन का न होना मान लेने पर भी हृदय के अन्दर होने वाला आकाश और उससे (उस अवस्था में) आत्मा की सीमितता श्रुतिसिद्ध होने के कारण तुम शंकावादी के मत में भी उस अवस्था में स्वप्रकाशता समझाना असंभव होने से विशेषण की व्यर्थता (तुम्हारे मत में भी) समान[2] है, यह बताते हैं—इस प्रश्न पर (यह) कहा जाता है—(स्वप्न में मन रहने पर आत्मा की स्वप्रकाशता बताने वाली श्रुति कट जायेगी)—यह बहुत थोड़ा दोष दिया जा रहा है। 'जो यह हृदय के अन्दर आकाश[3] है, उसमें सोता है' (बृ० २.१.१७) इस प्रकार (उस अवस्था में) हृदय के अन्दर सीमित होने पर (आत्मा की) स्वप्रकाशता और अधिक कटेगी। सीमित करने वाला (हृदय, मन की अपेक्षा) अधिक स्थूल है इसलिये 'और अधिक' कहा। 'स्व-प्रकाशता' का तात्पर्य है स्वप्रकाशता समझाना। जैसे सुना गया है वैसा (अर्थात् 'स्वप्रकाशता'—इतना ही) मानने पर [बात गलत

१. 'इस अवस्था में (अर्थात् स्वप्न में) यह आत्मा स्वप्रकाश होता है' यह बृहदारण्यक का (४.३.९) वाक्य है।

२. आत्मातिरिक्त कुछ न होने पर ही आत्मस्वप्रकाशता समझायी जा सकती है यह शंकक का अभिमान है। अतः वह स्वप्न में मन का होना नहीं स्वीकारना चाहता। किन्तु मन से भिन्न और भी आत्मातिरिक्त वस्तुयें स्वप्न में अवश्य हैं। फलतः स्वप्न में आत्मस्वप्रकाशत्व नहीं ही समझाया जा सकेगा जिससे विशेषण निष्प्रयोजन ही रह जायेगा। 'हृदय के अंदर होने वाला आकाश'—यहाँ आकाश शब्द आत्मार्थक है अतः हृदय से ही सद्वितीयता समझनी चाहिये।

३. अर्थात् परमात्मा। 'उसमें'—उससे सम्पन्न हुआ। [द्र० छां० ६.८]।

होगी क्योंकि] वास्तविक स्वप्रकाशता के कटने की शंका नहीं की जा सकती। यद्यपि स्वप्न में हृदय के अन्दर आकाश (आत्मा) के रहने से स्वप्रकाशता ठीक-ठीक नहीं समझायी जा सकती यह दोष है, तथापि[1] स्वप्न में (शंकावादी के मत से) मन न होने से स्वप्रकाशता समझाने का प्रतिवन्धक न रह जाने के कारण [जहाँ[2] पूरी स्वप्रकाशता समझायी जा सकती है वहाँ से] कम दूरी रह जाने से स्वप्न में स्वप्रकाशता समझायी जा सकती है जिससे वह ('इस अवस्था में') विशेषण सार्थक है;—यह शंका करता है—यद्यपि यह ठीक है कि इस प्रकार यह दोष (हम पूर्वपक्षी के मत में भी) होगा, तथापि स्वप्न में (आत्मा) स्वप्रकाशात्मना अकेला होने से अर्थात् (वहाँ) मन न होने से आधा भार अर्थात् प्रतिबंधक तो हट जायगा? बाकी[3] समझाना तो सुषुप्ति अवस्था में होगा, यह अभिप्राय है। (यदि) ऐसा (आपका समझना) है तो सुषुप्ति में (आत्मेतर) सभी कुछ के न रहने के सहारे से ठीक-ठीक समझाना (आपके द्वारा) बताया जाना चाहिये,[4] किन्तु वह संभव नहीं (क्योंकि) उस अवस्था में भी बहुत प्रतिबंधक विद्यमान हैं; यह परिहार करते हैं—नहीं (हटेगा); वहाँ भी अर्थात् सुषुप्ति में भी 'शरीर में नाडियों में सोता है' ([5])

१. सिद्धांती ने पूर्ववादी के मत में यह दोष दिया था कि आत्मातिरिक्त कुछ न कुछ रह जाने से स्वप्न में मन न मानना निष्फल है। इसे अर्धाङ्गीकृत कर पूर्ववादी ने यह शंका उठायी है कि जाग्रत् की अपेक्षा तो स्वप्न में आत्मातिरिक्त कम ही वस्तुयें हैं अतः स्वप्रकाशता समझाने में सुविधा तो है ही। यह फल होने से उसके मतानुसार विशेपण सार्थक हो सकता है।

२. सुषुप्ति में 'प्रतिवन्धक न रह जाने से'=प्रतिवन्धक कम हो जाने से।

३. हृदय आदि की प्रकाशता की शंकानिवृत्ति पूर्वक।

४. अर्थात् यदि सुषुप्ति में आत्मभिन्न कुछ न रहे तव तो वही आत्म-स्वप्रकाशता पूरी तरह समझायी जा सके।

५. बृ० २.१.१९ 'पुरीतति शेते'। छां० ८.६.३ 'नाडीषु सृप्तो भवति'। आद्यवाक्ये पुरीतति शरीर इति तत्र भाष्यम्। द्वितीये च 'नाडिभिर्द्वारभूताभिर्हृदयाकाशं गतो भवतीत्यर्थः···नाडीष्विति सप्तमी तृतीयया परिणम्यत' इति भाष्यमिति ज्ञेयम्।

इस श्रुतिवचन से (आत्मा का) शरीर में नाडी-सम्बन्ध[1] बना रहने से वहाँ भी अर्थात् स्वप्न में भी आत्मा के स्वप्रकाशात्मना (स्थित होने को समझाने के) आधे प्रतिबन्धक को हटाने का अभिप्राय व्यर्थ ही है। यदि सुषुप्ति में सारे प्रतिबन्धक की निवृत्ति हो तो स्वप्न में आधे प्रतिबन्धक को हटाने के अभिप्राय का वर्णन किया जा सकता है[2], 'किन्तु (सुषुप्ति में) वह (सर्वप्रतिबंधकनिवृत्ति) है नहीं। अतः 'इस अवस्था में' यह विशेषण तब भी (स्वप्न में मन न मानने पर भी) व्यर्थ है, यह तात्पर्य है।

[जब इस तरह भी विशेषणसार्थक्य नहीं] तो (उक्त) विशेषण का प्रयोजन (आप सिद्धान्ती द्वारा) बताया जाना चाहिये—इस द्वितीय[3] विकल्प के अनुसार शंका करता है—तब 'इस अवस्था में यह आत्मा स्वप्रकाश होता है' यह कैसे (श्रुति ने कहा)? 'यह मनरूप देव श्रोत्र आदि के उपरत हो जाने पर स्वप्न में विषयविषयिरूप से अपने विलास का अनुभव करता है' (प्र० ४.४) इस अथर्ववेदीय वाक्य का अर्थ बताते समय (शुक्ल यजुर्वेदीय) काण्वशाखा के श्रुतिवाक्य में स्थित विशेषण का प्रयोजन बताया जाना अनावश्यक है क्योंकि प्रकृत संदर्भ में उसका कोई उपयोग नहीं—यह शंका सिद्धान्ती के ही पक्ष को अंशतः स्वीकारने वाला (किंतु) कोई कम[4] विचारशील व्यक्ति करता है—यदि (कहो) शाखान्तर-स्थित होने से (प्रकृत वचन का अर्थ करने के लिये) उस श्रुति (का निर्णय करना) अपेक्षित नहीं? इसका निराकरण शंकावादी करता है कि 'तत्तत् शाखास्थित वेदान्तवाक्यों द्वारा बतायी समान विधि आदि वाली उपासना एक ही होती है'

---

१. अर्थात् शरीर द्वारा तत्स्थ नाडियों से सम्बन्ध। नाडियों की सौषुप्ताधारता का खण्डन 'तदभावो नाडीषु तच्छ्रुतेरात्मनि च' (३.२.७) सूत्र में दर्शनीय है।

२. समूचे की अपेक्षा आधा होता है।

३. पृ० १८४ पं.३५ M.R.I.।

४. समन्वय, गतिसामान्य आदि अनेक विराधों का विचार न करने से कम विचारशील है।

(ब्र० सू० ३.३.१)[१] इस सिद्धान्त के अनुसार प्रकृत अथर्ववेदीय श्रुति वचन का विरोध न करते हुए (बाहृंदारण्यक व आथर्वण, दोनों) श्रुतियों का अर्थ समानार्थकरूप से[२] बताना आवश्यक होने से (उनका आपसी) विरोध (कैसे) नहीं है, यह भी बताना चाहिये— [तो ऐसा] नहीं [कह सकते] क्योंकि दोनों वाक्य समान तात्पर्य वाले हैं यह [सिद्धान्ती को] स्वीकृत है। एक ही आत्मा रूप अर्थ सब वेदान्तवाक्य बताना चाहते हैं और [उन वाक्यों से हम सब] समझना चाहते हैं। अतः स्वप्न में आत्मा की स्वप्रकाशता कैसे उपपन्न है यह बताना संगत है। [यदि यों असंगति प्रतीत होती है] तो अनर्थक[३] होने से बृहदारण्यकवचन (का विचार) छोड़ दो—[ऐसी प्राप्ति होती है], अतः कहता है—क्योंकि श्रुति वास्तविक वस्तु का प्रतिपादन करती है (अतः श्रुतिवाक्य छोड़ा नहीं जा सकता)। 'स्वशाखा का गुरु से अध्ययन करना चाहिये' (तै० आ० २.१५) इस वेदाध्ययनविधायक विधि का तात्पर्य है कि वेद का अर्थ समझना चाहिये इसलिये, तथा '(धर्मरूप) प्रयोजन समान होने से कुछ वेद-वाक्य प्रमादपाठ हैं ऐसा नहीं' (पू० मी० १.२.१.८)[४] इस नीति से

---

१. समान विधि आदि से समान फल, समान रूप और समान नाम समझने चाहिये। शाखाभेद में विहित होने से कर्म भिन्न हो जाता है या नहीं इसका शाखान्तराधिकरण में (२.४.२) जैमिनि ने विचार कर निर्णय दिया है 'एकं वा, संयोगरूपचोदनाख्याऽविशेषात्' (२.४ २.१६)। पार्थसारथि ने स्पष्ट किया है कि विभिन्न अध्येताओं के लिये विभिन्न स्थलों पर एक ही कर्म का विधान श्रुति ने किया है अतः कर्मान्तर नहीं समझने चाहिये— 'न त्वत्र विधिवशाद्भेदसिद्धिः, विहितस्यापि पुरुषान्तरं प्रति विधिसम्भवात्।""अध्येतृभेदात् तान् प्रति सर्वाणि एव वाक्यानि एकमेव कर्म विदधति, न कर्मान्तरम्' (शास्त्रदी० २.४.२)।

२. अर्थात् अविरुद्धार्थकतया।

३. श्रुत्युक्त प्रकार से स्वप्रकाशताबोधन असंभव होने से वह श्रुति निरर्थक है, यह अभिप्राय है।

४. 'सम्प्रदायः प्रयोजनं येषां धर्माणां सर्वे ते विधिपदानामर्थवादपदानां च तुल्याः।""अतो न प्रमादपाठः' (शाबरभा०)।

(वेद के) एक अक्षर का भी व्यर्थ होना संगत नहीं, यह तात्पर्य है।[1]

इस प्रकार एकदेशी के[2] (प्रयास के) सदोष सिद्ध हो जाने पर सिद्धान्ती (श्रुति-अविरोध विषयक प्रश्न का) उत्तर देता है—यदि ऐसा है तो सारा अभिमान[3] छोड़कर श्रुति का अर्थ सुनो; अपने को पण्डित मानने वाले सभी के द्वारा अभिमानपूर्वक तो सौ वर्षों में भी श्रुति का अर्थ नहीं जाना जा सकता। [यदि आपको वास्तविक श्रुत्यर्थ मालूम है] तो पहले ही श्रुति का विवक्षित अर्थ बता देते, पूर्वोक्त रीति से (श्रुति का) अन्य अर्थ है (ऐसी) शंका और उसके निराकरण से क्या (लाभ) ?—यह शंका कर, 'मैं पण्डित हूँ' ऐसे अभिमान वाले को ठीक-ठीक अर्थ समझने का अधिकार (=योग्यता) न होने से उसका अभिमान हटाने की इच्छा से उसके नाना मतों का निराकरण किया इस (लाभ को) बताने के लिये 'सारा अभिमान छोड़कर' इत्यादि कहा॥ स्वप्रकाशताबोधक श्रुति पर (यह गलत है ऐसी) शंका न की[4] जा सकने से उस श्रुति के आधार पर स्वप्न आदि में हृदयाकाश आदि के[5]

१. स्वाध्यायविधि अर्थावबोध फलक है ऐसा भाट्ट सम्प्रदाय है व वह अक्षरग्रह-फलक है, अर्थविचार उत्तर विधिप्रयुक्त है ऐसा प्राभाकर मत है। यद्यपि वेदान्त सम्प्रदाय में कुछ आचार्य इस विषय में भाट्टों के अनुयायी हैं तथापि मुख्य पक्ष अक्षरग्रह मानने वाला ही है जैसा कि तैत्तिरीयसंहिता के भाष्य के आरंभ में सायणाचार्य ने कहा है 'एवं तर्हि ज्ञानस्य पृथग्विधानादध्ययनं तस्य पाठमात्रमिति चेदस्तु नाम, वर्णयन्ति चैवमेव शांकरदर्शनानुसारिणः।' एवमपि तैत्तिरीयोपनिषद्भाष्य में (१.११) इस प्रसंग पर डाले प्रकाश के अनुसार वहाँ आनन्दगिरिस्वामी ने कहा है 'अध्ययनविधेरर्थावबोधनद्वारेण पुरुषार्थपर्यवसायितासिद्धयर्थमक्षरग्रहणानन्तरमर्थावबोधे प्रयतितव्यम्'। इसी मत के अनुसार प्रकृत वाक्य भी समझना चाहिये।

२. मुख्य रूप से सिद्धान्त स्वीकार करने पर भी कुछेक विषयों में मतभेद रखने वाला 'एकदेशी' कहलाता है।

३. साम्प्रदायिक पद्धति न मानकर स्वमनीषया श्रुत्यर्थ कर लेंगे—यह अभिमान विवक्षित है। गीताभाष्य में भी (१३) सर्वशास्त्रविद् भी सम्प्रदायविद् न हो तो मूर्ख की तरह उपेक्षा के योग्य है—ऐसा कहा है।

४. कारण कि ऐसी शंका का कोई हेतु नहीं।

५. हृदय में जहाँ आत्मा है वह आकाश समझना चाहिये। आदि से हृदयादि-सम्बन्ध समझने चाहिये।

रहते भी (आत्मा से) उनके सम्बन्ध का भान (तब) न होने से विद्यमान भी (हृदयादि) विद्यमान न होने के समान होने के कारण (स्वप्नादि[1] में) आत्मा अकेला है और (उन अवस्थाओं में) ज्ञानप्रकाश अनुभव में आता है[2] जिससे[3] (आत्मा की) स्वप्रकाशता ('इस अवस्था में' आदि काण्वश्रुति द्वारा प्रतिपादित है)—यह (स्वप्न में) मन न मानने वाले द्वारा भी (श्रुत्यर्थ) समझाया जाना पड़ेगा[4]; इसी तरह[5] मन के रहते भी क्योंकि (तब) वह संस्कार-निर्मित हाथी, घोड़ा आदि विषयों के रूप में बदला रहता है और दृश्य रहता है इसलिए श्रुतिद्वारा (द्रष्टा-दृश्यादि के) विवेकपूर्वक उससे (= मन से) अलग कर द्रष्टा (आत्मा) की स्वप्रकाशता समझायी जा रही है (—यह श्रुत्यर्थ, आथर्वण व काण्व वाक्यों का अविरोध मानने वाले सिद्धान्ती के अनुसार संगत है) यह कहते हैं—जैसे हृदयाकाश में, शरीर में और नाडियों में[6] सोते हुए (आत्मा) का उनसे (= हृदयाकाशादि से) सम्बन्ध न[7] होने से उनसे अलग कर (आत्मा) दिखाया जा सकता है जिससे आत्मा की स्वप्रकाशता बोधक श्रुति[8] कटती नहीं, ऐसे अज्ञान, कामना और कर्म रूप कारणों से प्रकट हुई वासनाओं वाले मन के रहते भी यदि अविद्या (आदि) निमित्त के कारण हाथी, घोड़े आदि

---

१. आदि से सुषुप्ति का ग्रहण है।

२. जाग्रत् में उन अवस्थाओं का अनुसन्धान इसमें प्रमाण है क्योंकि स्मृति अनुभव-पूर्वक होती है।

३. आत्मा अकेला है व प्रकाश है इससे निश्चित है कि उसी का प्रकाश है, वही प्रकाश है।

४. अर्थात् आत्मेतर की विद्यमानता उसे भी माननी होगी। अथर्ववाक्य का विरोध—यह दोष उसके पक्ष में अधिक होगा।

५. हृदयादि की तरह।

६. स्वप्नाभिप्राय से 'नाडियों में' कहा समझना चाहिये।

७. अज्ञात अध्यास असंभव होने से और हृदयादि से आत्मा का तदतिरिक्त कोई सम्बन्ध न होने से सम्बन्धज्ञान न होने से सम्बन्ध न होना समझना चाहिये।

८. भाष्यस्थं स्वयंज्योतिष्ट्वपदं तद्बोधकपरं, स्वयंज्योतिष्ट्वस्य वास्तवतयाऽबाध्य-त्वादित्यसकृट्टीकायामुक्तमत्रापि बोध्यम्।

रूप से प्रकट वासनाओं वाला मन है तो जाग्रदवस्था में जैसे उसकी 'मैं' इस तरह[1] ही प्रतीति होती है वैसे (स्वप्न में भी) हो, 'यह' इस प्रकार से[2] न हो ? इसके समाधानार्थं कहते हैं—कर्मों के कारण (प्रकट हुई) वासनाओं को, (जो कि) हैं मनरूप वस्तु, उन्हें हाथी आदि अन्य वस्तु की तरह देखते हुए (तथा) दृश्यरूप वासनामय सब कार्य और करण ज्योतियों से भिन्न रूप से अलग किए हुए[3] द्रष्टा (आत्मा) की सिद्ध (होने वाली) स्वप्रकाशता अधिक अभिमानी तार्किक द्वारा मना[4] नहीं की जा सकती। उस तरह (= 'यह' इस प्रकार) प्रतीत हुए बिना स्वप्न में भोग न हो पाने से स्वप्न में भोग कराने वाले कर्मरूप निमित्त के कारण[5] और जाग्रत् में 'यह' इस तरह ही हाथी आदि का अनुभव होना से उनकी वासनाओं का भी वैसे ही (='यह' इस तरह ही) अनुभव होने योग्य होने से उनकी वासनारूप अविद्या[6] के कारण, वासना के आश्रय मन का (स्वप्न में) 'यह' इस तरह ही अपने से भिन्न वस्तु की तरह अनुभव होता है, यह तात्पर्य है। और ('देखते हुए' तक का) यह विशेषण यह बताने के लिये है कि (स्वप्न में) मन विषय रूप से (अवस्थित होने से वह) विषयी हो यह असम्भव है जिससे (तब) विषयी[7] आत्मा की ही प्रकाशरूपता है। जाग्रदवस्था में सूर्य आदि कार्यज्योतियों[8] के व चक्षु आदि करणज्योतियों के रहने से उनसे मिला हुआ[9] होने के

---

१. 'मैं विचार करने वाला, मैं सुखी' इत्यादि ढंग से अपने से अभिन्न होकर ही मन प्रायः जाग्रत् में प्रतीत होता है।

२. स्वप्न में 'यह हाथी' इस प्रकार हाथी रूप मनोवृत्ति 'यह' इस तरह प्रतीत होती है, 'मैं हाथी' इस प्रकार नियमतः प्रतीत नहीं होती।

३. अन्यत्वेन निश्चितस्येति शेषः। इदं च प्रविविक्तस्येत्यस्य व्याख्यानम्।

४. 'मन के रहते आत्मा की स्वप्रकाशता सिद्ध नहीं होती'—इस प्रकार।

५. अर्थात् स्वाप्नभोग की अन्यथा अनुपपत्ति से।

६. अर्थात् यहाँ मूलाऽविद्या अकेली हेतु नहीं।

७. जाग्रदवस्था में मन की प्रकाशरूपता इसी से है कि वह विषयी—विषय करने वाला होता है। यह बात अलग है कि वह विषयिता भी स्वाभाविक नहीं।

८. अर्थात् स्थूल ज्योतियाँ।

९. प्रकाशन में उनका भी सहाय होने से आत्मा ही किस प्रकाशस्वरूप वाला है यह समझना कठिन है।

कारण आत्मा की स्वयम्प्रकाशता समझना मुश्किल है, स्वप्न में तो उनके (=कार्य व करण ज्योतियों के) न रहने से (आत्मस्वप्रकाशत्व) समझना सरल है, यह बताने के लिये 'सब कार्य' इत्यादि विशेषण है।[1] स्वप्न में आदित्यादि कार्य व करण ज्योतियों का अनुभव होने पर भी (तब) वे केवल वासनामय होती हैं इसलिए तथा दृश्य[2] होती हैं इसलिए विषयों को प्रकाशित करने की सामर्थ्य (उनकी) नहीं[3] यह बताने के लिये 'वासनामय' इत्यादि विशेषण है। तथा इन सब विशेषणों से यह बताया कि स्वप्न[4] इस प्रकार का होने से उसमें (आत्मा की) स्वप्रकाशता समझायी जा सकने के कारण, अन्य[5] अवस्था में समझाना कठिन होने के कारण 'इस अवस्था में यह' इत्यादि काण्वश्रुति में स्वप्न के ('इस अवस्था में' इस) विशेषण को कहना सार्थक है; यह समझ लेना चाहिये। इसलिये वृहदारण्यकश्रुतिवचन में स्वप्न में मन का न होना बताना चाहने का कोई कारण न होने से उस श्रुति का प्रकृत प्रश्न वाक्य से विरोध न होने से प्रकृत प्रश्न श्रुति में 'देव' शब्द से[6] (वह) मन ही कहा जा रहा है (जो) 'मनरूप परमदेव में मिल जाता है' (प्र० ४.२) इस पूर्वतर वाक्य में कहा गया था—यह (प्रकृत विवाद का) समापन करते हैं—इसलिये (हमने) ठीक कहा था कि करणों के मन में विलीन हो चुकने पर और मन के (अविद्या में) विलीन न होते हुए मनउपाधिक जीव स्वप्नों को देखता है।

क्योंकि इन्द्रियाँ (स्वप्नकाल में) अपना व्यापार छोड़ चुकती हैं इसलिए (द्रष्टा का) विषयों से सम्बन्ध न होने से मन द्वारा वैभव का

---

१. स्वप्न में भी 'सूर्य प्रकाश में आँख से फूल देख रहा हूँ' इत्यादि उभयविध ज्योतियों का अनुभव होने से असंकीर्णता नहीं ? यह शंका कर कहते हैं—स्वप्न में आदि से।

२. स्वप्न में अप्रकाशता निश्चित होने पर अन्यत्र भी अप्रकाशता समझने का लिंग बताया 'दृश्य' कहकर।

३. विषय-सजातीय होने से—यह हेतु समझना चाहिये।

४. अकेले आत्मरूप प्रकाश वाला होना स्वप्न का वैशिष्ट्य है।

५. जाग्रत् में प्रकाशान्तर सांकर्य और सुषुप्ति में अनुभव अनुद्भूत होने से समझाना कठिन है।

६. प्रसंग में देवशब्द मनःपरक है यह प्रमाणान्तर दिया जा रहा है।

अनुभव कैसे ?—यह शंका उठाते हैं—वैभव का अनुभव कैसे करता है ? पहले जाने हुए का ही स्वप्न में ज्ञान होता है अतः वह (=स्वाप्नविषय) केवल (उद्भूत) वासनारूप ही है जिससे (उसके अनुभव में) इन्द्रियों की आवश्यकता नहीं—यह परिहार करते हैं—जिस मित्र या पुत्र आदि को पहले देख चुका है उसकी वासना वाला (व्यक्ति) पुत्र मित्र आदि विषयक वासना से मनोनिर्मित उसी पहले देखे पुत्र की तरह या मित्र की तरह (के मानसिक आकार को) अविद्या के कारण देखता है—ऐसा माना जाता है। (उस अवस्था में सव्यापार) चक्षु इन्द्रिय न होने से देखना असंगत होने के कारण 'माना जाता है' यह कहा। इसी तरह जो विषय (= शब्दविशेष) सुन चुका है उसी[1] सुने हुए विषय को उसकी वासना से मानो पुनः सुनता है। 'देशदिगन्तरैश्च' नदी किनारा आदि विभिन्न देशों के कारण और पूर्व आदि विभिन्न दिशाओं के कारण हर बार अनुभूत वस्तु को अविद्या के कारण बार बार—अनेक दिनों मे (व) अनेक सपनों में मानो स्पष्ट अनुभव करता है। ऐसे (ही) इस जन्म में देखे हुए को और (इस जन्म में) न देखे हुए को अर्थात् अन्य जन्म में देखे हुए को (देखता है)। (अदृष्ट शब्द के) 'अन्य जन्म में देखे हुए को' ऐसे[2] व्याख्यान में हेतु बताते हैं—सर्वथा न देखे हुए के (रूपादि के) विषय में वासना (= संस्कार) होना असंगत होने से[3] (अदृष्ट का अर्थ जन्मान्तर में दृष्ट समझना युक्त है)। इसी तरह (इस जन्म में) सुने व जन्मान्तर में सुने को (सुनता है)। 'अनुभूत को' और 'विशेषतः अनुभूत का'—इस प्रकार एक बात दो बार कह दी गयी है ?—यह शंका कर कहते हैं—केवल मन से[4] इस जन्म में अनुभूत को और 'अननुभूतम्' मन द्वारा

---

१. अर्थात् उस जैसे। २. सीधे तो 'अदृष्ट' शब्द का अर्थ है—'न देखा'।

३. तथा जिसका संस्कार नहीं उसका स्वप्न में दर्शन असंभव होने से—यह शेष है। कदाचित् शृंगी पुरुष आदि अत्यन्त अदृष्टचर का स्वप्नदर्शन होता है किंतु वहाँ भी शृंग व पुरुष दृष्ट ही होते हैं अतः कोई दोष नहीं। यद्वा दर्शनजन्य संस्कार शृंगी पुरुष का न होने पर भी श्रवणादि-जन्य संस्कार होते ही हैं।

४. बाह्य विषय इंद्रियों द्वारा ही अनुभव किये जाते हैं। सुख, दुःख आदि केवल मन से अनुभव किये जाते हैं।

ही अन्य जन्म में अनुभूत को (स्वप्न में अनुभूत करता है)। अर्थात् पहले ('विशेषतः' आदि से) इन्द्रियों द्वारा किया अनुभव कहा गया है (और यहाँ 'अनुभूत को' से बिना इन्द्रियों के किया अनुभव), अतः एक ही बात दो बार नहीं कही है, यह तात्पर्य है। और सच को अर्थात् व्यावहारिक जलादि को एवं असत्य को अर्थात् मृगमरीचिका के जल आदि को (देखता है)। बहुत कहने से क्या लाभ? (यहाँ) बताये व न बताये सबको देखता है। सब को देखने में कारण बताते हैं—'सर्वः' सर्वविषयक मनोवासना[1] रूप उपाधि वाला हुआ देखता है। इस प्रकार सब इन्द्रियों का प्रेरक मनरूप देव (= मनउपाधिक जीव) स्वप्नों को देखता है ॥ ५ ॥

"वह मन पित्तरूप तेज से[2] जब अभिभूत हो जाता है (तब) उस समय यह मनोदेव स्वप्न नहीं देखता। अतः उस समय इस शरीर में यह (आत्मरूप) सुख होता है ॥ ६ ॥"[3]

सुषुप्ति में प्रकाशमान सुख किसे होता है?' इस प्रश्न का (इस वाक्य में) उत्तर है। उत्तर समझाने के लिए आवश्यक बात बताते हुए कहते

---

१. अर्थात् वासना वाला मन।

२. 'तेजसा हि तदा सम्पन्नो भवती'तिच्छान्दोग्ये (८.६.३)। 'सौरेण तेजसा हि नाड्यन्तर्गतेन सर्वतः सम्पन्नो व्याप्तो भवति, अतो विशेषेण चक्षुरादि-नाडीद्वारैर्बाह्यविषयभोगाय अप्रसृतानि करणानि अस्य तदा भवन्ति। तस्मादयं करणानां निरोधात् स्वात्मन्येवावस्थितः स्वप्नं न विजानाती'ति च तत्र भाष्यम्। सूत्रभाष्ये तेजःपदं द्वेधा व्याख्यातम्—'तेजसा नाडीगतेन पित्ताख्येन अभिव्याप्तकरणो न बाह्यान् विषयान् ईक्षतइत्यर्थः। अथवा—तेजसेति ब्रह्मणएवायं निर्देशः, श्रुत्यन्तरे "ब्रह्मैव तेज एव" (बृ० ४.४.७) इति तेजःशब्दस्य ब्रह्मणि प्रयुक्तत्वात्। ब्रह्मणा हि तदा सम्पन्नो भवति...' इति (३.२.७ पृ० ७०१ कल्प०)। अनुभूतिप्रकाशे—'हृच्छिद्राण्यावृतानि स्युः सुप्तौ पित्ताख्यतेजसा। चित्तोपाधिकजीवोऽपि पित्तेनात्राभिभूयते ॥ दुःखवृत्त्युदयश्चित्ते नास्ति छिद्रनिरोधतः। आत्मानन्दः स्वप्रकाश तदा जीवस्य तिष्ठति' ॥ ६१–६२ ॥ इतीदं व्याख्यातं वाक्यम्। अत्रापि हृच्छिद्राणि करणनियामकप्राणद्वारभूतानीति बोध्यं, ततो 'अभिव्याप्तकरण' इति पूर्वोक्तं भाष्यं न विरुद्धते।

३. यहाँ चौथे प्रश्न का उत्तर दिया गया है।

हैं—वह मनरूप देव 'यदा' जिस समय नाडियों में स्थित पित्त नामक सूर्यसम्बन्धी[1] तेज से हर तरह अभिभूत हो जाता है—वासना की अभिव्यक्ति में द्वारभूत जो स्वप्न में भोग देने वाला कर्म वह (जब) तिरस्कृत हो जाता है (अर्थात्) उस समय उपरत हो जाता है। [2]'पित्तनामक'—यह कहना इससे अतिरिक्त भी कुछ बताता है: (अर्थात् 'पित्त से) और चिद्रूप ब्रह्म से' यह भी समझ लेना चाहिए[3]। 'वह मनउपाधिक जीव''''प्राणनाम परा देवता का आश्रयण लेता है'[4] (छा० ६.८.२) इस अन्य श्रुतिवाक्य द्वारा प्राणनाम से कहे ब्रह्म में मनउपाधिक जीव का लीन होना बताया होने से (यहाँ तेज से अभिभव का तात्पर्य सत्सम्पत्ति भी समझनी चाहिए)। [इस अर्थ की दृष्टि से] तेज-शब्द से कहे ब्रह्मचैतन्य के सम्बन्ध से [जिसकी वासना-अभिव्यक्ति का द्वारभूत कर्म तिरस्कृत हो चुका है]—इस प्रकार ('तिरस्कृतवासनाद्वारः' शब्द का) अर्थ है। तब इन्द्रियों सहित मन की रश्मियाँ अर्थात् वासनायें हृदय में प्रायः नष्ट हुई सी हो जाती हैं।[5] जब मन लकड़ी में आग की तरह निर्विशेष[6] अनुभव रूप से अर्थात् सामान्य चैतन्यरूप से[7] या 'चेतना' कही जाने वाली सामान्य वृत्तिरूप

१. पित्त नामक देहस्थ धातु सूर्य की ऊष्मा से तैयार होता है अतः 'सूर्य-सम्बन्धी' कहा।

२. इदं टीकावाक्यं सौकर्यायोत्तरत्रानूदितम्। अत्रार्थे भाष्यसम्मतिः सूत्रभाष्ये पूर्वोद्धृते दर्शनीया।

३. अर्थात् यहाँ पित्त व ब्रह्म दोनों से अभिभव विवक्षित है। अतः यहाँ तेजः पद ब्रह्म परक नहीं यह कुछ विद्वानों का टिप्पण उद्भाव्य जानना चाहिये।

४. 'तन्मनो दिशं दिशं पतित्वाऽन्यत्राऽऽयतनमलब्ध्वा प्राणमेवोपश्रयते प्राणबन्धनं हि सोम्य मनः' यह वाक्य है। इस पर '''प्राणेन सर्वकार्यकरणाश्रयेणो-पलक्षिता प्राणइत्युच्यते सदाख्या परा देवता' यह भाष्य है।

५. अर्थात् कार्य न करती हुई कारणतया विद्यमान रहती है।

६. अर्थात् विषयविषयक न होते हुए।

७. मनशब्द मनउपाधिक आत्मपरक है इस दृष्टि से यह अर्थ है। उपाधिप्राधान्य से अर्थान्तर है। सुषुप्तिकाल में भी शरीर में चेतना-अजडता-बनी रहती है जिसके लिए कोई वृत्ति तब भी स्वीकार्य है क्योंकि सर्वथा उपाधिपरामर्श के बिना आत्मा का शरीर को चेतना देना असम्भव है। इसे अज्ञानतया-वस्थित मन की वृत्ति मानने से अन्यत्र से अविरोध है।

से सारे शरीर में फैल कर[1] रहता है—इस (समग्र) वाक्य से सुषुप्ति अवस्था[2] बतायी है यह कहते हैं—तब सुषुप्ति अवस्था वाला होता है। 'अत्र' इस काल में यह मन नामक देव स्वप्न नहीं देखता क्योंकि स्वप्न-दर्शन की हेतुभूत वासनायें व कर्म तेज द्वारा बँध चुकते हैं। अतः तब इस शरीर में यह (आत्मरूप) सुख होता है; 'अतः ....यह सुख होता हैं' यह ठीक नहीं (कहा) क्योंकि तब (= सुषुप्ति में) उत्पन्न होने वाले सुख का होना (सुषुप्ति से) पहले भी तुल्य होने से 'तब होता है' यह कहना असंगत है।—यह शंका कर, विशेषविषयक अनुभव रूप विक्षेप न होने पर स्वरूपसुख ही, तेज चलती हवा रहित स्थान पर रखे दिये की ज्योति की तरह, अविच्छिन्नतया भासता है; उस भासमान सुख को दृष्टि में रख यह (अतः तब इत्यादि) कहा है, यह परिहार करते हैं—न रुकने वाला जो अनुभव है अर्थात् अनुभवरूप स्वरूपसुख है (वह) सामान्य रूप से शरीर में फैला हुआ अविक्षिप्त हुआ रहता है, यह अर्थ है। इसके द्वारा अभिव्यक्त न हुए मन आदि के संस्कारों वाला अज्ञान, (जो) आनन्दमयकोश कहा जाता है, सुषुप्ति अवस्था वाला है (आत्मा नहीं), यह बता दिया ॥ ६ ॥

('सोते समय सब करण किसमें विलीन हो जाते हैं ?' इस) पाँचवे प्रश्न का उत्तर तुरीयात्मस्वरूप प्रकृत सुषुप्ति अवस्था में ही (उत्तर वाक्य द्वारा) बताया जा रहा है क्योंकि (अन्यों से) पृथक् कर उसे (वहीं) बताना सुकर है; यह कहते हैं—इस (सुषुप्ति) काल में अविद्या, कामना व कर्म से लब्धस्वरूप देह व इन्द्रियाँ निर्व्यापार हो जाते हैं। उनके (यों) शान्त हो जाने पर आत्मा का स्वरूप, (जो) पहले उपाधियों के कारण अन्य प्रकार का समझा जाता है (वह), भेद-रहित, एकरस, अविक्षिप्त आनन्दात्मना[3] बना रहता है। अतः अविद्या

१. मन द्वारा अविद्यात्मना सारे शरीर में फैलकर रहना समझना चाहिए।

२. 'सुप्त उक्त' इति कुत्रचित्पाठः। तदा सुषुप्तो मनोदेव उक्त इत्यर्थः। अवस्थारूपतया सुषुप्तिरपि सोपाधिकस्य धर्मो, नात्मन इति स्वमर्थपरिशोधमिह क्रियत इत्यवधेयम्। न च मनोलयात्तदा न तदुपाधिकत्वमिति शंक्यम्, आमोक्षं मनउपाधिकत्वसत्त्वात्, सुप्तौ प्रलये च संस्कारात्मना तस्य स्थितेः।

३. 'शिन्तु मोक्षे क्षेमे सुखे' इति हेमचन्द्रः।

से बने पृथिवी आदि विषयों का विवेकपूर्वक अक्षर ब्रह्म में विलय बताने के द्वारा उसी (सुषुप्ति) अवस्था को स्पष्ट करने के लिए (श्रुति) दृष्टान्त देती है—

"हे प्रियदर्शन (सौर्यायणी) ! जैसे पक्षी (अपने) निवास-वृक्ष[1] की ओर जाते हैं, ऐसे (आगे बताया जाने वाला)[2] वह सब परमात्मा में चला जाता है ॥ ७ ॥"[3]

'सोम्य' हे प्रिय दीखने वाले (सौर्यायणी) ! 'वयांसि' पक्षी 'वासोवृक्षम्' निवास के लिए (निश्चित किये) वृक्ष की ओर 'संप्रतिष्ठन्ते' जाते हैं, 'यथा' जिस प्रकार 'सः' (यह) दृष्टान्त है, 'एवम्' जैसा दृष्टान्त है (उसी प्रकार) आगे बताया जाने वाला प्रसिद्ध वह सब निश्चय ही अक्षररूप परमात्मा में चला जाता है ॥ ७ ॥

वह सब क्या है (जो परमात्मा में जाता है, यह श्रुति बताती है)—

"स्थूल व सूक्ष्म पृथ्वी एवं स्थूल व सूक्ष्म जल तथा स्थूल व सूक्ष्म तेज और स्थूल व सूक्ष्म वायु एवं स्थूल व सूक्ष्म आकाश; तथा चक्षु और रूप, श्रोत्र और शब्द, घ्राण और गन्ध, रसना और स्वाद, त्वगिन्द्रिय और स्पर्श, वाणी और बोलने का विषय (शब्द), हाथ और पकड़ने का विषय, उपस्थ और (तत्साध्य) क्षुद्र सुख, मलविसर्जक इन्द्रिय व विसर्ग किये जाने वाला विषय, पैर और पहुँचने का स्थान, मन और सोचा जाने वाला विषय, बुद्धि और समझा जाने वाला विषय, अभिमान और उसका विषय, ज्ञान और उसका विषय, कान्ति और उससे चमकती त्वचा[4] तथा प्राण और उसके द्वारा इकट्ठा रखा जाने वाला (इन्द्रियादि) विषय (—यह सब परमात्मा में चला जाता है)[5] ॥ ८ ॥"

---

१. वासोवृक्षमिति पृषोदरादित्वात्साधुः ।

२. 'तद् = उक्तं वागादिकं सप्राणभूतम्' इति शंकरानन्दीये ।

३. पाँचवे प्रश्न का उत्तर दिया जा रहा है ।

४. दीपिकायान्तु 'तेजो ज्ञानशक्तिसामान्यम् अन्तःकरणचतुष्टयानुगतम्; विद्योतयितव्यम् अन्तःकरणचतुष्टयसामान्यस्यैव सामान्यं विषयभूतम् ।' इति व्याख्यातम् ।

५. 'द्वाचत्वारिंशच्चकारास्तावद्भिः पदैः परआत्मनि सम्प्रतिष्ठन्त इति वाक्यानुषङ्गार्थाः'—दीपिकायाम् ।

पाँच गुणों वाली स्थूल पृथ्वी और उसकी कारण[1] सूक्ष्म[2] (अपंचीकृत) पृथ्वी (जिसे) गन्धतन्मात्रा (भी कहते हैं)[3]; इसी तरह स्थूल जल और सूक्ष्म जल (श्रुति व भाष्य में) 'आपोमात्रा' इस शब्द में (अप्-शब्दोत्तरवर्ती) विभक्ति का लोप न करना वैदिक स्वातन्त्र्यानुसार है।[4]; स्थूल तेज (अग्नि) और सूक्ष्म तेज; स्थूल वायु व सूक्ष्म वायु; स्थूल आकाश व सूक्ष्म आकाश;—तात्पर्य है कि स्थूल अर्थात् पञ्चीकृत व सूक्ष्म महाभूत; और इससे [वायु और आकाश को स्थूल तथा वायुमात्रा व आकाशमात्रा को सूक्ष्म बताने से] यह कह दिया कि पञ्चीकरण इस आथर्वणश्रुति से सिद्ध है। अन्य प्रकार से (अर्थात् त्रिवृत्करण से) ही व्यवस्था मानने पर आकाश और आकाशमात्रा का अलग-अलग कथन संगत न होगा।[5] इसी प्रकार चक्षु इन्द्रिय और देखने का विषय रूप; श्रोत्रेन्द्रिय और सुनने का विषय (शब्द); घ्राण इन्द्रिय और सूँघने

---

१. 'ण्यासश्रन्थोयुच्' (३.३.१०७) इति कृत्रो णिचि युच्प्रत्यये कारणाशब्दः, तत्कारितया सूक्ष्मभूमिरपि कारणैव।

२. यह भी है पंच गुणों वाली।

३. यह सांख्यमतप्रसिद्ध नाम है। 'तन्मात्र' का अर्थ है 'इतना ही'। शब्द-बस इतना ही व्यावर्तक लक्षण जिसका है वह आकाश ही शब्दतन्मात्रा वेदान्त में कहाता है। सूक्ष्म से अतिरिक्त तन्मात्रा नामक वस्तु स्वीकृत नहीं। गीतागूढार्थदीपिका में कहा है 'पञ्चतन्मात्राणि च अपञ्चीकृतपञ्चभूतानि (स्वसिद्धान्ते)' (७.४)। वेदान्तसार में कहा ही है 'इमान्येव सूक्ष्मभूतानि तन्मात्राणि अपञ्चीकृतानि चोच्यन्ते'।

४. 'आपः कर्माख्यायां ह्रस्वो नुट् च वा' (४.२०९) इत्युणादौ वाग्रहणादाप इति सान्तशब्दसिद्धिः, 'आपोभिर्मार्जनं कृत्वे'त्यादिप्रयोगदर्शाच्च। तदसिद्धिरिति कृत्वाऽयं टीकाग्रन्थः।

५. 'तासां त्रिवृतं त्रिवृतम्' (छां० ६.३.३), 'त्रिवृत्कुर्वतः' (ब्र० सू० २.४.२०) आदि के आधार पर वाचस्पति आदि पंचीकरण स्वीकारने में हिचकिचाते हैं किन्तु प्रकृत श्रुति प्रत्यक्ष ही स्थूल व सूक्ष्म वायु व आकाश का उल्लेख कर रही है व पंचीकृत-अपंचीकृत से अतिरिक्त स्थूल व सूक्ष्म का विभाजन नहीं अतः पंचीकरण श्रुतिसिद्ध होने से उक्त वचनों को भी एतत्परतया समझना चाहिए। युक्तियुक्तं मतं वाचस्पतेरस्तु तथापि नः। श्रुतेरनतिशंक्यत्वादस्ति पंचीकृतिः शुभा॥

का विषय (गन्ध); रसनेन्द्रिय और चखने का विषय (रस); त्वगिन्द्रिय और छूने का विषय (स्पर्श); वागिन्द्रिय और बोलने का विषय (शब्द)[1]; हाथ और पकड़ने का विषय; उपस्थ (जननेन्द्रिय) और तत्साध्य क्षुद्र सुख; मलविसर्जक इन्द्रिय व विसर्ग लिये जाने वाले विषय; पैर और पहुँचने का स्थान; (—इस प्रकार) ज्ञानेन्द्रियाँ, कर्मेन्द्रियाँ और उनके विषय कहे गये; पूर्व में (देवशब्द से) कहा गया मन और सोचने योग्य उसका विषय; यद्यपि मन आदि चारों के सोचने योग्य आदि विषय भी देखने योग्य आदि विषय ही हैं, उनसे भिन्न नहीं[2], तथापि सोचने योग्य आदि रूप से वे भिन्न हैं[3] इसलिए उन्हें अलग बताया, यह समझना चाहिये। निश्चयरूप बुद्धि (—नामिका अन्तःकरणवृत्ति) और समझने योग्य (निश्चय करने योग्य) उसका विषय; 'अहंकारः' अभिमानरूप अन्तःकरणवृत्ति और अभिमान योग्य उसका विषय (देहादि, जिसमें अभिमान होता है); 'चित्तम्' ज्ञान[4] वाली अन्तःकरणवृत्ति और जानने योग्य उसका विषय; 'तेजः' त्वगिन्द्रिय से भिन्न जो चमकती हुई त्वचा और 'विद्योतयितव्यम्' उससे चमकाया जानेवाला विषय—त्वगिन्द्रिय का आश्रय (जो) चर्म उसके प्रकाश से चमकाया जानेवाला (विषय) भी वही (=चर्म ही) है, यह अर्थ है; प्राण जो सूत्रात्मा कहलाता है और उसके द्वारा 'विधारयितव्यम्' इकट्ठा रखा जाने वाला (इन्द्रियादि विषय); 'स्थूल व सूक्ष्म पृथ्वी' इत्यादि से 'और इकट्ठा रखा जाने वाला' तक के वाक्य द्वारा आत्मा से अतिरिक्त और उसका उपाधिभूत सब कहा गया है यह बताते हैं—सारा ही कार्य-कारणसमूह, जो (अपने से भिन्न किसी) अन्य के लिए होने से जोड़ा हुआ व कथनीय स्वरूप वाला तथा निरूपणीय स्वरूप वाला है,

---

१. पूर्व में ध्वनिसाधारण को शब्द कहा था व यहाँ सार्थक ध्वनिरूप शब्द कहा है अतः पुनरुक्ति नहीं। इन्द्रियभेद से विषयभेद से भी पुनर्वचन नहीं।
२. क्योंकि देखे, सुने आदि के विषय में ही सोचा आदि जा सकता है।
३. अर्थात् विशेषणभेद से विशिष्ट का भेद मानकर पुनरुक्ति का परिहार है। इस टीकावाक्य से 'मन्तव्यम्' आदि को स्थूलविषयपरक समझने के कारण 'मनन करना' इत्यादि अर्थ नहीं समझ सकते।
४. पूर्व में ज्ञानविशेष कहे गये थे जबकि यहाँ ज्ञानसामान्य कहा जा रहा है। एवं च स्मृति आदि का संग्रह समझना चाहिए।

(बस) इतना ही (पृथ्वी से प्राण तक गिना दिया गया) है। [यह सारा[1] आत्मा में लीन होता है] ॥ ८ ॥

'यही देखने वाला' इत्यादि वाक्य द्वारा (आत्मा का) उपाधि-सम्बद्धरूप बताया जा रहा है, यह कहते हैं—इसके बाद, जल में सूर्य के प्रतिबिम्बादि की तरह भोक्ता (व) कर्ता रूप से इस (संघात) में जो आत्मस्वरूप प्रविष्ट हुआ है (उसे उत्तर वाक्य बताता है)—

"यही[2] देखने वाला, छूने वाला, सुनने वाला, सूँघने वाला, चखने वाला, सोचने वाला, समझने वाला, करने वाला, 'जानने वाला'—इस स्वभाव वाला, तथा संघात को पूरा करने वाला है। और यह (देखने आदि वाला ही) अक्षर परमात्मा में सर्वथा अभिन्न हो रहता है ॥ ९ ॥"

यह ही देखने वाला, छूने वाला, सुनने वाला, सूँघने वाला, चखने वाला, समझने वाला, करने वाला (है)। 'देखने वाला' आदि रूप (आँख आदि) उपाधि के कारण होने पर भी उपाधि-भिन्न, उपाधि से वस्तुतः असम्बद्ध आत्मा पर स्फटिक में लालिमा की तरह भ्रम से माना हुआ है अतः उपाधि से भिन्न होने वाला भी आत्मा 'देखने वाला' इत्यादि द्वारा कहा गया है। (श्रुति में) 'विज्ञानात्मा' इस शब्द में

---

१. ननु सुप्तौ प्राणादेर्न लय इति ? सत्यम्; नह्यत्र सुषुप्तिरुच्यते किन्तु तुरीयस्वरूपं, तत्र च लयोऽस्त्येवेति चतुरस्रम्। सुप्तौ बहूनां लयात्तत्र बोधसौकर्यमिति टीकाकृदवोचदेव। अनुभूतिप्रकाशेऽतएवोक्तम्—'सुप्तौ च प्रलये मुक्तौ जगदात्मनि लीयते' (७.६३) इति। सुषुप्तावपि 'सकलेविलीने' (कै० १.१३) इति श्रुतिमनुसृत्य सर्वलयस्य कथंचिदुपपाद्यत्वाद्यत्किंचिदेतत्।

२. सर्वं 'यस्मिन् सम्प्रतिष्ठते' 'स एष' इति परस्मादारभ्य तस्य जीवात्मतोक्ता'ऽऽत्मनः सम्भूत'इत्यारभ्या'नुप्राविशदि'तिवत्, 'सदसृजते'त्यारभ्य'तत्त्वमसी'ति वच्च; पुन'र्द्रष्टे'त्यादिना जीवमुक्त्वा 'परेऽक्षरआत्मनि सम्प्रतिष्ठत' इति जीवस्य ब्रह्मात्मतोक्ता, यथा 'सोयं विज्ञानमयः प्राणेष्वि'ति प्रक्रम्य'ध्यायतीवे'त्यादिनाऽसंसारितां तस्य संगद्य 'स वा एष महानज आत्मे'ति तस्य ब्रह्मता शातपथीय उक्ता, यथा चैतरेयकतृतीये प्राणादुपलब्धारं विविच्य 'संज्ञान'मादिना, तस्यैव 'एष ब्रह्मे'त्यादिना परतोक्ता, यथा च 'येन रूपं विजानाति एतद्वै तदि'त्यादिना काठके। तदेतद् द्वैविध्यं माण्डूक्यटीकारम्भेऽनुभूतिस्वरूपाचार्यैर्व्यक्तम्। ननु प्रक्रियाभेदः साफल्यं भजत, ओमिति, कथम्, अत्यन्ताभेदलाभात्; एकधोक्त्या भेदाभेदशंकावसराद्, अतएव 'तत्त्वमेव त्वमेव तदि'ति श्रुतमन्यत्रेति संक्षेपः।

'द्रष्टा' इत्यादि शब्दों की तरह कर्ता बताने वाला तृच्प्रत्यय[1] न होने से 'विज्ञान यज्ञ को फैलाता है' (तै० २.५) इत्यादि प्रयोगों में जैसे (विज्ञान पद बुद्धिपरक है) वैसे (यहाँ भी बुद्धिपरक होना चाहिए, किन्तु विज्ञानशब्दद्वारा) बुद्धि को बताने पर (बुद्धि का) दो बार कथन हो जायेगा[2], (इस प्रकार विज्ञानात्मा-शब्द का उचित अर्थ प्रतीत नहीं होता) यह शंका कर (विवक्षित अर्थ) बताते हैं—'इसके द्वारा जाना जाता है' इस व्युत्पत्ति से साधनरूप विज्ञान बुद्धि आदि हैं, विज्ञानमय इत्यादि प्रयोगों में यह अर्थ है; यह (आत्मरूप) तो 'जानने वाला' इस व्युत्पत्ति से कर्ता कारक रूप[3] विज्ञान है, वह है आत्मा इसका (अर्थात्) वह है स्वभाव इसका; तात्पर्य है कि (यह ही) 'जानने वाला' इस स्वभाव वाला है। (और यह ही) शरीर-इन्द्रिय समुदायरूप पूर्वोक्त उपाधि को पूरा[4] करने वाला होने से 'पुरुषः' पुरुष है। 'एष हि' इस श्रुतिवाक्य में स्थित 'हि'-शब्द का वह अर्थ है जो 'च'-शब्द का अर्थ[5] होता है और वह (चशब्दार्थक हिशब्द) 'सम्प्रतिष्ठते' ('सर्वथा अभिन्न हो रहता है') इस क्रिया-पद को ('एष' इस पद के पास) खींच लेने के लिए है—यह बताते हुए, देखने (आदि) वाले आत्मा का अक्षर आत्मा में स्वरूपतः लीन होना उस तरह सम्भव

---

१. 'कर्त्तरि कृत्' (३.४.६७) नियम से 'ण्वुल्तृचौ' (३.१.१३३) सूत्र से तृच्प्रत्यय कर्ता अर्थ में धातु से विहित है।

२. क्योंकि 'बोद्धा' से उसे कहा जा चुका है।

३. अर्थात् कर्ता रूप कारक। 'कृत्यल्युटो बहुलम्' (३.३.११३) इति कर्त्तरि ल्युटि विजानातीति विज्ञानम्। अत्र पुनःकर्तृत्वमविवक्षितं साधनत्वादिव्यावृत्तिमात्रपरमित्यवधेयम्।

४. उपाधि को व्याप्त करने वाला होना उसे पूरा करना है।

५. 'चान्वाचयसमाहारेतरेतरसमुच्चये' (अमर०) 'च पादपूरणे पक्षान्तरे हेतौ विनिश्चये' (त्रिका०)। पदविशेष का अनुकर्षण या अपकर्षण भी चकार से कर लिया जाता है। स्वतन्त्र व्यक्तियों को स्वतन्त्र दो आज्ञायें देते हुए 'त्वं गच्छ, त्वं च' कहने पर 'च' से 'गच्छ' समझा जाता है। प्रकृत में 'एषः सम्प्रतिष्ठते' यह सम्बन्ध बताना 'हि' का कार्य है, यह अर्थ है। अन्यथा 'एषः पुरुषः' और 'स सम्प्रतिष्ठते' से 'एषः' से कहे व 'सः' से कहे के भेद की शङ्का रह सकती है, यह अभिप्राय है।

नहीं जिस तरह पृथिवी आदि का लय होता है?[1] यह शंका कर, उपाधि के लीन हो चुकने पर उपाधिसम्बद्धरूप का न रहना ही इसका (देखने आदि वाले आत्मा का) लय है यह समाधान करते हैं—और जैसे (प्रतिबिम्ब के) आधार जल आदि के सूख जाने पर जल में पड़े सूर्यादि की तरह[2] (दीखने वाले) प्रतिबिम्ब का सूर्यादि में विलय हो जाता है वैसे[3] वह (देखने आदि वाला) अक्षर परमात्मा में सर्वथा अभिन्न हो रहता है ॥ ९ ॥

इस प्रकार जाग्रदादि को आत्मा से अन्य (=उपाधि) की विशेषता बताने से जिसके आरोपित धर्मों का वारण किया जा चुका है उस (अवस्थात्रय की अपेक्षा) चौथे आत्मा को पुनः कहकर अक्षरब्रह्म से उसका अभेद बताते हुए उस अभेद के ज्ञान का फल अगले वाक्य द्वारा कहा जा रहा है यह बताते हैं—बताये जाने वाली विशेषता अर्थात् स्वरूप वाले अक्षरब्रह्म को प्राप्त होता है—इस प्रकार का फल उस[4] एकता के जानकार को मिलता है, यह अगला वाक्य बता रहा है—

"निश्चय ही वह कोई ही होता है जो उस अज्ञानरहित, शरीररहित, निर्गुण, शुद्ध, अक्षर को जानता है। हे सोम्य ! जो तो जानता है वह सर्वज्ञ और सर्वरूप हो जाता है और परम अक्षर को ही प्राप्त करता है। इस विषय में यह मन्त्र[5] है—॥ १० ॥"

('बताये जाने' इत्यादि द्वारा) बतायी बात श्रुति के शब्दों से

---

१. क्योंकि पृथिवी आदि वस्तुतः कल्पित हैं जब कि देखने आदि वाले का उपाधिसम्बन्ध और उपाधिसम्बद्धरूप ही कल्पित हैं, वह स्वयं नहीं।

२. 'इवे प्रतिकृतौ' कन् (५.३.९६)।

३. उपाधिरूप भेदक न रह जाने पर। यहाँ '…वज्जगदाधारशेषे' इस पाठ की अपेक्षा आनन्दाश्रमसंस्करण में सूचित इस पाठभेद के अनुसार अनुवाद है, '….वज्जलाद्याधारशोषे'। 'जगदाधारशेषे' यही पाठ हो तो 'जगत् के अधिष्ठान व (बाधावधिभूत होने से) अवशिष्ट बचने वाले अक्षर परमात्मा में…' यह अर्थ समझना चाहिए।

४. देखने आदि वाले और अक्षर परमात्मा की।

५. उस मन्त्र का ही प्रकृत वाक्य में अर्थ है। 'विज्ञानात्मा…यत्र' इस मन्त्रखण्ड का अर्थ 'अच्छायम्….शुभ्रम्' इस वाक्यखण्ड से बताया। 'तदक्षरं…. सोम्य' यह मन्त्रखण्ड यथावद् अनूदित है। 'स….आविवेश' इस मन्त्रखण्ड की व्याख्या 'स….भवति' से व 'परम्…प्रतिपद्यते' से की।

निकली है (यह श्रुति के शब्दों का अर्थ बताने के द्वारा) स्पष्ट करते हैं—यह बताया जा रहा है—निश्चय ही 'सः' इसका अर्थ बताते हैं—सब एषणाओं से छूटा हुआ (वह) कोई ही आश्चर्यरूप[1]—'स यो ह वा' ('निश्चय ही वह कोई ही') के द्वारा (ऐक्यज्ञान के) अधिकारी की दुर्लभता बतायी। होता है (जो) उस 'अच्छायम्' अज्ञानरहित[2], 'अशरीरम्' (शरीररहित)—नाम-रूपात्मक सभी उपाधियाँ (यहाँ) शरीर (शब्द से विवक्षित) हैं, तादृश शरीर से रहित[3]—'अलोहितम्' लाल आदि सब गुणों रहित, क्योंकि ऐसा (अज्ञानरहित आदि) है इसलिये 'शुभ्रम्' शुद्ध[4], सर्व विशेषणों से रहित होने के कारण अक्षर[5], —'अज्ञानरहित' आदि तीन विशेषणों से कारणशरीर, सूक्ष्मशरीर व स्थूलशरीर—इन तीनों शरीरों का (अक्षर में) निराकरण किया जिससे (जाग्रदादि) तीनों अवस्थाओं का (उसमें) निषेध हुआ, फलतः (इस प्रश्न में साधित, आत्मा की) तीनों अवस्थाओं से रहितता का पुनः कथन किया। 'लाल आदि सब गुणों रहित' इसके द्वारा लालादि गुण वाले स्थूलशरीर रहित—यह अर्थ प्रतीत होने से ('अलोहितम्' विशेषण स्थूलशरीरनिषेधक माना गया है)। 'शुद्ध'—इसके द्वारा (अवस्थाओं की अपेक्षा) चौथे उसी आत्मा को फिर कह कर उसे अक्षर से समान विभक्ति में बताने के द्वारा (अक्षर से उसकी) एकता बतायी है। यह (विशेषणों का) पृथक्-पृथक् तात्पर्य है। प्रकृत श्रुतिवाक्य में 'अक्षर' इस शब्द द्वारा 'सत्य अक्षर पुरुष को जानता है' (मुं० १.२.१३), 'बाहर भीतर जो कुछ भी है उसका वही अधिष्ठान है; वह जन्मवाला, प्राणवाला और मनवाला नहीं; वह शुद्ध है' (मुं० २.१.२)—इस प्रकार मन्त्रभाग में बतायी आत्मा की उपलक्षणभूत सारी विशेषताएँ आत्मा को उपलक्षित करने के लिए इकट्ठी कर ली गयी हैं, यह बताते हैं—सत्य, पुरुष नाम वाले, प्राणरहित, मन के अविषय, निर्विकार, बाहर-

---

१. टीकोक्तवाक्ययोजनयानुवादः। तत्र 'अपूर्ववद्' इत्यस्य आश्चर्यरूप इत्यर्थः, 'आश्चर्यो ज्ञाते' ति कठश्रुतेः (१.२.७)।

२. अज्ञानस्य वास्तवो न सम्बन्ध आत्मनेत्यर्थः, आज्ञानिकस्य स्विष्टत्वात्।

३. नामरूपे एव सर्वोपाधयस्त एव शरीरं तद्वर्जितमिति वृत्त्यर्थः।

४. गुणराहित्योक्तौ ज्ञानराहित्यं स्यात्तत्राह—शुभ्रमिति। 'ज्ञानमेकं···निर्मलम्' इति स्मृतेः शुद्धमिति ज्ञानमित्यर्थः।

५. सविशेषस्यैव क्षरणादव्यापनाच्चाक्षरं नित्यं व्यापकं चेत्यर्थः।

भीतर समेत सबके अधिष्ठान, अजन्मा शिव को 'वेदयते' जानता है। हे सोम्य! (प्रियदर्शन!) जो सर्वत्यागी[1] तो (उसे) जानता है वह सर्वज्ञ (हो जाता) है, उससे अज्ञात कुछ हो (यह) सम्भव नहीं।[2] 'जो तो जानता है वह सर्वज्ञ (हो जाता) है' यह दूसरा[3] वाक्य बनाना चाहिये, नहीं तो दो 'यत्'-शब्दों का ('यो' ह, 'य' स्तु) अन्वय न होगा। यहाँ 'सर्वज्ञ' इस शब्द से 'हे भगवन्! किसे जान लेने पर यह सब कुछ जान लिया जाता है' (मुं० १.१.३) इस प्रकार घोषित सब जान लेना कहा है। ज्ञान से उत्पाद्य होने पर सर्वरूपता अनित्य होगी, अतः (अनित्यता-वारणार्थ) कहते हैं—पहले (देखने आदि वाला) अज्ञान के कारण सर्वज्ञ[4] नहीं था, अब ज्ञान से अज्ञान हट जाने पर—तो इस प्रकार (अज्ञानरूप) आरोप की निवृत्ति द्वारा जो नहीं था वह हो जाना विवक्षित है यह बताते हैं—सर्वरूप[5] हो जाता है। 'तद्' इस विषय में बतायी बातों को इकट्ठा कर बताने वाला यह 'श्लोकः' मन्त्र है—॥१०॥

"हे सोम्य! जो तो उस अक्षर को जानता है जिसमें अग्नि आदि सब देवताओं सहित विज्ञानोपाधिक आत्मा, चक्षु आदि प्राण और पृथिवी आदि महाभूत लीन होते हैं, वह सर्वज्ञ है (और) सबमें (अधिष्ठानतया) प्रवेश कर लेता है।—यह (मन्त्र है) ॥ ११ ॥"

'सोम्य' हे प्रियदर्शन! अग्नि आदि देवताओं सहित—और यह कहकर 'चक्षु और रूप' (४.८) इस वाक्य में भी चक्षु आदि द्वारा देवता भी उपलक्षित हैं, यह समझा दिया। विज्ञानोपाधिक[6] आत्मा, चक्षु आदि प्राण, और पृथिवी आदि महाभूत 'यत्र' जिस अक्षर में 'संप्रतिष्ठन्ति' लीन होते हैं, जो तो उस अक्षर को जानता है वह सर्वज्ञ है (और) सभी में 'आविवेश' प्रवेश कर लेता है, यह अर्थ है॥ ११ ॥

इति चतुर्थ प्रश्न।

---

१. सर्वेत्यहंकारपर्यन्तस्य वचनम्।
२. टीकायां पूर्वमागतमपि वाक्यमिदमिहानूदितं सौकर्याय।
३. 'कोई ही जानता है' इसकी अपेक्षा दूसरा।
४. असर्वआसीदिति टीकाकृत्पाठः संभाव्यतेऽवएवावतरणिकोपपत्तेः।
५. और ज्ञरूप होने से सर्वज्ञ—इतना जोड़ लेना चाहिए।
६. अर्थात् जीव। जीवप्रक्रिया में विज्ञानमय प्रसिद्ध है 'विज्ञानमयःप्राणेषु ....उभौ लोकावनुसंचरति' (बृ० ४.३.७)। पूर्वतर वाक्य में (४.९) भी यह शब्द जीवपरक आ चुका है। अतः प्रकृत में विज्ञानशब्द जीवोपाधिमात्रपरक समझना युक्त है।

अथ पञ्चम प्रश्न

"इसके अनन्तर शैब्य सत्यकाम ने इन प्रसिद्ध पिप्पलाद से पूछा—॥"

इस प्रकार चतुर्थ प्रश्न द्वारा यह समझाकर कि उत्तम अधिकारी को त्वम्पदार्थ व तत्पदार्थ के लक्ष्यार्थ समझकर महावाक्य के अखण्डार्थ के ज्ञान से अक्षर की प्राप्ति होती है, (अब) इस (लक्ष्यार्थ समझने आदि) में अधिकार न रखने वाले [1]कम वैराग्यवान् के लिए 'उस आत्मा का ॐकार के सहारे चिन्तन करो' (मु० २.२.६), 'प्रणव धनुष है' (मुं० २.२.४) इत्यादि मन्त्रों में सूचित ॐकार की उपासना, (जो कि) ब्रह्मलोक की प्राप्ति द्वाररूप क्रम से[2] अक्षर-प्राप्तिरूप प्रयोजन वाली है, बताने के लिए पाँचवा प्रश्न (श्रुति) उठाती है (और भाष्यकार उसका अनुवाद करते हैं)—इसके अनन्तर शैब्य सत्यकाम ने इन प्रसिद्ध पिप्पलाद से पूछा।

इसके बाद अब अर्थात् सौर्यायणी गार्ग्य के प्रश्न का समाधान होने के बाद परब्रह्म व अपरब्रह्म की प्राप्ति के साधन रूप से अर्थात् अपर-ब्रह्म के लोक की प्राप्ति रूप क्रम से[3] परब्रह्मरूप लोक की प्राप्ति के साधन रूप से ॐकार की उपासना का विधान करने की इच्छा से (पंचम) प्रश्न प्रारम्भ किया जा रहा है—

" 'हे भगवन्! मनुष्यों में जो कोई मरणपर्यन्त ॐकार का प्रमुख ढंग से दुष्कर चिन्तन करता है वह उस चिन्तन से किस लोक को पाता है ?' (यों पूछने वाले) उस सत्यकाम से वे प्रसिद्ध (पिप्पलाद) बोले—॥ १ ॥"

हे भगवन्! 'मनुष्येषु' मनुष्यों के बीच वह जो कोई भी[4] 'प्रायणान्तम्' मरणपर्यन्त[5], अर्थात् जीवन भर, प्रसिद्ध ॐकार का

---

१. अनधिकार का हेतु बताते हैं—कम इत्यादि से।
२. अर्थात् ब्रह्मलोक की प्राप्ति ही द्वार अर्थात् क्रम है।
३. क्रम पूर्वक—यह अर्थ है।
४. अधिकारिमात्र और उसका दौर्लभ्य बताया।
५. तथा च शारीरकीयं सूत्रं 'आप्रायणात् तत्रापि हि दृष्टम्' (४.१.१२) इति। पारलौकिकफलकानामुपासनानां मरणपर्यन्तमावृत्तिः कर्तव्या यतस्तत्रापि मरणकालेऽपि अनुवृत्तेः फलप्राप्तिहेतुत्वं दृष्टं श्रुतौ स्मृतौ चेति सूत्रार्थः। 'सविज्ञानमेवान्वाक्रामती'ति श्रुतिः (बृ० ४.४.२)। 'सर्वेषु कालेषु अनुस्मर'

'अभिध्यायीत' प्रमुख ढंग से[1] 'तत्' (जैसा कि) मानो अद्भुत हो (वैसा) 'तत्'—यह क्रियाविशेषण है; वैसा अभिध्यान (–यह अन्विताथं है); उस विशेषण से (='तत्' से) अद्भुतता अर्थात् दुष्करता प्रतीत होती है।—चिन्तन करे[2]; अभिध्यान (=प्रमुख ढंग से चिन्तन) द्वारा उससे पूर्व[3] होने वाले प्रत्याहार[4] और धारणा[5] सूचित होते हैं यह बताते हैं—(अन्तर् व बाह्य) करणों को बाह्य विषयों में जाने से रोककर, आदर पूर्वक या औपचारिक दृष्टि से[6] जिस ॐकार में ब्रह्मरूपता का आरोप किया हो उसमें मन को एकाग्र कर, इससे धारणा बतायी। ध्यान[7] शब्द

(गी० ८.७), 'यं यं वाऽपि स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्' (गी० ८ ६) इत्यादिका स्मृतिः। कृतसाक्षात्कारोऽप्येवंफलकोपासकोऽनुवृत्तिमभ्यसेदिति संक्षेपः।

१. अनुपद वक्ष्यमाण व आकरनिर्णीत ढंग ही 'प्रमुख ढंग' है।

२. उसे फलतया कौन लोक मिलता है—यों वाक्यरचना समझनी चाहिये।

३. अष्टांगयोगक्रमानुसार पूर्वता जाननी चाहिये।

४. ध्यान के समय इन्द्रियाँ स्वतंत्रता पूर्वक विषय संकल्प न करें अपितु चित्त के अनुकूल ही निरुद्ध हो जायें ऐसा इंद्रियनियमन प्रत्याहार कहलाता है। पतंजलि महर्षि का सूत्र है 'स्वविषयासंप्रयोगे चित्तस्य स्वरूपानुकार इव इन्द्रियाणां प्रत्याहारः' (२.५४)। इस पर वार्तिक है 'जितेन्द्रियस्य हि ध्यान-काले चक्षुरादीन्यपि ध्येयवस्त्वाकारेण चित्तेन तुल्याकाराणीव भवन्ति, न स्वातन्त्र्येण विषयान्तरं मनसैकीभूय संकल्पयन्ति'।

५. शरीर में या उससे बाहर जिस जगह ध्येय का चिंतन करना है उस जगह चित्त का एकाग्र होना धारणा है। 'देशबन्धश्चित्तस्य धारणा' (३.१); 'यत्र देशे ध्येयं चिन्तनीयं तत्र ध्यानाधारदेशविषये चित्तस्य स्थापनं तदैकाग्र्यं धारणेत्यर्थः' (वार्ति०)।

६. अर्थात् गौण दृष्टि से; प्रणव को ब्रह्म मान कर—यह अर्थ है।

७. ध्येयाकार बुद्धिवृत्तियों का ऐसा प्रवाह जो अन्याकार वृत्तियों से खण्डित न हो, ध्यान कहलाता है। 'ध्येयालम्बनस्य प्रत्ययस्य एकतानता सदृशः प्रवाहः प्रत्ययान्तरेणाऽपरामृष्टो ध्यानम्' (व्यासभाष्य ३.२)। कम से कम बारह प्राणायामों के समय तक ऐसा प्रवाह रहे तब ध्यान कहा जाता है 'द्वादश-प्राणायामकालेन धारितचित्तस्य द्वादशधारणाकालावच्छिन्नं चिन्तनं ध्यानम्' (तत्रैव वार्ति०)।

का अभिधेय बताते हैं—अपनी वृत्ति का प्रवाह न टूटते हुए अर्थात् बिना टूटे प्रवाह वाला, (अपने विषय की वृत्ति की जाति से) भिन्न प्रकार की वृत्तियों से अखण्डित, अर्थात् अव्यवहित, अपने (=चित्त के) विषय में ही रहते हुए चित्त का आंशिक विक्षेप हो इसका निषेध करते हैं—चलती हवा में न रखे[१] दीपक की लौ की तरह [चित्त का बने रहना] अभिध्यान शब्द का अर्थ है। ध्यान से ही यम आदि साधन-समूह भी सूचित हो गये यह बताते हैं—सत्य, ब्रह्मचर्य, अहिंसा, अपरिग्रह[२], त्याग, संन्यास[३], शौच, सन्तोष, अमायाविता[४] आदि अनेक यमों व नियमों से युक्त (जो व्यक्ति) यों जीवन भर के लिए नियम पालन करने वाला है 'सः' वह 'तेन' ॐकार के अभिध्यान से 'कतमं वाव'; 'कतमम्' इस शब्द के डतमच् प्रत्यय[५] का 'बहुतों में से अलग करना' रूप अर्थ दिखाते हैं—उपासना व कर्म से मिलने वाले अनेक लोक हैं, उनमें से किस लोक को पाता है? पूछने वाले का (शैब्यका) यह अभिप्राय है कि ओंकार का अभिध्यान, ध्यान होने के कारण दहर आदि उपासनाओं की तरह अपरब्रह्म की प्राप्ति का साधन ही है या परब्रह्म की प्राप्ति का साधन भी है। इस प्रकार पूछ चुके उससे वे प्रसिद्ध पिप्पलाद बोले—॥ १॥

(पूछने वाले के) उस अभिप्राय को समझने वाले महर्षि पिप्पलाद ने उत्तर दिया कि यदि अपरब्रह्म के प्रतीकरूप से (ॐकार का) ध्यान हो तो वह केवल अपरब्रह्म की प्राप्ति का साधन होगा और यदि परब्रह्म के प्रतीकरूप से (उसीका) ध्यान हो तो अपरब्रह्म की प्राप्ति रूप क्रम से

---

१. अर्थात् ऐसी जगह रखे जहाँ हवा चल न रही हो।

२. 'अशास्त्रीयाणामयत्नोपनतानामपि विषयाणां निन्दितप्रतिग्रहादिरूपार्जनदोष-दर्शनात्, शास्त्रीयाणामपि उपार्जितानां च रक्षणादिदोषदर्शनात् अस्वीकरण-मपरिग्रहः' (तत्त्ववैशारदी २.३०)।

३. कर्म व उसके साधनों का त्याग। त्याग युक्त अपरिग्रह से अर्थसिद्ध होवे पर भी पुनर्वचन उसमें आदरातिशयार्थ है।

४. मन में कुछ रख बाहर अन्यथा प्रकाशित करना माया है।

५. 'वा बहूनां जातिपरिप्रश्ने डतमच्' (५.३.९३)। बहुतों में से एक को पूछना हो तो किम्, यत् और तत् शब्दों से डतमच् प्रत्यय होता है।

परब्रह्म की प्राप्ति का साधन होगा'—

"हे सत्यकाम ! जो यह पर[2] और अपर[3] ब्रह्म है वह ॐकार ही है। अतः आत्मप्राप्ति के इसी साधन द्वारा उपासक पर-अपर में एक[4] को प्राप्त कर लेता है ॥ २ ॥"

हे सत्यकाम ! यह ही; 'एतद्' (यह) और 'यत्' (जो) शब्द नपुंसकलिङ्ग वाले होने से (पुंल्लिङ्ग) ॐकार शब्द के विशेषण हों यह अनुचित होने से ये ब्रह्मशब्द के विशेषण हैं यह बताते हैं—यह ब्रह्म ही है। वह ब्रह्म कौन है ? यह बताने के लिए कहते हैं—पर और अपर ब्रह्म है। जो यह पर और अपर ब्रह्म है वह दोनों (रूपों वाला ब्रह्म) ॐकार है—यों वाक्य की योजना है यह तात्पर्य है। इस प्रकार, ब्रह्म के बारे में ॐकाररूपता बताने पर यह प्राप्त होगा कि ब्रह्म में ॐकार

---

१. 'ईक्षतिकर्मव्यपदेशात्सः' (१.३ १३) सूत्र में निर्णय दिया है कि प्रकृत प्रश्न में परब्रह्म के ध्यान का ही विधान है। ब्रह्मलोक की प्राप्ति तो परब्रह्मप्राप्ति के द्वार रूप से होनी आवश्यक है। यद्यपि प्रतीकोपासना ब्रह्मलोकफलक नहीं यह उत्सर्ग है तथापि जहाँ श्रुति ने मुखतः कह दिया है वहाँ प्रतीकोपासना से भी ब्रह्मलोकप्राप्ति स्वीकरणीय है। 'नन्वेवं प्रतीकोपासनेयं कथं ब्रह्मलोकप्राप्तिफला ? वचनबलादिति ब्रूमः' (परिमल)। त्रिमात्र ओंकार की उपासना के विधान की प्रशंसा के लिये एकमात्रोपासनादि का वर्णन है। प्रशंसा यों है—ओंकार की यह महिमा है कि अपर ब्रह्मरूप से इसकी उपासना करें तो अपर ब्रह्म की प्राप्ति करा देता है। अपनी पूरी मात्राओं से कम मात्रा वाले के रूप में भी उपासित होने पर मनुष्यलोक व अन्तरिक्षलोक रूप फल तो दे ही देता है। ऐसी महिमा वाले ओंकार की विहित उपासना करनी चाहिये। (न्यायरक्षामणि पृ० १९९)। अतः प्रकृत टीका में भी 'यदि अपरब्रह्म के' इत्यादि वाक्य को प्रशंसापरक समझ लेना चाहिये।

२. 'परं प्रत्यगभिन्नं ब्रह्म, अपरमीश्वराख्यम्' इत्युपनिषद्ब्रह्मयोगी।

३. 'अपरं ऋग्वेदादिरूपं; चकारो यदस्ति यन्नास्ति च तदप्येतदेवेत्याहतु' रिति दीपिका।

४. अपरप्राप्ति द्वारा पर को—यह अर्थ है। 'त्रिमात्रेणोंकारेणालम्बनेन परमात्मानमभिध्यायतः फलं ब्रह्मलोकप्राप्तिः, क्रमेण च सम्यग्दर्शनोत्पत्तिरिति क्रममुक्त्यभिप्रायमेतद्भविष्यतीत्यदोषः' इति सूत्रभाष्ये (१.३.१३)।

दृष्टि करनी चाहिए[1]—यह शंका नहीं उठानी चाहिए क्योंकि 'प्रतीकों में ब्रह्म दृष्टि करनी चाहिए, कारण कि ब्रह्म उत्कृष्ट है,[2] (ब्र० सू० ४.१.५) इस सिद्धान्त से जैसे 'लोकों में साम-दृष्टि करनी चाहिए' (छ० २.२.१) आदि स्थलों पर (निकृष्ट लोक आदि में उत्कृष्ट साम आदि की दृष्टि की जाती है) वैसे निकृष्ट[3] ॐकार में ही ब्रह्मदृष्टि (करना) सिद्ध होता है, यह अभिप्राय है। पर (अर्थात्) पुरुष नाम वाला, सत्य, अक्षर; और अपर (अर्थात्) प्राणनाम वाला, सर्वप्रथम उत्पन्न होने वाला (हिरण्यगर्भ); (ऐसा) जो (ब्रह्म) है वह ॐकार ही है (अर्थात्) पर और अपर का परस्पर भेद होने से (ॐकारात्मना) एकता कैसे ? यह शंका कर गौणदृष्टि[4] से (एकता है) यह बताते हैं—ॐकारप्रतीक वाला होने से ॐकाररूप है। (पर व अपर ब्रह्म ॐकार है)—इस अभेद-बोधन द्वारा ॐकार की प्रतीकरूपता का उपदेश दिया जा रहा है, यह तात्पर्य है। प्रतीक का उपदेश देने से क्या प्रयोजन, सीधे[5] ही ब्रह्म (ॐकार द्वारा) बता दिया जाये ? इस प्रश्न के उत्तर के लिए कहते हैं—क्योंकि परब्रह्म शब्द आदि द्वारा सीधे ही बताये जाने योग्य नहीं, 'आदि' शब्द से अनुमान आदि का ग्रहण है। (योग्य न होने में) हेतु है कि शब्द जिसे निमित्त कर[6] उसे बताने में प्रवृत्त हो ऐसे धर्म का (ब्रह्म में) न होना और किसी चिह्न का[7] (भी उसमें न होना), यह

१. जैसे शालग्राम की विष्णुरूपता बताने पर शालग्राम में विष्णुदृष्टि करना प्राप्त होता है।

२. लोक में भी राजपुरुष में ही राजदृष्टि की जाती है न कि राजा में राजपुरुष दृष्टि।

३. जड शब्दरूप होने से निकृष्टता स्पष्ट है।

४. अर्थात् ॐकारप्रतीकत्वगुण समान होने से।

५. गौणतादि छोड़ मुख्य वृत्ति से।

७. जाति, गुण, क्रिया व सम्बन्ध वे धर्म हैं जिन्हें निमित्त कर शब्द किसी वस्तु का बोध कराने में प्रवृत्त होता है।

७. धूम आदि चिह्न वह्नि आदि साध्य से सम्बन्ध वाले हों तभी वह्निआदि विषयक अनुमिति करा सकते हैं। ऐसे ब्रह्म-सम्बन्धी कोई चिह्न नहीं जो उसकी अनुमिति हो सके। इसमें 'असंगम्' (बृ० ३.८.८) आदि श्रुति प्रमाण है। 'अस्थूलम्' (बृ० ३.८.८), 'अशब्दम्' (कठ० ३.१५) आदि से प्रत्यक्ष-

बताते हैं—(कारण कि वह) तत्त्व सभी धर्मों से रहित है, इसलिए (शब्द द्वारा सीधे ही) समझा नहीं जा सकता[1]। (यदि शब्द व अनुमान से वह सीधे ही समझा नहीं जा सकता) तो इन्द्रियों से अथवा मन से उसका ग्रहण हो जाये ? इस प्रश्न का उत्तर देने के लिए कहते हैं—इन्द्रिय गोचरता से परे होने के कारण केवल मन से[2] अथवा इन्द्रियों से समझा नहीं जा सकता। (यदि विशेषता-रहित होने से शब्दादि-गम्य नहीं) तो वैसे[3] ब्रह्म का ॐकार पर चढ़ना (उपास्य-तया सम्बद्ध होना) असम्भव होने से किसी विशेषता को (ब्रह्म में) मान कर (उसका ॐकार से उक्तविधया) सम्बन्ध बताना आवश्यक है। इसीलिए सूर्य के अन्दर स्थित होना रूप विशेषता बतायी जायेगी (५.५) और ॐकार से अभेद (भी इसीलिए कहा गया है)। तब (इस प्रसंग में आत्मा की) निर्विशेषता का ज्ञान कैसे ? इस प्रश्न पर कहते हैं—आदर पूर्वक या गौण दृष्टि से जिसमें ब्रह्मरूपता का आरोप किया है, विष्णु आदि की मूर्ति की तरह प्रतीक रूप उस ॐकार में (ब्रह्म का) ध्यान करने वालों पर तो वह (ब्रह्म) प्रसन्न हो जाता है अतः समझ लिया जाता है। [4]तात्पर्य है कि उस उपासना से चित्त

अगम्यता है। 'न तत्समः' (श्वे० ६.८) आदि से उपमान-अगम्यता है। 'न तस्य कार्यम्' (श्वे० ६.८), 'अनपरम् अपूर्वम्' (बृ० माध्यं० ३.८.८) आदि से अर्थापत्ति-अगम्यता है। व्यापक भाववस्तु होने से अनुपलब्धि-गम्यता तो प्राप्त ही नहीं है।

१. तीरादि लक्ष्य वस्तुएँ भी सविशेष ही देखी गयी हैं अतः लक्ष्य होने पर भी ब्रह्म को सधर्मक ही होना पड़ेगा—यह शंका भी नहीं की जा सकती क्योंकि 'ब्रह्म लक्ष्य है' का इतना ही अर्थ है कि वह वाच्य नहीं है। वास्तविक लक्ष्यता भी अस्वीकार्य हैं। अवास्तविक वाच्यता भी स्वीकार्य है। सिद्धिग्रन्थ में सरस्वती जी ने इस विषय पर प्रकाश डाला है। अतएव—असम्बद्ध वस्तु में लक्षणा नहीं हो सकती क्योंकि बोध्य-सम्बन्धी में लक्षणा होती है—इस शंका का भी निराकरण हो जाता है।

२. मन भी इन्द्रिय है ऐसा मानकर कहा समझना चाहिये। 'मनसा सह' (तै० २.८) आदि स्पष्ट श्रुतियाँ हैं।

३. अर्थात् असम्बन्धी।

४. निर्विशेष ब्रह्म की प्रसन्नतारूप विशेषता असंगत होने से 'प्रसन्न हो जाता है'

निर्मल हो जाने पर विशेषतारहित ब्रह्म स्वयं ही भासता है। इस विषय में प्रमाण देते हैं—(यह) शास्त्र की प्रामाणिकता होने से (निश्चित है)। अर्थात् यदि ऐसा न होता तो परब्रह्म को चाहने वाले के लिए उपासना बताना व्यर्थ हो जाता[1]। इसी तरह अपरब्रह्म भी (उपासित होने पर) प्रसन्न होता है। इसलिए अर्थात् प्रतीक होने के कारण जो पर व अपर ब्रह्म है (वह) ॐकार है ऐसा उपचार से कहा जाता है। इस कारण से ऐसा है—यों जानने वाला (उपासक) अर्थात् ब्रह्म का प्रतीक होने से (ॐकार) ब्रह्म माना जाने योग्य है[2]—यों जानने वाला (उपासक) इसी के द्वारा—इसके बाद 'आयतनेनाऽऽलम्बनेन' ('आयतन अर्थात् प्रतीक के द्वारा') ये दो शब्द (क़ातिब के) अनवधान से छूट गये हैं, यह जानना चाहिए। उस शब्द का (= श्रौत 'आयतनेन' शब्द का) विवक्षितार्थ बताते हैं—आत्म-प्राप्ति के साधनभूत ॐकार के अभिध्यान के द्वारा ही—यह 'आयतनेन' शब्द का वाच्यार्थकथन नहीं[3] (किन्तु विवक्षितार्थ-कथन है) यह समझ लेना

का विवक्षित अर्थ बताते हैं—तात्पर्य आदि से। 'तस्यैषआत्मा विवृणुते तनूं स्वाम्' (कठ० २.२३; मुं० ३.२.३) आदि श्रुति व 'मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति' (७.१४), 'मामाश्रित्य यतन्ति ये ते ब्रह्म तद्विदुः' (७.२९), 'अहं समुद्धर्ता' (१२.७), 'भजतां प्रीतिपूर्वकं ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते' (१०.१०) आदि भगवद्गीता इसमें प्रमाण समझनी चाहिये।

१. प्रमाण होने से शास्त्र जिस अधिकारी के लिए जिस फल वाले कर्म का विधान करता है उसे उससे उसकी अवश्य प्राप्ति होती है। परब्रह्म चाहने वाले अधिकारी के लिए परब्रह्मप्राप्ति के साधन ॐकार-उपासन का विधान भी अत एव सिद्ध करता है कि प्रणवोपासना परब्रह्म की ज्ञानात्मक प्राप्ति रूप फल देती है। अन्य प्राप्ति तो असम्भव है। वह ज्ञानात्मक प्राप्ति कैसे हो—इसकी व्याख्या की जा सकती है, पर निर्विशेष पर-ब्रह्म का ज्ञानात्मक लाभ होता है इसमें शंका नहीं की जा सकती; यह तात्पर्य है।

२. अत्र 'ब्रह्मत्वार्हत्वाद्ब्रह्म' इति पाठश्चेद्युक्तः स्यात्, ब्रह्मप्रतीकत्वाद्ब्रह्मेति तदर्थः। यथाश्रुते—ब्रह्मत्वाद्ब्रह्मप्रतीकत्वाद्, ब्रह्मत्वार्हं, ब्रह्मेति मन्तव्योऽसावित्येवमोंकारं विद्वानित्यर्थः।

३. क्योंकि प्रकृत में आयतन अर्थात् प्रतीक ॐकार है न कि उसका अभिध्यान।

चाहिए, क्योंकि अभिध्यान प्रतीक नहीं है। 'एकतरम्' पर या अपर[1] ब्रह्म को 'अन्वेति' प्राप्त कर लेता है। यह (प्रकृत) उपासना भी उपासना होने से अन्य उपासनाओं की तरह परब्रह्म को प्राप्त कराने वाली हो यह सम्भव नहीं ?—इस प्रश्न के समाधानार्थ कहते हैं— ॐ कार ब्रह्म का निकटतम प्रतीक है। मन आदि की अपेक्षा यह निकटतम अर्थात् समीपवर्ती, अन्तरङ्ग या श्रेष्ठ प्रतीक है क्योंकि 'यह आलम्बन (प्रतीक) श्रेष्ठ है, यह आलम्बन परम है' (कठ० २.१७) इत्यादि श्रुति में ऐसा कहा है, यह तात्पर्य है ॥ २ ॥

"(जो) यद्यपि (यह नहीं जानता कि तीन मात्रा वाले ॐकार की उपासना करनी चाहिए, तथापि) वह एक मात्रा वाले[2] ॐकार अर्थात् अकार का अभिध्यान करता है (तो) वह अकार के ध्यान द्वारा ही अकार से तादात्म्य पाकर जल्दी ही पृथ्वी पर उत्पन्न[3] होता है। ऋचाओं की अभिमानिनी देवतायें उसे मनुष्य लोक को प्राप्त कराती हैं। वहाँ वह तप, ब्रह्मचर्य और श्रद्धा से सम्पन्न हो वैभव का अनुभव करता है ॥ ३ ॥"

---

१. अपर-ब्रह्म-प्रापकत्त्व प्रशंसार्थ है। अथवा वाक्यभेद स्वीकार कर एक एक मात्राविशिष्ट ॐकार की उपासना से अपरब्रह्म की प्राप्ति रूप फल समझा जा सकता है। 'अपरं तु ब्रह्म एकैकमात्रायतनमुपास्यमिति मन्तव्यम्' ऐसा भामती में (१.३.१३) कहा है। किन्तु यहाँ एकादिमात्राविशिष्ट की उपासना का विधान न होने से त्रिमात्रोपासना की प्रशस्तता में ही तात्पर्य मानना संगततर है। शंकरानन्द स्वामी ने आत्मपुराण में भी कहा है 'ब्रह्मलोकं त्रिमात्रेण यतोऽनावृत्तिसंज्ञितम्। व्रजेत्तेन त्रिमात्रोऽयं मुमुक्षोः शस्त ईरितिः' ॥ १७.१०९ ॥

२. 'एकमात्रम्—एकमात्रामात्रविशिष्टं प्रणवं यदि ब्रह्माभेदेनाभिध्यायीत—अकारसहितः प्रणवः प्राण—इति ध्यायीत। अकारस्य विराड्वाचकत्वेन तत्र तदुपास्तिस्तु युक्ता।'—इति वेदान्तसूत्रमुक्तावल्याम् (१.३ १३)। 'एकमात्राकालम्, अकारमात्रं वे'ति दीपिकायाम्। विद्याप्रकाशे तु 'सूत्राव्याकृतविज्ञानहीनो यदि विचिन्तयेत्। विराण्मात्रं तमोंकारं तदापि व्यर्थता नहि' ॥ ७.७६ ॥ इत्युक्तम्।

३. अर्थात् ऐसा ध्याता मर कर शीघ्र ब्राह्मण कुल में जन्म लेता है।

अगले वाक्य से (ॐकार की) स्तुति[१] करते हुए उसकी (ब्रह्म से) निकटतमता सिद्ध करते हैं—वह यद्यपि तीनों मात्राओं के विभाजन वाले ॐकार का जानकार नहीं होता—तात्पर्य है कि कटे टुकड़े वाला[२] भी (ॐकार) फल का उत्पादक होने से (सिद्ध होता है कि वह ब्रह्म के) निकटतम है। 'तीन मात्राओं के' (इत्यादि का) यह अर्थ है—ॐकार अकार आदि तीन मात्राओं वाला है और उसकी उपासना करनी चाहिए—यह नहीं जानता है, किन्तु यही जानता है कि केवल अकार की उपासना करनी चाहिए। तथापि ॐकार की उपासना करने वाला व्यक्ति (उकार-मकारात्मक) एक अंश का ज्ञान न होने से कर्म व उपासना दोनों के फल न पाकर दुर्गति को प्राप्त नहीं होता। तो क्या (पाता है) ? ॐकार के अभिध्यान के प्रभाव से अर्थात्[३] उसके एक टुकड़े के (–आकारके–) ध्यान के प्रभाव से उत्कृष्ट गति ही पाता है। तात्पर्य बताकर अब शब्दार्थ बताते हैं—यद्यपि—(श्रुतिस्थ) यदि-शब्द 'यद्यपि' अर्थ में प्रयुक्त है यह समझा दिया—ॐकार की मात्रात्रयात्मकता के ज्ञान से हीन[४] (व) एक मात्रा रूप टुकड़े का जानकार हुआ ही एक मात्रा रूप ॐकार का अर्थात् अकार का 'अभिध्यायीत' ध्यान करे, तथापि वह उसी से (अर्थात्) एकमात्रात्व[५] वाले ॐ कार के अर्थात् उसके एक टुकड़े के ध्यान से ही 'संवेदितः' संबोधित होकर[६] अर्थात् उस मात्रा के ध्यान से उस मात्रा के साक्षात्कार[७] वाला होकर 'तूर्णम्' जल्दी ही 'जगत्याम्' पृथ्वी पर प्राप्त करता है। कुछ[८] लोग यह व्याख्या करते हैं कि (अकाररूप) एक मात्रा प्रधान (समझो गयी) है जिसकी व दो

---

१. एकमात्रा के ध्यान का इतना फल है तो त्रिमात्र ॐकार के ध्यान का कितना अधिक फल होगा इसमें कहना ही क्या ?—इस प्रकार स्तुति है।
२. अकार की उपासना करें तो अन्य दो टुकड़े मानो कट गये।
३. अवयव-अवयवी में तादात्म्य होने से अभेदोपचार संगत है।
४. यह 'केवलः' शब्द का अर्थ है।
५. एकमात्रात्व वाली तो एक मात्रा ही होगी। अर्थात्—अकाररूप एक मात्रा के ध्यान से।
६. अन्वयार्थ पूर्वाकर्षण है।
७. अर्थात् उससे तादात्म्य वाला होकर।
८. पाठक्रम में यह वाक्य पूर्व है।

मात्राएँ (उकार-मकार) अप्रधान (समझी गयी) हैं जिसकी उस पूरे ॐकार की (उपासना करे, ऐसा प्रकृत वाक्य में विहित है)। दीपिका में[1] और वाचस्पतिकृत भामती में 'केवल अकार की (उपासना यहाँ बतायी है)' ऐसा प्रतिपादन है। पृथ्वी पर क्या प्राप्त करता है ?—इस प्रकार ('प्राप्त करता है' का) विषय पूछते हैं—क्या (प्राप्त करता है) ? 'मनुष्यलोकम्'-शब्द को यहाँ सम्बन्धित कर प्रश्न का उत्तर देते हैं—मनुष्य लोक अर्थात् मनुष्यशरीर प्राप्त करता है। पृथिवी पर मनुष्यलोक ही हमेशा स्थित हैं अतः ('पृथ्वी पर' कहने के बाद) 'मनुष्यलोक' कहना व्यर्थ है ? इस आक्षेप की निवृत्ति के लिए कहते हैं—क्योंकि पृथिवी पर पशु आदि अनेक शरीर सम्भव हैं (अतः 'मनुष्यलोक'-शब्दित मनुष्यशरीर कहना संगत है)। तो[2] उसे (साधक को) नियमतः मनुष्यशरीर की प्राप्ति कैसे ? इस प्रश्न के उत्तर के लिये कहते हैं—ऋचायें[3] पृथ्वी पर उस साधक को उन अनेक शरीरों में से मनुष्य-शरीर ही 'उपनयन्ते' प्राप्त कराती हैं। ऋचायें अर्थात् जिसका ध्यान किया गया है वह ॐकार की ऋग्वेदरूप[4] पहली एक अकाररूप

---

१. 'अकारमात्रम्' इति तत्र वैकल्पिकोर्थः। 'एकैकमात्रायतनम्' इति भामत्याम्। अतएव कृत्स्नमोंकारमिति व्याख्यानेऽरुचिः 'केचिदि'त्यनेनोक्ता। अत्र टीकायाम् दीपिकायाम् इति वचनान्नायं टीकाकार आनन्दगिरिस्वामीति निश्चप्रचं, तस्य शङ्करानन्दस्वामिनः पूर्वभावित्वाद्, आनन्दगिरीयत्वेन निश्चितासु टीकासु दीपिकावचनादर्शनाच्च। अतएव—दीपिकोद्धरणादेव (द्र० पृ० ६४१ पं० १३ M.R.I.)—ऐतरेयकभाष्यटीकाऽपि नानन्दगिरिकृता। अभिनवनारायणेन्द्रसरस्वतीस्वामी पंचीकरणं, तद्वार्तिकं, ऐतरेयकभाष्यं, छान्दोग्यभाष्यं, प्रश्नभाष्यं, मुण्डकभाष्यं, कठभाष्यं, केनभाष्यम्, आनन्दलहरीं च व्याख्यातवानिति प्रसिद्धम्। [द्र० पंचीकरणवार्तिकभूमिका, वाणीविलासमुद्रणालयात्प्रकाशिते वार्तिकाभरणघटिते वार्तिकग्रन्थे—ईस्वी० १९७०]। प्रकृताऽपि टीका ऐतरेयकटीकावत् तेन कृतेति संभावयामः। केचित्साम्प्रदायिका अप्येवं स्वीकुर्वन्ति—नानन्दगिरिटीकेयमिति। [द्र० कैलासाश्रमात्प्रकाशिते प्रश्नभाष्ये टिप्पणम्—पृ० ७]।

२. अगर अनेक शरीर सम्भव है तो।

३. अर्थात् उपासना के फलस्वरूप उसे निश्चित योनि प्राप्त हो जाती है।

४. अर्थात् ऋगभिमानिनी देवतायें।

मात्रा। 'पृथ्वी अकार है, वह ऋग्वेद है' (द्र० नृ० उ० ता० २.१) इस श्रुतिवचन से अकार की ऋग्वेदरूपता है, यह भाव है। क्योंकि अकार की ऋग्वेदरूपता है इसलिए[1] ऋचायें (ऋगभिमानिनी देवतायें) मनुष्यशरीर प्राप्त कराती हैं, यह अर्थ है। वह (उपासक) 'तत्र' मनुष्य जन्म में ब्राह्मण हुआ तपस्या, ब्रह्मचर्य और श्रद्धा से सम्पन्न हो 'महिमानम्' वैभव का अनुभव करता है, वीतश्रद्ध अर्थात् (शास्त्रमें) श्रद्धाहीन होकर (शास्त्र का उल्लंघन करते हुए) मनोनुकूल आचरण नहीं करता है। योगभ्रष्ट[2] साधक अर्थात् (उकार मकार रूप) एक हिस्से को न जानने वाला (अतएव उस हिस्से समेत उपासना न करने वाला) कभी भी दुर्गति नहीं पाता। इससे 'शुभ कार्य करने वाला कोई भी व्यक्ति कुत्सित गति नहीं पाता है' (गी० ६.४०) इस गीतावाक्य की (प्रकृत बात में) अनुमति सूचित की ॥ ३ ॥

"प्रणव की शरण लेकर[3] यदि द्वितीयमात्राविशिष्ट ॐकार का—अर्थात् उकार का—ध्यान करे और मनःशब्दित उकार से तादात्म्य पा जाये तो यजुरभिमानिनी देवताओं द्वारा अन्तरिक्ष में स्थित चन्द्रलोक को[4] ले जाया जाता है। वह चन्द्रलोक में वैभव का अनुभव कर पुनः मनुष्यलोक को लौट[5] जाता है ॥ ४ ॥"

'अथ' और अगर द्वितीय मात्रा रूप टुकड़े का जानकार (होकर) द्वितीय मात्रात्व[6] वाले ॐकार का अर्थात् ॐकार में स्थित उकार का; न कि दो मात्राओं का, क्योंकि अकार को पूर्ववाक्य में ही कहा जा चुका

---

१. टीकामनुसरता तेनेत्यन्तं वाक्यं भाष्ये स्वीकार्यं, मुद्रितपुस्तकेषु तेनेत्यतः पूर्वं विरामो दृश्यते, तथात्वे, यत उपनयन्ते तेन न दुर्गतिं गच्छति साधक- इत्यन्वयः स्पष्टः।

२. साधना में प्रवृत्त व्यक्ति जो सिद्धि पाने से पूर्व ही मर जाये वह योगभ्रष्ट कहलाता है।

३. प्रणवेतरसाधनत्यागानन्तर्यमथशब्दार्थ इति उपनिषद्योगी।

४. 'सोमस्य प्रियदर्शनस्य लोकं प्रियदर्शनं, मनुष्यानन्दादभ्यधिकानन्दं पित्रादिशरीरमित्यर्थः'। इति दीपिका॥

५. उपास्तेः कर्मविशेषतया तदर्जितपुण्यावशेषपर्यन्तं स्थित्वा सानुशयः पुनरायातीति बोध्यम्।

६. द्वितीयमात्रत्वेनेति टीकायां 'त्वे चे'ति (६.३.६४) ह्रस्वः। द्वितीयमात्रात्वं द्वितीयमात्रायामेव स्यात्।

है। (क्योंकि यहाँ उकार का ग्रहण है) इसलिए आगे 'द्वितीयमात्रारूप' कहेंगे। श्रुति में द्वितीयाविभक्ति के तात्पर्य से तृतीयाविभक्ति का प्रयोग है कारण कि प्रारम्भ में (५.१) 'ॐकार का चिन्तन करता है' इस प्रकार (चिन्तन या अभिध्यान के विषयरूप से, न कि साधन रूप से, ॐकार को) कहा था (और द्वितीयाविभक्ति से विषयता का लाभ होता है)। यह ('द्विमात्रेण' शब्द का 'द्विमात्रेण विशिष्टमोंकारम्' व्याख्यान करने का) अभिप्राय है। ध्यान करे (और) इस प्रसंग में सीधे ही[1] मन से अभिन्न होना न साधनरूप से और न फलरूप से[2] सम्बन्ध रखता है अतः मनःशब्द से उसके कार्य स्वप्न आदि को लक्षित करने के द्वारा[3] अन्य श्रुतिप्रसंग में[4] स्वप्नरूप, यजु-रूप आदि रूपों वाला बताया गया उकार[5] ही लक्षणा से समझा जाता है, यह बताते हैं—स्वप्नरूप, 'मनसि' विचार करने योग्य, यजुर्वेदात्मक व सोम देवता[6] वाले (उकार में) एकाग्रता से 'सम्पद्यते' तादात्म्य पा जाता है, 'जो उकार से तादात्म्य हो जाने तक अभिध्यान करता है'—यह वाक्य का अर्थ है, यह तात्पर्य है। वह इस प्रकार तादात्म्य पाया हुआ व्यक्ति द्वितीयमात्रा-रूप यजुओं के[7] द्वारा अन्तरिक्ष में आधारित द्वितीयमात्रारूप चन्द्रलोक को ले जाया जाता है, अर्थात् यजुरभिमानिनी देवतायें उसे चन्द्र-

---

१. मनःशब्दवाच्य से ही, यह अर्थ है।

२. मनस्तादात्म्य सिद्ध होने से फल नहीं और उसी कारण से विशिष्ट फल का उपाय भी नहीं, अन्यथा अब तक फललाभ कभी का हो चुकता।

३. मनःशब्द से स्वप्न में लक्षणा व उससे उकार में लक्षणा है। एवं च लक्षित-लक्षणा का स्थल है।

४. 'स्वप्नस्थानस्तैजस उकारो द्वितीया मात्रा' (मां० १०), 'द्वितीयाऽन्तरिक्षं स उकारः स यजुर्भिर्यजुर्वेदो विष्णूरुद्रास्त्रिष्टुब्दक्षिणाग्निः' (नृ० पू० २.१; उत्तरता० ३) इत्यादिश्रुतिरनुसन्धेया। यजुर्भिर्यजुर्वेद इति संहितया सह ब्राह्मणमित्यर्थः।

५. श्रुत उकारः, श्रुतोकार इति वा पाठः, श्रुतोङ्कार इति स्वपपाठः। यथा श्रुतेऽपि ओङ्कार इत्यस्य तदवयव उकारइत्येवार्थं इति द्रष्टव्यम्।

६. उकारस्य सोमदैवतत्वे मूलमन्वेषणीयम्।

७. तदभिमानिनी देवताओं द्वारा।

लौकिक[1] जन्म दिलाती हैं। वह वहाँ चन्द्रलोक में वैभव का अनुभव कर पुनः मनुष्यलोक की ओर लौट जाता है। इस प्रसंग में कुछ विचारक कहते हैं कि 'जो यद्यपि' (५.३) से 'और जो' (५.५) तक का ग्रन्थ (तीन मात्राओं वाले ॐकार की उपासना की) स्तुति नहीं है किन्तु निर्दिष्ट (मनुष्य लोक व चन्द्रलोक रूप) फल प्राप्ति के लिए (क्रमशः) अकार में विश्व से अभिन्न विराट् की उपासना विवक्षित है और उकार में तैजस से अभिन्न हिरण्यगर्भ की उपासना विवक्षित है। उनके मत में (यहाँ) मनःशब्द से हिरण्यगर्भ कहा जा रहा है जो स्वप्न का अभिमानी है (=तैजस से अभिन्न है) और ब्रह्माण्ड जिसका कार्य है[2], यह बताने के लिए (भाष्य में) स्वप्नरूप आदि विशेषण हैं, यह समझ लेना चाहिये। (शंकरानन्दस्वामिविरचित) दीपिका में[3] तो मिली हुई (अकार व उकार रूप) दो मात्राओं की उपासना (विवक्षित मानी है) और मन में सम्पन्न होने का अर्थ किया है—एकाग्रता पूर्वक मन से चिन्तन॥ ४॥

"और जो इसका अर्थात् तीन मात्रा वाले ॐ इसी अक्षर का परम पुरुष के प्रतीक रूप से ध्यान करता है वह तेजोरूप सूर्य से तादात्म्य पाता है। जैसे साँप केचुलि से छूट जाता है ऐसे निश्चय ही वह पाप से छूट जाता है वह सामाभिमानिनी देवताओं द्वारा ब्रह्मलोक को ले जाया जाता है। वह इस परम (जीवघन) हिरण्यगर्भ से भी परम व सब शरीरों में स्थित (परब्रह्म रूप) पुरुष को जान लेता है। इस विषय में ये दो मन्त्र हैं—॥ ५॥"

---

१. अथवा सोमसदृश—यह अर्थ है। सोम इव 'शाखादिभ्योयः' (५.३.१०८) सोम्यः, प्रज्ञाद्यण् (५.४.३८) सौम्यं जन्म शरीरमित्यर्थः।

२. अण्डः परिणामो यस्य सोऽण्डपरिणामः, स एव स्वप्नाभिमानीति समासार्थः।

३. 'द्विमात्रेण द्विमात्राकालेन, अकारोकाराभ्यां वा। मनसि सम्पद्यते अन्तःकरणे सम्पन्नो भवति, अभिध्यायेदित्यर्थः।' इति तत्र वाक्यम्। गौडब्रह्मानन्दास्तु 'द्विमात्रेण अकारोकारविशिष्टं प्रणवमभिध्याय' न्निति व्याचक्षते (वेदान्तसूत्रमुक्तावल्याम् १.३.१३)। स्तुतौ तात्पर्याद्व्याख्यान्यथात्वं न दोषः। उपास्तिविध्यभ्युपगमपक्षस्तु केचिदित्युक्त्याऽरुचिग्रस्तः, तत्र वाक्यभेदादिप्रसंगादित्याकरे विस्तरः।

इस प्रकार ॐकार की प्रशंसा करके उसकी उपासना का विधान करते हैं जिस उपासना का विषय पर ब्रह्म है[1]—और जो इस ॐकार को, अर्थात् 'त्रिमात्रेण' तीनों मात्राओं को विषय करने वाली उपासना के विषयभूत—अर्थात् तीनों मात्राओं वाले ॐकार की, उपासना (विवक्षित है)—; पूर्व पर्यायों की तरह यहाँ भी 'त्रिमात्रेण' (= तीन मात्रा वाले) इस प्रयोग में मकाररूप तीसरी मात्रा उपास्यतया कही जा रही है इस भ्रम को[2] हटाने के लिए कहा—ॐ इसी अक्षर को; जिस मत में पूर्व पर्यायों में उस-उस मात्रा की प्रधानता वाला ॐकार ही कहा जा रहा है उस मत में इसी पर्याय में यह (ॐ इस अक्षर) विशेषण असंगत होगा क्योंकि पहले पर्यायों में भी ॐकार ही कहा गया है (एवं च उसी का प्रसंग होने से उसे पुनः कहना व्यर्थ है)। अतः वह मत अनुचित सा[3] प्रतीत होता है। सूर्य में होने वाले परम पुरुष के; 'त्रिमात्रेण' (इसका शब्दशः अर्थ : तीन मात्रा वाले के द्वारा) यह तृतीया विभक्ति सुनी गयी होने से ॐकार प्रतीक नहीं, (यदि) वैसा है (= वह प्रतीक हो) तो (ध्यान का) विषय होने से (ध्यान-क्रिया के प्रति) कर्मकारक होने के कारण द्वितीया विभक्ति होती।

---

१. अर्थात् परब्रह्म की दृष्टि से प्रणवोपासना विधित्सित है जैसे विष्णुदृष्टि से शालग्राम की उपासना बतायी जाती है। क्योंकि ध्यान के चरम फलस्वरूप परब्रह्म का ज्ञान होना बताया है अतः ध्यान परब्रह्मविषयक है यह स्वीकारना पड़ता है, यद्यपि ध्येय सविशेष ही हो सकता है ऐसा स्वीकारा गया है जिससे ध्यान की प्रणवरूप कल्पित वस्तु विषयकता मानना अनिवार्य है। '.....निर्विशेषस्य...ध्येयत्वस्य निषिद्धतया, ध्यानं सर्वत्र कल्पितगुणविशिष्टविषयमिति वक्तव्यम्...इति चेत् ? उच्यते...अस्ति चात्र विधेयस्य ध्यानस्य प्रणवरूपकल्पितवस्तुविषयत्वेपि ईक्षणीयब्रह्मविषयत्वमपि, अतो न दोषः' (परिमले पृ० २८७-८)।

२. ये तु प्रत्यक्षरमप्युपासनं विधित्सन्ति तन्मतेऽत्रापि तृतीयमात्रोपासनं तच्च सूर्यफलकम्। अत एव तिस्रो मात्रा मृत्युमत्य इत्युत्तरश्लोकः संगच्छते। समग्रोपासनं तु परपुरुषदर्शकमिति द्रष्टव्यम्। परमाकरविरोधात्प्रकृतभाष्ये च मकारोपास्यकथनान्नायं पक्षः श्रेयानिति दिक्। दीपिकायामपि 'अकारो-कारमकाररूपेण' इत्येव व्याख्यातम्।

३. वस्तुतस्तु अनुपपन्नमिवानुपपन्नमेवेत्यर्थः।

(यदि प्रतीक नहीं) तो क्या है ? अभिध्यान कराने वाला होने से (ध्यान का) साधन ही है, (यह) तृतीया विभक्ति के आधार पर पता लगता है।—इस (= प्रतीकता न होने के) भ्रम को हटाते हैं—प्रतीक रूप से ध्यान करता है 'वह तृतीय मात्रात्मक यद्यपि तीनों मात्राओं के ध्यान से ध्याता का तीनों मात्राओं के स्वरूप वाला होना ही (संगत) है तथापि इस पर्याय में क्योंकि तीसरी मात्रा ही नवीन है इसलिए उसकी प्रधानता से (उसका) कथन है यह समझना चाहिए। 'तृतीय मात्रात्मक में'—ऐसा सप्तमीविभक्ति वाले पाठ में[2] वह शब्द सूर्य का विशेषण है क्योंकि मकार आदित्यरूप[3] है। तेजोरूप सूर्य से तादात्म्य वाला हो जाता है। ['त्रिमात्रेण' की तृतीया को उपपादित करते हैं—] ॐकार (ध्यान का) कर्म (= विषय) होने पर भी कारक (तो) है (ही) अतः अभिध्यानरूपक्रिया का सम्पादक होने से (उसका) कारण है, इसलिए केवल उसकी कारणता की विवक्षा से तृतीयाविभक्ति उपपन्न है, यह तात्पर्य है। इस प्रकार (तृतीयांत की द्वितीयान्ततया) व्याख्या में हेतु बताते हैं—(ॐकार) पर और अपर ब्रह्म हैं' (५.२) इस तरह (पर व अपर ब्रह्म से ॐकार के) अभेद को कहने वाली श्रुति से ॐकार की प्रतीक रूप से आलम्बनता[4] का प्रसंग चला हुआ है। तात्पर्य है कि (ॐकार की) प्रतीकरूपता होने पर आलम्बन और उस पर जिसकी दृष्टि का आरोप किया जा रहा हो, उन दोनों का अभेद मान कर अभेदबोधक श्रुति संगत हो जाती है, किन्तु (ॐकार की) करणरूपता होने पर वह श्रुति संगत नहीं[5] हो पाती। (प्रतीक की अपेक्षा) अन्य प्रकार से (ॐकार को समझने पर) 'ॐ कारम्' (५.१) आदि अनेक बार—अर्थात् 'ॐकारमभि-

---

१. भाष्य में यद्यपि वाक्य-संगति यही है तथापि मध्य में तृतीया को द्वितीया के रूप में समझना क्यों आवश्यक है इसका विचार किया है। वाक्यार्थस्पष्टता के लिये पहले वाक्य का अन्वितार्थ कर फिर उस विचार का अनुवाद है।

२. आनन्दाश्रम संस्करण में निर्दिष्ट है कि पाँच प्रतियों में सप्तम्यन्त पाठ है।

३. अत्रापि मूलमन्वेषणीयम्।

४. अर्थात् ध्यान के प्रति विषयता।

५. आलम्बन व अध्यस्यमान के अभेद की तरह साधन से अभेद प्रसिद्ध न होने के कारण।

ध्यायीत' (ॐकार का चिन्तन करता है), 'स यद्येकमात्रमभिध्यायीत' (५.३) (जो यद्यपि....एक मात्रा वाले ॐकार का अभिध्यान करता है) इस प्रकार दो बार[1]—सुनी द्वितीया विभक्ति बाधित होगी। 'अथ यदि द्विमात्रेण' (५.४) (=शब्दशः अर्थ है—और अगर दो मात्रा वाले के द्वारा), 'यः पुनरेतं त्रिमात्रेण' (५.५) (=शब्दशः अर्थ है—और जो इसका तीन मात्रा वाले के द्वारा) इस प्रकार तृतीया विभक्ति भी दो बार सुनी गयी है और उसे[2] (कर्मकारक होने से) हेतु होने के कारण उपपन्न करने की अपेक्षा करण (साधन) होने के कारण उपपन्न समझना उचित है क्योंकि तब तृतीया क्रिया से यथाविहित अर्थ वाली होगी[3]; अतः उसका (तृतीया का) बाध भी ठीक नहीं—यह शंका उठाते हैं—यद्यपि तृतीयान्त पदद्वारा कहा होने से (ॐकार की) साधनता संगत (प्रतीत होती) है, (ॐकार की) कर्मता होने पर दोनों द्वितीयाओं की भी संगतता होने से और उपक्रम में स्थित होने से[4] दोनों द्वितीयाश्रुतियों की ही अधिक बलवत्ता है, यह निराकरण देते हैं—तथापि प्रकृत के अर्थात् जिसे बताना प्रारम्भ किया गया है उसके आधार पर 'तीन मात्रा वाले का परम पुरुष (से अभेदेन

---

१. 'यः पुनरेतम्' (५.५) इत्यस्यापि गणने त्रिवारम्।

२. सिद्धान्ती ने तृतीयाविभक्ति का कथंचिद्व्याख्यान किया था 'तस्य कर्मत्वेपि' (पृ० १९२ पं० २७ M.R.I.) इत्यादि द्वारा, उसकी आलोचना करता हैं—उसे इत्यादि से।

३. क्रिया से यथाविहित अर्थ वाली विभक्ति कारकविभक्ति कही जाती है। सिद्धान्ती के व्याख्यान में तृतीया लाक्षणिक अर्थ वाली होगी। कारकविभक्तिता संभव होने पर लाक्षणिकार्थता संगत नहीं।

४. उपक्रम का यह पराक्रम पूर्वमीमांसा में (३.३.१) निर्धारित है। 'त्रयो वेदा असृज्यन्त, अग्नेः ऋग्वेदः' इत्यादि से उपक्रम कर उपसंहार में 'उच्चैः ऋचा क्रियते' इत्यादि विधान है। संशय है कि ऋचापद ऋङ्मात्रबोधक है कि ऋग्वेदबोधक है? ऋक्शब्द मंत्रमात्रार्थक है ऐसा 'तेषामृग्यत्रार्थवशेन' में स्थित है अतः शंका स्वाभाविक है। निर्णय है कि उपक्रम में ऋक्पद ऋग्वेदपरक है व असंजातविरोधी है अतः प्रबल होने से विधिगत भी ऋचा-पद को उपसंहारस्थ अतः संजातविरोधी होने से बाध कर ऋग्वेदपरक बना देगा। तात्पर्य है कि उपक्रम का बल उपसंहार से अधिक होता है।

ध्यान करता है)' यों ('त्रिमात्रेण' इस तृतीयान्त को) द्वितीयान्त बना लेना चाहिए। और भी, दो द्वितीयान्तप्रयोग, पूर्वोक्त अभेद श्रुति ('परं चापरं····ॐकारः'), 'इसी साधन (आयतन) द्वारा पर-अपर में एक को प्राप्त कर लेता है' (५.२) और 'आयतन द्वारा प्राप्त करता है' (५.७)— इस तरह दो बार आया प्रतीक-वाचक आयतन शब्द; यों अनेक (अर्थात् पाँच) श्रुतियों की अनुकूलता के लिए दो तृतीयाओं को छोड़ देना चाहिये, यह कहते हैं—कुल के हित के लिए (आवश्यक होने पर) एक को छोड़ देना चाहिए'—इस नीति से (अधिक श्रुतियों के स्वारस्य के लिए दो श्रुतियों का तदनुकूल व्याख्यान कर लेना उचित है)।

(समस्त ॐकार का) ध्यान करते हुए मर जाये तो भी सोमलोक (चन्द्रलोक) आदि की तरह सूर्य से पुनः लौटता नहीं किन्तु उससे केवल तादात्म्य वाला ही रहता है। जैसे 'पादोदरः' साँप केंचुली से छूट जाता है (अर्थात्) पुरानी खाल से छूट कर पुनः नया (=नयी खाल वाला) हो जाता है, जैसे यह प्रसिद्ध दृष्टान्त है वैसे ही वह (उपासक) साँप की केचुलीस्थानीय अशुद्धिरूप पाप से छूटकर तृतीय-मात्रारूप सामाभिमानिनी देवताओं द्वारा 'ब्रह्मलोकम्' हिरण्यगर्भरूप ब्रह्म के सत्य नामक लोक को ऊपर की ओर ले जाया जाता है। 'आगे आने वाला विषय पहले ही समझा देना चाहिए' इस नीति से हिरण्य-गर्भ की जीवघनरूपता की संगतता समझाते हैं—वह हिरण्यगर्भ सब संसारी जीवों का आत्मरूप है[२]। लिंग रूप से अर्थात् समष्टि सूक्ष्म-

---

१. कुल के हित में हो तो एक व्यक्ति का परित्याग उचित है, एक व्यक्ति के हित के लिये कुल का परित्याग नहीं। गाँव के हित में हो तो कुल का परित्याग कर देना चाहिये। राष्ट्र के हित में हो तो गाँव छोड़ देना चाहिये। आत्मलाभ के लिये सारी पृथ्वी को त्याग देना चाहिये। यह महाभारत में (५.३७.१७) नीतिवचन है। तात्पर्य है कि अधिक का हित हो तो कम की हानि सह लेनी चाहिये। प्रकृत में ॐकार को प्रतीक स्वीकारने से अनेक श्रुतियाँ यथाश्रुत ठीक रहती हैं अतः दो तीन तृतीयाश्रुतियों की स्वार्थहानि सहनी उचित है।

२. संसारी जीव जीवाभास हैं, मुख्य जीव तो हिरण्यगर्भ है। जैसे बिम्ब प्रति-बिम्ब का आत्मा कहाता है वैसे हिरण्यगर्भ संसारी जीवों का आत्मा है। अथवा, हिरण्यगर्भ के अंश संसारी जीव हैं। अंशी होने से वह उनका आत्मा

शरीररूप से वही सब प्राणियों का अन्तरात्मा[1] है। उस समष्टि सूक्ष्मात्मक में ही सब जीव समाये हुए हैं। समष्टि सूक्ष्माभिमानी हिरण्यगर्भ में व्यष्टि सूक्ष्माभिमानी सब जीव वैसे ही समाए हुए हैं जैसे गोत्वसामान्य में विकलांग, शृंगरहित आदि गोव्यक्तियां[2], यह अर्थ है। इसलिए वह जीवघन है। अब वाक्यार्थ बताते हैं—तीन मात्रा वाले ॐकार से परिचित अभी ध्यान करता हुआ वह जानकार बाद में ब्रह्मलोक को प्राप्त होता है। वहाँ ब्रह्मलोक में स्थावर-जगमों से परे इस जीवघनरूप हिरण्यगर्भ से (भी) परम, 'पुरिशयम्' सब शरीरों में घुस कर रहने वाले परमात्मा नामक पुरुष को जान लेता है, उससे (=जान लेने से) मुक्त हो जाता है। इस विषय में यथोक्त बात स्पष्ट करने वाले दो मन्त्र हैं— ॥ ५ ॥

"अकारादि तीनों मात्रायें प्रत्येक तो मृत्यु के क्षेत्र में ही फल देने वाली हैं। इन्हें आपस में सम्बद्ध[3] कर और इनसे जाग्रद् आदि प्रत्येक को विषय करते हुए इनका यों सम्यक् ध्यान किया जाने पर कि जाग्रदादि अवस्थाओं का,[4] स्थूलादि शरीरों का, विश्वादि व्यष्टि अभिमानियों का और विराडादि समष्टि अभिमानियों का अकारादि से तादात्म्य है, ध्याता (सिद्धि पाकर) विक्षिप्त नहीं होता, (मृत्यु के क्षेत्र से निकल जाता है) ॥ ६ ॥"

है। उपहितप्राधान्येन आत्मत्व कहकर उपाधिप्राधान्येन भी आत्मत्व बताते हैं—लिंगरूप से इत्यादि द्वारा।

१. विज्ञानमय को यहाँ आत्मा कहा गया समझना चाहिये।

२. जैसे गोमात्र कहने पर सब गोव्यक्तियाँ कह दी जाती हैं ऐसे हिरण्यगर्भ कह देने पर सब जीव कह दिये जाते हैं यह तात्पर्य है। खण्डादि व्यक्तियों व गोत्व में जैसे भेदाभेद है वैसे हिरण्यगर्भ व जीवों में समझना चाहिये।

३. अकारार्थ का उकारार्थ से अभेद, उकारार्थ का मकारार्थ से अभेद, मकारार्थ का ॐकारार्थ परब्रह्म से अभेद—यह इनका आपसी सम्बन्ध समझना चाहिये। पंचीकरणप्रकरण में इसका विस्तार दर्शनीय है।

४. श्रुतिस्थ बाह्यपद जाग्रदादि का, आभ्यन्तरपद सुषुप्ति आदि का और मध्यमपद स्वप्नादि का बोधक है। दीपिका में अर्थान्तर भी किया है : बाह्यसे यागादिक्रियायें, आभ्यन्तर से प्राणायामादि व मध्यम से मानस जप आदि समझे जा सकते हैं।

उन मंत्रों में प्रथम मंत्र 'और जो इसका' (५.५) इत्यादि वाक्य से कहे अर्थ को बताता है यह स्पष्ट करते हैं—ॐकार की अकार, उकार व मकार नाम वाली 'तिस्रः' गिनती में तीन मात्रायें हैं। 'मृत्युमत्यः' मृत्यु जिनकी है वे मत्युमती (कहाती हैं, इसका) अर्थ है (कि वे मात्रायें) मृत्यु की विषयता से परे नहीं हैं, मृत्यु की विषयभूत ही हैं—अर्थात् केवल एक-एक की और उनमें ब्रह्मदृष्टि किये बिना उपासना करने वाले मृत्यु रहित नहीं हो पाते इसलिये (वे मात्रायें मृत्युमती—मृत्यु वाली हैं)। वे (मात्रायें) आत्मा का ध्यान करने की क्रियाओं में प्रयुक्त की जाती हैं।[1] यदि उनका ब्रह्मदृष्टि से और संश्लिष्ट रूप में अर्थात् मिलाकर प्रयोग हो तो यह (मृत्युवत्व) दोष नहीं होता[2] यह बताते हैं—और भी, 'अन्योन्यसक्ताः' आपस में सम्बन्धित होकर (और) 'अनविप्रयुक्ताः'—विशेषता पूर्वक अर्थात् (जाग्रदादि) प्रत्येक के विषय में ही प्रयुक्त (हों तो) विप्रयुक्त (कहाता है); वैसे विप्रयुक्त न हों (तो) अविप्रयुक्त (कही जायें); अविप्रयुक्त न हों (तो) अनविप्रयुक्त (कहा जाता है; यों—अनविप्रयुक्त होकर वे आत्मा का ध्यान करने की क्रियाओं में प्रयुक्त की जाती हैं)। तो (उनके प्रयोग का विधान) क्या है? ध्यान के प्रत्येक समय में बाह्य, आभ्यन्तर और मध्यम—तीनों क्रियाओं में (अर्थात्) जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति के स्थानों व उनके अभिमानी पुरुषों के[3] अभिध्यानरूप ध्यानात्मक क्रियाओं में—जाग्रदवस्था का अभिमानी पुरुष वैश्वानर से अभिन्न विश्व है, उसके स्थान हैं स्थूलशरीर

---

१. आपस में सम्बद्ध कर इत्यादि ढंग से आत्मध्यान में प्रयुक्त होने पर मृत्यु की अतिक्रान्ति रूप फल का कारण बनती है, यह अर्थ है। पुनः पुनः ध्यान करना बताने के लिये 'क्रियाओं में' यह बहुवचन है।

२. केचित्तु—अन्योन्यसक्ता अनविप्रयुक्ताश्च मृत्युमत्यः, सम्यक्प्रयुक्तासु न कम्पते ज्ञ इत्यन्वयमिच्छन्ति। तत्र अन्योन्यसक्ता इति मात्राद्वयस्य सम्भूयग्रहणम्, अनविप्रयुक्ता इत्येकैकमात्राग्रहणमित्यर्थं ब्रुवते। तन्मते द्विमात्रेणेति मात्राद्वयमित्यर्थः। एवं च 'स यद्येकमात्र' मित्यादिग्रन्थस्यात्र अर्थः सूचितो भवतीति द्रष्टव्यम्। भाष्ये तु अन्योन्यसक्ता अनविप्रयुक्ताश्च ध्यानक्रियासु प्रयुक्ता भवन्तीति सम्बन्धः। ध्यानक्रियासु प्रयोगः कथम्? तत्राह—बाह्याभ्यन्तरेत्यादिना।

३. स्थानभेद की अपेक्षा से बहूक्ति है।

और जागरित अवस्था; स्वप्न का अभिमानी पुरुष तो हिरण्यगर्भ से अभिन्न तैजस है, उसके स्थान हैं सूक्ष्मशरीर और स्वप्नावस्था; सुषुप्ति में (अभिमानी पुरुष) ईश्वरात्मक प्राज्ञ है, उसके स्थान हैं अविद्या[1] और सुषुप्ति अवस्था। इनका अकारादि से अभेद है ऐसा जो अभिध्यान तत्स्वरूप योगक्रियाओं में (=ध्यानक्रियाओं में)—(अर्थात्) ठीक तरह से ध्यान करते समय यदि अन्योन्यसक्त और अनविप्रयुक्त तीनों मात्रायें प्रयुक्त हों तो उचित ढंग से प्रयोग में लायी जाने पर[2] (उनके प्रभाव से) ॐकार के यथोक्त अर्थात् 'अकार आदि तीनों' (५.६) आदि मंत्र में बताये विभाजन[3] का जानकार 'ज्ञः' अभिध्याता 'न कम्पते' विचलित नहीं होता। [4]इससे ॐकाररूप समझते हुए[5] सर्वस्वरूप परब्रह्म ईश्वर के विषय में ध्यान (विधित्सित) बताया। क्योंकि जाग्रत्, स्वप्न व सुषुप्ति के अभिमानी पुरुष अपने स्थानों सहित मात्रात्रयात्मक ॐकाररूप अभिध्यात हो चुके हैं इसलिये ऐसा वह उपासक (अभिध्यान परिपाक से) ॐकारात्मक (हो चुकता है अतः) किस कारण से या किस विषय में[6] विचलित हो ? विचलित होने का अर्थ है विक्षिप्त होना। अपनी सर्वात्मकता होने से अपने से भिन्न (क्रिया, कारकादि) कुछ नहीं है

---

१. अव्याकृत शब्द अविद्यार्थक ही है।

२. सम्यक्प्रयुक्तास्विति व्यधिकरणेन योजितम्। अतएव 'किन्तर्हीं' ति भाष्यं स्वरसम्। टीकायान्तु समानाधिकरणान्वयः, चेदिति चाध्याहृतमिति द्रष्टव्यम्।

३. ॐकार का तीन मात्राओं में विभाजन है, तीनों का जाग्रदादि प्रातिस्विक अर्थ है और तीनों को अन्योन्यसक्त व अनविप्रयुक्त ही प्रयोग में लाना चाहिये—यह विभाजन पद का अर्थ है।

४. सौकर्याय टीकावाक्यमिदं प्रच्याव्य व्याख्यातम्। अनेनेति जाग्रदाद्यभिमानिनां समष्टयभेदेनाध्यारोपं विधाय अकारादीनामन्योन्यसक्ततया तदर्थानामप्यन्योन्यसंगत्याऽभेदरूपया यद्ध्यानमुक्तं तेनेत्यर्थः।

५. अर्थात् ॐकार को प्रतीक जानकर सर्वात्मक परमेश्वर उससे अभिन्न है ऐसे चिन्तन की विवक्षा है। यहाँ ईश्वरपद परब्रह्मपरक ही है। ईक्षतिकर्माधिकरण में (१.३.४.१३) परब्रह्म ही इस प्रकरण में ध्येय है ऐसा निर्णीत है।

६. कारण से जनक व विषय से प्रयोजन समझना चाहिये। 'ओमित्येदक्षरमिदं सर्वम्' (मां० १) आदि में ॐकार की सर्वात्मकता होने से तत्क्रतुन्याय से ध्याता की सर्वात्मकता संगत है।

अतः विचलन सम्भव नहीं है। इसलिए किस कारण से या किस विषय में विचलित हो (अर्थात् किसी कारण से या किसी विषय में विचलित नहीं होता) यह तात्पर्य है ॥ ६ ॥

पूरे प्रश्न के अर्थ को संक्षेप से बताने के लिये दूसरा मन्त्र है—

"साधक ॐकाररूप प्रतीक में अभिध्यान से ही ऋगभिमानिनी देवताओं द्वारा इस मनुष्यलोक को, यजुरभिमानिनी देवताओं द्वारा अन्तरिक्ष लोक को और सामाभिमानिनी देवताओं द्वारा उस ब्रह्मलोक को, जिसे मेधावी लोग ही जानते हैं, प्राप्त कर लेता है। और उस ही ॐकाररूप प्रतीक में अभिध्यान से जो शान्त, अजर, अमृत, अभय, परम ब्रह्म है उसे पा लेता है। यह (वाक्य पूरा हुआ) ॥ ७ ॥"

ऋगभिमानिनी देवताओं द्वारा मनुष्यों द्वारा उपलक्षित इस लोक को[1] (पाता है)। यजुरभिमानिनी देवताओं द्वारा चन्द्रमा की अध्यक्षता वाले अन्तरिक्षलोक को (पाता है)। सामाभिमानिनी देवताओं द्वारा उस तीसरे ब्रह्मलोक को (पाता है) जिसे 'कवयः' मेधावी अर्थात् उपासक ही जानते हैं[2], अनुपासक नहीं। अपरब्रह्मरूप उस तीन प्रकार के लोक को ॐकार के अभिध्यानरूप[3] साधन से उपासक प्राप्त कर लेता है। अपरब्रह्म की प्राप्ति के लिए[4] जो ॐकार प्रयुक्त है उसी के सहारे परब्रह्म भी (साधक) पा लेता है, अलग से प्रयुक्त ॐकार (परप्राप्ति का साधन हो ऐसा) नहीं, क्योंकि ब्रह्मलोक में उत्पन्न हुए निर्विशेष ब्रह्म के साक्षात्कार के द्वारा उक्त ॐकार क्रम से[5] मुक्ति रूप फल वाला है,—यह बताते हैं—उस ही ॐकार से अर्थात् जिस ॐकाराभिध्यान से

---

१. अर्थात् मनुष्य शरीर को। यह लोक नाना प्राणियों के लिये साधारण है अतः मनुष्योपलक्षित है।

२. क्योंकि वे ही उस तक पहुंचते हैं।

३. ॐकारेणेति तदभिध्यानेनेत्यर्थः। अभिध्यानं हि साधनं नोंकारः, प्रतीकमात्रत्वात्तस्य।

४. जैसे सुखार्थ धन के लिये धंधा प्रयुक्त होता है ऐसे परलाभार्थ अपरप्राप्ति के लिये ॐकार प्रयुक्त है। अपरप्राप्ति स्वयं फल नहीं है किंतु परप्राप्ति के लिये द्वारस्थानीय है।

५. ब्रह्मलोक में साक्षात्कारोत्पत्ति ही क्रम है। वह उत्पत्ति उक्त उपासना के कारण होती है अर्थात् ब्रह्मलोक में पैदा होकर भी उपासक भोगपरायण न

अपरब्रह्म पाता है उसी से परब्रह्म को भी पाता है यह 'ही' शब्द का अर्थ है; जो वह अक्षर[१], सत्य, 'शान्तम्' विमुक्त अर्थात् जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति आदि विशेषतात्मक समस्त प्रपञ्च से रहित[२], अत एव 'अजरम्' जीर्ण न होने वाला, 'अमृतम्' मृत्युरहित, अत एव अर्थात् क्योंकि जरा और विकार[३] वाला नहीं इसीलिए निर्भय, क्योंकि निर्भय इसीलिए 'परम्' निरतिशय[४], पुरुष नामक पर ब्रह्म है उसे भी ॐकाररूप प्रतीक से—(पर-) प्राप्ति के साधन से[५] पा लेता है यह अर्थ है। 'उसे भी ॐकार (रूप प्रतीक) से'—यहाँ पुनः ॐकार कहना प्रतीक के विशेषण रूप से है इसलिए पुनरुक्ति[६] नहीं, यह समझना चाहिए। 'यह' शब्द वाक्य की समाप्ति (बताने) के लिए है ॥ ७ ॥

इति पञ्चम प्रश्न

होकर श्रवणादिपरायण ही होता है और उसे श्रवणादि के अनुकूल साधन उपलब्ध हो जाते हैं जिनसे साक्षात्कार अवश्य होता है।

१. अर्थात् व्यापक। क्षरणनिषेध 'अजरम्' से किया है।

२. अर्थात् निर्विशेष। अतएव निःसामान्य भी जानना चाहिये।

३. अन्त्यविकार विवक्षित है। अथवा जरारूपविकार वाला न होने से—यह समझना चाहिये।

४. उससे अधिक सामर्थ्यादि वाला कोई नहीं। कदाचित् न्यून सामर्थ्य वाले से भी भय होता है जैसे हाथी को चींटी से, अतः उसमें कम सामर्थ्य वाला भी कोई नहीं यह भी समझना चाहिये। उससे भिन्न कोई नहीं जिसमें सामर्थ्य हो।

५. प्रतीक बनकर ॐकार परप्राप्ति का साधन बन जाता है।

६. 'उसी ॐकार से'—यों वाक्यारंभ में ॐकार कहा था अतः पुनरुक्ति की शंका हुई। समाधान है कि श्रौत 'आयतनेन' पद का अर्थ करना है 'गमन-साधनेन', नाना साधन उपस्थित होते हैं अतः 'ॐकारेण' ऐसा विशेषण दे देने से ॐकारभिन्न साधन निवृत्त हो जाते हैं। अतः दूसरा 'ॐकारेण' शब्द स्वप्रधान नहीं, विशेषण है अतः पुनरुक्ति नहीं। वस्तुतस्तु प्रथम 'ॐकारेण' को प्रतीक और द्वितीय को व्याख्यान मानना उचित है।

यतिभिः श्रद्धयोपास्यं प्रणवं परसाधनम्। वर्णितं पंचमे प्रश्ने परप्राप्त्यै समाश्रये ॥ विधाय खण्डनं येन सांख्यविज्ञानपक्षयोः। षोडशांशः पुमानुक्त-स्तस्मै भाष्यकृते नमः ॥

अथ षष्ठ प्रश्न[1]

"तदनन्तर इन प्रसिद्ध आचार्य से सुकेशा भारद्वाज ने पूछा—"

'प्राणादि पन्द्रह कलायें अपने अपने कारणों में लीन हो जाती हैं,…, अप्रवृत्तफलक कर्म और बुद्ध्युपाधिक आत्मा…' (मु० ३.१.७) इस मन्त्र में कर्मों सहित सोलह[2] कलाओं का परब्रह्म में विलीन होना कहकर 'जैसे बहती हुई नदियाँ' (मुं० ३.२.८) इस मन्त्र से दृष्टान्त-कथन द्वारा परमात्मप्राप्ति बतायी। उन मन्त्रों को विस्तार से समझाने के लिए छठा प्रश्न प्रारम्भ करते हैं—तदनन्तर इन प्रसिद्ध आचार्य से सुकेशा भारद्वाज ने पूछा। पूर्वकथित प्रसंग को पुनः बताकर उसकी (छठे प्रश्न की) पूर्वग्रन्थ से संगति बताते हैं—बुध्युपाधिक आत्मा समेत कार्य व कारण स्वरूप सारा जगत् सुषुप्तिकाल में परम अक्षर ब्रह्म में चला जाता[3] है, यह कहा (४.७)। अक्षर ब्रह्म की (जगत् के प्रति) कारणता सिद्ध करने के लिए प्रलयकाल में भी (जगत् का) उसी में विलय बताते हैं—(इसी) लिंग से[4] यह सिद्ध होता है कि प्रलय काल में भी जगत् उसी अक्षर में लीन होता है, (प्रपंच के) लय का अधिकरण होने से (प्रपंच के प्रति) कारणता (है, यह) बताते हैं—(और) उससे ही उत्पन्न होता है। कारणेतर में कार्य का विलय संगत नहीं। कहा भी जा चुका है—'परमात्मा से यह प्राण उत्पन्न होता है' (३.३)। उस कथन का प्रयोजन बताते हैं—जगत् का जो मूलकारण है उसे पूरी तरह समझ

---

१. 'मुक्तौ प्राप्यं परं ब्रह्म यत्तस्य प्रत्यगात्मताम्। बुभुत्सुः सन् भरद्वाजः पुरुषं प्रष्टुमिच्छति' ॥ इति विद्याप्रकाशे (७.८३)। एवं च संगतिरुक्ता। दीपिकायामपि—'ओंकारेणावाप्यं परं ब्रह्मेत्युक्तं, न तत्स्वरूपं निर्धारितं, तन्निर्धारणार्थमयं प्रश्न' इत्युक्तम्। उपनिषद्ब्रह्मयोगीन्द्रस्त्वाह—'अपरब्रह्मोपास्तां ज्ञात्वा सकलत्वेन निष्कलब्रह्मयाथात्म्यबुभुत्सया आचार्यमपरः पृच्छती'ति।

२. प्राण का वायु में या मन का इंद्रिय में अन्तर्भाव कर मंत्र में पन्द्रह कहा है अतः अविरोध है।

३. संप्रतिष्ठत इति युक्तः पाठः। संप्रविष्टित्तमिति वा स्यात्। यथाश्रुतन्त्वसंगतम्।

४ 'सामर्थ्यं सर्वभावानां लिंगमित्यभिधीयत' इति तन्त्रवार्तिक (१.३.३) उक्तम्। सुषुप्तौ लयाधारत्वं हि लिंगमिह। सामर्थ्यं योग्यतेत्यनर्थान्तरम्। कदाचिदपि यल्लयाधारतायोग्यं तत्प्रलयेऽपि स्यादित्यत्र कः सन्देह इत्यर्थः।

लेने से परम कल्याण होता है, यह सब उपनिषदों का निश्चित तात्पर्य है। यद्यपि (अपने से) अभिन्न परमात्मा को समझने से मोक्ष होता है, (केवल जगत् के) कारण को जानने से नहीं, तथापि उसकी (=परमात्मा की) कारणता होने पर उससे भिन्न कार्य न होने से उसकी सर्व-अभिन्नता का[1] ज्ञान सिद्ध हो जाता है अतः वैसे आत्मज्ञान से परम कल्याण (अर्थात् मोक्ष) हो जाता है।[2] 'सृष्टि से पूर्व यह जगद् एकमात्र आत्मा ही था (ऐ० १.१), जीवरूप से प्रविष्ट आत्मा ने सृष्टि के कर्ता सर्वाधिक व्याप्त इस पुरुषनामक ब्रह्म का स्वात्मतया दर्शन किया (१.३.१३); प्रज्ञान ब्रह्म है (३.३); जो इस प्रज्ञरूप से (प्रत्यगात्मा रूप से) (ब्रह्म को जानता है वह) अमर हो जाता है (३.४)' (इस ऐतरेयोपनिषत्में); 'सर्वभेदवर्जित अकेला सत् (ब्रह्म)' (छां० ६.२.१) यों प्रारम्भ कर 'आचार्य वाला व्यक्ति ही समझता है' फिर 'विदेह मुक्त हो जाता है' (६.१४.२) (यों समाप्त होने वाली छान्दोग्योपनिषत् में); 'उस अद्वितीय तत्त्व को ही प्रत्यगात्मा समझो··· यह आत्मज्ञान ही मोक्ष-प्राप्ति का सेतु (उपाय) है' (मुं० २.२.५) (इस मुण्डक उपनिषत् में); 'मैं ब्रह्म हुँ ऐसा (जाना), उस जानने से वह सब कुछ हो गया (बृ० १.४.१०) (इस बृहदारण्यकोपनिषत् में तथा) ऐसे उपनिषत्प्रसंगों में (उक्त तात्पर्य) निश्चित है, यह अर्थ है। इस उपनिषत् में वैसे आत्मज्ञान से ही सर्वात्मभाव रूप कल्याणलाभ कहा है यह बताते हैं—और उसके[3] बाद कहा 'वह सर्वज्ञ और सर्वरूप हो जाता है' (४.१०)। पूर्व में बताये जा चुके को पुनः कह कर आगे बताये जाने वाले की सूचना देते हैं—(यदि उसका ज्ञान मोक्षोपाय है) तो उस पुरुष-नामक सत्य अक्षर ब्रह्म को कहाँ जानना चाहिये, यह भी बताना आवश्यक है। उसके लिये अर्थात् परमात्मा की शरीर के अन्दर स्थिति बताकर उसकी प्रत्यगात्मता के ज्ञान के लिए यह प्रश्न प्रारम्भ किया जा रहा है। बीते किस्से को बताना इसलिए है कि आत्मविज्ञान की दुर्लभता के प्रकाशन से उसकी प्राप्ति के लिये मोक्षेच्छुओं में अधिक यत्न उत्पन्न हो।

---

१. अतएव अपने से अभिन्नता का।

२. ऋगादि चारों वेदों की प्रतिनिधि उपनिषदों के उन सन्दर्भों को सूचित करते हैं जहाँ जगत्कारण के अभेदज्ञान से मोक्ष प्रतिपादित है।

३. परमात्मा से प्राण उत्पन्न होता है बताने के बाद।

"हे भगवन् ! अयोध्या-निवासी हिरण्यनाभ नामक राजपुत्र ने मेरे पास आकर यह प्रश्न पूछा—'हे भारद्वाज ! आप सोलह कलाओं वाले पुरुष को जानते हैं ?' मैंने उस राजकुमार को कहा—'मैं इसे नहीं जानता। यदि मैं इसे जानता तो तुम्हें क्यों न बताता ? जो झूठ बोलता है वह अवश्य अपने शुभ कर्म आदि[1] सहित विनष्ट हो जाता है। अतः मैं झूठ नहीं बोल सकता।' वह चुपचाप रथ पर चढ़कर लौट गया[2]। उस पुरुष को मैं आपसे पूछता हूँ, वह पुरुष कहाँ रहता है ? ॥ १ ॥"

हे भगवन् ! अयोध्या में रहने वाले, 'राजपुत्रः' जाति से क्षत्रिय, नाम से हिरण्यनाभ ने मेरे 'उपेत्य' पास आकर यह—(हाल में ही मेरे द्वारा) बताया जाता हुआ—प्रश्न अर्थात् पूछने योग्य (विषय) पूछा—'हे भारद्वाज ! (आप) 'षोडशकलम्' आत्मा पर अज्ञानवश अध्यस्त स्वरूप वाली (और) सोलह की गिनती वाली कलायें अर्थात् टुकड़ों की तरह (की वस्तुयें) जिस पुरुष में हैं वह षोडशकल (कहाता है), उस षोडषकल (सोलह कलाओं वाले) पुरुष को 'वेत्थ' जानते हैं ?'[3] (यों) पूछ चुके उस 'कुमारम्' राजपुत्र से मैंने कहा—'इसे मैं नहीं जानता जिसे तुम पूछ रहे हो।' मेरे ऐसा कह चुकने पर भी मुझमें अज्ञान की सम्भावना न स्वीकारने वाले[4] उस (क्षत्रियकुमार) को अज्ञान में अर्थात् अज्ञान सम्भव है इसमें कारण[5] बताया—'यदि किसी तरह तुम्हारे द्वारा पूछे इस पुरुष को मैं 'अवेदिषम्' जानता होता (तो) शिष्य के लिये

---

१. 'सह मूलेन शुभकर्मविद्यादिना वर्तमानः समूल' इति दीपिका।

२. 'अनयाख्यायिकयैतद् दर्शितम्—महर्द्धीनां राज्ञां तपःश्रद्धादियुक्तानां मुनीनां च ब्रह्मविद्या दुर्लभा किमुतान्येषामिति' दीपिकायाम्।

३. क्योंकि जानते हैं अतः मुझे बताइये, यह अर्थ है।

४. प्रसिद्धि आदिवशात् भारद्वाज में किसी विषय का अज्ञान है यह श्रद्धालु हिरण्यनाभ नहीं मान पाया। नेत्रादि से प्रकट होने वाले अविश्वास को समझकर स्वयं भारद्वाज ने विश्वास कराने के लिये अगला वाक्य कहा।

५. उसमें अज्ञान है इसमें चिह्न बताया। झूठ बोलने के फल का जानकार झूठ नहीं बोल सकता अतः जो भारद्वाज कह रहे हैं वह सत्य है ऐसा राजकुमार को निश्चय हो जाये इसलिये कहा, यह अर्थ है।

अपेक्षित गुणों से[1] पूरी तरह युक्त 'ते' तुम्हें क्यों 'नावक्ष्यम्' न बताता अर्थात् (क्यों) न बताऊँ ?' फिर भी (उसमें) अविश्वास-सा देखकर विश्वास दिलाने के लिये मैंने कहा—'निश्चय ही वह यह[2] 'समूलः' मूल सहित 'परिशुष्यति' सूख जाता है अर्थात् इहलोक व परलोक से विच्छिन्न हो जाता है, विनाश को प्राप्त होता है, जो अन्य प्रकार का होते हुए अर्थात् जानकार होते हुए अपने आप को अन्य प्रकार का करते हुए अर्थात् गैर जानकार करते हुए. (अपने पर अज्ञान का) आरोप करते हुए 'अनृतम्' जैसी बात नहीं है (वैसा उसे) कहता है। क्यों कि मैं ऐसा जानता हूँ इसलिए न जानने वाले की तरह मैं झूठ नहीं बोल सकता।' यों विश्वस्त हुआ वह राजकुमार लज्जित हो[3] चुपचाप रथ पर चढ़ कर जैसे[4] आया था (वैसे) ही 'प्रवव्राज' लौट गया। 'तुम्हें क्यों न बताता ?'—इससे सूचित बात बताते हैं—इससे यह सिद्ध होता है कि कायदे से पास आये योग्य (जिज्ञासु) को जानकार द्वारा विद्या बतायी ही जानी चाहिये[5]; 'निश्चय ही मूल सहित' इत्यादि द्वारा सूचित बात बताते हैं—और सभी अवस्थाओं में (परिस्थितियों में) झूठ नहीं

---

१. 'अद्वेष्टा सर्वभूतानाम्' (गी० १२.१३) 'अमानित्वमदंभित्वम्' (१३.७) इत्यादयः शास्त्रप्रसिद्धाः शिष्यगुणा इत्युपदेशसहस्रीगद्यटीकायामानन्दगिरयः (पृ० १२१ M.R.I.)।

२. 'जो—वह'—यह संबंध है। 'यह' से कहा कि झूठ बोलने वाला चाहे मैं भी होऊँ तो भी नष्ट होऊँगा।

३. 'अयमपि मादृशइति मत्समीपागमनेन लज्जित' इति दीपिकायाम्। अर्थात् भारद्वाज भी मेरी तरह अज्ञ है अतः मैं अज्ञानी के समक्ष शिष्य बन कर उपस्थित हुआ—यह सोच लज्जित हुआ। अथवा, इन्हें मैंने अपने सामने अपने अज्ञान को प्रकट करने के लिये बाध्य किया—इससे लज्जित हुआ।

४. षोडशकल पुरुष के विषय में अज्ञानी ही आया था और अज्ञानी ही लौट गया।

५. मुण्डकभाष्येऽपि—'आचार्यस्याप्ययं नियमो यन्न्यायप्राप्तसच्छिष्यनिस्तारण-मविद्यामहोदधेः' (पृ० १४० पं० १५ M.R.I.) छान्दोग्येऽपि 'यथा योग्येभ्यो विद्यामदात्तथाऽन्येनापि विद्या दातव्येत्याख्यायिकार्थः' (५.११.७ पृ० १९७ पं० १६ M.R.I.)। साहस्रीगद्ये च '''परीक्षिताय शिष्याय ब्रूयात् पुनः पुनर्यावद्ग्रहणं दृढीभवति।'''शिष्यस्य ज्ञानाऽग्रहणं लिंगैर्बुद्ध्वा तदग्रहणहेतून् '''अपनयेत्,'''ज्ञानोपायं सम्यग्ग्राहयेदि' त्युक्तम् (पृ० १२१-२३)।

बोलना चाहिये। जैसे हृदय में काँटा चुभा हुआ हो (ऐसे) मेरे हृदय में (प्रश्न की) स्वरूपतः काँटारूपता न होने के कारण कहते हैं— जानने योग्य के रूप में स्थित जिसे जानने की इच्छा हो उसे जब तक जान नहीं लिया जाता तब तक (वह) हृदय में काँटे की तरह प्रतीत होता है, अतः 'जैसे काँटा' यह कहा। उस पुरुष को 'त्वा' आपसे पूछता हूँ, वह जानने योग्य पुरुष कहाँ रहता है ? ॥ १ ॥

"वे प्रसिद्ध पिप्पलाद उससे बोले—हे सोम्य ! यहीं शरीर में वह पुरुष है जिसमें ये सोलह कलायें[1] उत्पन्न होती हैं ॥ २ ॥"

वे प्रसिद्ध (पिप्पलाद) उससे बोले—"यहीं शरीर के अन्दर हृदयकमलस्थ आकाश में वह जानने योग्य पुरुष है, (किसी) अन्य देश में नहीं, जिसमें आगे) कही जा रही प्राण आदि सोलह कलायें 'प्रभवन्ति' उत्पन्न होती हैं।" पुरुष का सोलह टुकड़े वाला होना स्वयं (उपाधि के बिना) टुकड़ों वाला होने से नहीं है, किन्तु, टुकड़ों का उत्पादक होने के कारण उन कलारूप उपधियों वाला होने से है, यह बताने के लिए 'जिसमें ये' इत्यादि वाक्य है, यह उसका तात्पर्य बताते हैं—कलारहित पुरुष अज्ञान के कारण उपाधिरूप सोलह कलाओं से कला वाला लगता है। केवल आत्मा (उपनिषद् द्वारा) समझाया जाये, आगे कही जाने वाली कलाओं को बताने से क्या लाभ ? इस शंका को हटाने के लिए कहते हैं—ज्ञान के द्वारा उन उपाधिरूप कलाओं के भ्रम को हटाने से वह पुरुष उपाधियों रहित (जैसा है वैसा) दिखाया जाना चाहिये, अतः प्राणादि कलाओं का उससे उत्पन्न होना बताया जा रहा है। इसी तरह (=ज्ञान से उपाधि-भ्रम निवृत्ति पूर्वक) वह दिखाया जाना चाहिये इसमें कारण बताते हैं—क्योंकि सर्वथा विशेषताओं रहित, अद्वितीय, शुद्ध तत्त्व के विषय में अध्यारोप के बिना प्रतिपाद्य-प्रतिपादन आदि व्यवहार नहीं किया जा सकता इसलिये[2]

---

१. 'कं ब्रह्म लीयते तिरस्क्रियते याभिस्ताः कलाः'—दीपिकायाम्।

२. गीताभाष्ये—'तथा हि सम्प्रदायविदां वचनम्—अध्यारोपापवादाभ्यां निष्प्रपंचं प्रपंच्यते' (१३.१३) इति। जैसे समीकरण को साधने के लिये कुछ संख्यायें जोड़ देना आवश्यक होता है अन्यथा समीकरण सधता नहीं और अन्त में उन संख्याओं से पृथक् ही समीकरण का स्वरूप समझना पड़ता है

अविद्या के कारण होने वाले कलाओं के उत्पत्ति, स्थिति और नाश (आत्मा पर) आरोपित किये जाते हैं।

तीनों कालों में कलाओं का ज्ञानरूप अधिष्ठान से पार्थक्य न होने से रज्जुरूप अधिष्ठान से सदा अपृथक् रहने वाले सर्प की तरह मिथ्यात्व है, इस प्रकार (कलाओं का) अविद्या से होना सिद्ध करते हैं— चैतन्य से (= ज्ञान से) पृथक् हुए विना ही कलायें उत्पन्न होती हुई, विद्यमान रहती हुई और विलीन होती हुई हमेशा प्रतीत होती हैं। 'चैतन्य से (= ज्ञान से) अभिन्न होकर प्रतीत होना'—(मिथ्यात्व के इस) हेतु को विज्ञानवादी की भ्रान्ति द्वारा दृढ करते हैं—इसीलिये कुछ भ्रान्त (लोग) आग के सम्पर्क से घी की तरह चैतन्य ही (ज्ञान ही) प्रतिक्षण घट आदि आकार में उत्पन्न होता (और) नष्ट होता है ऐसा (मानते हैं)। जैसे घी अग्निसम्पर्क से पिघली अवस्था (= तरल अवस्था) को प्राप्त हो जाता है वैसे 'मैं' इस आकार का आलयविज्ञान[1] ही वासनाओं के[2] कारण विषय के रूप में पैदा हो जाता है[3]—ऐसा

वैसे आत्मा पर अध्यारोप और उसकी निवृत्ति द्वारा ही आत्मा समझना पड़ता है। शास्त्रीय अध्यारोप द्वारा लौकिक प्रातिस्विक अध्यारोप को वर्गों में बाँटा जा सकता है जिससे अपवाद सरल हो जाये। शास्त्रीय अध्यारोप का इतना ही प्रयोजन है कि अपवाद सरल हो जाये।

१. 'अहम्' इत्याकारक क्षणिक विज्ञानों का पारिभाषिक नाम है 'आलय विज्ञान'। विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि की त्रिंशिका में (२) स्पष्ट किया है कि बाह्य-आभ्यंतर प्रपंच विज्ञान का विवर्त (प्रतीत्यसमुत्पाद) है। उस विज्ञान की विपाक, मनोविज्ञान और प्रवृत्तिविज्ञान नामक तीन विधायें हैं। विपाक नामक विधा—या विज्ञान-परिणाम—आलयविज्ञान हैं। वही आलयविज्ञान संस्कारों का आश्रय है।

२. 'वासना हि नाम एकसन्तानवर्तिनामालयविज्ञानानां तत्तत् प्रवृत्तिविज्ञानजननशक्तिः।' तथा, 'तत्स्यादालयविज्ञानं यद्भवेदहमास्पदम्। तत्स्यात्प्रवृत्तिविज्ञानं यन्नीलादिकमुल्लिखेत् ॥' आदि सर्वदर्शनसंग्रह में (B.O.R.I.पृ० ३७) इसका स्पष्टीकरण है।

३. योगाचार नामक विज्ञानवाद में क्षणिकविज्ञान ही ज्ञाता, ज्ञान व ज्ञेय रूप से अवस्थित हो जाता है। सभी ज्ञान स्वविषयक ही माना जाता है। इसका विस्तार न्यायरत्नावली में (पृ० २१८ प्र० द्वा० M.R.I.) दर्शनीय है।

कहने वाले उनका भ्रम विषय की चैतन्य से अपृथक्ता में विश्वास कराता है। कारण कि यदि ऐसा (अपार्थक्य) न होता तो यों भ्रम भी न होता[1], यह तात्पर्य है। विषय चैतन्य से अभिन्न होकर ही प्रतीत होते हैं इस नियम के कारण ही सुषुप्ति आदि में विषय-ज्ञान के आकार में चैतन्य न होने पर कुछ लोगों को भ्रम हो गया कि (तब, अतः वस्तुतः) शून्य ही है। उनकी भ्रान्ति से भी (विषयों की) चैतन्य से अपृथक् प्रतीति को दृढ करते हैं—घटादि के आकार में चैतन्य न होने पर सब शून्य की तरह[2] है, ऐसा अन्य लोग (मानते हैं)। अनित्य चैतन्य (=ज्ञान) की कला के अभ्यास के प्रति अधिष्ठानता सम्भव नहीं क्योंकि (वह = चैतन्य अर्थात् ज्ञान) कलाओं का[3] कार्य है—इस नैयायिकों के मत को बताने के बहाने से शंका (अर्थात् एक पूर्व पक्ष उपस्थित) करते हैं—नित्य (एवं) ज्ञाता आत्मा से घटादि विषयक अनित्य चैतन्य (ज्ञान) उत्पन्न होता (और असमवायी-कारण-निवृत्ति से) नष्ट होता है, ऐसा कुछ औरों (का मत है)। चैतन्य (ज्ञान) महाभूतों का अर्थात् शरीर के आकार में संयुक्त महाभूतों का गुण है ऐसा चार्वाक (स्वीकारते हैं)।

आरोप के प्रति अधिष्ठानता सिद्ध करने के लिए चैतन्य की नित्यता व एकता बताते हुए उक्त मतों का निराकरण करते हैं—नष्ट व उत्पन्न न होना रूप विशेषता वाला चैतन्य (ज्ञान) आत्मा ही है (और वही) उपाधियों के नाम, रूप आदि धर्मों से (उपलक्षित हुआ) नाना प्रकार से तथा कार्य रूप से प्रतीत होता है। 'सत्य, ज्ञान व अनन्त ब्रह्म है' (तै० २.१.१), 'प्रज्ञान ब्रह्म है' (ऐ० ३.३),

---

१. क्योंकि अपृथक् उपलब्ध वस्तुओं में ही अभेदभ्रम होता है।

२. सत्, असत्, सदसत् और सदसद्-भिन्न इन चार कोटियों रहित को शून्य कहते हैं। शून्य निःस्वभाव है जैसा कि लंकावतार में कहा है 'बुद्ध्या विविच्यमानानां स्वभावो नावधार्यते। अतो निरभिलप्यास्ते निःस्वभावाश्च दर्शिताः' ॥ अतः न्यायरत्नावली में सूचित किया है 'नहि शून्यं नाम किंचित् तत्त्वं तेनोच्यते' (पृ० २१८)। इसीलिये यहाँ 'की तरह' कहा—जैसे शून्य निस्तत्त्व है वैसे सब निस्तत्त्व है।

३. आत्ममनःसंयोग, विषयेन्द्रियसंयोग आदि से ज्ञान उत्पन्न होता है ऐसा नैयायिकों को अभिमत है।

'विज्ञान व आनन्द ब्रह्म है' (बृ० ३.९.२८), 'केवल विज्ञप्ति रूप है' (बृ० २.४.१२) इत्यादि श्रुतियों से (ज्ञान की अनन्त नित्य, एक आत्मरूपता निश्चित होती है)। और इस प्रकार श्रुतिविरोध होने से वे पक्ष त्यागने योग्य हैं, यह तात्पर्य है। और भी, ज्ञानकाल में विषय होवें ऐसा नियम न होने से और विषयकाल में ज्ञान की अवस्थिति का नियम होने से उन दोनों का (= ज्ञान और विषय का) भेद है, इस प्रकार विज्ञानवादी के पक्ष का निराकरण करते हुए (और) निवृत्त न होने वाला होने से ज्ञान की नित्यता (भी) सिद्ध करते हुए नैयायिक आदि के पक्षों का भी निराकरण करते हैं—पदार्थों का स्वरूपतः न रहने वाला होने के निमित्त से[1] (और) चैतन्य का कभी न होने वाला न होने से[2] (चैतन्य नित्य है व उसके व्यभिचारी होने से पदार्थ रज्जु के व्यभिचारी सर्प की तरह उसमें कल्पित हैं)। घटज्ञानकाल में घट का[3] न होना सम्भव होने के कारण विषय ज्ञान के व्यभिचारी है[4]; विषय काल में ज्ञान का होना तो नियमतः आवश्यक होने से[5] उसकी अव्यभिचारिता है, यह तात्पर्य है। पटकाल में घटज्ञान भी नहीं है अतः घटज्ञान का भी पटविषय का व्यभिचारी होना समान है ?[6]—यह शंका कर 'स्वरूपतः' कहा। ज्ञान का व्यभिचार (तो)

---

१. अर्थात् कभी ऐसा होता है कि पदार्थ स्वरूपतः न रहे, जैसे उत्पन्न होने से पूर्व व नष्ट होने के बाद घट स्वरूपतः नहीं रह जाता।

२. अर्थात् सदा होने से।

३. क्योंकि घट के न होने पर विद्यमान घटज्ञान कहा है इसलिये भ्रमात्मक या स्मृत्यात्मक ज्ञान समझना चाहिये। कुछ लोग 'पटाभावसंभवात्' ऐसे पाठ की कल्पना करते हैं।

४. अर्थात् ज्ञान के रहते विषय नहीं भी रहते। ज्ञानकालीनात्यन्ताभावप्रतियोगित्व विषय में रहने से वह ज्ञान का व्यभिचारी है।

५. अर्थात् विषयकालीनात्यन्ताभावप्रतियोगित्व ज्ञान में नहीं, नित्य होने से।

६. अर्थात् पटकाल में पटज्ञान रहने पर भी घटज्ञान नहीं भी रहता अतः घटज्ञान विषय का व्यभिचारी है। एवं घटकाल में पटज्ञान नहीं भी रहता अतः पटज्ञान भी विषय का व्यभिचारी है। इस प्रकार प्रत्येक ज्ञान विषय का व्यभिचारी होने से कह सकते हैं ज्ञान विषय का व्यभिचारी है।

विषय से विशेषित रूप से ही है[1] (स्वरूपतः नहीं), विषय का तो (व्यभिचार) स्वरूप से ही है यह असमानता[2] है, यह (स्वरूपतः पद देने का) अभिप्राय है। ज्ञान की अव्यभिचारिता की युक्ति से सिद्ध करते हैं—जो जो पदार्थ जैसे जैसे[3] जाना जाता है वैसे-वैसे जाना जाता हुआ होने से ही उस-उस (पदार्थ के वैसे-वैसे) ज्ञान का[4] बना ही रहना (निश्चित हो जाता है)। उत्पन्न होते ही नष्ट हो चुकी आदि वस्तुएँ तथा मेरुपर्वत की गुफा के अन्दर रहने वाली वस्तुएँ जानी न जाने के कारण ज्ञान ज्ञेय का व्यभिचारी नहीं यह बात भी असिद्ध है ?[5]—यह शंका कर ज्ञेय का ज्ञान न होने पर ज्ञेय का होना ही सिद्ध न होने से वैसा (अज्ञायमान) पदार्थ असिद्ध है अतः शंका का उदय ही नहीं होता) यह कहते हैं—कोई वस्तु यथार्थ तो है (किन्तु) जानी नहीं जाती, यह (बात) असंगत है। असंगतता ही दृष्टान्त से स्पष्ट करते हैं—रूप तो दीखता है किन्तु चक्षु नहीं है—यह जैसे (असंगत है वैसे पूर्वोक्त बात भी असंगत है)। ज्ञानकाल में ज्ञेय के रहने का नियम न होना रूप (ज्ञेयनिष्ठ) ज्ञान-व्यभिचारिता स्पष्ट है, यह बताते हैं—ज्ञेय तो ज्ञान का व्यभिचार करता है क्योंकि

---

१. समाधान का तात्पर्य है कि पटकाल में घटज्ञान न होने पर भी पटज्ञान तो होता ही है, अतः ज्ञान तो व्यभिचारी नहीं, हाँ घट विशिष्ट ज्ञान नहीं है जिससे पुनः घट का व्यभिचार है, ज्ञान का नहीं। जैसे कोई सदा लाल कपड़ा पहन कर मित्र के साथ न घूमे, विभिन्न कपड़े पहन कर मित्र के साथ नित्य नियम से घूमे तो कह सकते हैं कि लाल कपड़े से विशेषित रूप से वह मित्र का व्यभिचारी है, स्वरूप से नहीं, ऐसे प्रकृत में समझना चाहिये। विषयकालीनात्यन्ताभावप्रतियोगिता घटज्ञानादि में होने पर भी ज्ञान में नहीं क्योंकि पटादिकाल में पटादिज्ञान का सत्त्व ही रहता है, यह भाव है।

२. विषय स्वरूपतः व्यभिचारी है, ज्ञान स्वरूपतः अव्यभिचारी है यह असमानता है।

३. अर्थात् जिस जिस वैशिष्ट्य वाला।

४. तत्तत्प्रकारकतत्तद्विशेष्यक ज्ञान का।

५. ज्ञायमान पदार्थ की ही सत्ता स्वीकार कर सिद्धान्त है, अज्ञायमान की भी सत्ता मानकर शंका है। वस्तु है और ज्ञान नहीं, तो ज्ञान भी वस्तु का व्यभिचारी ही हुआ, अव्यभिचारी नहीं।

घटज्ञानकाल में घट[1] कभी नहीं भी होता, यह भाव है। पटकाल में घटज्ञान का व्यभिचार भी समान है—यह शंका कर (विषयरूप विशेषण से) विशेषित रूप से व्यभिचार होने पर भी स्वरूपतः व्यभिचार नहीं (इस) सूचित तथ्य को पूर्व की तरह (फिर) कहते हैं ज्ञान कभी भी ज्ञेय का व्यभिचार नहीं करता, कारण कि ज्ञेय (-विशेष-) के न रहने पर भी अन्य ज्ञेय का विषय में ज्ञान स्वरूपतः[2] बना रहता है। ज्ञेयान्तर की ज्ञेयता के कारण ही[3] ज्ञान की स्वरूपतः सत्ता ही सिद्ध करते हैं—ज्ञान न रहने पर किसी की भी ज्ञेयता[4] नहीं होती।

स्वरूपतः भी (ज्ञान के) अभाव का प्रश्न उठाते हैं—ज्ञान का भी सुषुप्ति में अनुभव न होने से सुषुप्ति में (ज्ञान का) अभाव है अतः ज्ञेय की तरह ज्ञान के स्वरूप का[5] व्यभिचार है ? क्या (क) सुषुप्ति में ज्ञेय न होने से ज्ञान न होना सिद्ध किया जा रहा है, या (ख) ज्ञान का अनुभव न होने से (ज्ञान का न होना सिद्ध किया जा रहा है) ? प्रथम पक्ष में भी—(क') क्या ज्ञेय व्यक्त होने योग्य है इसलिए उसके न रहने से व्यक्त करने वाले (ज्ञान) का (न होना सिद्ध किया जा रहा है) या (क'') ज्ञेय और ज्ञान की एकता होने से एक के (ज्ञेय के) न होने पर दूसरे का (ज्ञान का) न होना सिद्ध किया जा रहा है ?

प्रथम (क') पक्ष नहीं हो सकता क्योंकि (व्यंग्य और व्यंजक का) व्यभिचार (देखा जाता) है, यह कहते हैं—(ऐसा) नहीं। ज्ञेय का प्रकाशक ज्ञान आलोक की तरह ज्ञेय को अभिव्यक्त करने वाला है अतः अपने द्वारा व्यक्त किये जाने वाले के न रहने पर जैसे आलोक

---

१. यहाँ भी कुछ लोग 'पटाभावाद्' ऐसे पाठ की कल्पना करते हैं। पूर्वोक्तरीत्या वह अनावश्यक ही है।

२. यद्यपि ज्ञेयान्तरविशिष्टरूप से रहता है तथापि स्वरूपतः तो बना ही रहता है यह अर्थ है।

३. अर्थात् क्योंकि वह ज्ञेय है इसलिये ही।

४. ज्ञेयमिति भावप्रधानो निर्देशो—ज्ञेयत्वमित्यर्थः।

५. अर्थात् सुषुप्ति में ज्ञान सर्वथा नहीं—स्वरूपतः नहीं। पूर्व में विशेषण का व्यभिचार बताया था, यहाँ विशेष्य अर्थात् स्वरूप के व्यभिचार अर्थात् अभाव का स्थल बताया जा रहा है।

का अभाव (मानना) युक्तिसंगत नहीं[1], वैसे सुषुप्ति में (व्यंग्य ज्ञेय न होने पर) ज्ञान का न होना (मानना) असंगत होने से (ज्ञान का स्वरूपतः व्यभिचार है ऐसा नहीं कह सकते)। केवल व्यंग्य के ज्ञान से स्वीकार्य (ज्ञान) का[2] न होना व्यंग्य के न होने पर कहा जा रहा है, (प्रकाश्य के अभाव में) आलोक का (सद्भाव) प्रत्यक्ष सिद्ध होने से (उसकी ज्ञान से) सदृशता नहीं ?—यों (शंका करने वाले) ज्ञान को अनुमेय मानने वाले के लिए दूसरा दृष्टान्त देते हैं—अन्धेरे में आँख से रूप न दीखने पर आँख का न होना वैनाशिक[3] द्वारा भी कल्पित नहीं किया जा सकता। वैनाशिक के मत में विज्ञान से अतिरिक्त आलोक (, चक्षु,) आदि न होने से (उक्त) व्यभिचार[4] नहीं है—यह शंका उठाते हैं—वैनाशिक ज्ञेय न होने पर ज्ञान के अभाव की कल्पना करता ही है ? अर्थात् उक्त व्यभिचार के लिए कोई स्थान न होने से व्यभिचार नहीं है अतः (कल्पना संगत है)। ऐसा मानने पर भी (प्रश्न उठता है कि जिस ज्ञेयाभाव के कारण ज्ञानाभाव की कल्पना की जाती है उस ज्ञेयाभाव का ज्ञान स्वीकारते हो ? या नहीं स्वीकारते ?[5] प्रथम पक्ष होने पर (=ज्ञेयाभाव का ज्ञान स्वीकारने पर) ज्ञान के अभाव की सिद्धि नहीं होती क्योंकि वही (=ज्ञानाभाव की कल्पना का हेतुभूत) अभावज्ञान विद्यमान है, यह कहते हैं—(तो) वैनाशिक को यह बताना चाहिये कि जिससे अर्थात् ज्ञेयाभावज्ञान से ज्ञानाभाव की कल्पना

---

१. अन्तरिक्ष में रजःकण आदि प्रकाश्य न होने से यद्यपि दीखता अंधकार है तथापि प्रकाश का अभाव नहीं है—यह दृष्टान्त का भाव है।

२. व्यंग्य का ज्ञान होता है अतः ज्ञान है—इस तरह ज्ञान व्यंग्यज्ञानरूप लिंग से अनुमेय है, आलोक की तरह प्रत्यक्ष नहीं—ऐसा पूर्ववादी का मत है। यद्यपि दृष्टान्त में भी अंतरिक्षादि में आलोक प्रत्यक्ष नहीं दीखता तथापि आलोक का कदाचित् प्रत्यक्ष होता है जबकि ज्ञान का कभी प्रत्यक्ष नहीं होता यह वैषम्य होने से शंका उठना उचित है।

३. ज्ञानानुमेयत्ववादी।

४. दर्शनाभावकाल में चक्षुरभाव ही है, चक्षुरभाव का व्यभिचार नहीं।

५. अर्थात् ज्ञेयाभाव का ज्ञान होने से ज्ञानाभाव की कल्पना करते हो या ज्ञेयाभाव को बिना जाने ही ज्ञानाभाव की कल्पना करते हो ?

करता है उसका अर्थात् ज्ञान का अभाव किससे कल्पित करता है ?'[1] अर्थात् किसी भी कारण कल्पित नहीं किया जा सकता। दूसरा पक्ष (अर्थात् 'ज्ञेयाभाव का ज्ञान ज्ञानाभाव की कल्पना के लिये नहीं स्वीकारते) असंगत है, यह बताते हैं—क्योंकि वह अभाव भी ज्ञेय है इसलिए ज्ञान न होने पर वह (कल्पना) असंगत है कारण कि (तुम्हारे मत में) ज्ञान ज्ञेय से अपृथक् है।[2] अज्ञात ज्ञेयाभाव ज्ञानाभाव को कल्पना में कारण बने यह असम्भव होने से अवश्य (उसे) ज्ञेय (मानना) होगा, अतः ज्ञान न होने पर (ज्ञानाभाव की) कल्पना असंगत होने से (ज्ञेयाभाव का) ज्ञान न मानने वाला पक्ष[3] (भी) युक्तियुक्त नहीं, यह अर्थ है।

प्रथम शंका में द्वितीय विकल्प (क'')[4] (के अनुसार) शंका उठाते हैं—ज्ञेय का अभाव होने पर ज्ञान का अभाव है ? वैनाशिक मत में भी अभाव को ज्ञेय माना गया है (और) 'तीन से[5] अतिरिक्त जो वुद्धि द्वारा वोध्य (अर्थात् ज्ञेय) है वह संस्कृत[6] (अर्थात् जन्य) व क्षणिक है' इस उक्ति के अनुसार (ब्र० सूत्र भा० २-२-२२) प्रतिसंख्या-

---

१. ज्ञानाभाव की कल्पना के लिये ज्ञान आवश्यक होने पर ज्ञानाभाव होगा ही नहीं यह भाव है।

२. विद्यमान ज्ञेयाभाव ही ज्ञानाभाव की कल्पना करा सकेगा, अन्यथा अतिप्रसंग होगा। ज्ञेयाभाव विद्यमान हो इसके लिये ज्ञान होना आवश्यक है क्योंकि वैनाशिकमत में ज्ञान व ज्ञेय आपस में अभिन्न हैं। किं च ज्ञेयाभाव अज्ञायमान (अर्थात् स्वरूपसत्) रहते हुए कल्पक नहीं माना जा सकता क्योंकि कोई भी अज्ञायमान वस्तु कल्पक नहीं होती। अतः ज्ञायमान ज्ञेयाभाव ही कल्पक स्वीकारना होगा। इन दो कारणों से द्वितीय पक्ष असंगत है।

३. जिस पक्ष में ज्ञेयाभाव के ज्ञान के बिना ज्ञानाभाव की कल्पना हो जाती है।

४. ज्ञेय और ज्ञान की एकता होने से एक के न होने पर दूसरे का न होना सिद्ध किया जा रहा है।

५. 'त्रिविधं चाप्यसंस्कृतम्। आकाशं द्वौ निरोधौ च' (१.५६) आदि अभिधर्मकोष दर्शनीय है।

६. समुच्चितैः करणैः कृतं संस्कृतं जन्यमसंस्कृतं न तथाऽजन्यमित्यर्थः।

निरोध[1], अप्रतिसंख्यानिरोध[2] और आकाश[3] रूप तीन से भिन्न को ही क्षणिक स्वीकारा है अतः निरोधशब्द से कहे अभाव की नित्यता अंगीकृत होने के कारण उससे (अभाव से—ज्ञेयाभाव से) अभिन्न ज्ञान की भी सुषुप्ति में विद्यमानता व नित्यता प्राप्त[4] होती है, यह परिहार करते हैं—नहीं है, कारण कि (वैनाशिकों द्वारा) अभाव को भी ज्ञेय माना जाता है। ['स्त्रपदानि च वर्ण्यन्ते' के अनुसार इसका व्याख्यान करते हैं-] वैनाशिकों द्वारा अभाव भी ज्ञेय और नित्य माना जाता है, ज्ञान यदि (उन्हीं के सिद्धान्त के अनुसार) उससे (ज्ञेयभूत अभाव से) अभिन्न हैं तो वह नित्य है ऐसा ही कल्पित किया जायेगा (अतः उसका अभाव न होगा)। अभाव से अभिन्न होने के कारण ज्ञान की अभावरूपता ही होगी, भावरूप से विद्यमानता और नित्यता तो नहीं होगी ?—यह आशंका कर, ज्ञान से अभिन्न होने के कारण अभाव की अभावरूपता ही नहीं होनी—यह परिहार[5] करते हैं—ज्ञेयाभाव को

---

१. अभिधर्मकोषव्याख्या में (१.५६) स्वयं वसुबन्धु ने कहा है 'दुःखादीनामार्यसत्यानां प्रतिसंख्यानं प्रतिसंख्या प्रज्ञाविशेषः, तेन प्राप्यो निरोधः प्रतिसंख्यानिरोधः'। मध्यमपदलोपी समास इसलिये कि प्रतिसंख्या से किया गया निरोध—यह व्याख्या नहीं कर सकते कारण कि उसे असंस्कृत मानना है। अतः 'बुद्धिपूर्वकृतो नाशः' ऐसा व्याख्यान अनिष्ट है। 'बुद्धिपूर्वकः किल विनाशो भावानां प्रतिसंख्यानिरोधो नाम भाष्यते' इस सूत्रभाष्य को सरलता से 'बुद्धिपूर्वकः प्राप्तो विनाशः' इस पराभिमत अर्थ के अनुसार समझ सकते हैं। उदासीन स्वामी योगीन्द्रानन्द जी ने भामती व्याख्या (पृ० ६९६-७) में इस विषय में संस्कृत व पाली ग्रन्थों के उद्धरणों को देकर यह विषय स्पष्ट किया है।

२. स्वारसिक विनाश अप्रतिसंख्यानिरोध कहाता है। यह भी सहज सिद्ध अतः अकारण होने से नित्य है।

३. आवरण का अभाव ही आकाश है—'तत्राकाशमनावृतिः' (अभिधर्मकोष १.५६)।

४. तात्पर्य है कि वैनाशिकमत में अभाव ज्ञेय भी है और नित्य भी। ज्ञेय ज्ञान से अभिन्न भी है। फलतः ज्ञान नित्य ज्ञेय से अभिन्न होने से नित्य है।

५. दोनों का अभेद होने से ज्ञान की अभावरूपता ही हो इसमें कोई विनिगमक नहीं। ज्ञान की भावरूपता में तो स्मृत्यन्यथानुपपत्तिरूप प्रमाण है यह भाव है। 'सुखमस्वाप्सं नावेदिषम्' स्मृति से सोपुप्त ज्ञान की भावरूपता सिद्ध है।

ज्ञानरूपता होने से[1] अभावरूपता तो केवल कहने को है, वस्तुतः नहीं। (अतः) ज्ञान की अभावरूपता और अनित्यता केवल कहने भर को होगी (वस्तुतः नहीं)। अभाव की अभावरूपता और ज्ञान की अनित्यता केवल कहने भर को हो इससे भी हम वैनाशिकों का सिद्धान्त सिद्ध हो जाता है ?—यह शंका कर, केवल कहने भर को होने वाले अभावत्व व नित्यत्व से वास्तविक नित्यता आदि का विरोध न होने से हम वेदान्तियों की कोई हानि नहीं—यह निराकरण करते हैं—नित्य ज्ञान के 'अभाव' और 'अनित्य' इन केवल नामों का भ्रम होने के निमित्त से हमारी तो कोई क्षति नहीं होती।[2] इस दोष के परिहार के

---

१. अर्थात् ज्ञेयाभाव क्योंकि ज्ञेय होने से ज्ञानरूप है और ज्ञान भावरूप है, इसलिये।

२. 'भावान्तरमभावो,ऽन्यो न कश्चिद्, अनिरूपणाद्' (श्लो॰ वा॰ निरालम्बन॰ ११८) आदि भट्टकथा व 'तस्मात्स्यात्कल्पनामात्रो व्यवहारप्रसिद्धये। प्रध्वंसादिरभावोऽयं शिलापुत्रादिवन्मृषा'॥ (तं॰ वा॰ १.१.३२) आदि विश्वरूपवचन तथा घटभाष्य के अनुसन्धान से अभाव का सिद्धान्ताभिमत रूप समझना चाहिये। 'अभाव' इस नाम से यदि भावभूत आत्मा कहा जाता है तो सिद्धान्त में कोई विरोध नहीं। इससे 'चिद्व्योमैव परं शून्यम्' (   ) आदि योगवासिष्ठ की व्यवस्था भी स्पष्ट हो जाती है। यह भ्रम नहीं होना चाहिये कि ज्ञान या आत्मा को यहाँ अभाव या शून्य स्वीकारा जा रहा है; यहाँ तो यह कह रहे हैं कि ज्ञान या आत्मा को शून्य या अभाव कहने मात्र से कोई अन्तर नहीं पड़ता, है तो वह भाव ही। आत्मा सत् है—'तत्सदासीत्' (छां॰ ३.१९.१)—चतुष्कोटिविनिर्मुक्त नहीं। एवं 'नित्यत्वाच्च ताभ्यः' (२.३.११.१७) आदि ब्रह्मसूत्र में नित्यत्व को स्थापित किया है। 'तो' से—[न चेति चस्त्वर्थः]—कहा कि अवास्तविक अभाव मानने से वस्तुतः तुम वैनाशिकों का लाभ होता भी नहीं है। यदि कहो शून्य ही वास्तविक है, अभाव नहीं, तो शून्य भी अभाव से—असत्से—भिन्न कुछ सिद्ध नहीं होता। चतुष्कोटिभिन्न कह देने से शून्य नामक वस्त्वन्तर नहीं सिद्ध होती। निःस्वभावतादि की भी यही स्थिति है। अतएव शून्य के असद्रूप मानकर ही तत्र तत्र खण्डित किया है। शून्य षष्ठगम्य है ऐसा भट्टकुमारिल ने निगमन किया ही है 'तस्मादभावगम्यत्वं शून्यतायाः स्थितं हि नः' (शून्यवाद॰ २६१)। गौडब्रह्मानन्दस्वामी की रीति से 'नाभाव

लिए (यदि वैनाशिक द्वारा)[1] ज्ञेयभूत भी अभाव का ज्ञान से अभेद न स्वीकारा जाये (तो) ?—यह शंका करते हैं—अगर अभाव ज्ञेय होता हुआ भी ज्ञान से भिन्न है (ऐसा मानें) ? तो ज्ञेय से अभिन्नता रूप हेतु से सुषुप्ति में ज्ञानाभाव सिद्ध न होगा[2]। घटादि के अभाव से घटादि के ज्ञान का अभाव सिद्ध होने पर भी अभाव के ज्ञान का अभाव सिद्ध नहीं होता[3] (बल्कि ज्ञान का सद्भाव ही सिद्ध होता है[4]) क्योंकि (अभी कहे मत के अनुसार, अभावज्ञान की ज्ञेयभूत अभाव से) अभिन्नता नहीं है (इसलिये सुषुप्ति में ज्ञानाभाव सिद्ध न होगा) यह कहते हैं—तो **ज्ञेयाभाव होने पर ज्ञानाभाव** (होना असिद्ध है)। (स्वमतरक्षा के अन्य) सब मार्ग बन्द देख कर[5] वैनाशिक शंका करता है कि ज्ञेय को ज्ञान से अतिरिक्त मान लेते हैं, तब तो ज्ञानभिन्न होने से अभाव की (वास्तविक) अभावरूपता आदि सिद्ध हो जाती है; किन्तु ज्ञान को ज्ञेय से भिन्न नहीं मानते, जिससे पुनः ज्ञेयाभाव होने पर ज्ञानाभाव सिद्ध हो जायेगा[6]—ज्ञेय ज्ञान से भिन्न है किन्तु ज्ञान ज्ञेय से

उपलब्धेः' २.२.२८-३२) अधिकरण की योजना शून्यवाद के निरास के लिये भी कर लेनी चाहिये।

१. सर्वथा पराजय से स्वकीय की विजय श्रेष्ठ है—इस नीति से बाह्यार्थवादी की शरण लेकर शंका की जा रही है।

२. आद्यद्वितीय पक्ष में (क') ज्ञेय व ज्ञान की एकता होने से सुषुप्ति में ज्ञेयाभाव होने के कारण ज्ञानाभाव है यह कहा था। एवं च—सुषुप्तौ ज्ञानाभावः, ज्ञानाभिन्नज्ञेयाभावात्—यह प्रयोग था। यदि अभावभूत तत्रस्थ ज्ञेय को ज्ञानभिन्न मान लिया, तो हेतु स्वरूपासिद्धि दोष दुष्ट हो गया यह अर्थ है।

३. घटादि के अभाव का ज्ञान होने पर ही घटादि के ज्ञान का अभाव हुआ करता है।

४. अभावज्ञान स्वज्ञेयभूत अभाव से भिन्न हो तो भाव ही होगा इसमें क्या संदेह।

५. अर्थात् प्रकृत शंका सर्वथा उसके मतानुसार नहीं।

६. ज्ञान-ज्ञेय का अभेद मानने पर अभाव की अभावरूपता केवल कहने भर को है ऐसा पूर्व में सिद्धान्ती ने दोष दिया था। उसके परिहार के लिये यहाँ माना जा रहा है कि ज्ञेय तो ज्ञान से भिन्न है, ज्ञान ज्ञेय से भिन्न नहीं। एवं च जैसे रस्सी सांप से भिन्न होती है, साँप रस्सी से भिन्न नहीं होता

भिन्न नहीं ? इस पक्ष में सिद्धान्ती दोष देता है कि ज्ञान को ज्ञेय से भिन्न न मानने पर ज्ञेय का भी ज्ञान से अभेद अवश्यम्भावी है, अन्यथा दोनों का सर्वथा भेद ही होगा, भेद व अभेद का आपसी विरोध होने से (दोनों का वस्तुतः होना) असंगत है अतः (ज्ञान की ज्ञेय से अभिन्नता के कारण ज्ञेय की ज्ञान से अभिन्नता स्वीकार्य होने से अभाव-भूत ज्ञेय की ही अभावरूपता नाममात्र को होगी);—(ऐसा) नहीं (स्वीकारा जा सकता) क्योंकि यह केवल कहने का ढंग है जिससे ज्ञान-ज्ञेय का भेद-संगत नहीं बनाया जा सकता। (इसे स्वयं समझाते हैं—) यदि ज्ञेय से ज्ञान की एकता मानी जाती है तो 'ज्ञेय ज्ञान से भिन्न है, ज्ञान-ज्ञेय से भिन्न नहीं' यह तो केवल शब्दप्रयोग है (इसका अर्थ कुछ नहीं)। जैसे (किसी के द्वारा) यह माना जाता है 'वह्नि अग्नि से भिन्न है, अग्नि वह्नि से भिन्न नहीं' (वैसे ही वैनाशिक का प्रकृत परिष्कार है)। इससे और भी दोष समझना चाहिये (अर्थात्) ज्ञान अभाव से अभिन्न होने के कारण (वह) नित्य होगा ही इत्यादि[1] (दूषण भी) समझना चाहिये। यदि इस दोष के परिहार के लिये ज्ञान का भी (ज्ञेय से) भेद ही माना जाता है तो सुषुप्ति में ज्ञान न होना सिद्ध नहीं होता इस प्रकार ('क' पक्ष[2] की परीक्षा का) उप-संहार करते हैं—ज्ञान का ज्ञेय से भेद होने पर तो ज्ञेयाभाव से ज्ञाना-भाव (की कल्पना की) असंगतता[3] सिद्ध हो जाती है।

सुषुप्ति में ज्ञान का अनुभव न होने से (ज्ञान का) अभाव है यह (जो) प्राथमिक विचार में दूसरा ('ख') पक्ष (था, उसके अनुसार)

अतः रस्सी वास्तविक है वैसे अभावभूत ज्ञेय वास्तविक होगा और तदभिन्न होने से ज्ञान भी अभावरूप होगा। इस प्रकार वैनाशिक अपनी इष्टसिद्धि कर लेगा। ज्ञानाभाव से अभाव रूप ज्ञान समझना चाहिये।

१. आदि से सुषुप्तिकालिक सत्त्व समझना चाहिये।

२. क-पक्ष था ज्ञेयाभाव के कारण ज्ञानाभाव मानना। इसमें पुनः दो विकल्प थे—क') व्यंग्याभाव के कारण व्यंजकाभाव और (क'') ज्ञेय-ज्ञान की एकता से एक के अभाव का मतलब है दूसरे का भी अभाव। इन दोनों विकल्पों की परीक्षा करते हुए पाया कि किसी तरह ज्ञान का अभाव सिद्ध नहीं होता।

३. जैसे घटाभाव से पटाभाव की कल्पना असंगत है वैसे समझना चाहिये।

शंका उठाते हैं—(सुषुप्ति में) ज्ञेय का अभाव होने पर (ज्ञान का) अनुभव न होने से ज्ञान का अभाव है ? आलय-विज्ञान[1] की सतत परम्परा की नित्यता स्वीकारने से तुम वैनाशिक सुषुप्ति में भी उसका अभाव नहीं कह सकते यह परिहार करते हैं--नहीं (है), कारण कि सुषुप्ति में ज्ञान (का सद्भाव) स्वीकारा गया है। (इसे स्पष्ट करते हैं—) वैनाशिकों द्वारा सुषुप्ति में भी ज्ञान का होना स्वीकारा ही जाता है। तो इस प्रकार सुषुप्ति में भी ज्ञान स्वीकृत होने से (तब) उसका अनुभव नहीं होता यह बात गलत है[2], यह अर्थ है।

मुझ वैनाशिक द्वारा (सुषुप्ति में) ज्ञेय का अभाव होने से उसके द्वारा (ज्ञेय के द्वारा) विशेषित ज्ञान का अनुभव न होना कहा जा रहा है। और हमारे (वैनाशिक के) मत में (ज्ञान) स्वयं स्वयं का ज्ञेय होने से सुषुप्ति में ज्ञान का अनुभव संगत है। तुम्हारे (वेदान्ती के) मत में तो (स्वयं की) स्वयं से ज्ञेयता स्वीकार्य न होने से क्योंकि सुषुप्ति में (विज्ञान से) अन्य कुछ नहीं है इसलिये विशेषित करने वाले के न होने से ज्ञान का अनुभव संगत नहीं होता, यह शंका[3] (पूर्ववादी) करता है—सुषुप्ति में भी ज्ञान की अपने द्वारा ही ज्ञेयता (वैनाशिक मत में) स्वीकारी जाती है (जो वेदान्त में नहीं स्वीकारी जाती। अतः वैनाशिक को सुषुप्ति में ज्ञान हो सकता है, वेदान्ती को नहीं) ? (सिद्धान्ती) निराकरण करता है कि जहाँ अभाव (ज्ञेय) होता है वहाँ ज्ञान और ज्ञेय का भेद सिद्ध किया जा

---

१. 'अहमित्यालयविज्ञानम्' (न्यायरत्नावली पृ० २१७ प्र० द्वा०)।

२. अर्थात् स्वरूपासिद्धि है।

३. तात्पर्य है कि सविषय वस्तु विषय के बिना अनुभव में नहीं आती। जैसे गाय आदि कुछ न हो और कोई कहे 'मैं दुह रहा हूँ—दोहन कर रहा हूँ' तो केवल हास्यास्पद ही होगा, जब तक क्या दुह रहा है यह न दीखे तब तक दोहन करना दीख नहीं सकता—स्वीकारा नहीं जा सकता। ऐसे ज्ञान भी सविषय वस्तु है। जानना तभी अनुभूत होगा जब कुछ जाना जाये। वैनाशिक मत में ज्ञान खुद अपने आपको जान लेता है अत: विषयांतर न होने पर भी ज्ञान संभव है। परन्तु वेदान्त में ऐसा तो स्वीकार्य नहीं। अत: ज्ञेय न होने पर ज्ञान न होना ही मानना पड़ेगा।

चुका है अतः उस दृष्टान्त के[1] आधार पर सर्वत्र (अर्थात् भावभूत ज्ञेय स्थलों में भी) ज्ञान-ज्ञेय का भेद सिद्ध हो जाता है जिससे यह खण्डित हो जाता है कि ज्ञान अपने द्वारा ही ज्ञेय है, (फलतः वैनाशिक रीति से सुषुप्ति में ज्ञान संभव नहीं)—(यों) नहीं (कह सकते), क्योंकि (ज्ञान व ज्ञेय का) भेद सिद्ध किया जा चुका है। (स्वयं अर्थ बताते हैं—) अभावभूत विज्ञेय को विषय करने वाले ज्ञान का अभाव रूप ज्ञेय से भेद होने के कारण ज्ञेय और ज्ञान का (आपसी) पार्थक्य सिद्ध किया जा चुका है। अभावभूत ज्ञेय स्थल में (ज्ञान-ज्ञेय का) भेद होने पर भी सर्वत्र (अर्थात् भावज्ञेय स्थल में भी) भेद सिद्ध नहीं हो जाता ?—यह शंका कर, (उभयत्र) युक्ति एक ही होने के कारण[2] उस नियम को[3] बदला नहीं जा सकता यह बताते हैं—जो सिद्ध किया जा चुका है उसे सैकड़ों वैनाशिकों द्वारा भी अन्य प्रकार से (व्यवस्थित) नहीं किया जा सकता जैसे मरे को पुनः नहीं जिलाया जा सकता।

[4]ज्ञान अपने से भिन्न द्वारा ज्ञेय है इस नियम को मानने वाले पक्ष में वैनाशिक अनवस्था की शंका करता है—ज्ञान की ज्ञेयता (स्वीकार्य) है ही, (स्वज्ञेयता अस्वीकृत होने पर) ज्ञान भी अन्य के द्वारा जाना जायेगा, वह अन्य पुनः किसी अन्य के द्वारा इस प्रकार तुम वेदान्तियों के पक्ष में अनवस्था दोष होगा ? नियम यह माना गया है कि ज्ञेय अपने से भिन्न के द्वारा जाना जाता है और हम वेदांतियों के मत में ज्ञान की ज्ञेयता स्वीकारी नहीं जाती अतः (उक्त) दोष (का प्रसंग

१. ज्ञेय, ज्ञान से भिन्न होता है, ज्ञान का विषय होने के कारण, ज्ञान के अभावभूत विषय की तरह, यह प्रयोग है। यदि ज्ञेय ज्ञान से पृथक् न होता तो उसका कारक न होता, इत्यादि अनुकूल तर्क है। बौद्धधिक्कार में विस्तार देखना चाहिये।

२. अर्थात् अनुकूल तर्क सहकृत 'ज्ञान का विषय होना' रूप हेतु भाव तथा अभाव दोनों स्थलों में समान है।

३. ज्ञान-ज्ञेय के भेद के नियम को।

४. ज्ञान की स्वज्ञेयता नहीं ऐसा सिद्धान्त-वचन सुनकर तब परज्ञेयता होगी ऐसा मानकर वेदान्तसिद्धान्त के अपरिचय के कारण वैनाशिक शंका करता है—ज्ञान इत्यादि द्वारा।

ही) नहीं, यह परिहार देते हैं--(हमारे मत में) दोषवत्व नहीं,[१] क्योंकि सभी वस्तुओं का विभाग—अर्थात् ज्ञान ज्ञान ही है ज्ञेय नहीं, ज्ञेय भी ज्ञेय ही है कभी भी ज्ञान नहीं इस प्रकार का पार्थक्य संगत है। अथवा '(सब वस्तुएँ) दो भागों में बँटी हैं यह संगत है'—ऐसा कहा गया समझना[२] चाहिये; अर्थात् ज्ञान व ज्ञेय रूप दो भाग ही—दो राशियाँ ही—स्वीकारी जाती हैं, ज्ञान को विषय करने वाली ज्ञान रूप (कोई) तीसरी भाव रूप राशि नहीं स्वीकारी जाती। संगतता ही समझाते हैं—जिस (वेदान्त) पक्ष में सारा ज्ञेय अपने से भिन्न किसी का अर्थात् ज्ञान का ज्ञेय है यह स्वीकारा जाता है उस पक्ष में ज्ञेय से भिन्न ज्ञान ज्ञान ही है[३] इस प्रकार वैनाशकों से भिन्न (वेदान्तियों) द्वारा (ज्ञेय राशि की अपेक्षा ज्ञान रूप) दूसरी राशि ही मानी जाती है, ज्ञान को विषय करने वाली ज्ञानात्मक तीसरी राशि नहीं। अतः अनवस्था (दोष देना) असंगत है।

(यदि ज्ञान ज्ञेय नहीं) तो उस[४] वेदान्त पक्ष में ज्ञान रूप ब्रह्म की सर्वज्ञता न होगी क्योंकि स्वयं के द्वारा स्वयं का ज्ञान न होगा ? यह शंका करता है--ज्ञान की अपने ही द्वारा अविज्ञेयता होने पर[५] (ब्रह्मकी) सर्वज्ञता नहीं रहेगी ? जानने योग्य सबको न जानने पर ही सर्वज्ञता नहीं रहती है, अन्यथा (=अयोग्य को न जानने पर भी सर्वज्ञता न

---

१. न तत्; कथम् ? सर्वस्य विभागोपपत्तेरिति योजना।

२. इति च्छेद इत्यत्र इति पाठ इति स्याच्चेत्सुष्ठु।

३. ज्ञेय नहीं—यह शेष है।

४. तत्पक्ष इत्यानन्दाश्रमपाठः। त्वत्पक्ष इति तूहितः।

५. बौद्ध मत में ज्ञान स्वयं को भी विषय करता है अतः स्वप्रकाश है। वेदान्तसिद्धान्त में विषयता आये बिना ही अपने अपरोक्ष व्यवहार की योग्यता होने से ज्ञान की स्वप्रकाशता है। नान्यदन्यत्प्रकरण में (उप. सा. १५ श्लोक ३८—५०) स्वप्रकाशता का विस्तार समझना चाहिये। न्यायरत्नावली में (पृ० २२९ पं. १२, प्र. द्वा. M.R.I.) एक वाक्य में वेदांतमत स्पष्ट किया है 'ज्ञानस्य स्वप्रकाशत्वं च ज्ञानविषयत्वं विनैव संशयादिविषयत्वायोग्यविद्यमानस्वरूपकत्वम्' जबकि बौद्धमत में 'ज्ञानं च सर्वं स्वविषयकम्' (पृ. २१८ पं. ११)।

रहे तो) खरगोश के सींग आदि को[1] न जानने से किसी के मत में भी (किसी की) सर्वज्ञता नहीं होगी। अतः हम वेदांतियों के मत में उस दोष की (=सर्वज्ञता न रहना रूप दोष की) प्राप्ति नहीं किन्तु वैनाशिक के पक्ष में ही (उसकी प्राप्ति है), कारण कि उसके द्वारा ज्ञान अवश्य ज्ञेय है ऐसा स्वीकारा गया है और अपने द्वारा अपनी ज्ञेयता '(अभावभूत विज्ञेय को विषय करने वाले ज्ञान का अभावरूप ज्ञेय से भेद होने के कारण ज्ञेय और ज्ञान का आपसी पार्थक्य) सिद्ध किया जा चुका है' इस पूर्व वाक्य में (M.R.I. पृ० १९७ पं० ९-१०) सदोष बतायी जा चुकी है; (ज्ञान से) अन्य किसी की ज्ञेयता (वैनाशिक द्वारा) भी स्वीकारी नहीं जाती; फलतः सर्वज्ञता असंगत है[2] यह कहते हैं—वह दोष भी उसका (वैनाशिक पक्ष का) ही हो। (यदि वेदान्त मत में दोष नहीं) तो आप वेदान्ती के मत में सर्वज्ञता सिद्ध होती कैसे है?—यह शंका कर, हम वेदान्तियों के मत में सर्वज्ञता की मायामयता होने से[3] सिद्धि न होने के कारण कोई दोष नहीं यह

१. ज्ञान का विषय बनने के अयोग्य में तात्पर्य है। अज्ञेयतांश में दृष्टान्त है असत्वांश में नहीं। असत्त्व को यदि उपाधि मानकर शंका की जाये तो प्रकृत ढंग छोड़कर यों कहना चाहिये कि किसी भी विषय में अज्ञान होने पर सर्वज्ञता नहीं रहती, ज्ञान में स्वविषयक अज्ञान है नहीं अतः सर्वज्ञता सुस्थ है।

२. ज्ञान क्योंकि ज्ञेय नहीं अतः वेदांत में उसको विषय करने वाले ज्ञान का न होना कोई दूषण नहीं। बौद्ध ज्ञान को ज्ञेय मानता है जबकि ज्ञेयता सिद्ध होती नहीं। अतः उसके मत में ज्ञानघटित सब ज्ञेयों का ज्ञान असंभव होने से सर्वज्ञता असंभव होती है यह अर्थ है।

३. सर्वज्ञता में 'सर्व' एक अंश है जो आत्मातिरिक्त की सत्ता स्वीकारने से संगत है, अन्यथा आत्मज्ञता ही कहा जाता। आत्मातिरिक्त सर्व मिथ्या अतः मायामय है ही। इसलिये सर्वज्ञता भी मायामय ही है इसमें संदेह नहीं। तैत्तिरीयभाष्य-टीका में कहा है 'सर्वं च संवित्स्वभावेन ब्रह्मणाऽव्यवहितमिति सर्वज्ञं ब्रह्म उपचर्यते' (पृ. ४५१ पं. ११ M.R.I.) वहीं भाष्य में भी इस प्रसंग का व्याख्यान है। जब आचार्य ने आत्मा में वस्तुतः ज्ञान का ही निषेध कर दिया है तब कुछ जानना तो दूरापास्त है—'नित्यविज्ञानरूपस्य ज्ञानाज्ञाने न मे सदा' (उप. सा. अचक्षुष्ट्व. ५)।

कहते हैं—उस दोष को हटाने से हमें क्या (प्रयोजन) ? वस्तुतः तो सबके व्यवहार के हेतुभूत ज्ञान वाला होना सर्वज्ञता है, वह तो (ज्ञान रूप ब्रह्म में) है ही क्योंकि ज्ञान भी स्वप्रकाश होने से अपने व्यवहार का हेतु[1] है। अथवा, जानने योग्य सबका ज्ञान होने से (ब्रह्म में) सर्वज्ञता है यह आशय है। पूर्वोक्त अनवस्था दोष भी वैनाशिक के पक्ष में ही है यह बताते हैं—ज्ञान को ज्ञेय मानने के कारण अनवस्था दोष भी (वैनाशिक पक्ष में है), क्योंकि वैनाशिक मत में ज्ञान अवश्य ज्ञेय है[2]। वह स्वयं ज्ञान के द्वारा ही (ज्ञान की) ज्ञेयता मानता है जिससे अनवस्था नहीं ? इस शंका के समाधानार्थ कहते हैं—स्वयं के द्वारा तो (स्वयं की) विज्ञेयता न होने से अनवस्था का वारण (वैनाशिक पक्ष में) नहीं किया जा सकता। 'सिद्ध किया जा चुका है' (M.R.I. पृ० १९७ पं० ९-१०) इस वाक्य में (स्वयं के द्वारा) स्वयं की ज्ञेयता असम्भव है यह बताया जा चुका होने से बची हुई अन्यज्ञेयता (=अन्य के द्वारा ज्ञेयता) मानने पर उस उस (अन्य) की भी इसी तरह (अन्यज्ञेयता होने से) अनवस्था को हटा नहीं सकते, यह अर्थ है।

(पूर्ववादी) शंका करता है कि ज्ञान की ज्ञेयता न होने पर उसके (=ज्ञान के) व्यवहार की सिद्धि न होगी और (स्व की अपेक्षा) अन्य ज्ञान के द्वारा ज्ञेय होने पर अनवस्था होगी (इस प्रकार) तुम वेदान्ती के मत में भी (दोष होगा)—यह दोष तुम वेदान्ती के मत में भी

---

१. हेतु होने की योग्यता वाला है यह तात्पर्य है।

२. स्वज्ञेयता कर्तृकर्मविरोध के कारण असम्भव होने से परज्ञेयता माननी होगी। वह पर भी ज्ञान होने से ज्ञेय होगा और पुनः परज्ञेयता स्वीकारनी होगी। एवं च अनवस्था स्पष्ट है। ज्ञान को अज्ञेय मानें तो उससे अन्य वस्तुओं की ज्ञेयता असंगत होगी—जो दीपक खुद को नहीं दिखा सकता वह दूसरे को क्या प्रकाशित करेगा ? इसलिये कहा है 'अप्रत्यक्षप्रकाशस्य नार्थदृष्टिः प्रसिद्धयति' अर्थात् ज्ञान को स्वप्रकाश न मानने वाले के मत में पदार्थज्ञान उपपन्न नहीं होता। [द्र. न्या. रत्न. पृ. २२९] इस प्रकार सिद्धान्ताभिमत स्वप्रकाशवाद छोड़कर वैनाशिक की कोई शरण नहीं यह भाव है।

समान है ?[1] (सिद्धान्ती) परिहार करता है कि (हमारे मत में ज्ञान) स्वप्रकाश होने से स्व का (=ज्ञान का) व्यवहार सिद्ध हो जाता है[2] (और) हमारे द्वारा नाना ज्ञान ही नहीं माने जाते जिससे[3] अनवस्था का प्रसंग ही नहीं—नहीं है, क्योंकि ज्ञान की एकता संगत है। सब देशों, कालों, पुरुषों आदि में अवस्थित एक ही ज्ञान (ज्ञान की) एकता स्वीकारने वाले पक्ष में ज्ञानभेद की प्रतीति की युक्तियुक्तता बताते हैं— नाम, रूप आदि[4] अनेक उपाधियों के भेद के कारण वैसे ही अनेक प्रकार का प्रतीत होता है जैसे (एक ही) सूर्यादि का जल आदि में पड़ा प्रतिविम्ब (अनेक प्रकार का प्रतीत होता है)। अतः यह (उभयविध) दोष (हम वेदान्तियों के मत में) नहीं है।

तो इस प्रकार चैतन्य (ज्ञान) एक होने से नित्य है इसलिये, और जगत् से भिन्न होने के कारण वह (चैतन्य) सत्य है इसलिये (वह जगद्-अध्यास का) अधिष्ठान हो यह संगत है, अतः उस पर कलाओं का अध्यारोप प्रकृत श्रुति में आत्मा को समझाने के लिये कहा जा रहा है, यह बताते हैं—(जैसे कि यह बात समझ आये) वैसा इस विषय को यहाँ कहा जा रहा है अर्थात् नित्य होने के कारण चैतन्य की अधिष्ठानता (सिद्ध) होने पर यहाँ उपनिषत् में यह कलाओं का अध्यारोप बताया जा रहा है।

चैतन्य की नित्यता नहीं हो सकती क्योंकि उसकी परिच्छिन्नता (=सीमित देश में स्थिति) श्रुति में कही गयी है और परिच्छिन्न वस्तु

---

१. 'यत्रोभयोः समो दोषः परिहारोऽपि वा समः। नैकस्तत्रानुयोक्तव्यस्तादृगर्थविचारणे ॥' इस कुमारिलोक्ति से वैनाशिक आत्मरक्षा करना चाह रहा है।

२. अपने व्यवहार के लिये अन्य की कोई अपेक्षा स्वप्रकाश को नहीं होती तथा स्व को विषय करने वाला स्व का प्रकाश भी नहीं होता अतः दोनों दोष प्राप्त नहीं होते।

२. अप्रामाणिक अनन्त पदार्थों की कल्पना का नाम है अनवस्था। जब ज्ञान एक ही है तब अनंत ज्ञानव्यक्ति मानना रूप अनवस्था की गुंजाइश ही नहीं।

४. आदि से कर्म तथा इन तीनों के विशेष समझने चाहिये।

घटादि की तरह अनित्य हुआ करती है, यह शंका करते हैं—श्रुति के[1] आधार पर कुण्ड में बेर की तरह[2] इसी शरीर के अन्दर पुरुष परिच्छिन्न है ? शरीर के अन्दर (पुरुष की) स्थिति प्रत्यक्ता[3] बताने की इच्छा से कही जा रही है, सीमितता बताने की इच्छा से नहीं। वैसा होने पर (=सीमितता विवक्षित होने पर) अगले वाक्य का विरोध होने से[4] (सीमितता विवक्षित नहीं) यह कहते हैं—(पुरुष परिच्छिन्न) नहीं है। प्राण आदि कलाओं का कारण होने से (पुरुष उनके द्वारा परिच्छिन्न नहीं माना जा सकता)। केवल शरीर से सीमित (पुरुष) प्राण, श्रद्धा आदि

---

१. प्रश्न ६.२।

२. पुनरपि सिद्धान्ताशय के अपरिज्ञान से शंका है। इस विषय में बृ. भा. १.४.७., तै० भा० ब्रह्म० ६ तथा इनके वार्तिकों का परिशीलन करना चाहिये।

३. प्रत्यक्ता अर्थात् अपरोक्ष स्वात्मरूपता। विषयों की अपेक्षा उल्टे ढंग से जो प्रकाशता है उसे प्रत्यक् कहते हैं। विषय इदन्तया प्रकाशते हैं जबकि आत्मा कभी इदन्तया नहीं प्रकाशता अत एव प्रत्यक् कहा जाता है। ब्रह्म शरीर में स्थित है बताने का तात्पर्य है यह स्पष्ट करना कि वही प्रत्यगात्मा है।

४. प्रथम श्रुत होने से 'इहैव' आदि का अर्थ उत्तर वाक्य से निरपेक्ष समझ कर तदनुसार उत्तर वाक्य की व्याख्या क्यों न की जाये ? इसका उत्तर है कि 'षोडशकलं भारद्वाज पुरुषं वेत्थ' (६.१) इस प्रकार षोडश-कल पुरुष प्रथम श्रुत है, तदनन्तर वह कहाँ है ? इस प्रश्न पर 'इहैव' आया है। अतः 'इहैव' होने पर भी उसकी षोडशकलता का निर्वाह होना आवश्यक है। षोडशकलता उत्तर वाक्य में 'यस्मिन्नेताः' आदि से बतायी है। अतः तदनुरूप 'इहैव' की व्याख्या करनी चाहिये। किंच पाठ की अपेक्षा अर्थ क्रम के विषय में प्रबलतर प्रमाण मीमांसा में माना गया है (जै. सू. ५.४.१)। 'स पुरुषः यस्मिन्' (६.२) इस वाक्य का अर्थदृष्ट्या अन्वय है 'यस्मिन्···स पुरुष इहैव'। अतः प्रथमश्रुतता अकिंचित्कर है।

कलाओं का कारण हो यह नहीं समझ सकते[1]।[2] (कलाकारणभूत पुरुष का शरीर में ही सीमित होना) अयोग्य (=असंभव) होने से भी वह अर्थ विवक्षित नहीं है यह बताते हैं– और क्योंकि शरीर कलाओं का कार्य है (इसलिये शरीरपरिच्छिन्न कलाकारण हो यह असम्भव है। (स्वयं स्पष्ट करते हैं—) पुरुष की कार्यभूत कलाओं का कार्य होता हुआ शरीर अपने कारण के कारणभूत पुरुष को कुण्ड में बेर की तरह अपने अन्दर सीमित नहीं करेगा। अपनी (=शरीर की) उत्पत्ति के पूर्व अपना (=शरीर का) अभाव होने से उस समय (=शरीरकारणभूत कलाओं की उत्पत्ति के समय) विद्यमान पुरुष को (शरीर) परिच्छिन्न नहीं कर सकता, यह अर्थ है।

(पूर्ववादी) शंका करता है कि बीज के कार्यभूत वृक्ष का कार्य फल अपने कारण वृक्ष के कारणभूत बीज को अपने अंदर सीमित करता है यह देखा गया है, अतः (कार्य का कार्य, कारण के कारण का परिच्छेदक हो यह) असंभव नहीं[3]—जैसे (फलस्थ) बीज (फल-कारणभूत) वृक्ष का कारण होता है[4] वैसे (प्रकृत में) हो ? इसे समझाते हैं–जैसे बीज का कार्य वृक्ष है और उसका कार्य आम आदि फल अपने कारण के कारणरूप बीज को अपने अंदर परिच्छिन्न कर लेता है वैसे शरीर अपने कारण का कारण (होने पर) भी[5] पुरुष को अपने अंदर परिच्छिन्न कर ले ? (सिद्धान्ती) परिहार करता है कि उदाहरण में बीज-व्यक्तियों का भेद होने से (फल द्वारा बीज का

---

१. आकाशादि कलाओं को उत्पन्न किया ऐसा बताया है (६.४) अतः सीमित व्यक्ति असीम को उत्पन्न करे ऐसा नहीं समझ सकते, यह अर्थ है।

२. अल्पपरिमाणी मनुष्य बहुत बड़े परिमाण की अट्टालिकाएँ बना लेता है, ऐसे ही आकाशादि बना सकता है ? यह शंका कर शरीरपरिच्छिन्न की आकाशादिकारणता में असंभव दोष देते हैं—कलाकारणेत्यादि द्वारा।

३. शरीर की उत्पत्ति के बाद आत्मा उसमें वस्तुतः परिच्छिन्न हो गया—इस आशय से प्रश्न है।

४. यथा बीजं वृक्षस्य आदिः=कारणं तथेति वृत्त्यर्थः।

५. यद्यपि पुमान् स्वकारणं तथापीत्यपेरर्थः।

परिच्छेद) अविरुद्ध होने पर भी[1] प्रकृत (दार्ष्टांत में) पुरुष-व्यक्ति की एकता होने से कारणता और (स्वकार्य के कार्य में) परिच्छिन्न होने में विरोध है– नहीं (कर सकता) । क्योंकि (फल में स्थित बीज, उस फल के कारण वृक्ष के कारण बीज से) अन्य होता है और; (शंका उठती है कि) कारणरूप बीज का ही वृक्ष, फल और उसके अन्तर्वर्ती बीजरूप से परिणाम होता है अतः कारण व कार्यरूप बीजों की एकता है (फलतः फलान्तर्वर्ती बीज वही है जो फल के कारणभूत वृक्ष का कारणभूत बीज है, जिससे 'अन्य होता है' ऐसा नहीं) ? —यह शंका कर[2] (सिद्धांती) कहता है कि यों एकता होने पर भी कारणीभूत बीज अवयवों वाला है अतः वृक्ष की तरह[3] फलरूप में परिणत अवयवों से भिन्न अवयव ही फल के अन्तर्वर्ती बीज रूप से परिणत होते हैं, इसलिये फल व बीज में आपसी भेद होने से (फल में) आधारता व (बीज में) आधेयता होवे, किन्तु यहाँ (आत्मा में) निरवयवता होने से वैसा (अर्थात् शरीर की आधारता व आत्मा भी आधेयता नहीं –(बीज) सावयव वस्तु है (इसलिये बीजविलक्षण आत्मा में बीज का न्याय नहीं लगेगा) । प्रथम हेतु[4] को समझाते हैं—दृष्टान्त में कारणभूत बीज की अपेक्षा अन्य ही बीज वृक्ष के फल में पैदा होते हैं जब कि दार्ष्टान्त में अपने (=शरीर के) कारण का कारणरूप वही पुरुष शरीर में अंदर (स्थित) किया हुआ श्रुति से जाना जाता है । 'जिसमें

---

१. जो बीजव्यक्ति कारण है वह स्वकार्य के कार्य के अंदर नहीं होता किन्तु दूसरा ही बीज होता है । इस प्रकार दृष्टान्त में तो व्यक्ति भेद के कारण विरोध नहीं यह अर्थ है । वस्तुतस्तु इसीलिये दृष्टान्त है ही विषम । अकारणभूत बीज का ही अंतर्भाव फल में मिलता है, कारणभूत का नहीं । बीजत्व सामान्य को मानकर दोष देने का प्रयास प्रष्टा का है । ऐसे पुरुषत्वसामान्य कुछ है नहीं क्योंकि पुरुष एक है ।

२. यहाँ भी बीज परिणामी है जबकि आत्मा कूटस्थ है यह दोष बाहर से ही समझ लेना चाहिये । अभ्युपगमवाद से 'अन्यत्व' हेतु को सदोष मान कर हेत्वन्तर दिया जा रहा है । वस्तुतः तो दोनों हेतु हैं ।

३. जैसे वृक्षाकार में परिणत अवयवों से भिन्न अवयव ही फलाकार में परिणत होते हैं, वैसे ।

४. 'क्योंकि ··· अन्य होता है' ।

ये सोलह कलाएँ' इस स्थल पर आये 'जिसमें' शब्द से कहे पुरुष को ही 'हे सोम्य ! यहीं शरीर में वह पुरुष है' इस स्थल के 'वह' शब्द से कहा गया होने के कारण 'श्रुति से जाना जाता है' (यह कहा) यह तात्पर्य है।

द्वितीय हेतु[1] का व्याख्यान करते हैं—बीज, वृक्ष आदि[2] सावयव हैं अतः (वृक्षादि की) आधारता व (बीज आदि की) आधेयता होवे, पुरुष तो[3] निरवय है और (इसलिये) जैसे बीज (अपने एक हिस्से से फल बनता है और दूसरे हिस्से से बीजान्तर बनकर उसमें रहता है) वैसे (पुरुष का) एक हिस्से से कला आदि रूप में बदलना (और) एक हिस्से से (किसी रूप में) वहाँ (=कलाकार्य शरीर में) रहना संभव नहीं, यह तात्पर्य है। और भी, कलाएँ टुकड़ों वाली होने से सीमित हैं, पुरुष उससे विपरीत (निःसीम) है अतः निःसीम वस्तु ससीम आधार वाली हो यह संभव नहीं, यह कहते हैं—और कलाएँ तथा शरीर सावयव हैं,[4] अतः दृष्टान्त (दार्ष्टान्त के) समान नहीं है। अथवा,[5] (कलाएँ) सावयव होने के कारण कार्य होने से मिथ्या हैं अतः निरवयव होने के कारण वास्तविक सत्य पुरुष की आधार हों यह संगत नहीं, यह कहते हैं—और···सावयव हैं, (अतः···है।) ।आकाश के कार्यभूत शरीर में असीम आकाश का अन्तर्वर्तित्व देखा गया है (ऐसे असीम आत्मपुरुष का शरीर में वास्तविक अंतर्वर्तित्व हो) ? यह शंका कर उत्तर देते हैं कि क्योंकि छिद्र (=आकाश) युक्त (पिण्ड) ही शरीर है इसलिये शरीर के आकार में रहना ही आकाश का भी (शरीरान्तर्वर्तित्व है), न कि (कुण्ड में बेर की तरह) शरीर के अंदर स्थित होना—इससे (यह स्पष्ट हो गया कि) आकाश भी

---

१. '(बीज) सावयव वस्तु है'।

२. 'आदि' से फल समझना चाहिये।

३. निरवयवश्चेति चस्त्वर्थः।

४. सौकर्यायैतेनेत्यादि पृथक् कृतम्।

५. पुरुषनिरवयवत्वावेदनेनैव निःसीमतयाऽनाधेयत्वलाभसंभवात्सावयवाश्चेति वचनमफलमित्याशंक्य हेत्वन्तरतया व्याचष्टे—अथवेति। कार्यत्वं मिथ्यात्वव्याप्तं, सावयवत्वं च कार्यत्वव्यापकमिति बोध्यम्। तत्कालोत्पन्नानिर्वाच्यरजतस्वीकारान्न दृष्टान्तहानिः।

शरीर रूप आधार वाला हो[1] यह संगत नहीं तो आकाश का कारणभूत पुरुष शरीर रूप आधार वाला हो यह संगत नहीं इसमें क्या कहना ?

(पूर्व वादी) शंका करता है कि युक्ति सहन न करने वाली बात भी शास्त्रोक्ति की प्रामाणिकता के कारण स्वीकारनी चाहिये—दृष्टान्त से क्या (प्रयोजन) ?[2] शास्त्रोक्ति के कारण (आत्मा का वास्तविक शरीर-परिच्छेद) होवे ? (ऐसा) नहीं। शास्त्रोक्ति भी वस्तु को अन्य प्रकार का कर देने में समर्थ नहीं है, वस्तु के स्वरूप का विरोध किये विना ही बोध कराने वाली है, ऐसा न हो तो विचार व्यर्थ हो जायेगा[3], अतः (शास्त्रोक्ति द्वारा युक्ति से) विरुद्ध बात बतायी जाने योग्य नहीं[4] यह कहते हैं'— क्योंकि शास्त्र कुछ करता नहीं (केवल बताता है इसलिये आत्मा का शरीर में अयुक्त सीमित होना नहीं स्वीकार सकते)। शास्त्र वस्तु को अन्य प्रकार का कर देने के लिये व्यापार नहीं करता। तो क्या (करता है) ? जैसा विषय है वैसा उसे बताने में (व्यापृत होता है)। (यदि आत्मपुरुष का शरीर में परिच्छिन्न होना सर्वथा अनुपपन्न है) तो 'शरीर में' (६ २) इस श्रुति की संगति कैसे ? यह शंका कर, कार्य में अनुगत कारणवस्तु कार्य में अंतर्गत की तरह प्रतीत होती है अतः शरीर का उपादानकारण होने से पुरुष का (शरीर के अंतर्गत की तरह प्रतीत होना संगत है और) इस[5] अभिप्राय वाली यह श्रुति है (इस परिहार को समझाने के लिये) दृष्टान्त देते हैं—और इसलिये

---

१. अर्थात् वेर के लिये कुण्ड की तरह आकाश के लिये शरीर आधार हो।

२. अर्थात् सिद्धान्ती निर्दृष्ट दृष्टान्त न पूछे, शास्त्र-वचन के कारण मान ले।

३. तत्सिद्धिपेटिका आदि में किया गया विचार व्यर्थ हो जायेगा क्योंकि अयजमानरूप प्रस्तर भी वचनवल से यजमान समझ लिया जायेगा।

४. 'न मानयोर्विरोधोऽस्ति' इस उदयन-वचन को याद रखना चाहिये। प्रत्यक्षादि से श्रुति का विरोध वस्तुतः हो तो उक्त नीति खण्डित होगी अतः जहाँ विरोध प्रतीत हो वहाँ परीक्षित प्रमाणानुसार विरुद्धतया प्रतीयमान प्रमाण की गति वनानी चाहिये।

५. कारणतया अनुगत है—यह 'इहैवान्तःशरीरे' श्रुति का अभिप्राय है, यह अर्थ है। इतना तात्पर्य 'व्योमेतिवच्च' इस भाष्यस्थ चकार से समझना चाहिये। केवल कारणतया अवस्थान से पूर्वोक्त प्रत्यक्त्वलाभ नहीं होगा, उसके लिये अनुप्रविष्ट आत्मा समझना होगा यह भाव है।

'शरीर में' ('=शरीर के अन्दर') यह कथन 'अण्डे में आकाश है' की तरह समझना चाहिये। अर्थात् जैसे अण्डे में अनुगत होने के कारण अण्डे का कारणभूत आकाश अण्डे के भीतर स्थित प्रतीत होता है, वैसे (शरीर के अंदर आत्मा स्थित कहा गया है, कुण्ड में बेर की तरह नहीं)।

अथवा[1], लोगों को भ्रम से ज्ञात (शरीर में अपनी) सीमितता का[2] श्रुति द्वारा अनुवाद किया जा रहा है यह बताते हैं- क्योंकि (शरीर पुरुष की) उपलब्धि में निमित्त बनता है इसलिये भी (पुरुष को शरीर के अंदर स्थित कहा है)। (स्वयं सूत्र का उद्घाटन करते हैं—) देखना, सुनना, सोचना, समझना आदि चिह्नों द्वारा पुरुष (यों) उपलब्ध होता है मानों शरीर के अंदर सीमित हो।[3] या,[4] शरीर में अभिव्यक्त होने के कारण उसके अंदर स्थित होना कहा है, यह कहते हैं—क्योंकि[5] (शरीर में पुरुष) अभिव्यक्त[6] होता है इसलिये कहा जा रहा है 'हे सोम्य! शरीर के अंदर वह पुरुष है'। आकाश का (भी) कारण[7] होता हुआ (पुरुष) कुण्ड में बेर की तरह शरीर में परिच्छिन्न है— ऐसा तो मूर्ख व्यक्ति भी मन से भी[8] नहीं कहना चाहता तो प्रमाण रूप

१. कारणतया अनुगत को अंतःस्थित कहते हैं इस दृष्टि से 'इहैव' वाक्य समझा कर अन्य दृष्टि से उसे समझाते हैं।

२. भ्रम निवृत्त करने के लिये—इतना शेष है।

३. तैत्तिरीयभाष्य का यह वाक्य तुलनीय है—'तदेवमाकाशादिकारणं कार्यं सृष्ट्वा तमनुप्रविष्टमिवान्तर्गुहायां बुद्धौ द्रष्टृ श्रोतृ मन्तृ विज्ञातृ इत्येवं विशेषवदुपलभ्यते, स एव तस्य प्रवेशः' (पृ. ५२७ पं. ७ M.R.I.)।

४. लोकभ्रम का अनुवाद है इस दृष्टि से वैकल्पिक व्याख्यान किया। अब एक अन्य वैकल्पिक दृष्टि से समझाते हैं—'या' आदि से। ये सभी विकल्प विवक्षित हैं।

५. उपलभ्यते चेति चकारस्य यत इत्यर्थ उत्तरत्र 'अतः' पददर्शनात्।

६. व्यापक होने पर भी आत्मतया अभिव्यक्ति (=उपलब्धि) शरीर में ही होती है।

७. लिंगव्यत्यय आर्षः। यद्वा, कारणमस्यास्तीति कारणं कार्यमित्यर्थः। आकाशः कारणं (=कार्यम्) यस्यासावाकाशकारणः पुरुष इति समासो व्याख्येयः।

८. वाणी से तो नहीं ही कहेगा।

श्रुति की (ऐसी विवक्षा नहीं हो सकती इसमें) क्या कहना ? ॥ २ ॥

'जिसमें ये सोलह कलाएँ उत्पन्न होती हैं' इस वाक्य द्वारा अध्यारोप कह दिया गया होने से 'उसने चिन्तन' इत्यादि वाक्य द्वारा पुनः सृष्टि बताना अनपेक्षित है ? इस शंका के निवृत्त्यर्थ कहते हैं—'जिसमें ये सोलह कलाएँ उत्पन्न होती हैं' इस प्रकार पुरुष की विशेषता बताने के लिये कलाओं की उत्पत्ति बतायी[1]। यद्यपि उत्पत्ति (स्वार्थ प्रधान नहीं है किन्तु) अन्य प्रयोजन से[2] श्रुति में बतायी गयी है तथापि (वह) किस क्रम से होती होगी ? (यह आकांक्षा हो जाती है), अतः सृष्टिक्रम समझाने के लिये यह 'उसने चिंतन' इत्यादि कहा जा रहा है। क्रम समझना कलाओं की उत्पत्ति समझने में सुविधा के लिये है ।[3] 'उत्पत्तिक्रम की अपेक्षा लयक्रम विपरीत होता है, युक्तिसंगत भी यही है' (ब्र० सू० २.३ १४.) इस नियम से कार्य का अपने-अपने कारण (से अभेद करने के) क्रम से अपवाद की सुविधा के लिये भी (क्रम समझना उपयुक्त है), यह तात्पर्य है। चिन्तन करना बताने का प्रयोजन कहते हैं ·सृष्टि चेतन कारण वाली है यह (समझाने) के लिये भी ('उसने चिन्तन' इत्यादि अपेक्षित है) ।

"उस पुरुष ने ऐसा चिन्तन किया—(शरीर से) किसके निकल जाने पर मैं निकल जाऊँगा और (शरीर में) किसके स्थित होने पर स्थित होऊँगा ? ॥ ३ ॥"

जो सोलह कलाओं वाला पुरुष भारद्वाज द्वारा पूछा गया था उसने 'ईक्षांचक्रे' ईक्षण किया अर्थात् चिन्तन किया। सृष्टि, फल, क्रम आदि के विषय में (चिन्तन किया) सृष्टि अर्थात् प्राण आदि की उत्पत्ति; (शरीर से) निकलना आदि सृष्टि का फल है; 'प्राण के बाद श्रद्धा

१. प्रभवन्तीत्युक्त इति M.R.I. पाठः । आनन्दाश्रमादौ 'उक्तम्' इति पठ्यते । तर्हि···विशेषणार्थमित्यत्र वाक्यसमाप्तिः । स च कलानां प्रभव इति च वाक्यान्तरं योज्यम् । स चेति चकारो यद्यप्यर्थः, अन्यार्थोपीत्यपिकारस्तथाप्यर्थ इति ज्ञेयम् ।

२. पुरुष की विशेषता बताना रूप स्वार्थ की अपेक्षा अन्य प्रयोजन है। सृष्टिवाक्यमात्र का स्वार्थ में तात्पर्य नहीं ।

३. उत्पत्ति समझना व्यर्थ है, यह शंका कर उसे अपवाद के प्रयोजन से समझना सार्थक है यह कहते हैं—उत्पत्तिक्रम इत्यादि से ।

को' (६.४) इत्यादि में बताया पौर्वापर्य क्रम है; 'आदि' शब्द से 'तथा लोकों में नाम' (६.४) (इस प्रकार बताये) आधारविशेष व आधेयविशेष का ग्रहण किया जाता है। कैसे (चिन्तन किया), यह बताया जा रहा है—देह से किस कर्ता-विशेष के निकल जाने पर मैं निकला हुआ हो हो[1] जाऊँगा और शरीर में किसके स्थित रहने पर मैं 'प्रतिष्ठास्यामि' अर्थात् स्थित होऊँगा ?[2]

सांख्यवादी शंका करते हैं कि चिन्तन करना बताने से यह सिद्ध नहीं हो जाता कि सृष्टि चेतन कारण वाली है, क्यों कि युक्ति से अकर्ता होने से चेतन की कारणता नहीं (यह निश्चित) होने पर और परिवर्तन वाले होने से जड प्रधान (प्रकृति) आदि की कारणता (निश्चित) होने पर चिन्तन की अन्य प्रकार से[3] व्याख्या की जानी

---

१. 'अहमेव' इत्यानंदाश्रमपाठो, भविष्याम्येवेत्यन्वयः । 'अहमेवम्' इति संभावितः पाठः, तत्रोत्क्रान्ति दृष्टान्तीकृत्य प्रतिष्ठोच्यत इत्यर्थः ।

२. अत्रेदमवधेयम्—अन्यः प्राणप्रवेशोऽन्यश्चात्मप्रवेशः । उभयोरैक्ये कस्मिन् प्रतिष्ठित इति विचाराप्रसरात् । पादाग्राभ्यां तु प्राणः प्रविवेश 'तं प्रपदाभ्यां प्रापद्यत' (ऐ० १.३.१) इत्यैतरेयकवचनात् । मूर्धानं विदार्य चात्मा प्रविष्टः 'स एतमेव सीमानं विदार्यैतया द्वारा प्रापद्यत' इति तत्रोपनिषदि (ऐ० उ० १.३.१२) कथनात् । आत्मप्रवेशानुपपत्तिप्रशमस्तु श्रीमदाचार्यैरैतरेयके (पृ० ६५६—६६२ MRI), तैत्तिरीये (पृ० ५२३-५२८; ६१६—६१८), बृहदारण्यके (पृ० ६९—७४) च विस्तरशोऽकारीति नेहोच्यते ।

३. 'यदुक्तं नाचेतनं प्रधानं जगत्कारणं, ईक्षितृत्वश्रवणाद्—इति; तदन्यथाप्युपपद्यते—अचेतनेपि चेतनवदुपचारदर्शनात् । यथा प्रत्यासन्नपतनतां नद्याः कूलस्यालक्ष्य कूलं पिपतिषतीत्यचेतनेपि कूले चेतनवदुपचारो दृष्टः, तद्वद् अचेतनेऽपि प्रधाने प्रत्यासन्नसर्गे चेतनवदुपचारो भविष्यति-तदैक्षत इति' इत्यादि 'गौणश्चेन्नात्मशब्दादि'ति (१.१.६) सूत्रस्यावतरण-भाष्यमिहानुसन्धेयम् । वस्तुतस्तु '(श्रुतौ) मन्दश्रद्धास्तार्किकास्तु सांख्याः पातंजलाश्च, ते हि स्वतन्त्रसिद्धस्य आनुमानिकस्यापि प्रधानादेर्वस्तुनः श्रौततां सिपाधयिषवोऽजामेकामित्यादीनि श्रुतिवाक्यानि उदाहृत्य स्व-सिद्धांतानुगुण्येन तानि योजयितुं प्रवर्तन्त' इति दर्शनाङ्कुरोपोद्घाते (पृ० ८३-८४) अभ्यङ्करपण्डितोक्तनीत्या श्रुत्यर्थः क इति नैषां जिज्ञासा, योस्माभिः निर्धारितोर्थः स श्रुतौ कथमन्वेषणीय इत्यतः प्रसंगादि विहाय द्वित्राणि वाक्यानि विचार्यन्त एभिरिति नैषां व्याख्याने श्रौतानामादरो जायत इति द्रष्टव्यम् ।

चाहिये—आत्मा अकर्ता है, 'ऐसा होने पर स्वतंत्रता से चिन्तन कर पुरुष को कर्ता बताने वाला यह (व्याख्यान) असंगत है। और भी, आत्मा कर्ता है यह मान लेने पर भी जैसे कर्ता कुम्हारादि के (दण्ड आदि सहायक साधन होते हैं) वैसे (आत्मा के) सहायक स्वातिरिक्त साधन न होने[2] से तथा (अपने) दुःख आदि अनिष्टों के कारणभूत प्राण आदि संसार का कर्ता (स्वयं) आत्मा हो यह असंगत होने से (आत्मा कलाओं को) उत्पन्न करता है यह कहना अयुक्त है, यह (सांख्यवादी ही) कहता है—आत्मा की कर्तृता होने पर भी क्योंकि वह अकेला है इसलिये (सृष्टि के) साधन न होने से और आत्मा अपने लिये अनिष्ट (दुःखमय संसार) का कर्ता हो यह संगत न होने से (उक्त व्याख्यान ठीक नहीं)। सोचकर काम करने वाला समझदार (व्यक्ति) अपना अनिष्ट नहीं करता। (यदि आत्मा संसार का कर्ता नहीं) तो (संसार का) कर्ता क्या है ? —इस जिज्ञासा को शांत करने के लिये (सांख्य) कहता है—प्रधान कर्ता है अर्थात् क्रियाशक्ति वाला है; इसलिये; प्रश्न होता है कि जड प्रधान को किसी प्रयोजन सिद्धि की आवश्यकता न होने से (उसकी संसार-रचना में) प्रवृत्ति हो यह असंगत है ?—इसके उत्तर के लिये कहता है—चेतन पुरुष के[3] भोग व मोक्षरूप अर्थ यानी प्रयोजन को स्वीकार कर अर्थात् उसे उद्‌देश्य कर प्रधान महत्तत्त्व आदि[4] के रूप में (परिणत होते हुए संसार-रचना में)

---

१. टीकामनुसृत्यान्वयं कृत्वानुवादः।

२. 'आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्' (ऐ० १.१), 'सदेव सोम्येदमग्र आसीत्' (छा० ६.२.१), 'आत्मैवेदमग्र आसीत्' (बृ० १.४.१), 'अक्षरात्संभवतीह विश्वम्' (मुं० १.१.७) इत्यादि श्रुतियों से अकेले आत्मा की अवस्थिति सिद्धान्त में स्वीकृत है, आत्मा से भिन्न किसी साधन का साहित्य होने पर श्रौत अवधारण व्यर्थ होंगे। इस सिद्धांत को मानकर सांख्य इसी सिद्धांत में दोष दे रहा है। अर्थात् यह सिद्धांत मानने पर यह दोष है।

३. जीव ही सांख्यवाद में पुरुष है। आथर्वणवाक्यों में पुरुषशब्द ब्रह्मपरक है, अतः यहाँ भ्रम नहीं होना चाहिये।

४. अहंकार, तन्मात्राएँ, मनसमेत इंद्रियाँ तथा पाँच भूत आदि शब्द का अर्थ है (सां०का० २२)।

प्रवृत्त होता है। क्योंकि गाय के शरीर में स्थित जड दूध की बछड़े के पोषण के लिये प्रवृत्ति देखी जाती है तथा खेती आदि के बढ़ने के लिये जड जल की प्रवृत्ति देखी जाती है इसलिये (पुरुष के लिये जड प्रधान में प्रवृत्ति होना युक्त है), यह अर्थ है। प्रश्न होता है कि अकेला होने से प्रधान का भी सहायक साधन न होने से (वह) कारण हो यह संगत न होने पर, अन्य संभावना न होने से[1] चेतन को ही किसी तरह कर्ता बताना चाहिये ? —इसका उत्तर देने के लिये कहता है— सत्त्व आदि गुणों की साम्यावस्था रूप सृष्टिकर्ता प्रधान के प्रमाण सिद्ध होने पर पुरुष को कर्ता बताने वाला यह (व्याख्यान) असंगत है। सत्त्व आदि तीन गुणों की[2] साम्यावस्था प्रधान है, यह सांख्यमत है। तथा च सत्त्वादि गुणों से सभाग प्रधान का कारण होना (संभव) होने पर अन्य संभावना नहीं ऐसा नहीं, अतः पुरुष को कर्ता बताने वाला व्याख्यान ठीक नहीं, (यह अर्थ है) ।

यदि चेतन से अनियंत्रित जड की प्रवृत्ति नहीं देखी गयी है, ऐसा मानते हो तो परमाणुओं को (संसार का) कारण मनाने वाला सिद्धान्त (स्वीकार्य) होवे। उस मत में नियंत्रण करने वाला ईश्वर

---

१. श्रुति से आत्मा जगत् का कारण पता चला। अनुमान से प्रधान जगत् का कारण है यह ज्ञान हुआ। दोनों पक्षों में अनुपपत्ति है। श्रुति प्रमाण है अतः उसकी बात गलत होगी नहीं, हाँ उसकी व्याख्या यों करनी चाहिये कि अनुपपत्ति हट जाये। यह सिद्धान्तानुयायी का प्रश्न समझना चाहिये।

२. वस्तुतः सत्त्व, रज और तम हैं द्रव्य ही। अतएव ये महदादि के (समवायी) कारण बनते हैं तथा संयोग-विभाग वाले होते हैं। पुरुष के भोग-साधन होने से उसके प्रति गुणभूत हैं अतः इन्हें 'गुण' कहते हैं। ये तीनों प्रकृति के गुण हैं, जैसे पृथ्वी का गुण गंध है, ऐसा नहीं समझना चाहिये। ये तीनों, अपनी साम्यावस्था में, प्रकृति रूप हैं। सांख्यसूत्र में स्पष्ट किया है 'सत्त्वादीनामतद्धर्मत्वं तद्रूपत्वात्' (६.३९)। भामतीकार ने (२.२.१) इसे यों प्रकट किया है—जगत् की कारणीभूत प्रकृति में जो सुखरूपता है वह सत्त्वगुण है, जो दुःखरूपता है वह रजोगुण है और जो मोहात्मकता है वह तमोगुण है। अतएव असाम्य की अवस्था होने पर प्रधान नष्ट हो गया ऐसा नहीं माना जाता।

(स्वीकृत) होने से[1] (दृष्ट का विरोध न होगा) यह कहता है—**अथवा ईश्वर की इच्छा की अनुवृत्ति करने वाले परमाणुओं के रहते पुरुष को कर्ता बताने वाला यह व्याख्यान अनुचित है।**

(सांख्यमत में यदि जड ही कारण है) तो उपनिषत् में कहे चिन्तन का क्या तात्पर्य है ? इसके समाधानार्थ (सांख्यवादी) कहता है—**इसलिये जैसे चिन्तन पूर्वक (चेतन) प्रवृत्ति करता है वैसे पुरुष के भोग व मोक्षरूप अर्थ से, अर्थात् प्रयोजन से, नियमित क्रम से प्रवृत्ति करते हुए जड प्रधान को चेतन की तरह [मानकर] यह 'उसने चिंतन किया' आदि गौण प्रयोग है।** वस्तुतः चिन्तन करने वाले (अर्थात् चेतन) में वर्तमान 'नियमित क्रम से प्रवृत्ति करना' रूप गुण के सम्बन्ध से 'चिन्तन किया' यह गौण प्रयोग है जैसे पीला रंग रूप गुण के सम्बन्ध से बच्चे के विषय में अग्नि शब्द का प्रयोग होता है, यह अर्थ है। प्रश्न होता है कि यों (गौण प्रयोग) होने पर भी चिन्तन करने वाले प्रधान के लिये 'पुरुष' शब्द (का प्रयोग) कैसे ? इसे उत्तरित करने के लिए (सांख्यवादी) कहता है—**जैसे राजा के सब प्रयोजन सिद्ध करने वाले नौकर के लिये 'राजा' शब्द (प्रयोग कर लिया जाता है) वैसे पुरुष**

---

१. ब्रह्मसूत्रभाष्य में (२.२.११-१७) परमाणुकारणतावाद की विशद परीक्षा की है। वहाँ अदृष्ट को परमाणुप्रवृत्ति में निमित्त मानना उस सिद्धान्त में अभ्युपगत है ऐसा मानकर खण्डन किया है। ईश्वराधिष्ठितता का पूर्वपक्ष नहीं उठाया है। किन्तु पत्यधिकरण में (२.२.७.३७) कहा है 'तथा वैशेषिकादयोऽपि केचित्कथंचित् स्वप्रक्रियानुसारेण निमित्तकारण-मीश्वर इति वर्णयन्ति'। और अधिकरण के अंत्य तीन सूत्रों में (३९, ४०, ४१) तार्किक परिकल्पित ईश्वर का निरास किया है। यहाँ भी परस्पर विरुद्ध होने से सांख्यमत की तरह तर्कसमय को हेय कहा जायेगा। अंत में जो ईश्वरकारणवाद स्थापित मानेगे वह तार्किका-भिमत ईश्वरकारणवाद नहीं वल्कि प्रकृत षोडशकलपुरुषकारणवाद है यह जानना चाहिये। परमाणुकारणवाद की संक्षिप्त प्रक्रिया भाष्यकार ने वतायी है—'परमाणवः किल कंचित्कालमनारब्धकार्या यथायोगं रूपादिमन्तः पारिमाण्डल्यपरिमाणाश्च तिष्ठन्ति। ते च पश्चाद् अदृष्टादि-पुरःसरा संयोगसचिवाश्च सन्तो द्वयणुकादिक्रमेण कृत्स्नं कार्यजातमारभन्ते' (ब्र० सू० भा० २.२.११)।

के भोग व मोक्ष (रूप प्रयोजन) सिद्ध करने वाले प्रधान के लिये 'पुरुष' शब्द गौण है, यह तात्पर्य है।

(यद्यपि) स्वरूप से आत्मा अकर्ता है तथापि मायारूप उपाधि से (उसकी) कर्तृता संभव है ऐसा (सिद्धान्त)[1] मन में रखकर पहले प्रतिबन्दी[2] द्वारा ऊपरी[3] परिहार करते हैं--(पुरुष को कर्ता बताने वाला व्याख्यान गलत) नहीं है, क्योंकि आत्मा की भोक्ता-रूपता की तरह कर्ता-रूपता संगत है। (इसे स्वयं स्पष्ट करते हैं—) जैसे सांख्यमत के ज्ञानमात्ररूप व अपरिवर्तनशील भी आत्मा की भोक्ता-रूपता है,—बुद्धि करने वाली है, पुरुष भोगने वाला है—ऐसा कहने वाले सांख्यों द्वारा आत्मा की भोक्तारूपता बतायी गयी है,[4] यह भाव

---

२. 'मायिकस्य जगत्कारणत्वस्य अनृततया, परमार्थतो निर्धर्मस्वरूपेण विरोधानुपपत्ते'रिति ब्रह्मविद्याभरणे (१.१.२) जन्मादिसूत्र उक्तम्। 'उपाधिना क्रियते भेद रूप' इत्यादिका ब्रह्मविन्दुपनिषदपि मानम्।

३. विरोधी समान उत्तर प्रतिबन्दी कहलाता है। इस प्रकार के उत्तर में स्वमत-उपपादन का अधिक प्रयास न कर प्रष्टा के सिद्धान्त से समानता दिखा कर इतना ही सिद्ध करते हैं कि यदि प्रष्टा अपना मत ठीक मानता है तो तत्समान होने से उत्तरवादी की बात उसे स्वीकारनी होगी।

४. सिद्धांत में तो आत्मा की वास्तविक भोक्तृता नहीं है अतः कर्तृता भी नहीं है अतः यहाँ प्रारंभ में दिया जा रहा उत्तर चरम उत्तर नहीं है इसलिये आपाततः या ऊपरी (=सतही) कहा। यदि इसका तात्पर्य यों समझें कि जैसे औपाधिक भोक्तृत्व है वैसे औपाधिक कर्तृत्व संभव है, तो इसे 'आपाततः' मानना नहीं पड़ेगा, यह जानना चाहिये।

५. सांख्याचार्य ईश्वरकृष्ण तो पुरुषसिद्धि में भोक्ता होना हेतु मानते हैं 'पुरुषोऽस्ति भोक्तृभावात्' (१७)। तत्त्वसमाससूत्र की 'सांख्यतत्त्व-विवेचनम्' नामक व्याख्या में श्रीपिमानन्द (क्षेमेन्द्र) भी कहते हैं 'द्रष्टा भोक्ता क्षेत्रविदमलोऽप्रसवधर्मकः। सूक्ष्मो नित्यो ह्यथानादि-स्त्वमध्यनिधनोऽपि सः॥' (सूत्र. ३)॥ सांख्यसूत्र भी स्पष्ट करता है 'चिदवसानाभुक्तिस्तत्कर्मार्जितत्वात्' (६.५५)। अतएव सूत्रभाष्य में सांख्यमत बताया है 'भोक्तैव केवलं न कर्तेत्येके' (१.१.१)। किन्तु सांख्यों को अभिमत भोक्तृरूपता समझ लेनी चाहिये। विवरणाचार्य ने इसे स्पष्ट किया है—'दृश्यावभासमात्रं भोक्तृत्वं, न सुखदुःखान्वयः'

है—वैसे ही वेदवादियों का आत्मा चिन्तन आदि कर जगत् का कर्ता हो यह संगत है क्योंकि (पुरुष को कारण बताने वाली) श्रुति की प्रामाणिकता है। श्रुति में वतायी जगन्निर्माता रूपता भी अपरिवर्तनीय (आत्मा) की किसी तरह[1] संगत बननी चाहिये, यह तात्पर्य है।

सांख्यवादी शंका रूप में प्रतिवन्दी का परिहार करता है—अन्य तत्त्व के रूप में वदल जाना आत्मा की अनित्यता, अशुद्धता व अनेकता[2] का कारण होता है, केवल ज्ञानस्वरूप रहते हुए बदलना[3] (आत्मा की अनित्यतादि का कारण) नहीं होता; अतः पुरुष के स्वरूप में ही भोक्तारूपता होने पर केवल ज्ञानस्वरूप रहते हुए बदलना दोष का कारण नहीं, किन्तु आप वेदवादियों के मत में (आत्मा की) सृष्टिकर्तृता होने पर अन्य तत्त्व के रूप में बदलना ही होगा[4] अतः अनित्यता आदि सब दोष प्राप्त होंगे? भोग नाम है सुख-दुःख के अनुभव का और अनुभव[5] पुरुष का स्वरूप है अतः (पुरुष के भोक्ता होने पर अन्य तत्त्व के रूप में वदलना रूप परिणाम नहीं होता, यह तात्पर्य है)

पूर्व रूप छोड़ कर अन्य रूप का हो जाना ही परिणाम है और चाहे सजातीय अन्य रूप का होना या विजातीय अन्य रूप का होना हो, अन्य रूप का हो जाना अनित्यता आदि को ला ही देगा। अतः

(पृ० ८४९ कल०)। किन्तु इससे वेदान्त पक्ष हो गया यह भ्रम नहीं होना चाहिये क्योंकि सांख्य इस दृश्यावभास को सत्य मानते हैं जबकि वेदान्त में यह मिथ्या है : 'सुखदुःखाभ्यां विद्यमानाभ्यां बुद्धिधर्माभ्यांमविवेकोपलक्षितानुभवस्वरूपं हि भोक्तृत्वं, तच्च सत्यमेवेति भोक्तैवात्मा' (न्या. रत्ना. पृ० २१९ पं. २२ प्र. द्वा. M. R. I.)

१. 'अविद्या द्वारा' यह किसी तरह का अर्थ है।

२. अनेकता का अर्थ है सावयवता। परिणामिता से यही सिद्ध होता है, न कि पुरुषवहुत्व। और सांख्यमत में पुरुषवहुत्व तो कोई दोष है ही नहीं।

३. जिन बुद्धिभेदों से अविवेक हो रहा है उनका वदलना ही यहाँ विवक्षित है। स्मरणीय है कि सांख्य अख्यातिवादी है अतः केवल अविवेकनिबंधन ही भ्रम है।

४. प्रपंच जड है अतः आत्मतत्त्व को अनात्मतत्त्व के रूप में वदलना होगा तभी वह प्रपंच का कारण वन पायेगा।

५. स इत्यनुभवस्यैव परामर्श इत्यत्र पूर्वोद्धृतं विवरणं मानम्।

भोज्य के अविवेकरूप उपाधि से[1] भोक्तृता माननी होगी। इसलिये उस तरह की[2] (=अविवेकोपाधि से होने वाली) कर्तृता में भी (भोक्तृता से) समानता है। इस अभिप्राय से वास्तविक उत्तर देते हैं—नहीं होंगे। एक होते हुए भी अविद्या के रहते विषयात्मक नाम-रूप उपाधि के[3] कारण व उपाधि न रहने से[4] आत्मा में भेद स्वीकृत होने से (आत्मा में कोई दोष नहीं प्राप्त होता)। एक होते हुए वस्तुतः सहायकरहित, (वस्तुतः) अकर्ता और (वस्तुतः) पूर्णकाम होते हुए भी,—यह 'भी' शब्द का अर्थ है। उपाधि के कारण कर्तृरूपता संभव होने से, अविद्या रूप सहायक सम्भव होने से, भ्रान्ति के कारण अपने से भिन्न अपूर्णकाम जीव संभव होने से जीवों के (भोग व मोक्ष रूप) पुरुषार्थ के लिये वैसा (=अकर्ता आदि) होते हुए भी (आत्मा की) सृष्टि-कर्तृता उपपन्न है अतः चेतन द्वारा अनियन्त्रित[5] जड (प्रधान) की सृष्टिकर्तृता युक्तिसंगत नहीं, यह भाव है। बन्ध मोक्ष आदि प्रतिपादक शास्त्र द्वारा किये (ज्ञापनरूप) संव्यवहार (की सार्थकता) के लिये अविद्याकार्यभूत अनभिव्यक्त नाम-रूपात्मक उपाधि के कारण आत्मा की (अनुपाधिरूप की अपेक्षा) विशेषता स्वीकारी जाती है। 'बन्ध मोक्ष आदि'—यहाँ 'आदि' शब्द से बंध व मोक्ष के उपाय कहे जा

१. भोज्य अर्थात् बुद्धि, उससे अविवेक ही वह उपाधि है जिससे आत्मा में भोक्तारूपता है। औपाधिक होने से मिथ्या है यह वेदांतसिद्धांत है। औपाधिक होने पर भी सत्य है, यह सांख्यमत है।

२. तदात्मकर्तृत्व इति कैश्चित्कल्प्यते पाठः, आत्मकर्तृत्वेऽपि तत्तुल्यमिति तदा सम्बन्धः।

३. नामरूप ही विषय हैं व वे ही उपाधि हैं।

४. उपाधिना कृतमुपाधिकृतं, यन्न तथा तदनुपाधिकृतं स्वाभाविकमित्यर्थः। उपाधिकृतमात्मरूपं मिथ्याऽनुपाधिकृतं तु सत्यमिति विशेषः।

५. नाचेतनस्य चेतनाधिष्ठितस्येत्यानन्दाश्रमे धृतः पाठः। तथात्वे, 'ईश्वरेच्छानुवर्तिषु वा परमाणुषु' इति पूर्वोक्तं तार्किकमतं चेतनाधिष्ठितस्येत्युच्यते। अचेतनस्य प्रधानस्य चेतनाधिष्ठितस्य परमाणुजातस्य वा तन्न युक्तमिति योज्यम्। परमाणुकारणवादे दोषा उभयथाप्यधिकरणे (२.२.३.१२–१७) दर्शनीयाः। एकाऽविद्या, तत्सहकृत एक एवात्मा, आभ्यामेव सृष्टिसंभवेऽनन्तपरमाणूनां तत्संयोगादीनां स्वीकारे गौरवातिशय इति द्रष्टव्यम्।

रहे हैं। क्योंकि मोक्ष भी बन्ध का होता है (=बन्धन से छुटकारा मिलता है) इसलिये (उसकी) सोपाधिकता[१] कही। और वस्तुतः उपाधि के विना एक ही अद्वितीय, समझने योग्य; वास्तविकता श्रुति से ही समझी जा सकती है यह बताते हैं– सब तार्किकों की बुद्धि से समझा न जा सकने वाला, भयरहित कल्याणात्मक तत्त्व स्वीकारा जाता है। इस प्रकार के (=निरुपाधिक) आत्मा की सृष्टिकर्तृता नहीं है यह बताते[२] हैं– उस तत्त्व में कर्तृरूपता या भोक्तृरूपता और क्रिया, कारक व (उनका) फल नहीं है क्योंकि (वहाँ) सभी होने वाली वस्तुओं का अभेद[3] है।

सांख्यवादी तो कर्तृता, क्रिया, कारक व फल पुरुष में (अविवेक रूप) अविद्या से भ्रमसिद्ध हैं ऐसी कल्पना कर—अर्थात् ऐसी कल्पना करने में प्रवृत्त होते हैं—फिर, वेद से अपरिचित होने के कारण, उससे (=भ्रमसिद्धि मानने से) डरते हुए पुरुष की वस्तुतः ही भोक्तृरूपता (स्वीकारना) चाहते हैं और पुरुष की अपेक्षा अन्य तत्त्व प्रधान को पारमार्थिक वस्तु ही मानते हुए; क्योंकि पुरुष किसी विशेषता (=धर्म) वाला नहीं इसलिये उसमें वस्तुतः कर्तृरूपता आदि होना असंगत होने से कर्तृत्वादि भ्रमसिद्ध ही है ऐसी कल्पना करने में प्रवृत्त होकर भी क्योंकि सब विरोधों का परिहार[४] करने वाले वेद रूप प्रमाण

---

१. निरुपाधिक तत्त्व के विषय में तो 'न निरोधो न चोत्पत्तिर्न बद्धो न च साधकः। न मुमुक्षुर्न वै मुक्त इत्येषा परमार्थता॥' वै० प्र० ३२॥ यह समझना चाहिये।

२. परमार्थतः सृष्टि न होने से उसकी कर्तृता भी नहीं। औपाधिक सृष्टि होने से औपाधिक कर्तृता भी है।

३. जो कोई भी वस्तु होती है, उसका उस तत्त्व में अत्यन्त अभेद है। कर्तृत्वादि सब भेद में ही संभव हैं। अतः अभेद होने पर स्वयमेव निरस्त हो जाते हैं यह तात्पर्य है।

४. सबसे प्रबल प्रमाण होने से वेद विरोधों को काट देता है। सांख्यवादी यदि वेद की ही शरण लेते अर्थात् उसे ही सबसे प्रबल प्रमाण मानते तो कर्तृत्व की तरह भोक्तृत्व भी औपाधिक मानते व कर्तृत्वादि को मिथ्या मानते। किंतु वे तर्क पर ही श्रद्धा रखते हैं इसलिये कर्तृत्वादि को पुरुष

की ही शरण नहीं लेते इसलिये तथा प्रत्यक्ष आदि से विरोध आने के कारण (कर्तृत्व आदि को) भ्रमसिद्ध मानने से डरते हुए (कर्तृत्वादि) सबको वस्तुतः ही (स्वीकारना) चाहते हैं। उसमें भी (=कर्तृत्वादि में भी) अचेतन की भोक्तृरूपता असंगत होने से केवल उसे आत्मा का स्वीकारते हैं। कर्तृत्वादि को तो प्रधान का स्वीकारते हैं, यह तात्पर्य है। (यदि ऐसा मान भी लिया) तो उस सांख्यवादी का[1] (अर्थात् उसके मत में) दोष क्या है ? यह शंका कर (आत्मा की) भोक्तृता स्वीकारने पर उसी तरह[2] उसी की कर्तृरूपता भी होगी--इस प्रकार अन्यों के द्वारा समझाये जाते हुए अपने सांख्य-मत से च्युत हो जाते हैं (यह दोष है) यह कहते हैं—अन्य तार्किकों द्वारा कृत अर्थात् सिखाई बुद्धि के विषय अर्थात् अधीन हुए हुए—(अन्य तार्किकों द्वारा) सिखा दी गयी है बुद्धि जिनकी (ऐसे हुए हुए), यह तात्पर्य है—मारे[3] जाते हैं।

(यदि तार्किक मत सांख्यवाद का खण्डन कर देता है) तो सांख्यवादी को (सही) शिक्षा देने वाले तार्किक का मत स्वीकार्य हो ? इस शंका की निवृत्त्यर्थ कहते हैं—इसी प्रकार अन्य तार्किक सांख्यों द्वारा (कृत बुद्धि के विषय हुए हुए मारे जाते हैं)। तार्किकमत भी सांख्यवादी के द्वारा शिक्षित (अर्थात् खण्डित) कर दिया जाता है अतः वह भी स्वीकार्य नहीं, यह तात्पर्य है। (यदि इन दोनों का मत स्वीकार्य नहीं) तो किसी तार्किक का मत स्वीकरणीय है ? —यह शंका कर, किसी भी (तार्किक का मत स्वीकार्य) नहीं यह उत्तर देते

पर कल्पित मानकर भी स्वतः सत्य मान लिया, फलतः भोक्तृत्व को पुरुष में वस्तुतः मान लिया। इस प्रकार वेदान्त से सर्वथा विपरीत मान्यता वाले हो गये। शास्त्रैकशरण न होने से ही प्रत्यक्षादि की आगमानुकूल व्यवस्था न कर आगम को ही प्रत्यक्षादि के अनुकूल बनाने लगे।

१. तर्हि तेषामिति स्यात् प्रच्यवन्त इत्युपसंहारात्। यद्वा तस्येति मतस्येत्यर्थः। मतस्यैवायं दोषो यदनुयायिनां ततश्च्युतिरिति भावः।

२. जिस तरह निर्विशेष आत्मा की उपाधिवशात् भोक्तृता सिद्ध होती है उसी तरह।

३. अपने सिद्धान्त को छोड़ना ही मरना है।

हैं—इस प्रकार आपस में विरुद्ध अर्थों की कल्पना से एक दूसरे के विरोधी प्रमाण और (प्रमाणबोधित) अर्थ समझने वाले होने के कारण[1] उसी तरह वास्तविक तत्त्व से दूर ही खींच लिये जाते हैं जैसे एक माँस के टुकड़े को चाहने वाले नाना प्राणी (आपसी लड़ाई के कारण मांस से दूर ही चले जाते हैं)। (यदि ऐसा है) तो आप वेदान्ती द्वारा तार्किक मत में दोष किसलिये बताया जा रहा है ? आपस में उनके ही द्वारा (अपने मतों के) दोष बता दिये होने से (आपका प्रयास व्यर्थ है) तथा उन्हीं की तरह (आपमें भी) द्वेष आदि[2] वाला होना प्राप्त होगा ? इस सन्देह को हटाने के लिये कहते हैं—इसलिए मोक्ष चाहने वाले (साधक) उन मतों की उपेक्षा कर उपनिषदों के प्रयोजनभूत तत्त्व में अर्थात् (जीव-ब्रह्म की) एकता के अनुभव में श्रद्धा वाले हों इस उद्देश्य से तार्किकों के मतों के दोषों का प्रदर्शन (जैसे हो वैसा) थोड़ा हमारे द्वारा बताया जा रहा है, न कि वैसे जैसे तार्किक तत्पर[3] होकर (अन्य मत का दोषप्रदर्शन करते हैं) । इस विषय में यों यह बात कही है—(विचारकों के) विरोधों की उत्पत्ति के कारण को अर्थात् भेद वास्तविक है इस समझ को विवाद करते हुए (तार्किकों) पर ही

---

१. क्योंकि विरुद्धार्थकल्पना कर चुकते हैं अतः स्वाभिमत विषय के अनुकूल ही प्रमाण ढूँढते हैं, यथावस्तु प्रमाण की ओर बेखबर हो जाते हैं । यही भाव 'तर्काप्रतिष्ठानादप्यन्यथानुमेयम्' (२.१.११) आदि सूत्र में वर्णित है ।

२. आदि से स्वमत में राग, परस्पर विरुद्धार्थकल्पना और अन्योन्यविरुद्धमानार्थदर्शिता समझने चाहिये ।

३. वेदान्ती प्रमाणसिद्ध विषय को मुमुक्षुहित से प्रेरित होकर युक्त्यनुकूल सिद्ध करने का प्रयास करता है न कि किसी स्वकल्पित व्यवस्था की रक्षा का । यद्यपि 'विवेकख्यातिरविप्लवा हानोपायः' (यो.सू.२.२६), 'सम्यग्ज्ञानाधिगमाद् ·····।।······उभयं कैवल्यमाप्नोति' (सां.का.६७-६८), 'यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः, अथातो धर्मं व्याख्यास्यामः' (वै.सू.२ व १), 'प्रमाण···तत्त्वज्ञानान्निःश्रेयसाधिगमः' (न्या.सू.१.१.१) इत्यादि कहते हुए तार्किक भी मुमुक्षु को ही रास्ता बताने का दम्भ रखते हैं तथापि प्रमाणसिद्ध न होने से उनके मत अनुपपन्न हैं यह तात्पर्य है । अनुमानादि प्रमाणों में दोषावकाश है जबकि श्रुति में ऐसा नहीं यह भाव है ।

छोड़कर[1] उनसे सुरक्षित सद्बुद्धि वाला वेदवेत्ता सुखपूर्वक शान्ति का अनुभव करता है।[2] ( )। 'सुरक्षित (सद्बुद्धि वाला)' अर्थात् —भेदभाव (भेदवादियों द्वारा) आपस में बताये दोषों वाला होने से अभेदसिद्धान्त ही दोषरहित है--इस निश्चयात्मक बुद्धि वाला हुआ 'शान्ति का अनुभव करता है' अर्थात् सब विकल्पों से छुट्टी पा जाता है।[3] 'थोड़ा दोषप्रदर्शन किया जाता है' यह जो कहा उसी का विस्तार करते हुए पूर्ववादी द्वारा भी कर्तृता आदि की भ्रमसिद्धता ही बतायी जानी चाहिये यह कहते हैं - और भी, विस्तार के अंदर पहले बताते हैं कि भोक्तृता व कर्तृता में कोई (ऐसा) भेद नहीं बताया जा सकता (जिससे एक आत्मा में रहे और दूसरा न रहे), अतः उनके (आत्मा व प्रधानरूप) आश्रयों को (एक एक के लिये) व्यवस्थित करना संभव नहीं - भोक्तृता और कर्तृता रूप परिवर्तनों[4] में (उन्हें

१. अर्थात् भेद सत्य है यह निश्चय छोड़कर, अपने में उसे न रखकर।

२. इस विषय में आचार्य गौडपाद के वचन स्मरणीय हैं -'स्वसिद्धान्तव्यवस्थासु द्वैतिनो निश्चिता दृढम्। परस्परं विरुद्धयन्ते तैरयं न विरुद्धयते ॥ अद्वैतं परमार्थो हि द्वैतं तद्भेद उच्यते। तेषामुभयथा द्वैतं तेनायं न विरुद्धयते' ॥ अद्वै. प्र.१७-१८॥ अन्य मतों में आदर छोड़ श्रौत मार्ग में श्रद्धा पूर्वक बढ़ने के लिये मतान्तर समीक्षा उपदेशसाहस्री के पार्थिव प्रकरण में दर्शनीय है। वहाँ यही प्रयोजन कहा है 'इति प्रणुन्ना द्वयवादिकल्पनाः स्थिरा मुमुक्षवो ज्ञानपथे स्युरित्युत' (६८)। यह शंका होने पर कि मुमुक्षु को वेदान्त मार्ग बताना आवश्यक होने पर भी इतर मतों का खण्डन किस लिये? तर्कपाद के आरंभ में भाष्यकार ने कहा है, 'महाजनपरिगृहीतानि महान्ति सांख्यादितन्त्राणि सम्यग्दर्शनापदेशेन प्रवृत्तानि उपलभ्य भवेत् केषांचिन्मन्दमतीनां एतानि अपि सम्यग्दर्शनायोपादेयानि-- इति अपेक्षा, तथा युक्तिगाढत्वसंभवेन सर्वज्ञभाषितत्वाच्च श्रद्धा च तेषु, इत्यतः तदसारतोपपादनाय प्रयत्यते' (ब्र. सू. भा. २.२.१)।

३. अर्थात् उन भेदव्यवस्थाओं में सिरखपाई नहीं करता।

४. सांख्य के अनुसार भी अनुभवमात्र भोक्तृत्व नहीं, दृश्यावभास—अविवेकोपलक्षित अनुभव—भोक्तृत्व है। तथा च दृश्यभेद से प्रतिदृश्यावभास विभिन्न होगा अतः भोक्तृत्व परिवर्तन-विशेष निश्चित है। उदासीनभाव की च्युति कर्तृत्व के लिये आवश्यक होने से वह परिवर्तन है यह तो स्पष्ट है।

व्यधिकरण सिद्ध करने वाला) भेद संगत नहीं। कर्तृता से अन्य जाति का[1] भोगरूप परिवर्तन[2] क्या है जिससे पुरुष भोक्ता ही कल्पित किया जाता है कर्ता नहीं (और) प्रधान कर्ता ही कल्पित किया जाता है भोक्ता नहीं ?

(सिद्धान्ती का) तात्पर्य न समझने वाला (पूर्वपक्षी) शंका करते हुए बताये[3] भेद को प्रश्नरूप से (पुनः) बताता है– बताया जा चुका है कि पुरुष केवल ज्ञानरूप है और वह भोग करता हुआ अपने स्वरूप में रहते हुए बदलता है अर्थात् ज्ञानरूप से ही बदलता[4] है, अन्य तत्त्व के रूप में नहीं (बदलता) अर्थात् अनेकता (=सावयवता), अशुद्धि आदि वाले (तथा) अपने से विपरीत लक्षण वाले महत्तत्त्व आदि के रूप में (नहीं बदलता)। (जबकि) प्रधान तो अन्य तत्त्व के रूप में बदल जाता है अतः अनेक (=सावयव), अशुद्ध, जड, विषयता आदि धर्मों वाला है (और) पुरुष उससे विपरीत है (एवं च दोनों में आधारभूत भेद है) ? पुरुष का बदलना ज्ञानरूप से ही होता है अतः (उसकी) अन्य रूप की प्राप्ति या अशुद्धि आदि नहीं होती। प्रधान तो अन्य आकार में बदल जाता है अतः पूर्व वाला रूप छोड़ देने से (उसकी) अशुद्धि आदि हो जाती है।[5] यह अर्थ है।

(सजातीय या विजातीय) किसी रूप में बदलना (क) क्या आगन्तुक है? (ख) या आगन्तुक नहीं ? प्रथम पक्ष होने पर आगन्तुक

---

१. अर्थात् कर्तृता से असमानाधिकरण।

२. भोगवान् हि भोक्ता। एवं च मतुबुत्तरभावप्रत्ययेत्यादिन्यायेन भोक्तृत्वं भोगः। विक्रिया विशेषत्वाद्भोक्तृत्वस्य भोक्तृत्वविशिष्टेत्यत्र वैशिष्टयमभेदः, भोक्तृत्वाभिन्ना विक्रियेत्यर्थः।

३. पृ० २०० पं० ७–९ M.R.I.। सिद्धान्ती का तात्पर्य है कि परिवर्तन दोनों हैं व आत्मा अपरिवर्तनीय है अतः दोनों ही आत्मा में नहीं हो सकते। शंकावादी सजातीय परिवर्तन व विजातीय परिवर्तन में भेद मानकर पहले की तरह अपना पक्ष रखता है।

४. घटज्ञान, पटज्ञान आदि भेद ज्ञानरूप ही है यह तात्पर्य है।

५. सब परिवर्तनों में पुरुष ज्ञानरूप ही बना रहता है जब कि प्रधान साम्यावस्था में अप्रवृत्तरूप वाला रहता है, वैषम्य होने पर प्रवृत्तरूप वाला हो जाता है, ऐसे ही सत्त्व आदि नाना विभिन्न रूपों वाला होता रहता है यह भाव है।

विशेषता वाला होने से[1] (आत्मा की) अनित्यता आदि प्राप्त होने के कारण (आत्मा) प्रधान के समान हो जायेगा। यदि कहो कि भोग कर चुकने के बाद (पुरुष) पुनः स्वरूप में स्थित हो जाता है जिससे अनित्यता आदि दोष नहीं, तो प्रलय में प्रधान का भी स्वरूप में स्थित होना (तुम सांख्यवादी द्वारा) स्वीकृत होने से उन दोनों में (=पुरुष व प्रधान में) कोई अंतर न होगा—यह दोष (सिद्धान्ती) देता है—यह भेद नहीं है, क्योंकि केवल शब्द[2] हैं। सूत्र वाक्य का व्याख्यान करते हैं—यदि भोग की उत्पत्ति के पहले केवल ज्ञानरूप पुरुष में भोग की उत्पत्ति के समय भोक्तृता नामक (कोई) विशेषता उत्पन्न होती है और भोग निवृत्त हो जाने पर पुनः उस विशेषता से रहित हो (पुरुष) केवल चिद्रूप (=ज्ञानरूप) हो जाता है तो इस कल्पना में तथा प्रधान महत्तत्त्व आदि रूप में बदलकर पुनः उससे (=महत्तत्त्वादि-रूप से) हट कर प्रधान हुआ अपने स्वरूप से रह जाता है तो इस कल्पना में (अर्थात् इन दोनों कल्पनाओं में) कोई भेद नहीं है, अतः प्रधान और पुरुष के विलक्षण परिवर्तन हैं यह केवल कहने मात्र से कल्पित किया जा रहा है। ज्ञानरूप में व अन्य तत्त्व के रूप में परिवर्तन की कल्पना में भी विचार करने पर अर्थतः कोई भेद नहीं प्राप्त होता है अतः उनमें विलक्षण परिवर्तन हैं यह केवल कहने मात्र से कल्पित किया जा रहा अर्थात् (केवल) कहा जा रहा है (इस कहने का विषयभूत कोई वैलक्षण्यात्मक अर्थ नहीं हैं)।

द्वितीय (ख) पक्ष[3] (का सहारा लेकर) शंका उठाते हैं—यदि पुरुष भोगकाल में भी पहले की तरह ज्ञानरूप ही है अर्थात् (उसका कोई) आगन्तुक अन्य रूप नहीं? तो कर्म जन्य (अत एव) कभी

---

१. अनित्यता का यहाँ अर्थ है परिणामिता। अन्यथा सांख्यवाद में प्रधान नित्य होने से दृष्टान्त असिद्ध होगा। एवं च यह प्रयोग है—पुरुष, अनित्य (=परिणामी) है, आगन्तुक विशेषता वाला होने से, प्रधान की तरह।

२. अर्थात् भेद बताने के लिये शब्दों का प्रयोग तो किया है लेकिन ये एक ही बात को अलग-अलग ढंग से कहते हैं, किसी भेद को नहीं प्रतिपादित करते।

३. बदलना आगन्तुक नहीं है।

होने वाला (अर्थात् असदातन) भोग सिद्ध न होगा यह दोष देते हैं— तो पुरुष का वस्तुतः भोग नहीं होगा[1]। इस दोष के निवारण के लिये, (आत्मा में) आगन्तुक परिवर्तन स्वीकार कर[2] (पुरुष में) भोग की विद्यमानता और (प्रधान में) उसकी अविद्यमानता बस इतने से ही दोनों में भेद है (क्योंकि) भोगकाल में होने वाला परिवर्तन—यही भोग है और वह (परिवर्तन) पुरुष का ही होता है, प्रधान का नहीं; —यह शंका करता है- भोगकाल में ज्ञानरूप (पुरुष) का परिवर्तन वास्तविक ही है अतः पुरुष का भोग (वास्तविक) है ? ऐसा स्वीकारने पर भी (प्रश्न उठता है कि) क्या भोगकाल में होने वाला परिवर्तन ही भोग है, या उस समय होने वाला ज्ञानरूप (पुरुष) का परिवर्तन भोग है ? —इस विकल्प को उठा कर (सिद्धान्ती) कहता है कि प्रथम विकल्प स्वीकृत होने पर प्रधान का भी भोग हो जागेगा क्योंकि भोगकाल में वह भी[3] सुख आदि आकार में बदलता है—(ऐसा) नहीं (कह सकते), क्योंकि (ऐसा हो तो) भोगकाल में (प्रधान भी) बदलाव वाला होने से उसकी भी भोक्तृरूपता प्राप्त होगी। द्वितीय विकल्प को शंकारूप से (सांख्यवादी) उठाता है—ज्ञानरूप (पुरुष) का ही परिवर्तन भोक्तृरूपता है ? 'ज्ञानरूप (पुरुष) का ही' इस 'ही' शब्द से क्या (पुरुष की अपेक्षा) अन्य (बदलने वाली) वस्तु के बदलाव से निरपेक्ष पुरुष-परिवर्तन भोग है—यह कहा जा रहा है, या केवल पुरुष में होने

---

१. रसगुल्ला आदि खाना रूप भोग नहीं होगा क्योंकि रसगुल्ला खाने के काल व न खाने के काल में पुरुष में कोई अन्तर नहीं । अविवेकोपलक्षित अनुभवस्वरूप वह भोग मानता है। उपलक्षित व्यक्तियों का भेद मानकर व्यवस्था बनाना चाहता है। वह भेद सत्य है तो प्रधानसमानता अनिवार्य है और अगर मिथ्या है तो वेदान्त मत का अनुयायी ही सांख्यवादी बन जायेगा यह तात्पर्य है।

२. इससे सांख्यवादी को अपसिद्धान्त दोष की प्राप्ति नहीं समझनी चाहिये क्योंकि विजातीय-परिवर्तन-राहित्य ही वह आत्मा में मानता है।

३. सुख आदि आकार में बदले हुए बुद्धिरूप प्रधान से ही अविवेकोपलक्षित अनुभवरूपता पुरुष की भोक्तृता है इस सांख्य मत के ही अनुसार भोग काल में प्रधाननिष्ठ परिवर्तन अनिवार्य है।

वाला[1] उसका असाधारण परिवर्तन भोग है (यह कहा जा रहा है) ? प्रथम पक्ष नहीं (कहा जा सकता), क्योंकि (बुद्ध्यात्मक) प्रधान के सुखादिरूप परिवर्तन के विना भोग की सिद्धि (तुम सांख्यवादी के मत में भी) नहीं होती। न द्वितीय पक्ष (कहा जा सकता है): पुरुष का असाधारण परिवर्तन (=वह परिवर्तन जो केवल पुरुष में हो, अन्यत्र नहीं) ही भोग है इसमें कोई कारण न होने से[2] यह कहना पड़ेगा कि अपना असाधारण परिवर्तन भोग है[3]। और ऐसा (कहने पर) अतिप्रसंग[4] होगा, कारण कि सभी अपने असाधारण परिवर्तन वाले होते हैं। भोगकालिक असाधारण परिवर्तन वाला तो प्रधान भी है क्योंकि उस समय (वह) सुखादिरूप परिवर्तन वाला होता है; यह दोष देते हैं— (**'ज्ञानरूप पुरुष का' —इतना अंश अनुकूलतर्काभाव में त्याज्य होने से 'परिवर्तन भोक्तृरूपता अर्थात् भोग है' यह कहना होगा[5], तब**) गर्मी

१. 'केवल पुरुष में होने वाला' इसी का अर्थ करते हैं—'उसका असाधारण परिवर्तन।' इस विकल्प में धर्म्यन्तरविक्रियासापेक्ष विक्रिया विवक्षित है किन्तु होनी चाहिये पुरुषगत।

२. पुरुषगत विक्रिया को ही भोग क्यों कहते हो ? यह विचार चल रहा है अतः इसे सिद्धवत् माना नहीं जा सकता। तात्पर्य है कि पुरुष का असाधारण परिवर्तन ही भोग हो इसमें कोई अनुकूल तर्क नहीं। यह नहीं कह सकते कि यदि प्रधान भोक्ता होता तो जड न होता—यह अनुकूल तर्क है; क्योंकि यही तो अभी सिद्ध नहीं हो पाया है कि भोक्तृत्व चेतनधर्म है। अतः यह प्रश्न उठेगा—प्रधान भोक्ता हो किंतु चेतन न हो तो क्या आपत्ति है ? एवं च अनुकूल तर्क का अभाव यथावस्थित है। ऐसे ही—प्रधान भोक्ता होता तो अनुभवरूप होता, यह तर्क भी नहीं दे सकते; क्योंकि अनुभवरूप कहना व चेतन कहना एक ही वात है, एवं च पूर्वतर्क को ही शब्दान्तर में रखा है।

३. 'विक्रिया भोग है' कहने पर चैत्रविक्रिया मैत्र का भोग होने लगेगा अतः 'अपना असाधारण' यह आवश्यक है।

४. नियम का जो फल नहीं होना चाहिये वह हो— यह अतिप्रसंग है। लक्षण की दृष्टि से इसे ही अतिव्याप्ति कहते है।

५. सांख्यवादी कह सकता है कि भोग अनुभव को कहा जाता है अतः अनुभव से भिन्न विक्रिया की भोगरूपता का अकाण्डताण्डव क्यों ? इसका

आदि असाधारण धर्मवाली अग्नि आदि की भोक्तृरूपता न होने में कोई कारण होना संगत न होगा (अर्थात् अपने असाधारण परिवर्तन वाली होने से अग्नि भी भोग करने वाली होगी)।

भोग काल में होने वाला[1] असाधारण परिवर्तन भोग है। अग्नि आदि में तो उस समय नियमतः परिवर्तन नहीं होता[2] (अतः उनकी भोक्तृतापत्ति नहीं) ,और प्रधान का भी (भोग होगा—यह कोई अनिष्ट) प्रसंग नहीं (कारण कि वह)[3] प्रसंग इष्ट है; —यह शंका करता है—प्रधान व पुरुष दोनों को[4] इकट्ठे ही भोक्तृरूपता हो ? भोक्ता ही (प्रधान का) शेषी है (अर्थात् भोक्ता के लिये प्रधान है), (प्रधान व पुरुष) दोनों की भोक्तृरूपता होने पर (प्रधान की) शेषता व

उत्तर है कि यह ठीक है कि अनुभवभिन्न विक्रिया की भोगरूपता की आपत्ति अकाण्डताण्डव है किन्तु तर्कपद्धति पर आरूढ होकर सांख्यवादी ने जो भोग का लक्षण किया उसका परिष्कृतरूप कितना असंगत है यह दिखाना यहाँ प्रयोजन है अतः कोई दोप नहीं। यदि सांख्यवादी कहें कि अनुभवात्मक विक्रिया भोग है तो सिद्धान्ती को यही कहना है कि वह विक्रिया मानी पुरुष की ही जायेगी और विक्रिया वाला होते ही पुरुष अनित्य हो जायेगा जिससे तुम्हारे पक्ष का व श्रुति का विरोध होगा अतः वैसा भी नहीं कह सकते। अन्त में कहो कि अनुभव ही भोग है तब तो जो दोष है वह पहले कहा जा चुका है—अनुभव नित्य है और भोग कर्मफल होने से अनित्य है अतः दोनों एक नहीं हो सकते।

१. अर्थात् भोग काल में अवश्य होने वाला व इतर काल में न होने वाला।

२. तथा भोग से अतिरिक्त काल में भी परिवर्तन होता है यह भी समझना चाहिये।

३. इष्टापत्तिरित्यानन्दाश्रमपाठे यतो हि तथात्व इत्यध्याहारेण योजना। इष्टापत्तेरिति M. R. I. पाठः स्पष्टः।

४. इसमें सांख्यवाद के अपसिद्धान्त की शंका न हो इसलिये सांख्यसूत्रों की श्रीधराचार्य की वृत्ति के ये वाक्य देख लेने चाहिये—'भोगः सम्वन्ध-विशेषाख्यस्वीकार-जन्यफलरूपदेहादिचेतनान्तेपु साधारणः; स च परिणा-मिनि देहादौ पुष्टयादिपरिणामरूपः, चेतने च वृत्तिप्रतिविम्बावच्छिन्नं स्वरूपमेव। एवं च परिणामरूप एव भोगः पुरुषस्य निषिध्यते "बुद्धेर्भोग इवात्मनी"त्यादाविति।' (सां० सू० १.१०४)।

(पुरुष की) शेषिता न होगी[1] यह दोष देते हैं–(ऐसा) नहीं (हो सकता) क्योंकि (ऐसा होने पर) प्रधान की अन्यार्थता (=पुरुष के लिये होना) असंगत होगी। दो भोक्ता एक दूसरे के शेष व शेषी हों यह युक्तिसंगत नहीं[2]। जैसे दो प्रकाशों द्वारा एक दूसरे का प्रकाशन करने में (अनुपपत्ति है, वैसे प्रकृत में भी है)।

(सांख्यवादी) शंका करता है कि सत्त्वगुणप्रधान चित्तरूप से बदले हुए प्रधान का ही धर्म भोग है क्योंकि प्रधान का परिवर्तन संगत है, पुरुष का (धर्म भोग) नहीं है, क्यों कि वह परिवर्तनशील नहीं। किन्तु पुरुष को भोग होता ही नहीं ऐसा नहीं, क्यों कि उस प्रकार के (=सत्त्वगुणप्रधान) चित्त में प्रतिबिम्बित[3] हो जाने मात्र

---

१. जो कि सांख्य को अभीष्ट है—यह जोड़ लेना चाहिये। शेषीरूप से ही वह पुरुषसिद्धि करता है—'संघातपरार्थत्वात्' (सां० का० १७)। पंगु व अंध की तरह संयोग होने पर भी भोग व मोक्ष दोनों हैं पुरुष के ही अतः वही शेषी है (द्र० सां० का० २१)। यद्यपि अंत में कहा है 'तस्मान्न वद्धयतेऽद्धा न मुच्यते नापि संसरति कश्चित्। संसरति वध्यते मुच्यते च नानाश्रया प्रकृतिः ॥' (सां० का० ६२), तथापि वेदान्त की तरह सांख्यवाद न होने से तुरन्त कारिकाकार ने जोड़ दिया 'वध्नात्यात्मानमात्मना प्रकृतिः, सैव···विमोचयति' (सां० का० ६३)। एवं च अविवेकरूप वंध व विवेकरूप मोक्ष पुरुष का है तथा इससे विलक्षण वन्ध व मोक्ष प्रकृति का है यही स्वीकारना होगा। सर्वथापि संहत होने से प्रधान का पारार्थ्य निश्चित है अतः पुरुष ही शेषी है यह सांख्यसिद्धान्त है। 'भोगकालीन असाधारण विक्रिया भोग है' यह भोग-लक्षण स्वयं भोगघटित होने से अलक्षण ही है यह दोप अलग से समझना चाहिये।

२. जहाँ क्रीडा आदि में भोक्ताओं का परस्पर भोग्य-भोक्तृभाव दीखता है वहाँ भी शरीर रूप भोग्यों का ही भोग्यत्व है, भोक्ताओं का परस्पर भोग्यत्व नहीं। 'न च तेषां स्त्र्यादीनां पुरुषोपभोग्यत्वेपि उपभोगो नास्ति' (छां० पृ० १८६ पं० ९–१० M. R. I.) आदि भाष्योक्ति भी इसी प्रकार समझनी चाहिये।

३. अर्थात् अविविक्त।

से पुरुष का भोग कहा जाता है– भोगरूप धर्म वाले (तथा) सत्त्व गुण अंगी अर्थात् प्रधान है जिसमें ऐसे चित्त में ज्ञान के (=ज्ञानरूप पुरुष के) प्रतिबिम्ब का उत्पन्न होना अपरिवर्तनशील पुरुष का भोग है? (यदि ऐसा है) तो चित्त में होने वाले भोग से पुरुष में परिवर्तन उत्पन्न होता है, या नहीं? —यह विकल्प कर, द्वितीय पक्ष (=परिवर्तन नहीं होता) संभव नहीं यह (सिद्धान्ती) कहता है—(ऐसा) नहीं (कह सकते), क्यों कि पुरुष में कोई परिवर्तन न होने पर (उसकी) भोक्तृता की (अर्थात् भोग की) कल्पना व्यर्थ[8] होगी। और भी, इस (=परिवर्तन नहीं होता मानने वाले) पक्ष में अपने (सांख्यादि) शास्त्र का प्रणयन करना भी व्यर्थ होगा यह (सिद्धान्ती) कहता है- यदि पुरुष के सदा निर्विशेष (=अपरिवर्तनीय) होने के कारण भोगरूप अनर्थ पुरुष का नहीं है तो किस (अनिष्ट) को हटाने के लिये मोक्ष के साधन बताने वाला शास्त्र (सांख्याचार्यों द्वारा) रचा गया है? प्रथम पक्ष में (=परिवर्तन उत्पन्न होता है) वह परिवर्तन सत्य है या असत्य? यह विकल्प कर, सत्य परिवर्तन वाला होने पर पुरुष की विकारिता होगी (जो कि सांख्यवादी को स्वीकार्य नहीं) यह मन में रख, (पुरुष में) भ्रमसिद्ध परिवर्तन है इस प्रकार प्रथम पक्ष को शंकारूप से (सांख्यवादी) कहता है--अविवेक के[9] कारण भ्रमसिद्ध भोगरूप अनर्थ को हटाने के लिये शास्त्र रचा गया है? (यदि भोक्तृत्व भ्रमसिद्ध है) तो भोक्तृत्व

---

८. कर्मफल होने से जन्य अनुभवविशेष ही भोग है। (जन्य) परिवर्तन न होने पर पुरुष को भोग होता है यह कल्पना निष्प्रयोजन होगी अर्थात् असंभव कल्पना होगी।

९. सांख्यमत में अविवेक ही अविद्या है। तत्त्वसमाससूत्रों की 'सर्वोपकारिणी टीका' में (सू. १३) कहा है 'अनात्मस्वात्मख्यातिरविद्या सा च विद्याविरोधिनी पंचपर्वा भवति'। सांख्यसूत्रों की 'सांख्यदीपिका' नामक वृत्ति में श्रीधराचार्य ने भी कहा है 'प्रकृत्यादावात्माऽविवेकोऽविद्या' (अ० ३ सू० ४१)। किन्तु सांख्यसंमत अविद्या योगदर्शनाभिमत अविद्या से भिन्न है क्योंकि सांख्य उसे अविवेक रूप मानते हैं जबकि योगी उसे विद्या से विपरीत ज्ञानान्तररूप मानते हैं। योगवार्तिक में (२.५) विज्ञानभिक्षु ने इसे स्पष्ट किया है 'अस्मिश्च दर्शने सांख्यानामिव अविवेको न अविद्याशब्दार्थः, किन्तु वैशेषिकादिवद् विशिष्टज्ञानमेवेति'।

रूप (अर्थात् भोगरूप) परिवर्तन की तरह कर्तृत्व आदि परिवर्तनों को तथा प्रधान आदि को भ्रमसिद्ध ही मानना संगत है, (मुर्गी को) आधा मारना[1] ठीक नहीं। हमारे द्वारा (अर्थात् वेदान्ती द्वारा) कहे ढंग से बन्ध व मोक्ष का व्यवहार सिद्ध होना युक्तियुक्त होने के कारण वैसी (=सांख्याभिमत) कल्पना का कोई प्रयोजन व, (वैसी कल्पना में श्रुत्यादि कोई) प्रमाण न होने से और उल्टा सब श्रुतिवचनों का विरोध होने से (उस कल्पना को छोड़ भोगादि सब को भ्रमसिद्ध मानना चाहिये) यह कहते हैं—(यदि भ्रमसिद्ध भोग मानते हो तो) **वस्तुतः पुरुष भोक्ता ही है कर्ता नहीं, प्रधान कर्ता ही है भोक्ता नहीं और प्रधान वस्तुतः पुरुष से अन्य वस्तु है—यह कल्पना शास्त्रविरुद्ध, निष्प्रयोजन और निष्प्रमाण है।** पूर्वोक्त दोषसमूह यह समझाने के लिये बताया कि मोक्ष चाहने वाले को सांख्य मत का आदर नहीं करना चाहिये, न कि किसी द्वेष या पक्षपात से; इस तात्पर्य से कहते हैं—**अतः मुमुक्षुओं द्वारा (यह कल्पना) आदर देने[2] योग्य नहीं।**

आत्मा की (परमात्मा से) एकता मानने वाले (वेदान्त) पक्ष में भी निवृत्त करने योग्य बन्धन न होने के कारण[3] शास्त्र-रचना व्यर्थ है ?—यह शंका करता है **(आत्मा-परमात्मा की) एकता (वाले पक्ष)**

१. वैशसम् अर्थात् मारना। आधी मुर्गी मार कर खा ली जाये और आधी अण्डे देगी इस आशा से रख ली जाये यह किसी बुद्धिमान् का काम नहीं। ऐसे ही भोग को भ्रम सिद्ध मान लिया जाये व कर्तृत्वादि सत्य माने जायें यह भी विचारशील को स्वीकार्य नहीं। जैसे मुर्गी या पूरी मरेगी या पूरी जीवित रहेगी ऐसे या भोगादि सब भ्रम सिद्ध होंगे या सत्य होंगे।

२. आत्मा को असंग स्वप्रकाश मानने से वैशेषिक, नैयायिक, प्राभाकर और भाट्ट की अपेक्षा उत्कृष्ट व ईश्वर न मानने वाला होने से योगी की अपेक्षा सांख्य निकृष्ट है यह समझना चाहिये। (द्रष्टव्य न्या० रत्ना० पृ० २१९-२० प्र० द्वा० M. R. I.)। सर्वदर्शनसंग्रह में भी दर्शनों का यह क्रम इसी दृष्टि से माधवाचार्य द्वारा रखा गया है।

३. वेदान्त के अनुसार आत्मा का बन्धन है या नहीं ? यदि है तो आत्मा कभी बद्ध व कभी मुक्त होने वाला अतः विकारी होगा जो अनिष्ट है। यदि बंधन नहीं है तो शास्त्र व्यर्थ ही है। यह प्रश्न का अभिप्राय है।

में भी शास्त्ररचना आदि[1] व्यर्थ है ? क्या जिसे आत्मा-परमात्मा की एकता का निश्चय है उसके लिये शास्त्ररचना आदि की व्यर्थता कही जा रही है या उससे विपरीत (जो उक्त एकता का निश्चय नहीं रखता उस) के लिये ? यह विकल्प कर (सिद्धान्ती) कहता है कि प्रथम व्यक्ति के लिये (=निश्चय वाले के लिये) रचना न होने से (व्यर्थतारूप) दोष नहीं—(ऐसा) नहीं (कह सकते), क्योंकि दोष की प्राप्ति नहीं होती। शास्त्ररचना करने वालों के और उससे प्रयोजन सिद्धि चाहने वालों के होने पर ही 'शास्त्र की रचना व्यर्थ है या सार्थक' यह विकल्प उठता है; ('क्योंकि दोष की प्राप्ति नहीं होती'—इस) अर्थसंग्राहक वाक्य को समझाते हैं—आत्मा-परमात्मा की एकता निश्चित होने पर शास्त्ररचना करने वाले आदि आत्मा से भिन्न नहीं होते (अतः) तदभाव होने पर अर्थात् शास्त्ररचना करने वाले आदि के न होने पर सार्थक है या निरर्थक यों विकल्प करना ही असंगत है। 'असंगत नहीं ही है' ऐसा पाठ होने पर 'तदभाव' द्वारा आत्मा परमात्मा की एकता के निश्चय का न होना कहा जा रहा है[2]। उस समय (=एकता का निश्चय न होते समय) हटाने योग्य बन्धन आदि विद्यमान होने से यह कल्पना अर्थात् बन्धन हटाने के लिये शास्त्र-रचना की कल्पना असंगत नहीं है; (उस पाठ में) यों वाक्यसंगति है। और भी, आत्मा-परमात्मा की एकता का निश्चय हो जाने पर उस निश्चय के उत्पादक के रूप में शास्त्र की सार्थकता अपने (=जिसे निश्चय हो चुका है उसके) अनुभव से सिद्ध होने के कारण उसके द्वारा (=निश्चयवान् द्वारा) यह (=सार्थकत्व-अनर्थकत्व की) शंका की भी नहीं जा सकती यह कहते हैं— आत्मा-परमात्मा की एकता स्वीकार लेने पर जो आत्मा-परमात्मा की एकता है

---

१. 'आदि' से उपदेश, साधना आदि समझने चाहिये।

२. अर्थात् निश्चय वाले के लिये प्रणयनादि न होने से जिसे निश्चय नहीं उसके लिये सार्थक है या नहीं यही पूछा जा सकता है और उसके लिये सार्थक मानना वेदान्त के अनुकूल है। यद्यपि यही युक्ति सांख्य ने भी दी थी तथापि उसका विरोध सिद्धान्ती ने यही किया था कि वह केवल भोग को भ्रमसिद्ध मानता है जबकि तुल्य न्याय से कर्तृत्वादि को भी भ्रमसिद्ध ही मानना चाहिये। यदि सांख्य यों मान लेता है तो वह वेदान्ती ही हो गया।

(उसे)[1] स्वीकारने वाले आपके द्वारा प्रमाण अर्थात् शास्त्र का अर्थ अर्थात् प्रयोजन भी स्वीकार लिया गया है। आत्मा-परमात्मा की एकता के निश्चय वाले के लिये शास्त्र की व्यर्थता होने से (उसके लिये शास्त्रादि) कल्पना है नहीं[2] यह श्रुति द्वारा भी कहा गया है यह बताते हैं – आत्मा-परमात्मा की एकता का निश्चय हो जाने पर तो (सार्थकत्वादि) विकल्प (उठना) संगत नहीं (यह) 'जहाँ तो सब कुछ इसका आत्मा ही हो गया वहाँ किससे किसे देखे' (बृ. २.४.१४) इत्यादि शास्त्र ने कहा है। आत्मा-परमात्मा की एकता का निश्चय न होने की अवस्था में तो हटाने योग्य भ्रमसिद्ध बन्धन विद्यमान होने से (शास्त्रादि की) अनर्थकता नहीं है। यह भी श्रुति द्वारा कहा गया है यह बताते हैं—वाजसनेयक ब्राह्मण में 'जहाँ मानो द्वैत होता है' (बृ. २.४.१४) इत्यादि प्रसंग श्रुतिस्थ 'जहाँ' शब्द का अर्थ करते हैं— वास्तविक आत्मस्वरूप से अन्य अवस्था में अर्थात् अविद्याके क्षेत्र में शास्त्ररचना आदि की संगतता विस्तार से बताता है।[3] इससे द्वितीय पक्ष (=उक्त एकता का निश्चय न रखने वाले के लिये शास्त्रादि की अनर्थकता) खण्डित हो गया।

अथर्वशाखीय मन्त्रभाग की (मुण्डक) उपनिषत् में 'दो विद्याएँ जाननी चाहिये' (१.१.४) इस प्रकार प्रारम्भ कर ऋग्वेद आदिरूप अपरा विद्या और अदृश्यत्वादि गुण वाली वस्तु को, जिसमें सारा भेद[4] नहीं है, विषय करनेवाली परा विद्या है यह कहकर शास्त्र के प्रारम्भ में ही विद्या और अविद्या के विषयों का विभाजन सूचित हो चुका है, यह बताते हैं—और यहाँ[5] शास्त्र के प्रारम्भ में ही परा विद्या और अपरा अविद्या का विभाजन किया जा चुका है[6]। अद्वैतवाद में सब शंकाओं का

---

१. यद् आत्मैकत्वं तद् अभ्युपगच्छतेति तत्पदमध्याहर्तव्यम्।

२. शास्त्रानर्थक्याद्धेतोः कल्पनाभावः, शास्त्रानर्थक्यकृतकल्पनाभाव इति वा व्याख्येयः समासः।

३. सौकर्यार्थं यह टीकावाक्य अनंतर अनूदित है।

४. अर्थात् यत्किंचिद् भी भेद।

५. अथर्ववेद में।

६. उस विभाजन के आधार पर स्पष्ट है कि वस्तुतः अदृश्यादि में ही अवास्तविक भेद है जिससे शास्त्रादि समस्त व्यवहार अवास्तविक दशा में उपपन्न है।

समाधान श्रुति की प्रामाणिकता के आधार पर ही होने से तार्किकों द्वारा संभावित शंकाकण्टक का यहाँ प्रवेश भी नहीं होता यह (कहते हुए प्रकृत वाद का) समापन करते हैं—वेदान्तरूप राजप्रमाण की भुजाओं से सुरक्षित आत्मा-परमात्मा की एकतारूप विषय है, अतः यहाँ तार्किक वादरूप[1] योद्धाओं का प्रवेश नहीं। 'राजप्रमाण' का अर्थ है प्रमाणों का राजा; राजदन्तादिगणस्थ होने से[2] राजशब्द का वाद में प्रयोग है। वेदान्तरूप प्रमाण ही राजा की तरह (होने से) राजा है, उसमें बतायी नीतियाँ उसकी भुजाएँ हैं, उनके द्वारा सुरक्षित आत्मा-परमात्मा की एकता रूप विषय ही मानो देश की तरह (होने से) देश है, क्योंकि (राजा द्वारा देश की तरह वेदांतप्रमाण द्वारा) रक्षणीय है, वह तार्किक भट अर्थात् योद्धाओं द्वारा प्रवेशनीय नहीं है—यह (वाक्य का) सम्बन्ध है। पूर्वपक्षी द्वारा दिये दोष को हटाते हैं—इस विचार द्वारा अन्य वादियों द्वारा कहे इस दोष को हटा दिया कि ब्रह्म के सृष्टि आदि का कर्ता होने में (उसके पास) साधन आदि न होना दोष है, क्योंकि अविद्या-विरचित नामरूप आदि उपाधियों से प्रयुक्त नाना शक्तियाँ व साधन (और) उनके कारण होने वाले भेद अर्थात् अनेकता वाला (ब्रह्म है)। (ब्रह्म की जगत्-कर्तृता पक्ष में) अपना अनर्थ करने वाला होना आदि दोष भी (हटा दिया)। अपना जो अनर्थभूत संसार उसे (पैदा) करने वाला होना यह (दोष का) तात्पर्य है। 'आदि' शब्द से पूर्णकाम होने के कारण (सृष्टि से) किसी प्रयोजन (के सिद्ध होने की) इच्छा की असंगति (रूप दोष)

---

१. अथवा तार्किकवाद में कुशल युद्धाओं का—यह अर्थ है। M. R. I. संस्करण में 'तार्किकचाटभटप्रवेशः' पाठ है जो आनंदाश्रम संस्करण में पाठभेद में भी सूचित नहीं है। 'चाट' अनार्यों को कहते हैं। 'भट' शब्द से मिथ्याभाषी नौकर कहे जाते हैं। अतः वह पाठ भी संगत है। बृहद्भाष्य में समान वाक्य है : 'तस्मात् तार्किकचाटभटराजाप्रवेश्यमभयं दुर्गमिदम्' (२.१ २०; पृ० १७४ M. R. I.)। वहीं तार्किक की हँसी भी उड़ायी है 'अहो अनुमानकौशलं दर्शितं अपुच्छश्रृंगैस्तार्किकवलीवर्दैः (पृ० १७३)।

२. राजदन्तादिगण को आकृति गण मान कर कहा गया समझना चाहिये। 'राजदन्तादिषु परम्' (२.२.३१) यह पाणिनिवचन है।

ग्रहण किया गया है। (आविद्यिक) कल्पना से अपने से (=ब्रह्म से) भिन्न जीव के होने से उसका (=जीव का) संसरण है, अपना (=ब्रह्म का) नहीं। और उसके (=जीव के) कर्मों का फल देने के लिये पूर्णकाम की भी सृष्टि आदि करने में प्रवृत्ति संभव है। अथवा[1], सारा व्यवहार स्वप्न की तरह होने के कारण भी स्वप्न की तरह सभी संगत हो जाता है यह सूत्रभाष्य आदि में ही दोषनिवृत्ति की जा चुकी है, यह तात्पर्य है।

सांख्यवादी द्वारा (श्रुतिस्थ) 'पुरुष' शब्द की और चिंतन करने की अपने पक्ष में संगति बतायी गयी थी, उसे पुनः कहकर निराकृत करते हैं—जो तो दृष्टान्त है कि राजा के सब काम करने वाले कार्यकर्ता को गौणी वृत्ति से '(यह) कार्यकर्ता राजा है' ऐसा (कहते हैं), वह (दृष्टान्त) प्रकृत में असंगत है क्योंकि (वह) 'उसने चिन्तन किया' इस प्रमाणरूप श्रुति के मुख्य[2] अर्थ का विरोधी है। 'प्रस्तर यजमान है'

---

१. ब्रह्म का ही संसरण व मोक्ष है ऐसा ही सिद्धान्त होने से उक्त व्याख्या में अरुचि से व्याख्यान्तर कहते हैं—अथवा आदि से। सूत्रभाष्य के इस वाक्य की ओर निर्देश है 'सर्वव्यवहाराणामेव प्राग्ब्रह्मताविज्ञानात् सत्यत्वोपपत्तेः, स्वप्नव्यवहारस्येव प्राक्प्रबोधात्' (२.१.१४)।

२. 'तात्पर्यविषयीभूतार्थबोधकत्वं हि मुख्यार्थत्वम्' इस अद्वैतसिद्धि वचन से (प्रत्यक्षस्य शब्दबाध्यत्वविचार प्रकरण में) तात्पर्यविषयीभूतार्थ ही मुख्यार्थ है। प्रकृत संदर्भ का तात्पर्यविषयीभूतार्थ पुरुष है प्रकृति नहीं यह षड्विध लिंगों से निश्चित हो जाने से सांख्यकल्पना अपार्थक है। 'पुरुषम्' (६.१) से उपक्रम व 'परं ब्रह्म वेद' (६.७) में उपसंहार है। 'स पुरुषः' (६.२), स ईक्षांचक्रे' (६.३), 'पुरुषं प्राप्य' (६.५) आदि अभ्यास है। 'नाहमिमं वेद' (६.१) से अपूर्वता और 'मा वो मृत्युः परिव्यथाः' (६.६) से फल पता चलता है। 'असृजत' (६.४) आदि अर्थवाद और 'स यथेमा नद्यः' (६.५) आदि उपपत्ति है। इस प्रकार छहों लिंग पुरुषपक्षीय होने से प्रकृति को यहाँ विवक्षित नहीं माना जा सकता। तदाह—'पुरुषः क्वेत्युपक्रम्य परं ब्रह्मेति संहृतिः। ईक्षांचक्रे स, पुरुषोऽभ्यासः पुरुषमित्यपि ॥ मा वो मृत्युः फलं चैव नाहं वेदेत्यपूर्वता। अर्थवादोऽसृजतेति स यथेत्युपपन्नता ॥'

(तै० सं० २.६.५.३) इत्यादि श्रुतियों में गौणार्थकता देखी गयी है[1] (वैसे ही यहाँ भी क्यों न हो) ?—यह शंका कर कहते हैं—जिस प्रसंग में शब्द का वाच्य[2] अर्थ (समझना) संभव नहीं होता[3] वहाँ ही गौण (अर्थ की) कल्पना की जाती है। (प्रकृति श्रुति का बोध्य) प्रकृति है इस पक्ष में न केवल चिन्तन करना बताने वाली श्रुति असंगत है (बल्कि) वस्तुतः प्रकृति की सर्जकता भी संभव नहीं, यह बताते हैं—यहाँ तो[4] मुक्त व बद्ध पुरुषों का भेद मानकर तथा कर्ता, कर्म, देश, काल (आदि) निमित्तों का भेद मान कर बन्धन, मोक्ष आदि फल के लिये पुरुष को उद्देश्य कर अचेतन (प्रधान) की प्रवृत्ति युक्तिसंगत नहीं। मुक्त पुरुषों को छोड़कर बद्ध पुरुषों को[5] उद्देश्य कर प्रवृत्ति, (अर्थात्) कर्ता, कर्म आदि (विभिन्न वस्तुओं) को मानकर बन्ध, मोक्ष आदि[6] शब्दों से कहे भोग व मोक्ष के लिये व्यवस्थित (=प्रतिनियत) प्रवृत्ति युक्तिसंगत नहीं, यह तात्पर्य है। इसके द्वारा शंका उठाते समय जो कहा[7] था कि पुरुष के प्रयोजन को स्वीकार कर प्रधान प्रवृत्त होता है, उसका निराकरण कर दिया। ब्रह्म[8] को कारण

१. प्रस्तर कहते हैं मुट्ठीभर कुशा को। क्योंकि यजमान के कार्य की सिद्धि प्रस्तर से होती है इसलिये उसे यजमान कह दिया है। इस तरह छह कारणों से गौण प्रयोग होते हैं यह तत्सिद्धिपेटिका में (जै.सू.१.४.२३) निर्णीत है। ऐसे ही 'गुणवादस्तु' (१.२.१०) से प्रारम्भ कर 'रूपात्प्रायात्' (१.२.११) आदि सूत्रों में भी गौणार्थकता का विस्तृत विचार है।

२. यहाँ मुख्य शब्द वाच्यपरक है। उक्त स्थलों पर गौणार्थ ही तात्पर्य विषयीभूत होता है और उसकी असंभवता का प्रश्न ही नहीं।

३. जैसे दर्भमुष्टि को चेतन यजमान समझना संभव नहीं।

४. वाच्य अर्थ की संगतता 'तो' शब्द से कही है।

५. बद्धानिति M.R.I. पाठः। बुद्धानिति चानन्दाश्रमपाठः। तत्र 'अबुद्धानि'ति च्छेदात्संगतता।

६. भोग के विशेष व मोक्षसाधन विशेष 'आदि' शब्द का अर्थ है।

७. M.R.I. पृ. १९९ पं. १३।

८. यहाँ ईश्वरपद प्रकृत पुरुषपरक ही है। पूर्व में शंकित नैयायिक पक्ष को यहाँ मान्यता नहीं दी जा रही है। वैसा मानने से आकरविरोध होगा यह पूर्व में ही बताया जा चुका है। किं च भाष्यस्थ 'यथोक्त' पद भी इसी अर्थ में संगत है।

मानने वाले पक्ष में तो कोई भी दोष नहीं, यह कहते हैं—जैसा (यहाँ) बताया (वैसे) सर्वज्ञ ईश्वर की सर्जकता मानने वाले पक्ष में तो (सृष्टि के लिये प्रवृत्ति) संगत है॥ ३॥

"उसने प्राण को उत्पन्न किया; प्राण के बाद श्रद्धा को, आकाश को, वायु को, अग्नि को, जल को, पृथ्वी को, इन्द्रियों को, मन को, अन्न को, अन्न के बाद वीर्य को, तप को, मन्त्रों को, कर्म को, लोकों को और (उन) लोकों में[1] नाम को (उत्पन्न किया)॥ ४॥

इस प्रकार अन्यों के पक्ष का खण्डन कर प्रकृत श्रुति का व्याख्यान करते हुए 'उसने प्राण को उत्पन्न किया' इस का तात्पर्यभूत अर्थ बताते हैं—जैसे[2] ईश्वर के द्वारा अर्थात् राजा के द्वारा (स्वतन्त्र हो कोई कार्य किया जाता है वैसे) पुरुष के द्वारा (पुरुष की उत्क्रान्ति आदि) सब कार्यों में अधिकृत प्राण उत्पन्न किया जाता है। प्रश्न पूछकर शब्दार्थ करते हैं—कैसे? उस पुरुष ने कथित ढंग से चिन्तन कर हिरण्यगर्भ नामक, अर्थात् आत्मा का 'हिरण्यगर्भ' यह नाम जिस उपाधि के कारण होता है, बुद्धिरूप उस सर्वप्राण को अर्थात् समष्टि प्राण को; जैसा कहा है (वैसा मानने पर) 'किसके निकल जाने पर मैं निकल जाऊँगा' (६.३) इत्यादि द्वारा आत्मा के (शरीर से) निकलने आदि की (कारणभूत) उपाधि की उत्पत्ति बताना प्रारम्भ किया होने से (और) जीवभूत हिरण्यगर्भ वैसा (=उपाधिरूप) न होने से, उपक्रम का विरोध होगा। 'हिरण्यगर्भ नामक' यह कहना तो यह सूचित करने के लिये है कि आत्मा की हिरण्यगर्भादिरूप संसारिता भी इस उपाधि के कारण है। हिरण्यगर्भोपाधि की समष्टिरूपता बताते हैं—सब प्राणियों की इन्द्रियों को धारण[3] करने वाले अन्तरात्मा—सब स्थूल शरीरों के अन्दर होने से और 'यह मैं हूँ' ऐसा उसके विषय में निश्चय होने से वह अन्तरात्मा है यह अर्थ है—प्राण को 'असृजत' उत्पन्न किया। इस प्राण के बाद सब प्राणियों की शुभ कर्म में प्रवृत्ति

१. 'लोकेषु चोक्तेषु, चशब्दादन्येष्वपि' इति दीपिका।

२. आनन्दाश्रम संस्करण के अनुसार ९ मातृकाओं में से ७ में 'ईश्वरेणैव' पाठ है।

३. जैसे वस्त्र अपने सब एकदेशों का धारण करता है ऐसे प्रकृत में समझना चाहिये।

की कारणभूत श्रद्धा को उत्पन्न किया)। उससे—पंचमी विभक्ति अनन्तरता (=बाद होना) के अर्थ में है[1], (अर्थात् 'उसके बाद')। ऐसे ही आगे[2] भी (पंचमी विभक्ति अनन्तरता के अर्थ में है)।—कर्मों के फलों का उपभोग करने के साधन और स्थान—प्राण महाभूतों का कार्य है अतः उसकी उनसे पूर्व काल में स्थिति कैसे ? यह नहीं कहना चाहिये, क्योंकि यह सत्य होने से (कि महाभूतों से पूर्व उनका कार्यभूत प्राण नहीं हो सकता) यह कल्पना की जानी चाहिये कि सूक्ष्म महाभूतों की उत्पत्ति के बाद (पुरुष ने) प्राण को उत्पन्न किया। इसके (=प्राण की उत्पत्ति बताने के) बाद महाभूतों की उत्पत्ति बताने का (प्राण की सूक्ष्मभूतसृष्टि-अनन्तरता मानने से) विरोध है यह शंका भी नहीं उठती, क्यों कि वह (=महाभूतों की उत्पत्ति बताना) पंचीकृत (अर्थात्) स्थूल महाभूतों (की उत्पत्ति) को विषय करने से संगत है। इसीलिये 'उपभोग करने के साधन और स्थान' ऐसा कहा, क्यों कि सूक्ष्म महाभूतों का वैसा होना (=साधन व स्थान होना) असंगत है। यों (प्राणोत्पत्ति के पश्चात् भूतोपत्ति का कथन संगत) होने पर भी स्थूल महाभूतों की उत्पत्ति (बताने) के बाद इन्द्रियों व मन की उत्पत्ति बताने का भी (युक्ति से) विरोध नहीं क्यों कि (स्थूल) महाभूतों से बने शरीर में स्थित हुए ही वे (=इंद्रियाँ व मन) कार्य करने में समर्थ होते हैं इसलिये उन्हें (=इन्द्रियादि को) उनके (=महाभूतों के) बाद बताया, यह तात्पर्य है[3]। महाभूतों की भोग के साधन और स्थान रूपता इसलिये है क्यों कि वे उनके (=साधनों व स्थानों के) कारण हैं, यह बताते हैं—(अर्थात् साधनों व स्थानों के) कारणरूप (स्थूल) महाभूत उत्पन्न किये। शब्दगुण वाले आकाश को (उत्पन्न किया)। 'शब्दगुण वाले आकाश को'

१. 'तदभिध्यानादेव तु तल्लिगात्सः' (२.३.१३) सूत्र से निश्चित है कि सब कार्य परमात्मा से उत्पन्न होते हैं अतः पंचमी कारण में नहीं, आनन्तर्य में है यह तात्पर्य है।

२. 'आगे' उपलक्षणार्थ है, पिछला 'अतः' भी आनन्तर्यार्थ है।

३. ध्यान रखना चाहिये कि सर्वत्र पाठक्रम के अनुसार सृष्टि क्रम मानना आवश्यक नहीं यह 'अन्तराविज्ञानाधिकरण' में (२.३.९.१५) बादरायण आचार्य ने निर्णीत कर दिया है।

इत्यादि से उन महाभूतों के लक्षणरूप से (उनके) असाधारण गुण बताये[१]। पूर्व-पूर्व (महाभूतों) के गुणों की (उत्तर-उत्तर महाभूतों में) अनुवृत्ति तो यह सूचित करने के लिये है कि पूर्व-पूर्व (महाभूत) उत्तर-उत्तर (महाभूत) का उपादान कारण है तथा स्थूलता की उत्तरोत्तर वृद्धि की[२] सिद्धि के लिये बतायी, यह समझना चाहिये। अपने स्पर्शगुण से और कारण के गुण (शब्द) से युक्त दो गुणों वाली वायु को (उत्पन्न किया)। श्रुति में[३] 'वायुः' इत्यादि प्रथमा विभक्तियाँ द्वितीया विभक्ति के अर्थ वाली हैं क्यों कि 'प्राण को उत्पन्न किया' इस प्रकार द्वितीया विभक्ति (के प्रयोग) से (उत्पन्न होने वाली वस्तुओं को बताना) प्रारम्भ किया है। ऐसे ही अपने रूप गुण से और शब्द व स्पर्श (इन) पिछले दो गुणों से (अर्थात् वायु के दोनों गुणों से) युक्त तीन गुणों वाली अग्नि को (उत्पन्न किया)। इसी प्रकार (अपने) असाधारण रस गुण से (युक्त) और पिछले गुणों की अनुवृत्ति के कारण चार गुणों वाले जल को उत्पन्न किया। ऐसे ही गन्ध गुण से (युक्त) और पिछले गुणों की अनुवृत्ति के कारण पाँच गुणों वाली पृथिवी को (उत्पन्न किया)। इसी प्रकार उन्हीं महाभूतों से अर्थात् उनकी अपंचीकृत अवस्था में निर्मित ज्ञान के लिये और कर्म के लिये दो प्रकार की दस संख्या वाली इन्द्रियों को उत्पन्न किया। और उसके (=इन्द्रिय समूह के) ईश्वर अर्थात् नियामक[४], संशय व संकल्प रूप, (शरीर के) अंदर स्थित मन को (उत्पन्न किया)। इस प्रकार प्राणियों के शरीर व इन्द्रियों को उत्पन्न कर उनकी (=शरीर व इन्द्रियों की) स्थिति के लिये चावल, जौ आदि रूप अन्न

---

१. अर्थात् तार्किक-संमत गुणता बताने में तात्पर्य नहीं।

२. आकाश से वायु स्थूलतर है, वायु से तेज स्थूलतर है और अन्त में पृथ्वी स्थूलतम है।

३. 'भाष्य में'—यह भी समझ लेना चाहिये। अतः 'पृथिवी' आदि भाष्योक्ति संगत है।

४. यद्यपि इंद्रियाँ भी मन को स्ववश कर लेती हैं अतः मन ही उनका नियामक हो यह संगत प्रतीत नहीं होता तथापि मनःसम्बन्ध के बिना इंद्रियाँ कोई ज्ञान या कर्म नहीं कर सकती जबकि मन इंद्रियसम्बन्ध के बिना विचारादि कर सकता है, अतः उसे नियामक कहना संगत है।

को (उत्पन्न किया)। और उस खाये जाते हुए अन्न से (होने वाले) सब कर्मों में प्रवृत्ति के साधनभूत वीर्य—सामर्थ्य अर्थात् बल को (उत्पन्न किया)। तथा उस वीर्य वाले (किन्तु) (पाप से) सम्बद्ध होते हुए प्राणियों की शुद्धि के साधनभूत तप को (उत्पन्न किया)। अशुद्ध चित्त वाले होने के कारण पापों का आचरण होता है अतः उन पापों से सम्बद्ध होते हुए प्राणियों के उस सम्बन्ध की निवृत्ति के लिये चित्त की शुद्धि के उपायभूत तप को उत्पन्न किया यह अर्थ है। तप से शोधित इंद्रियों व मन से (किये जाने वाले) कर्म के साधनरूप ऋक्, यजु, साम व अथर्वांगिरस मन्त्रों को (उत्पन्न किया)। तदनन्तर अग्निहोत्र आदिरूप कर्म को (उत्पन्न किया)। तदनन्तर कर्मों के फलरूप लोकों को (उत्पन्न किया)। लोक फल है क्योंकि (उसका) लोकन अर्थात् भोग किया जाता है। और उनमें (अर्थात् लोकों में) उत्पन्न प्राणियों के देवदत्त, यज्ञदत्त आदि नामों को भी (उत्पन्न किया)। उक्त व्यवहार[1] 'ब्राह्मण' आदि नामों के कारण सांकर्य वाला न हो इसलिये (देवदत्तादि विशेष नामों को उत्पन्न किया) यह तात्पर्य है।

ईश्वर से उत्पादित बताने के कारण कलाओं की सत्यता स्वीकारनी चाहिये, क्योंकि आरोपित[2] होने वाले शुक्तिरजतादि में 'उत्पादितता' ऐसा व्यवहार नहीं होता ? —यह शंका कर, अंगुली के सहारे आँख मसलने आदि प्रयत्न से उत्पादित दो चाँद, मच्छर, मक्खी आदि की[3] आरोपितता अनुभूत होने से तथा 'और रथों को, घोड़ों को व रास्तों को उत्पन्न करता है' (बृ. ४.३.१०) इस श्रुति में उत्पादितरूप से कहे स्वप्नवर्ती पदार्थ की भ्रमरूपता अनुभूत होने से यों (उत्पादित होने के कारण सत्यता) नहीं (कह सकते) यह बताते हैं—जैसे तिमिररोग[4] युक्त दृष्टि से—'तैमिरिक' ('तिमिररोग') शब्द

१. तप, कर्म आदि 'उक्त व्यवहार' है। ब्राह्मणादि सामान्य नामों से व्यवहार प्रातिस्विक नहीं हो पाने से व्यवहार में सांकर्य होता है जो व्यक्तिगत नामों से बच जाता है, यह भाव है।

२. आरोप्यत इति व्युत्पत्त्या रजतमारोपस्तत्रेत्यर्थः।

३. आँख मसलने से मच्छर आदि की तरह की आकृतियाँ दीखती हैं। अन्यत्र उन्हें केशोण्डूक कहा गया है।

४. तिमिरन्तु दृष्टिरोगान्धकारयोरिति हैमः। तिमिरमेव तैमिरिकम्।

अंगुलि के सहारे नेत्र में मसलने आदि के उपलक्षण के लिये है—उत्पादित दो चाँद, मच्छर, मक्खी आदि और स्वप्न-द्रष्टा द्वारा उत्पादित (पदार्थ मिथ्या होते हैं) ऐसे अविद्या आदि दोष रूप बीज की अपेक्षा से अर्थात् अविद्या, कामना, कर्म आदि[1] दोष रूप जो बीज है उसकी अपेक्षा से यानी उसे साधन बनाकर उत्पादित ये प्राणियों की कलायें और सभी पदार्थ (मिथ्या हैं); इस प्रकार आत्मा को समझाने के लिये भी[2] (कलाओं के) अध्यारोप को कह कर उसके अपवाद का परिचय[3] कराते हैं—और नाम, रूप आदि विभाजन को छोड़ कर (जिससे उत्पन्न हुए) उसी पुरुष में विलीन हो जाते हैं ॥ ४ ॥

कैसे ? (यह श्रुति बताती है—)[4]

"(प्राण-विलय विषयक) वह (प्रसिद्ध दृष्टान्त यह है—) जिस प्रकार समुद्र जिनका गन्तव्य है (वे) ये बहती हुईं नदियाँ समुद्र में पहुँच कर समाप्त हो जाती हैं (अर्थात्) उनके (प्रातिस्विक) नाम व रूप विनष्ट हो जाते हैं (और उन नदियों को) 'समुद्र' बस ऐसे ही कहा जाता है, इस ही प्रकार पुरुष को ठीक से समझने वाले की ये सोलह कलाएँ—जिनका गन्तव्य पुरुष है—पुरुष को प्राप्त कर समाप्त हो जाती हैं (अर्थात्) इनके (प्रातिस्विक) नाम व रूप विनष्ट हो जाते हैं (और इन कलाओं को) 'पुरुष' बस ऐसे ही कहा जाता है। (जो ऐसा जानता है) वह यह (ज्ञानी) कला-रहित व मृत्युरहित हो जाता है। इस विषय में यह मंत्र है—॥ ५ ॥"

(इस विषय में) वह दृष्टान्त (यह) है—जैसे संसार में 'समुद्रायणाः' समुद्र है अयन —गन्तव्य; गाँव आदि की तरह (गन्ता से) भिन्न गन्तव्य-रूपता का निषेध करते हैं—(अर्थात्) स्वरूप जिनका वे समुद्रायण

---

१. 'आदि' से इनके सम्बन्ध आदि समझने चाहिये ।

२. अर्थात् यद्यपि आरोप आत्मप्रतिपत्त्यर्थं है तथापि उसका अपवाद आवश्यक है। यह भ्रम नहीं होना चाहिये कि आत्मप्रतिपत्त्यर्थं होने से कलाद्युत्पत्त्युक्ति से कलादि को वस्तुसत् माना जाये ।

३. इस टीका वाक्य से और औचित्य से लगता है कि 'पुनः' आदि भाष्य पंचम वाक्य का अवतरणिका ग्रन्थ है ।

४. 'इदानीं पुरुषस्य निमित्तमात्रत्वं न तूपादानत्वमितीमां शंकां वारयितुं दृष्टान्तेन षोडशकलानां पुरुष उपसंहारमाह—' इति दीपिका ।

(कहाने वाली) ये 'स्यन्दमानाः' वहती हुई नदियाँ समुद्र में 'प्राप्य' पहुँचकर अस्त (होती हैं); 'अस्त' शब्द से नाश नहीं कहा जा रहा है क्योंकि (आपस में व अपने कारण से) भेद करने वाले उपाधिभूत नाम व रूप का नाश होने पर भी (नदियों का) स्वरूप समुद्र रूप से विद्यमान रहता है, यह वताते हैं—(अर्थात्) नाम-रूप की रहितता (की अवस्था) को—पहले[1] वाले (नाम व) रूप की रहितता (की अवस्था) को, यह तात्पर्य है—प्राप्त हो जाती हैं और उन अस्त हो चुकी (नदियाँ के) 'गंगा', 'यमुना' इत्यादि आत्मक नाम व रूप 'भिद्येते' विनष्ट हो जाते हैं, नाम[2]-रूप के नाश के अनन्तर बची हुई जलात्मक वह वस्तु समुद्र से अभिन्न होने के निमित्त से 'समुद्र' बस ऐसे ही कही जाती है; जैसे—यह दृष्टान्त है (वैसे) बताये गये स्वरूप वाले प्रकृत इस पुरुष को—'पुरुषस्य' शब्द में कर्मार्थक षष्ठी विभक्ति है, (तात्पर्य है—) स्वात्मरूप पुरुष को[3]—'परिद्रष्टुः'—'परि' हर तरह से समझने वाले की—अर्थात् सबको हर तरह से अपना आत्मरूप समझने वाले की; 'समझने वाले की' ऐसा कहने पर अनित्य समझ वाला (कहा जा रहा है यह) प्रतीत होता है, अतः (उसकी निवृत्ति के लिये) कहते हैं—(अर्थात्) स्वरूपात्मक ज्ञान करने वाले की; ज्ञान की स्व-रूपता (=आत्मरूपता) होने पर उसे करना[4] असंगत होने के कारण, करना बताने वाले तृच्-प्रत्यय का[5] विरोध (होगा) ? यह शंका कर जैसे 'सूर्य हर तरह से अपना प्रकाश करता है' इस प्रयोग

---

१. 'समुद्र' यह नाम-रूप तो रहता ही है यह शंका कर तात्पर्य स्पष्ट करते हैं—पहले इत्यादि से ।

२. टीकाकारमतेऽत्र भाष्ये 'तद्भेदे' इति पाठः संभाव्यते, तस्यैव व्याख्या—नामरूपनाशानन्तरम् इति ।

३. परिद्रष्टुः पुरुषस्येति सामानाधिकरण्येनान्वयमिच्छन्ति केचित् ।

४. आत्मस्वरूप नित्य होने से उसे 'किया' अर्थात् वनाया नहीं जा सकता ।

५. परि-उपसर्ग पूर्वक दृशिर् प्रेक्षणे (भ्वा. पर. अन.) धातु से 'कर्तरि कृत्' (३.४.६७) के अनुसार कर्ता अर्थ में 'ण्वुल्तृचौ' (३.१.१३३) सूत्र से तृच् प्रत्यय हो 'व्रश्चभ्रस्ज०' (८.२.३६) से षत्व व तदनन्तर 'ष्टुना ष्टुः' (८.४.४१) से ष्टुत्व हो परिद्रष्टृ शब्द बनता है जिसका षष्ठ्यन्त रूप है परिद्रष्टुः ।

में कर्ता अर्थ वाले (ण्वुल्) प्रत्यय का गौण प्रयोग है वैसे यहाँ भी (गौण प्रयोग) है यह बताते हैं—जैसे सूर्य हर तरह से अपने प्रकाश को करने वाला है वैसे (प्रकृत में ज्ञान करने वाले के विषय में समझना चाहिये); ये पूर्वोक्त प्राण आदि सोलह कलाएँ, 'पुरुषायणाः' जैसे नदियों का समुद्र गन्तव्य है वैसे जिनका गन्तव्य अर्थात् स्वरूपता की प्राप्ति पुरुष (ही) है वे (ये) पुरुषायण (कलाएँ) 'पुरुषं प्राप्य' पुरुष से एकात्मता पाकर उसी तरह अस्त हो जाती हैं (जैसे समुद्र से एक होकर नदियाँ)। अस्त होने के स्वरूप को बताते हैं– इन कलाओं के 'नामरूपे' प्राण आदि नाम तथा रूप विनष्ट हो जाते हैं अर्थात् इस प्रसंग में नाम-रूप का नाश ही अस्त होना है; और जिसका (= प्राणादि का) जो प्राणादि-आत्मक स्वरूप[1] है वह भी नष्ट हो जाता है। '"पुरुष' बस ऐसा ही कहा जाता है" इस वाक्य का अर्थ बताते हैं—तथा नाम रूप का विनाश हो जाने पर जो नष्ट न हुआ तत्त्व (रह जाता है उसे) ब्रह्मवेत्ताओं द्वारा 'पुरुष' बस ऐसे कहा जाता है। क्योंकि कलाओं का स्वरूप आरोप्य (= भ्रमसिद्ध) और अधिष्ठान दोनों (का मिला हुआ) रूप है[2]—सत्य और मिथ्या का जुड़ा रूप है— (इसलिये) उस स्वरूप में आरोप्य नाम-रूपात्मक (भाग) का विनाश हो जाने पर (अविनष्ट) अधिष्ठानात्मक स्वरूप पुरुषरूप से कहा जाता है, यह अर्थ है। जैसे समुद्र का स्वरूपभूत जल बादलों द्वारा खींचा जाकर (और) बरसा दिया (जाने पर) गंगा आदि नाम व रूपात्मक उपाधि के कारण यों व्यवहृत होता है मानो समुद्र से भिन्न हो (तथा) उन उपाधियों के नष्ट हो जाने पर (वही जल) समुद्ररूपता को पा जाता है, ऐसे अविद्या-प्रयुक्त नाम-रूपात्मक उपाधियों के कारण सारा जगत् (यों व्यवहृत होता हुआ रहता है) मानो आत्मा से भिन्न हो (तथा) विद्या से अविद्या-प्रयुक्त नाम-रूप का बाध हो जाने पर (सारा जगत्) केवल ब्रह्म रूप से रह जाता है, यह तात्पर्य है।

इस प्रकार आत्मा के 'निकलने' आदि शब्दों से कहा मरना आदि

---

१. नाम-रूप से अतिरिक्त कर्म के संग्रह के लिये 'यथास्वम्' की यह टीकोक्त व्याख्या है।

२. जैसे सर्प की लम्बाई आदि सत्य व सर्पतादि असत्य हैं वैसे समझना चाहिये।

व्यवहार प्राण आदि कला रूप उपाधियों के कारण है यह बताने का प्रयोजन है प्राणादि का बाध होने पर निकलना आदि सब सांसारिक विशेषताओं से रहित आत्मा के स्वरूप में अवस्थिति, उसे (=उक्त अवस्थिति रूप प्रयोजन को) दिखाने के लिये 'वह यह' इत्यादि वाक्य समझाते हैं—जो ऐसा जानकार (जिसे) गुरु द्वारा कलाओं के विलय का मार्ग[1] दिखा दिया गया है वह यह (ज्ञानी) अविद्या, कामना व कर्म से उत्पादित प्राणादि कलाओं के विद्या से बाधित हो चुकने पर कलारहित हो जाता है। अविद्यानिर्मित कलाओं के कारण ही मृत्यु होती है, अविद्या हट जाने पर कलारहित होने से ही मृत्यु-रहित (भी) हो जाता है। उस (प्रसिद्ध) इस (प्रकृत) अर्थ के विषय में यह मंत्र है—॥ ५ ॥

"रथ के पहिये की नाभि में जैसे ताड़ियाँ स्थित होती हैं ऐसे जिसमें कलाएँ स्थित हैं उस जानने योग्य पुरुष को (वैसे)[2] जानो जैसे मृत्यु तुम्हें व्यथित न करे।—यह (मन्त्र है) ॥ ६ ॥"

हे शिष्यों! 'रथनाभौ' रथ के पहिये की नाभि में जैसे[3] यथावत् अर्थात् सही ढंग से घुसी रथ चक्र की परिवारभूत ताड़ियाँ अर्थात् नाभि के चारों ओर नाभि में व पहिये की ऊपर वाली परिधि में (पुट्टी में) घुसी तिरछी लकड़ियाँ उस पर (नाभि पर) आश्रित होती हैं। जैसे (यह दृष्टान्त है) वैसे (—यह एव शब्द का, जिसका व्याख्यान इव शब्द से किया जा चुका हैं,) अर्थ है। प्राण आदि कलाएँ (अपने) जन्म, स्थिति व विलय के कालों में जिस पुरुष में रहती हैं, कलाओं के आत्मरूप उसे 'वेद्यम्' जानने योग्य पुरुष को—(जो) पूर्ण होने से तथा (शरीर रूप) पुरी में सोने से पुरुष है उसको—'वेद' जानो जैसे

१. कलाओं के नाम रूप का बाधात्मक परित्याग ही यहाँ मार्ग है।

२. संप्रति भी पुरुष को जानते ही हैं किन्तु गलत जानते है। यहाँ उसे सही जानने का विधान है। शंकरानन्द स्वामी 'वेदयथा' ऐसा पद मान कर व्याख्यान करते हैं।

३. श्रुतिस्थ एव पद का व्याख्यान भाष्य में इव पद से है। वर्धमानकृत-गणरत्नमहोदधौ यथा 'श्रीस्तवैव मेस्तु' इत्यत्र तव इवेत्यर्थः। यद्वा 'तमेव मेना दुहितुः कथंचिदि'ति कुमारे (७.२४) मनोरथमिवेत्यर्थः। स्वपदानि च वर्ण्यन्त इति न्यायेनैवपदार्थमाह—यथा तथेत्यर्थं इति।

(कि) 'वो' तुम्हें मृत्यु 'मा परिव्यथाः' हर तरह (अर्थात् किसी तरह) व्यथित न करे। 'न' का अर्थ विपरीत प्रदर्शन द्वारा स्पष्ट करते हैं—यदि (तुम्हारे द्वारा) पुरुष नहीं जाना जायेगा (तो) मृत्यु के कारण होने वाली व्यथा पाकर तुम दुःखी ही होगे। अतः वह तुम्हें न हो यह अभिप्राय है[1] ॥ ६ ॥

"पिप्पलाद ने उन छहों ऋषियों से कहा— 'इतना ही मैं इस पर-[2] ब्रह्म को जानता हूँ। इससे परे और कुछ (जानने योग्य) नहीं' ॥७॥"

शिष्यों को 'हम कृतार्थ हो गये' ऐसा निश्चय उत्पन्न कराने के लिये 'उन' आदि वाक्य है। उसे समझाते हैं—उन शिष्यों को यों समझा कर पिप्पलाद ने उनसे कहा—'यह निश्चित है कि जानने योग्य इस परब्रह्म को मैं इतना ही 'वेद' जानता हूँ। 'अतः' इससे परे और अधिक उत्तम कोई विज्ञेय नहीं है।' शिष्यों की इस शंका की निवृत्ति के लिये (कि हमें या पिप्पलाद को) अज्ञात कुछ बचा हुआ है और कृतार्थता के निश्चय को उत्पन्न करने के लिये (पिप्पलाद ने) यों कहा ॥७॥

"उन पिप्पलाद की अर्चना करते हुए वे ऋषि बोले—'जो (आप) हमें अविद्यासागर के परले किनारे को दिखा रहे हैं[3] (वह) आप ही हमारे पिता हैं।' श्रेष्ठ ऋषियों को नमस्कार है; श्रेष्ठ ऋषियों को नमस्कार है ॥८॥"

तदनन्तर, गुरु द्वारा शिक्षित (अतएव) कृतार्थ हुए उन शिष्यों ने विद्या का मूल्य नहीं चुकाया जा सकता ऐसा जानते हुए क्या किया ? —यह बताया जा रहा है—चरणों पर पुष्पांजलि डालने अर्थात् चढ़ाने

---

१. दीपिकाकारस्त्वेवमाह—'वेद यथा···ब्रह्मविद्यासम्प्रदायं प्रवर्तयेत्यर्थः। ब्रह्मविद्यासम्प्रदायप्रवर्तनेऽस्माकं संसारो भविष्यतीति भीतिं मा कुरुत, भवतां अयं मया वरो दत्त इत्याह—मा वो···। ···अथवा, वेद यथा जानीथ, तज्ज्ञाने लाभमाह—वो ब्रह्मज्ञानिनो मृत्युर्मा परिव्यथाः' इति।

२. ये ऋषि पर ब्रह्म का अन्वेषण करते हुए आये थे (१.१) अतः उसी के पूर्ण उपदेश से उन्हें कृतार्थ किया। साथ ही अपर ब्रह्म का भी बोध कराया।

३. '···अगाधजलायाः सिन्धोरिव परतीरमविद्यालेशशून्यमानन्दमात्मानं··· तारयसि दर्शयसि' इति दीपिकायाम्।

से और सिर से नमस्कार के द्वारा उन गुरु की 'अर्चयन्तः' पूजा करते हुए (बोले)। क्या बोले ?—यह (श्रुति) बताती है—आप ही 'नः' हमारे पिता हैं क्योंकि (आप) विद्या के द्वारा[1] (हमारे) नित्य, जरा-हीन, मृत्युरहित, अभय ब्रह्मरूप शरीर को उत्पन्न करने वाले हैं। जो आप ही हमें विद्यारूप नाव के द्वारा हमारे 'अविद्यायाः' (कलादि को आत्मा समझना रूप) गलत ज्ञान के, (अत एव) जन्म, जरा, मरण, रोग, दुःख आदि ग्राहों वाले मूलाज्ञान रूप महासागर के परले अर्थात् जिससे पुनः च्युति नहीं होती उस मोक्ष नामक किनारे को—(जो) महान् समुद्र के (परले किनारे) की तरह है—दिखा[2] रहे हैं 'इति' इसलिये हमारे लिये अन्य (किसी पिता) की अपेक्षा आप की पितारूपता संगत है। 'उत्पन्न करने वाला, उपनयन कराने वाला, जो विद्या देता है, अन्न देने वाला और भय से बचाने वाला —ये पाँच पिता स्मृतिकारों को इष्ट हैं' ( ) इस स्मृतिवचन के कारण आपकी पितारूपता संगत है, यह अर्थ है। 'जो (आप ही हमें विद्या रूप नाव के द्वारा) हमारे' इस (पितृत्व के प्रति) हेतुकथन का तात्पर्य बताते हुए, केवल पितारूपता कहने से[3] विद्या का मूल्य चुकाने के लिये क्या दिया ?—यह प्रश्न होने पर दासता पूर्वक सेवक रूप से अपना शरीर ही गुरू के लिये अर्पित कर दिया यह उत्तर सूचित किया 'अन्य (किसी पिता) की अपेक्षा' से।[4] पितारूपता होने से ही क्या (होता है) ? अधिक पूज्यता, सेवनीयता और स्वामिता होती है। (अतः अन्य पिता की अपेक्षा आपकी पितारूपता अधिक संगत होने पर पूज्यता आदि और अधिक है, इसमें) क्या कहना ? यह अर्थ है। इसीलिये वृहदारण्यक में 'अपने राज्य सहित अपने आपको भी (आपकी) दासता के लिये देता हूँ' (४.४.२३) ऐसा

---

१. एवं च विद्या मातृस्थानीय है।

२. यहाँ ज्ञान की प्राप्ति होने से 'तारयसि' का 'दर्शयसि' अर्थ सुसंगत है।

३. अर्थात् 'आप पिता हैं' यह कह देना निष्क्रय के लिये पर्याप्त कैसे ? यह प्रश्न है। पिता कहने से उन्होंने स्वयं को अर्पित किया। अतः निष्क्रय हुआ—यह उत्तर है।

४. इसे स्वयं स्पष्ट करते हैं—'पितारूपता' इत्यादि से।

५. 'हि' शब्द 'यद्यपि' अर्थ वाला है।

कहा है, यह तात्पर्य हैं। अन्य पिता भी यद्यपि[1] केवल शरीर उत्पन्न करता है तथापि संसार में वह (पुत्र के लिये) सर्वाधिक पूज्य होता है, कभी न हटने वाले अभय के दाता की (सर्वाधिक पूज्यता के बारे में) क्या कहना ? यह अभिप्राय है। ब्रह्मविद्या के सम्प्रदाय को बनाने वाले श्रेष्ठ[1] ऋषियों को नमस्कार है। 'ऋषियों को नमस्कार है' इसे दो बार कहना[2] (ऋषियों के प्रति) आदर (प्रकट करने) के लिये है ॥ ८ ॥

इति षष्ठ प्रश्न

इति प्रश्नोपनिषत्

श्रीमत्परमहंस परिव्राजकाचार्य श्रीमद्गोविन्दभगवत्पूज्यपाद के शिष्य श्रीमान् शङ्करभगवत्पादकृत प्रश्नोपनिषत् का भाष्य समाप्त ॥

श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्य श्रीमान् आनन्दज्ञान[3] द्वारा विरचित अथर्ववेदीय प्रश्नोपनिषत् के भाष्य की टीका समाप्त ॥

अनुत्तरमुखं भाष्यकारं टीकाकृतं तथा ।
स्वगुरुं नमति प्रश्नभाष्यटीकानुवादकः ॥

---

२. कर्मसम्प्रदायकर्ता ऋषियों से श्रेष्ठता है।

३. 'वाक्याभ्यास उपनिषत्परिसमाप्त्यर्थः'—इति दीपिका।

४. प्रकृत टीका में दीपिका के उद्धरण के आधार पर यह आनन्द गिरि स्वामी द्वारा विरचित हो इसमें संदेह है। तथापि पुष्पिका में यों मुद्रित होने से यहाँ ऐसा कहा है।

यत्पादपद्मकृपयाऽकृतसम्यक्परिश्रमः ।
भाष्यटीकासुधां चक्रे तमहं नौमि सद्गुरुम् ॥

चतुर्वेदविद्याप्रकाश में

प्रश्नोपनिषद्-विवरण

अथर्ववेदीय प्रश्नोपनिषत् में पिप्पलाद ऋषि ने छह मुनियों को अलग-अलग जो बताया उस सबका विवेचन कर यहाँ कहूँगा ॥ १ ॥ सगुण ब्रह्म के उपासक मुनि, वेद का तात्पर्यभूत होने के कारण परब्रह्म को समझने के लिये हाथ में भेंट लिये हुए गुरु पिप्पलाद के पास गये ॥ २ ॥ गुरु की उपासना पूरी तरह करने के लिये वे एक वर्ष गुरु के पास रहे । एक वर्ष गुरु की सेवा से यह विद्या ठीक से फलती है ॥३॥

प्रथम प्रश्न

पहले कात्यायन ने स्थूल शरीर की उत्पत्ति का क्रम पूछा । उस प्रश्न के उत्तर में अपरा विद्या का फल स्पष्ट हो जायेगा ॥ ४ ॥ अपरा विद्या के विषयरूप से कर्म और उपासना—ये दो सुने जाते हैं । उनका फल जन्म है, वह कष्टात्मक है—यह (बताने के) तात्पर्य से (उत्पत्ति क्रम का) वर्णन किया जा रहा है ॥ ५ ॥ प्रजाओं को उत्पन्न करने वाले प्रजापति (=हिरण्यगर्भ) ने विराट् की उत्पत्ति के बाद उत्पन्न की जाने वाली वस्तुओं के चिन्तन नामक उस तप को कर प्रजाओं को उत्पन्न किया ॥६॥ सर्वप्रथम भोक्ता और भोग्य रूप प्राण और रयि नामक जोड़े को उत्पन्न कर (उनके) अभिमानी आदित्य और चन्द्र देवताओं को भी बनाया ॥७॥ ओषधि आदि मूर्त भोग हैं, शब्द गन्ध रस आदि अमूर्त भोग हैं, इन दोनों की वृद्धि चन्द्रदेव करते हैं इसलिये (वे भोग्याभिमानी देव हैं) ॥८॥ उदय होता आदित्य उस-उस दिशा में विद्यमान भोक्ताओं के इन भोक्तारूप प्राणों को प्रेरित करता है जिससे वे अन्न खाते हैं (अतः आदित्य भोक्त्रभिमानी देव हैं) ॥९॥ चन्द्र तिथि को और सूर्य रात-दिन को निष्पादित करता है, अतः तिथि और दिन-रात का समूहरूप यह संवत्सरात्मक काल बना ॥१०॥ जो-जो उत्पन्न होता है वह-वह प्रजापति की उपाधि बन जाता है । (अतः) प्रजापति संवत्सररूप (=संवत्सरोपाधिक) है । वह पुनः दो प्रकार का

हुआ— ॥११॥ संवत्सर के दो अंश हुए— दक्षिणायन व उत्तरायण। उनमें (अर्थात्) दक्षिणायन व उत्तरायण में (अभिमान वाले) देवता चन्द्र व आदित्य हैं ॥ १२ ॥ इष्ट व पूर्तकर्म करने वाले दक्षिणायन द्वारा चन्द्र को प्राप्त होते हैं और लौट आते हैं। वहाँ क्रममुक्ति नहीं है ॥ १३ ॥ योगी सगुण ब्रह्म के ध्यान के फलस्वरूप उत्तरायण द्वारा सूर्य को प्राप्त होकर, उस मण्डल को लाँघकर ब्रह्मलोक को अवश्य जाते हैं ॥ १४ ॥ प्रजापति मासरूप, मास में जो शुक्ल व कृष्ण पक्ष हैं (तद्रूप) तथा उनमें अभिमान रखते हुए स्थित रवि व चन्द्ररूप था ॥ १५ ॥ रवि का (=प्राण का) ध्यान करने वाला कृष्णपक्ष में (कर्म) करते हुए भी शुक्लपक्ष में करने का फल पाता है। काम्य कर्मों को शुक्लपक्ष में करने पर अधिक फल होता है यह शास्त्र में बताया है ॥ १६ ॥ प्रजापति दिनरातरूप हुआ। दिन में (अभिमान वाला) देवता सूर्य है। रात्रि का (अभिमानी) देवता चन्द्र है। अतः रात में ही स्त्रीप्रसंग (उचित) है ॥१७॥ भोक्ता व भोग्यरूप जोड़ा उत्पन्न कर तदनन्तर यह प्रजापति अन्नरूप हो गया। उस अन्न से शुक्र की उत्पत्ति होती है ॥ १८ ॥ शुक्र से ये प्रजाएँ उत्पन्न हुई। यदि प्रजापति के व्रत का अर्थात् (यथानियम स्वकलत्र में) शुक्रत्याग का अनुष्ठान करते हैं तो निश्चय ही पुत्र और पुत्री के जोड़े को उत्पन्न करते हैं ॥ १९ ॥ ब्रह्मचर्य रखने वाले अर्थात् अपने शुक्र का अधःस्राव न करने वाले सगुणोपासक ब्रह्मलोक जाते हैं। उपासना न करने वाले उस लोक को नहीं जाते ॥२०॥

द्वितीय प्रश्न

कात्यायन ने जो जन्म (=स्थूलोत्पत्ति) पूछा था, वह छोड़ने योग्य बता दिया गया। (तदनन्तर द्वितीय प्रश्न में) भार्गव ने स्थूल देह में सूक्ष्मदेह का विवेचन पूछा ॥ २१ ॥ (स्थूल शरीर से) सूक्ष्म-शरीर का विवेक हो जाने पर स्थूल शरीर की अनात्मरूपता स्पष्ट हो (इसलिये परब्रह्म के अन्वेषक भार्गव ने यह प्रश्न किया)। (शरीर का) धारण करने वाले को, प्रकाशन करने वाले को (और धारकों में व प्रकाशकों में) श्रेष्ठ को—इन तीन को उसने पूछा ॥ २२ ॥ कितने देव स्थूल देह का धारण करते हैं ? यहाँ धारण दो तरह का है। उसे (=स्थूल देह को) उत्पन्न करना और प्रेरित करना—ये

वे दोनों (प्रकार) हैं ।।२३।। ज्ञानपक्ष व क्रियापक्ष में स्थित कौन (अर्थात् ज्ञानेन्द्रियों व, कर्मेंद्रियों व प्राणों में कौन) उसे प्रकाशित करते हैं ? प्रेरणा नामक (=प्रेरित करना रूप) इस धारण (करने) में देवों में श्रेष्ठ कौन है ?

(कौन उत्पन्न करते हैं ? इसका उत्तर है—) स्थूलशरीर में कठिनता (=कड़ापन), द्रवता (=बहने की योग्यता), गर्मी, चलना और खाली जगह—ये अंश दीखते हैं अतः स्वीकारा जाता है कि स्थूलदेह पाँच महाभूतों से उत्पन्न होने वाला है।

(कौन प्रकाशित नहीं करते यह बताते हुए कौन प्रकाशित करते हैं यह बताते हैं—) वाणी, हाथ आदि क्रियापक्ष (अर्थात् क्रिया पक्ष में स्थित कर्मेन्द्रियाँ) क्रिया करते हुए (रहता है), प्रकाशित नहीं करता। मन, आँख आदि ज्ञानपक्ष (अर्थात् ज्ञानपक्ष में स्थित आन्तर व बाह्य ज्ञानेन्द्रियाँ) शरीर को प्रकाशित करता है ॥ २६ ॥

(कौन प्रेरणा करता है यह कहते हैं—) प्रेरणा नामक धारण तो प्राण ही अवश्य करता है।

(कौन श्रेष्ठ है ? इसका उत्तर प्रारम्भ करते हैं—) महाभूतों की व इन्द्रियों की अभिमानिनी देवताओं को (यह) गर्व हो गया (कि) ॥ २७ ॥ हम देह का धारण कर (इसे) घर आदि में (इधर उधर जाने आदि के लिये) प्रेरित करते हैं। प्राणदेव ने अन्य देवों के इस गर्व को हटाया ॥ २८ ॥ (उसने कहा—) 'तुम लोग भ्रम में मत पड़ो। मैं ही शरीर में प्राण, अपान आदि भागों से पाँच प्रकार (बँट कर) इस शरीर का धारण करता हूँ' ॥ २९ ॥ (इस बात पर) विश्वास न करते देवों को (इसपर) विश्वास दिलाने के लिये यह (प्राण) तो देह से निकलने को तैयार हुआ और (फलतः) देवता विह्वल हो गये ॥३०॥ (जैसे) शहद बनाने वाली मक्खियाँ अपने राजा (या रानी) के (छत्ते में) वर्तमान रहने पर (उसमें) रहती हैं और (उसके उससे) निकल चुकने पर निकल जाती हैं, वैसे देव प्राण के परवश थे ॥ ३१ ॥ उन्होंने प्राण को निकलने से मना करते हुए आदर से (उसकी) स्तुति की। (स्तुति समेत इस किस्से का सार यह है—) प्राण धागा है, उससे ये सब (देव) बँधे है व उसके परवश हैं।

(अतः प्राण ही श्रेष्ठ है) ।। ३२ ।। देह कुछ करने वाला नहीं, प्राण ही संसरण का कारण है। पिप्पलाद द्वारा समझाये भार्गव ने यों निश्चय किया ।। ३३ ।।

तृतीय प्रश्न

प्राण का ध्यान क्रममुक्ति का कारण है अतः इस कौशल्य ने प्राण के विषय में छह स्पष्ट प्रश्न किये ।।३४।। (१) यह प्राण किससे उत्पन्न हुआ ? (२) यह शरीर में क्यों आता है ? (३) अपने रूप को बाँट कर शरीर में कैसे रहता है ? (४) किसी खास व्यापार से शरीर से निकलता है ? (५) बाह्य जगत् का धारण कैसे करता है ? (६) उसका अध्यात्म को (=शरीर को) धारण करना कैसे होता है ।।३५–३६।। '(कौशल्य) उपासना में श्रद्धा के कारण सब खास बातें पूछने वाला है' —यों सन्तुष्ट हुए गुरु ने (=पिप्पलाद ने) इन प्रश्नों का स्पष्ट उत्तर दिया ।।३७।।

(१) प्राण परमात्मा से उत्पन्न हुआ, फिर भी आत्मा परिवर्तन वाला नहीं है। जैसे अपने शरीर को परिवर्तित किये बिना ही शरीर की छाया उत्पन्न हो जाती है (वैसे प्राण परमात्मा से उत्पन्न हुआ) ।।३८।। यदि (कहो कि) छाया मिथ्या ही देखी गयी है (तो यह जान लो कि) प्राण भी परमात्मा में कल्पित ही है। जैसे दर्पण, प्रकाश आदि (छायास्थल में मुख की) उपाधि हैं, वैसे आत्मा की उपाधि माया (=अज्ञान) है ।।३९।।

(२) पूर्वकल्प में संकल्पादि पूर्वक किया जो कर्म वही स्थूल शरीरों में प्राण के आने का कारण है ।।४०।।

(३) जैसे राजा गाँवों में अधिकारियों को अलग-अलग नियुक्त करता है (वैसे) प्राण अपनी उन (=प्रसिद्ध) वृत्तियों को जैसा-जैसा (आवश्यक है वैसे) नियुक्त करता है ।।४१।। मल-मूत्र के विसर्ग के लिये अपानवृत्ति को (नाभि से) नीचे स्थापित करता है। साँस चलाते हुए स्वयं प्राण नामक वृत्ति मुँह व नाक में स्थित है ।।४२।। खाये अन्न को बराबर फैलाये (इसके लिये) समानवृत्ति देहमध्य में (=नाभि में) स्थापित है। अन्न से पोषित करने के कारण शीर्षस्थ छिद्रों द्वारा (समान ही) सात प्रकार का हो जाता है (अर्थात् समानकृत अन्न-पोषण से इन्द्रियाँ कार्यक्षम होती हैं) ।।४३।। हृदयकमल में जीवात्मा

स्थित है। वह (हृदयकमल) बहुत विभिन्न नाडियों से घिरा है। मूल नाडियों की संख्या है एक सौ एक ॥४४॥ और हर एक (नाडी) की गिनती में सौ शाखा नाडियाँ हैं। फिर (प्रत्येक शाखानाडी की) बहत्तर हजार प्रतिशाखानाडियाँ कही गयी हैं ॥४५॥ (यों बहत्तर करोड़, बहत्तर लाख, दस हजार दो सौ एक कुल संख्या निष्पन्न होती है)। उन सब में रहकर व्यानवृत्ति (शरीर में) बल (का आधान) करता है। कण्ठ में स्थित उदान अन्य जन्म के लिये निकलने का कार्य करता है ॥४६॥ यों पाँच तरह से अपने को बाँट कर (प्राण) शरीर में रहता है।

(४) उदान वृत्ति से (=उदान नामक खास व्यापार से) बाहर निकलना बताया गया है।

(५) अब बाह्य (जगत् का धारण) बताते हैं ॥४७॥ जल, पृथ्वी, आकाश, वायु और तेज के जो अभिमानी देव है, उन रूपों से प्राण इस बाह्य जगत् का धारण करता है ॥४८॥

(६) और उन देवतारूप वाला हुआ (प्राण), शरीरस्थ चक्षु आदि प्राणों पर अनुग्रह करता है। इस प्रकार (प्राण का) अध्यात्म को (=शरीर को) धारण करना होता है ॥४९॥ सूर्य का चक्षु पर अनुग्रह है। ऐसे अन्यों पर भी (उन-उन देवतारूप प्राण का अनुग्रह है)। अपान आदि पर भूमि आदि का (=अग्नि देवता आदिरूप प्राण का) उपकार शास्त्र से (समझना चाहिये) ॥५०॥ क्योंकि तेजोदेवता से (=तद्रूप प्राण से) उदान अनुगृहीत है इसलिये शरीर की गर्मी के शांत हो जाने पर (उदान) इस शरीर से अन्य शरीर को चला जाता है ॥५१॥ पहले इन्द्रियाँ मन के रहते त्यक्तव्यापार होती हैं। वह जीव के लिये जिस योनि का संकल्प करता है उस योनि में जीव सहित प्राण जाता है ॥५२॥

छह प्रश्नों में निर्णीत प्राण का जो पुरुष ध्यान करता है, वह सोपाधिक ब्रह्म का साक्षात्कर्ता क्रम से मुक्त होता है ॥५३॥

चतुर्थ प्रश्न

ब्रह्मलोक तक (सारा ही) संसार अपरा विद्या का फल है (अर्थात् अपरा विद्या का फल संसार ही है)। इसके (=सफल अपरा विद्या के विवेचन के) बाद परा विद्या (समझने) के लिये पाँच प्रश्न पूछे ॥५१॥

(१) कौन सोते हैं ? (२) यहाँ (=शरीर में) कौन जागते हैं ? (३) स्वप्न देखने वाला कौन है ? (४) सुषुप्ति में किसे सुख होता है ? (५) जगत् किसमें विलीन होता है ? ।।५५।। (इनके उत्तर यों हैं—)

(१) अन्तरिन्द्रियरूप बुद्धि के अन्तर्गत होने वाली दस बाह्य इन्द्रियाँ सोती हैं। जैसे शाम को सूर्य के अन्तर्गत होने वाली किरणें अस्त होती है (वैसे प्रकृत में समझना चाहिये) ।।५६।। (यह) इसलिये पता चलता है क्योंकि सोया होने से सुनना आदि क्रियाएँ नहीं होती।

(२) तब भी (=इन्द्रियों के सोने पर भी) प्राण जागते रहते हैं क्यों कि साँस आदि नहीं रुकता ।।५७।। (प्राण द्वारा प्रोद्दीप्त) पेट में स्थित आग तब तेज होकर खाये हुए (अन्न) को पचाती है (अतः प्राण का जागना निश्चित पता चलता है)। याग की अग्नियों के रूप से प्राणों का ध्यान कर याग करने का फल प्राप्त होता है ।।५८।।

(३) जब बाह्य इन्द्रियों के अपना व्यापार छोड़ देने पर मन अपना व्यापार नहीं छोड़ता तब उस (=मनरूप) उपाधि वाला हुआ जीवात्मा स्वप्न देखता है ।। ५९ ।। नाडियों में भ्रमण करता हुआ जीव अनेक जन्मों से इकट्ठे किये संस्कारों को देखता है। वह यह 'स्वप्न' ऐसा कहा जाता है ।। ६० ।।

(४) सुषुप्ति अवस्था में हृदय के (इन्द्रिय सम्बन्धी) छिद्र पित्त नामक तेज से ढक जाते हैं। इस अवस्था में चित्त-उपाधि वाला जीव भी पित्त से ढक जाता है (='मैं हूँ' ऐसा व्यक्ततया जानते हुए नहीं रहता) ।। ६१ ।। छिद्र बन्द होने से चित्त में दुःखाकार वृत्तियों की उत्पत्ति नहीं होती। उस अवस्था में जीव का अनन्य-वेद्य स्वरूपभूत आनन्द रहता है ।। ६२ ।।

(५) जैसे शाम को पक्षी (अपने) निवासार्थ (निश्चित किये) वृक्ष पर आश्रित हो जाते हैं (वैसे) सुषुप्ति में, प्रलय में व मुक्ति में जगत् परमात्मा में विलीन होता है ।। ६३ ।। सूक्ष्म महाभूत व स्थूल महाभूत, ज्ञानेन्द्रियाँ तथा कर्मेन्द्रियाँ, अन्तःकरण के (मन आदि चारों) भेद, ज्ञानरूप व क्रियारूप शक्तियाँ इनके (=इंद्रियादि के) सब विषय, द्रष्टा श्रोता आदि नाम वाला अन्तःकरण में तादात्म्याध्यास वाला जीव भी—यह सब जगत् है (जो विलीन होता है) ।।६५।। जैसे निद्रा

में निद्रावान् की दृष्टि से कुछ भी (=यत्किंचिद् भी जगत्) प्रतीत नहीं होता (व) प्रलय में सबकी (दृष्टि से कुछ भी प्रतीत नहीं होता) वैसे मुक्ति में तत्त्वज्ञानी की (दृष्टि से कुछ भी प्रतीत नहीं होता) ॥ ६६ ॥ जैसे परमात्मा (जगत् के) विलय का आधार है वैसे (उसकी) स्थिति का भी आधार है। अतः जगत् से परमात्मा भी समझ लिया जाये (अर्थात् जगद्योनि आदि रूप से परमात्मा समझा जाये) ॥ ६७ ॥ बुद्धि में चेतन के प्रतिबिम्ब सा (जो) जीव (वह परमात्मा को भी) समझने वाला है। ब्रह्म समझा जाने वाला भी है, किंतु वह छाया रहित आदि स्वरूप वाला है ॥ ६८ ॥ छाया अर्थात् अज्ञान, उससे रहित है, तीनों शरीरों से रहित है, लाल आदि गुणों वाला नहीं, क्रोध आदि के न होने से शुद्ध है ॥ ६९ ॥ (उसके) नाश के (कोई) कारण न होने से अक्षर (=नष्ट न होने वाला) है। उस तरह के ब्रह्म को जो जानता है वह निश्चय ही सर्वज्ञ और सर्वरूप होता है ॥ ७० ॥

पंचम प्रश्न

सत्यकाम ने तो पूर्वोक्त ब्रह्म के अनुभव के साधनरूप तथा विभिन्न फल वाले ॐकारध्यान को पूछा ॥ ७१ ॥ 'आमरण ॐकार का ध्याता उपासना के द्वारा व कर्म के द्वारा प्राप्य लोकों में से किसे जाता है? यह विशेषकर बताइये' ॥ ७२ ॥

सुनो; ॐकार अपरब्रह्म का व परब्रह्म का प्रतीक है। इनमें से एक का प्रणव द्वारा ध्यान करना चाहिये ॥ ७३ ॥ विराट् आदि अपर ब्रह्म है, सत्य-ज्ञानरूप पर ब्रह्म है। तीन मात्राओं में बँटे उस अपर ब्रह्म का चिन्तन करे ॥ ७४ ॥ विराट् अकार है, सूत्रात्मा उकार है, और अव्याकृत मकार है; यह विभाजन अपर ब्रह्म के ध्यान में समझना चाहिये ॥ ७५ ॥ सूत्रात्मा और अव्याकृत की उपासना न करने वाला यदि उस ॐकार का विराट्-रूप से ध्यान करे तो भी व्यर्थता नहीं है ॥ ७६ ॥ उस उपासक को (मरने पर) ऋक्-नामक (=तदभिमानी) देव सहसा भूलोक को प्राप्त कराते हैं। पूर्वसंस्कार से (वह) पुनः (प्रणवध्यानात्मक) योग का अभ्यास करता है ॥ ७७ ॥ विराट् व सूत्रात्मा रूप दो मात्राओं का ध्यान कर यजुर्वेद (के अभिमानी

देवों) द्वारा सोमलोक को ले जाया जाता है जो ऐसा है जहाँ से लौटना पड़ता है ।। ७८ ।। विराट्, सूत्रात्मा और अव्याकृत नामक तीन मात्राओं वाले प्रणव का ध्यान करे (तो) सामवेद (के अभिमानी देवों) द्वारा मुक्ति के करणभूत ब्रह्मलोक को ले जाया जाता है ।।७९।। 'समस्तजीवसंघ' नामक जो सूत्रात्मा है (वह) अन्यों की अपेक्षा परम है। उससे भी परम जो ब्रह्मतत्त्व है, उसे (ब्रह्मलोक में साधक) समझता है ।।८०।। यों अपर ब्रह्म के ध्यान से क्रममुक्ति होती है। ॐकार से पर ब्रह्म का ध्यान कर और (फलस्वरूप शुद्धचित्त वाला होकर श्रवण से उसे) जानकर (साधक) मुक्त होता है ।। ८१ ।। जो विमुक्त, जरा-मृत्यु रहित, निर्भय, पर ब्रह्म है उसे जो भी ॐकार द्वारा उपासित कर सिद्धि पाता है वह (उस ब्रह्म को) पाता है यह अलग से (मंत्र में) सुना गया है ।। ८२ ।।

षष्ठ प्रश्न

मुक्ति में प्राप्त होने वाला जो परब्रह्म है उसकी प्रत्यगात्मरूपता (=अपने से अभिन्नरूपता) समझना चाहता हुआ भरद्वाज पुरुष के विषय में पूछना चाहता है ।। ८३ ।। '(हिरण्यनाभ नामक) राजकुमार ने सोलह कलाओं (=टुकड़ों) से युक्त पुरुष के विषय में मुझसे पूछा था। मैं उस पुरुष को नहीं जानता। हे मुनि ! उस पुरुष के बारे में बताइये' ।। ८४ ।।

सुनो; यह पुरुष शरीर में हृदय के मध्य हमेशा भासता है। उसमें अज्ञान के कारण प्राण से नाम तक (सब) कलाएँ उत्पन्न हुई हैं ।।८५।। प्राण, श्रद्धा, आकाश आदि पाँच महाभूत, इन्द्रियाँ और मन, अन्न, वीर्य (=शरीर व इन्द्रियों की सामर्थ्य), तप, मन्त्र, कर्म, लोक और नाम (ये) ।। ८६ ।। कलाएँ जिस पर आरोपित हैं वह पूर्ण है अतः पुरुष है। वैसा (=पूर्ण) होने पर भी इसकी उपलब्धि देह के मध्य ही उत्तम ढंग से (=चित्तया) होती है ।। ८७ ।। दर्शन, श्रवण आदि द्वारा शरीर में (पुरुष की) चेतनरूपता स्पष्ट है। (पुरुष की) पूर्णता के ज्ञान से देह में रहते हुए (भी) जीवरूपता (=परिच्छिन्नता) चली जाती है ।। ८८ ।। जीवरूपता को दिलाने वाली (=स्पष्ट करने वाली) उपाधि प्राण है। इसलिये मोक्ष न चाहने वाले लोगों द्वारा प्राण के

निकलने व रहने को सदा अपने पर आरोपित किया जाता है ॥ ८९ ॥ 'किसके निकलने पर मैं निकल जाऊँगा ?' ऐसा विचार करते हुए परमात्मा ने प्राणों को उत्पन्न किया, अतः लोगों का (यह) भ्रम होता है (कि प्राण के निकलने से आत्मा निकल गया) ॥ ९० ॥ भ्रमसिद्ध जीवरूपता हटाने के लिये देह में स्थित चेतनरूप आत्मा में पूरी तरह पुरुषरूपता समझी जाये ॥ ९१ ॥ प्राण से नाम तक सारा जगत् इस पुरुष में कल्पित है। सब का अधिष्ठान होने से पूर्णता संगत है॥९२॥ समुद्र में नदियों के प्रविष्ट हो जाने पर (उनके प्रातिस्विक) रूप व नाम निवृत्त हो जाते हैं। निज आत्मा में ज्ञान से कलाओं के विलीन हो जाने पर समुद्र की तरह (=कलाभेदों से रहित) निज आत्मा रहता है ॥ ९३ ॥ यह कला-रहित, मृत्यु-रहित, पूर्ण, चेतन आत्मा मुक्त कहा जाता है। यों (इस आत्मा को) समझाने के लिये सब उपनिषदें प्रवृत्त हैं ॥ ९४ ॥ रथचक्र की नाभि में ताड़ियों की तरह कलाएँ जिसमें स्थित हैं उस जानने योग्य पुरुष को मृत्युनिवृत्ति के लिये (तुम) सब जानो ॥ ९५ ॥

कात्यायनादि सब श्रेष्ठ मुनि सुन लेवें—इतना ही मैं ब्रह्म को जानता हूँ (क्योंकि) इससे अधिक कहीं (कुछ जानने को) नहीं है ॥९६॥

मुनि भी उन पिप्पलाद की अर्चना करते हुए (ये) वचन बोले—संसाररूप भय से हमारी रक्षा करने के कारण आप ही हमारे पिता हैं ॥ ९७ ॥ जो (आप) अविद्या के परले किनारे हमें पहुँचा रहे हैं उन आपकी नमस्कार से अतिरिक्त (कोई) उचित सेवा करने में हम समर्थ नहीं हैं ॥ ९८ ॥ गुरुओं को, श्रेष्ठ ऋषियों को बार बार नमस्कार है।

इस प्रकार पिप्पलाद ने (उपदेश देकर) उन मुनियों पर कृपा की ॥ ९९ ॥

चारों वेदों द्वारा वतायी यह ब्रह्मविषयक विद्या (यहाँ तक के ग्रंथ में अर्थात् सात अध्यायों में) प्रकाशित की है, इससे विद्यातीर्थ-नामक महान् यतीश्वर सन्तुष्ट हों ॥ १०० ॥

॥ इति श्रीविद्यारण्यमुनिविरचित चतुर्वेदविद्याप्रकाश में प्रश्नोपनिषद्विवरण नामक सप्तम अध्याय ॥

—